।। सप्तग्रन्थाः ।।

(सिद्धान्तवचनावली, अमृतवचनावली,
पक्षग्रहण (संक्षिप्त विवरण), विशोधनिका १–४ सहित)



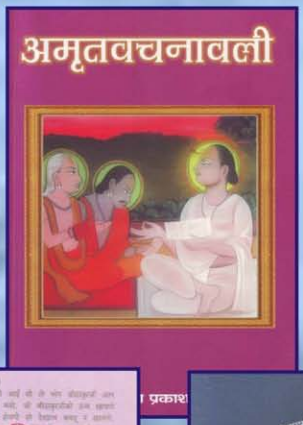

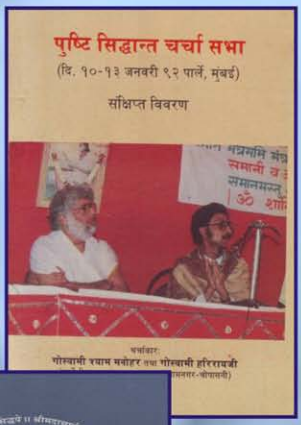





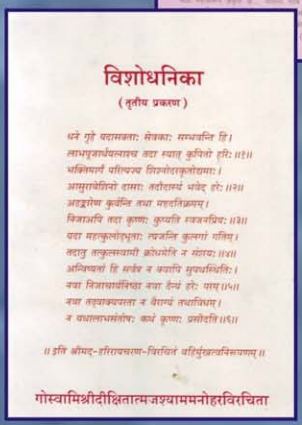

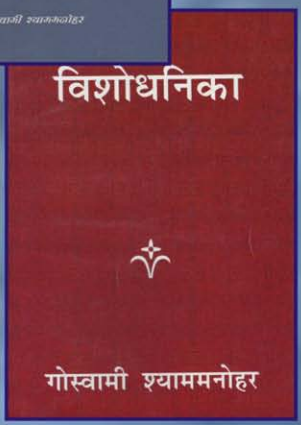

गोस्वामी
श्याम मनोहर

सप्तग्रन्थाः

(सिद्धान्तवचनावली, अमृतवचनावली,
पक्षग्रहण(संक्षिप्त विवरण), विशोधनिका १-४ सहित)

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,,
४था रास्ता, जुहुस्कीम,
विले-पार्ला, मुंबई ४०००५६

सहयोग प्रकाशन : श्रीचंद्रकान्त एन. शाह, कान्दिवली, मुंबई.

प्रथम संस्करण : अक्षयतृतीया वि.सं.२०७७

प्रति : ५००

नि:शुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस,
१, लोहानगर, गोंडल रोड,
राजकोट-३६०००२.

।। श्रीहरिः ।।

।। प्राक्कथन ।।

प्रस्तुत एककायापन्न सात ग्रन्थोंका पुनःप्रकाशन मेरेलिये निरतिशय हार्दिक प्रसन्नताका विषय है.

हमारे सम्प्रदायमें भगवद्भक्तिके रूपमें अनुष्ठेय भगवत्सेवा भगवत्कथा भगवत्स्वरूप भगवदुपभुक्तप्रसाद भगवत्तीर्थधामयात्रा अथवा तो तदर्थ दी जाती दीक्षा क्या हमारी आजीविका हो सकती है या नहीं?

इस प्रश्नपर हम आचार्यवंशजोमें एकमत हो कर खुले आम न तो 'हां' कह पानेकी निर्लज्जता प्रकट कर पानेका दुःसाहस प्रकट दिखलायी देता है और नहीं 'ना' कह पानेका नैतिक मनोबल हमारे भीतर शेष रहा है. अतः कभी सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारका बहाना, तो कभी उत्तमोत्तम नेग-भोग-रागप्रचुर पुष्टिप्रभुके सुखका बहाना, तो कभी वर्तमानमें नाथद्वारामें स्थित सम्प्रदायकी प्रधानपीठके अन्तर्गत श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीकी देवालयप्रणालीसे की जाती सेवारीतिका बहाना, तो कभी पुष्टिमार्गीय जनताके भक्तिभावोंके पोषणका बहाना, तो कभी तथाकथित पूर्वाचार्योंसे चली आती परम्पराका बहाना बना कर विवादास्पद मुद्दोंको बरगलाते रहना हमारी लाचारी बन गयी है.

(१)

वैसे तो इन जैसे सभी मद्दोंके सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण वैयक्तिक भी तथा सार्वजनिक भी मौखिक या लिखित रूपसे अपनी समझके अनुसार मैं देता ही रहा हूं. फिर भी अन्यान्य दूसरे सभी विचारबिन्दुओंको स्पर्श करे बिना कभी एक बातको अनपेक्षित भार दे कर तो कभी दूसरी बातको ऊपर उछाल कर सन्तुष्ट होते रहते हैं मेरे आलोचक. यह नाटक निरन्तर चलता ही रहा और आज भी चल रहा है. चिरंजीवी गोस्वामी शरद् बावाके, परन्तु, सुझावपर कि हम सभीको मिलजुल कर एकबार इसका सर्वानुमतसे निर्णय

लेनेका प्रयास कर लेनेमें क्या आपत्ति है! मैंने अपनी रजामंदी दरसायी थी. एतदर्थ मैंने सर्वप्रथम विवादास्पद १३ मुद्दोंके बारेमें 'सिद्धान्तवचनावली' नामिका पुस्तिका मूलाचार्योंके वचनों और उनके हिन्दी-गुजराती अनुवादके साथ प्रकाशित करवायी. ये वचनावली मेरी समझको प्रकट करनेको विश्वकर्माबाग पार्ले मुंबईमें दि.१०,११,१२ जनवरी १९९२ में आयोजित सिद्धान्तचर्चासभामें विचारणीय मुद्दोंके रूपमें प्रस्तुत करनेको थी. इसके साथ असहमति रखनेवालोंको इन या अन्य भी ऐसे पूर्वाचार्योंके वचनोंके आधारपर या तो त्रुटिनिर्देशन या फिर इनका स्वाभिप्रेत भावार्थ प्रस्तुत करना था कि पूर्वोत्तरपक्षविधया यथावकाश विचार हो पाये.

साथ ही साथ जिन पूर्वाचार्योंकी चली आ रही परम्पराकी दुहाई दी जाती है, उनके वचनोंका भी संकलन 'अमृतवचनावली' नाम्ना परिशिष्टके रूपमें प्रस्तुत किया गया. वह परन्तु स्वाभिप्रेतार्थ सिद्धान्तचर्चामें समुपस्थित ३५ गोस्वामिमहानुभाव और ४ शास्त्रियोंमें किसीने भी अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया. फिरभी एतदर्थ गो.श्रीशरद् (मांडवी), गो.श्रीव्रजप्रियजी (मुंबई) गो.श्रीमनोज (मुंबई) आदि बारह नवयुवक गोस्वामिओंके आयोजकमण्डलका प्रयास इस विषयमें भविष्यमें कभी लिखे जानेवाले सम्प्रदायके इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य स्वीकारना पड़ता है.

(२)

साथ ही साथ मेरे द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तवचनावली और उसके भावार्थके साथ सहमत न हो पानेवाले आठ गोस्वामी महानुभावोंमेंसे केवल श्रीहरिरायजी (जामनगर) के अपवादको छोड़ कर अवशिष्ट सातमेंसे किसीने भी न तो दूसरा भावार्थ या न मेरे भावार्थमें त्रुटिनिर्देश करनेका साहस प्रकट किया. अत: इस विषयमें तो स्वयंकी असहमति और उसके हेतुओंकी चर्चा भरी सभामें और बादमें अनर्गल प्रलापके रूपमें ही सही, कुछ न कुछ प्रतिविधान करते रह कर भी जामनगरके श्रीहरिरायजीने अतीव अभिनन्दनीय उत्तरदायित्व अपना प्रकट किया. एतदर्थ वाल्लभसम्प्रदाय इनका सर्वदा ऋणी

रहेगा रहेगा और रहेगा ही.

(३)

चर्चासभाके पहले, जब जुनागढकी हवेलीको सार्वजनिक न्यास घोषित करवानेको, नि.ली.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजीकी गादीपर बिराजनेको उत्कण्ठित गो. महानुभावने शाक्त दर्शनार्थी द्वारा मुकदमा दायर करवाया था. उसके न्यायनिर्णयमें गुजरातराज्यके उच्चन्यायालयने हवेली/मन्दिरके ठाकुरजी, उनकी सेवा करनेवाले गोस्वामियोंकी चरणभेंट भी पब्लिक ट्रस्टकी होती है विधान किया. तब गो.महाराजोंके ठाकुरजी बिराजनेके घर आदि सभी कुछ व्यक्तिगत होने है ऐसे आशयके देश-विदेशके ७० शहरोंमें १७,००० शपथपत्र एकत्रिक करके मैंने उच्चत्तम न्यायालयमें इन्टरवेंशन किया था. एतदर्थ कई गोस्वामिमहानुभावोने मुझे अधिकृत (पावर ओफ एटर्नी) बनाया था. उन अधिकारपत्रोंमें भी यही सिद्धान्त अनमने मनसे स्वीकारे गये थे और उनमेंके प्राय: अनेक महानुभाव चर्चासभामें सम्मिलित हुए थे. सो विरोध न कर पानेके कारण और सिद्धान्त पसन्द न होनेके कारण भी तटस्थ रहे थे : न विरोध और न समर्थन !

इससे पूर्व सम्प्रदायके प्रधानपीठाधीश गोस्वामी तिलकायत महाराजश्री और वयोवृद्धत्तम सूरतके श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीसे उनकी अध्यक्षतामें मैंने एक मीटिंग बुलानेकी बिनती की थी कि सिद्धान्तविरुद्ध न्यायनिर्णयोंके संदर्भमें हमें अपने सिद्धान्तोंका घोषणापत्र प्रकट करना चाहिए. घोषणापत्रके मसौदे में वोही बाते थी जो इन दोनों ही महानुभावोंने उच्चत्तम न्यायालय और चेरिटीकमिश्नरके सामने चले अपने-अपने मुकद्दमोंमें स्वीकारी ही थी. फिर भी दोनोंने अनुपस्थित रहना पसन्द कर अन्तमें १९९२ जनवरी की चर्चासभामें भी अनुपस्थित रहे. इनके अघोषित प्रतिनिधिके रूपमें जामनगरके श्रीहरिरायजीने पहले तो यद्यपि बेतुकी चर्चाओंमें कालक्षेप करवाके चर्चासभाको एक मखौल बनानेका भरचक प्रयास किया परन्तु अन्तमें पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें बहोत सारे सिद्धान्त स्वीकारने ही पडे और

चर्चा स्थगित करवा दी गयी. बादमें गो.श्रीतिलकायतमहाराजश्री और सूरतवाले महाराजश्री इन्हें चर्चासभामें मानों विजयी रहे हो ऐसी 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण शिरोमणि' पदवीसे विभूषित कर दिया बादमें अखबारोंमें अभद्र अनर्गल आरोप-प्रत्यारोपोंकी शृंखला चली, अन्तमें सूरतवाले महाराजश्रीके नामसे उनके पौत्रोने 'विमर्श' नामक ग्रन्थ प्रकट करवाया. उस विमर्श और चर्चाकार श्रीहरिरायजीके विधानोंका समाधान मैंने 'विशोधनिका' के चार भागोमें किया.

(४)

इस तरह सिद्धान्तचर्चासभामें, उससे पहले भी और बीचमें भी देशके उच्चत्तम न्यायालयमें शपथपत्रमें स्वीकारे गये स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको न्यायालयार्थ ही स्वीकारे थे, पुष्टिमार्गीय अनुयायिजनतामें प्रचार-प्रसारके लिये नहीं, कह कर छटक जानेवाले अनेकानेक गो. महानुभावोंकी न्यायालयमें शपथपत्रमें, और सिद्धान्तघोषणापत्रमें प्रकट की गई स्वीकृतियोंको विस्तृत अमृतवचनावलीके रूपमे प्रकाशित वैसी, कीया जा रहा हे, दुविधाकी मनोग्रन्थिको उजागर करने.

खैर यह संक्षेपमें सात ग्रन्थोंको एककायतया प्रकाशित करनेका इतिवृत्त है. कुल मिला कर (अब नित्यलिलास्थ) दो गोस्वामी महानुभभावोंके उद्‌गार जो उन्होंने मेरे सामने कहे थे उन्हें हम सभीकी मानसिकताका प्रस्तुत उदाहरण मानते हुए यहां उद्धृत करना चाहूंगा :

ज्येष्ठ भ्राता : श्याममनोहरजी ! जो सिद्धान्त आप कह रहे हो वह तो हमें हृदयसे मान्य ही है परन्तु दो-तीन पीढी तक दूसरा कोई धनोपार्जनका उपाय हमें मिल नहीं जाता तब तक इसे बन्द करनेका आपका दुराग्रह हमें विवेकपूर्ण नहीं लगता.

लघु भ्राता : दादाभाई ! ऐसे मत बोलो वरना हम देवलक सिद्ध हो जायेंगे.

ज्येष्ठ भ्राता : तो आप ही बताओ न कि हमें क्या खुलासा देना.

लघु भ्राता : दादाभाई ! ऐसे कहना चाहिए कि हमें तो पूर्णतया मान्य है परन्तु हमारे पितामहको उनकी वणिकवृत्तिके कारण मान्य नहीं. और बड़ोका अनादर हम कैसे करें?

ज्येष्ठ भ्राता : श्याममनोहरजी ! सुन लिया न ! बस यही हमारी ओरका खुलासा है.

मेरे पास हतप्रभ हो कर मौन रहनेके अलावा कुछ कहनेको बच नहीं गया था. महाराज ! सुन्यो परि समुझ्यो नाहीं!

श्रीमहाप्रभु और उनके दोनों आत्मज प्रभुचरण आदि सिद्धान्तोपदेशकोंके चरणारविन्दोंमें समर्पित करते हुए. इस ग्रन्थका मुद्रणोपयोगि उत्तरदायित्व श्रीप्रवीण डढाणिया और पीयूष गोंधिया ने निर्वाह किया है. उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हुं. आर्थिक सहयोग करनेवाले श्रीचन्द्रकान्त शाह के प्रति भी कृतज्ञ हुं.

अक्षयतृतीया,
वि.सं.२०७७ **गो.श्या.म.** (मुंबई)

अनुक्रमणिका

१.	सिद्धान्तवचनावली	१-६१
२.	अमृतवचनावली	६२-१६७
३.	पक्षग्रहण (संक्षिप्त विवरण)	१६८-२५८
४.	विशोधनिका-१	२५९-३५९
५.	विशोधनिका-२	३६०-५११
६.	विशोधनिका-३	५१२-६५०
७.	विशोधनिका-४	६५१-७१६

***

(क) तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

।। सिद्धान्तवचनावली ।।

(हिन्दीभाषाभावानुवाद)

(क) हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकका पात्र वाले सहज आसुरी जीव हैं. (श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख) तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृगुरूदितैः।।
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।
अनुवादो न स्वबुद्धया किन्तु मूलक्रमागतः।।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

(शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग) यो वदत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः।
संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सद्विनिर्णयः।।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा।।

(शिक्षापत्र.३।८-११)

संयुक्त प्रकाशन

।। सिध्दान्तवचनावली ।।

(हिन्दी भाषा भावानुवाद)

संयुक्तप्रकाशन

प्रकाशन–सहयोगी :

गोस्वामी श्रीरघुनाथलालजी
मनु भवन, भगतसिंह मार्ग, पार्ले, मुंबई, ४००–०५६.

गोस्वामी श्रीअनिरुद्धलालजी
मोटी हवेली, मांडवी, कच्छ, ३७०–४६५.

गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी
मोटी हवेली, पंच हाटडी, जूनागढ, ३६२–००१.

गोस्वामी श्याम मनोहर
अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नया शहर,
किशनगढ, अजमेर, ३०५–८०२.

गोस्वामी श्रीमधुसूदनालालजी
१५, एकांबरेश्वर गोस्वामी अग्रहारम्, मद्रास, ६००–००१.

चतुर्थपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनजी
चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, २८१–३०३.

प्रथमपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी
'लालमणि', २५।३१, आत्माराम मर्चन्ट रोड,
भुलेश्वर, मुंबई, ४००–००२.

गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी–श्रीकन्हैयालालजी
२–बी एवरेस्ट पार्क, गोरधन वाडी, कांकरिया,
अहमदाबाद, ३८०–०२८.

गोस्वामी श्रीराजेशकुमारजी
'अडेल', ए–२३, श्रीजयकृष्ण सोसायटी, इसनपुर,
अहमदाबाद, ३८२–४४३.

गोस्वामी श्रीनीरजकुमारजी
बडा मन्दिर, जीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, मुंबई ४००–००२.

नि:शुल्क वितरणार्थ : प्रथम आवृत्ति. **प्रति :** १०,०००

प्रकाशनवर्ष : १९९२ जनवरी.



द्वितीय आवृत्ति–सहप्रकाशक

गोस्वामिनी श्रीमति पार्वतीवहुजी एज्युकेशनल एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट

७९, पंकज सोसायटी, भट्टा, अमदावाद, ३८०००७.

श्रीगोविन्दभाइ गांधी,

'ब्रजरज' पोस्टओफिस के पास, हालोल, ३८९३५०.

नि:शुल्कवितरणार्थ

द्वितीय आवृत्ति

प्रत : ५०००

प्रकाशनवर्ष : १९९२ जनवरी

:: શુદ્ધિપત્ર ::

-***-પ્રસ્તુત 'સિદ્ધાંતવચનાવલી' પુસ્તિકાના પ્રકાશન અને ચર્ચાસભામાં વિતરણ થયા પછી ચર્ચા દરમ્યાન લક્ષ્યમાં આવેલી અમુક ક્ષતિઓ તરફ ભાવાનુવાદકર્તાઓનું ધ્યાનાકર્ષણ કરતાં ભાવાનુવાદકર્તાદ્વારા સાભાર સ્વીકારવામાં આવેલી ત્રુટિઓની યાદી -

પૃષ્ઠ ૧૮ ઉપર શીર્ષક (૧) માં (ગ) અનુચ્છેદમાં જ.ભે.કારિ.૪નો ગુર્જરાનુવાદ છૂટી ગયો છે. આ ક્ષતિ તરફ ગો. શ્રીરઘુનાથલાલજી (ગોકુલ-મુંબઈ)દ્વારા ધ્યાન દોરવામાં આવતાં હવે તે આ મુજબ ઉમેરવાનો છે : ''ઘરગૃહસ્થી ના નિર્વાહમાટે ભગવદ્-ગુણગાન કરનારાઓના મુખથી સાંભળવામાં આવેલી ભગવત્કથા સંસારાસક્તિ વધારનારી હોય છે.''

પૃષ્ઠ ૨૪ ઉપર શીર્ષક (૩) માં (ક) અનુચ્છેદમાં ''ગોપને મુખ્યં...લ્યબ્લોપે પંચમી'' લીટીઓ મૂલમાં અસાવધાનીથી અપાઈ ગઈ છે જોકે પ્રસ્તુત ચર્ચામાં તેમનો ભાવાનુવાદ આપવો અભિપ્રેત નહોતો (ભાવાનુવાદક). પૃષ્ઠ ૨૮ ઉપર શીર્ષક (૫)માં (ક) અનુચ્છેદમાં ''અત્ર ગૃહસ્થાન-વિધાનેન...ભવતિ''નો હિન્દી-ગુર્જર ભાવાનુવાદ છૂટી ગયો છે. આ ક્ષતિ તરફ ઘણા મહાનુભાવો દ્વારા ધ્યાન દોરવામાં આવતાં તે આ મુજબ ઉમેરવાનો છે : ''અહિંયા સેવોપયોગી સ્થાન તરીકે ઘરનું વિધાન કરવામાં આવ્યું છે તેથી જો પોતાના ઘરમાં બિરાજતા પ્રભુનું ભજન છોડીને બીજે કશે ભજન (ભેટસામગ્રી, મનોરથ કે ઝાંખી રૂપે) કરવામાં આવે તો તેને 'ભક્તિ' ન કહેવાય. :: હિન્દી :: યહાં સેવોપયોગી સ્થાનકે રૂપમેં ઘરકા વિધાન કિયા ગયા હૈ અતઃ યદિ અપને ઘરમેં બિરાજતે પ્રભુકા ભજન છોડ કર ઔર કહીં ભજન (ભેટસામગ્રી, મનોરથ યા ઝાંખી કે રૂપમેં) કિયા જાતા હૈ તો ઉસે 'ભક્તિ' નહીં કહા જા સકતા હૈ.''

પૃષ્ઠ ૩૪ ઉપર શીર્ષક (૬)માં(ડ) અનુચ્છેદમાં હિન્દી તેમજ ગુજરાતી ભાષાઓમાં આવેલ 'ઉટપટાંગ' ભાવાનુવાદ તરફ ગો.શ્રીહરિરાયજી (જામનગર) દ્વારા દોરવવામાં આવેલ લક્ષ્યને કારણે સાભાર ભાવાનુવાદક હવે અહિંયા પોતાના ઊટપટાંગ ભાવાનુવાદને ઠેકાણે સુધારેલ ભાવાનુવાદ આ મુજબ પ્રસ્તુત કરવા માગે છે : ''પ્રભુની કૃપાથી જ તેના આશયનું મેં (શ્રીહરિરાય મહાપ્રભુએ) વિવરણ કર્યું છે''. આ મુજબ હિન્દીમાં પણ સુધારી લેવાની તસ્દી સુજ્ઞ જનોં લઈ લેશે.

પૃષ્ઠ ૩૬ ઉપર શીર્ષક (૭) માં (ખ) અનુચ્છેદમાં 'મહાપાતકિનં' આ મૂલ શબ્દનો ભાવાનુવાદ છૂટી ગયો છે જે તરફ શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી (મથુરા) દ્વારા લક્ષ્ય દોરવવામાં આવતાં સાભાર ભાવાનુવાદક અહિંયા તે રજુ કરે છે : ''બ્રહ્મહત્યા સુરાપાન સુવર્ણસ્તેય ગુરુપત્નીગમન અને એતત્-સંસર્ગી મહાપાતકી હોય છે.''

પૃષ્ઠ ૪૪ ઉપર શીર્ષક (૯) માં (ડ) અનુચ્છેદમાં હિન્દી ભાવાનુવાદની નવમી પંક્તિમાં શ્રીહરિરાયજી દ્વારા ધ્યાન દોરવવામાં આવતાં ભાવાનુવાદક પણ સાભાર સ્વીકારે છે કે અહીંયા હિન્દીમાં 'ગુરુકી' શબ્દ પછી 'ભી' શબ્દ હોવો જોઈતો હતો. તેમજ ગુજરાતીમાં નવમી પંક્તિમાં 'ગુરુની' શબ્દ પછી 'પણ' શબ્દ હોવો જોઈતો હતો.

।। श्रीहरिः ।।

।। प्राक्कथन ।।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिसंप्रदायमें हमारी-उपदेशक तथा अनुगामी जनाँनी-आज सबसे बड़ी कोई समस्या है तो वह यही कि यदि हम अपने संप्रदायके प्रवर्तक-प्रसारक पूर्वाचार्योंके द्वारा लिखित ग्रन्थोंको प्रमाण मानते हैं तो जो कुछ आज महाप्रभुके नामपर चल रहा है वह नितान्त सिद्धान्तवैपरीत्य ही है; और यदि जो कुछ चल रहा है उसे ही आदर्श माननेके मोहके कारण हम उसे छोड़ना न चाहते हों तो ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक, असंगत एवं अनुयायिजनोंके समक्ष अनुच्चारणीय ही हो जाते हैं. इस दुविधाको दूर करनेको जो स्पष्टीकरण दिये जाते हैं उनमेंके परिगणित मुद्दे प्रायः अधोनिर्दिष्ट हैं :

(१) महाप्रभुके सिद्धान्त क्या हम ही जानते हैं-हमारे पूर्वजोंको क्या महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका ज्ञान नही था?

(२) आजस पाँचसौ वर्ष पूर्वके समाज देश और काल को देखकर महाप्रभुने अपने सिद्धात घड़े थे. आज तो वह स्थिति ही नहीं रही है; और कई समस्याएँ नई भी अब हमारे ही सामने उठ खड़ी हुई हैं. समाज-देश-कालके परिवर्तित परिप्रेक्ष्यमें अब उभरी समस्याओंका व्यावहारिक निराकरण किये बिना केवल सैद्धान्तिक जड़ाग्रह रखना सारे संप्रदायको उच्छिन्न कर देनेकी नादानी होगी!

(३) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभी स्वसंप्रदायिओंको मान्य होने ही चाहियें. परन्तु देशके धर्मनिरपेक्ष संविधान तथा कराधानों के भीषण प्रावधानोंसे बचनेके लिये कुछ बातें स्वसिद्धान्तोंके विपरीत भी अपनानी पड़ी हैं. इस विवशताका सिद्धान्त-जड़ाग्रहीआँके पास भी क्या समाधान है?

(४) जो लोग सिद्धान्तवचनोंके नामपर बावेला मचा रहे है वे स्वयं भी सर्वांशमें सिद्धान्तोंका पालन कहाँ कर रहे हैं?

(५) सदिओंसे जन-जनमें व्याप्त किसी भी संप्रदायसे संबन्धित सभी धार्मिक निर्णय केवल लिखित ग्रन्थोंके आधारपर लिये नही जा सकते, जीवित परंपराओंका भी अपना कोई महत्त्व होता ही है.

(६) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभीको सर्वदा मान्य होने ही चाहिये परन्तु ग्रन्थोक्त कई सिद्धान्त उच्चकक्षाके अधिकारिओंके लिये प्रकट किये गये हैं. आज ऐसी उच्चकक्षाके अधिकारी जीव है कहाँ ! निम्नकक्षाके जैसे अधिकारी आज दृष्टिगत होते हैं उनके लिये परंपरया जैसा प्रकार प्रचलित है वह ठीक ही है.

(७) आजकी प्राथमिक आवश्यकता सम्प्रदायमें रचनात्मक कार्यक्रमको अपनानेकी है, न कि कलहपूर्ण सैद्धान्तिक विवादोंमें सम्प्रदायको उलझानेकी.

(८) अपना मार्ग तो प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित नहीं. यह मार्ग तो परमात्माकी प्रमाणातीत पुष्टिशक्तिपर अवलम्बित है. सार्वजनिक मन्दिर, अतः, यदि बन्द किये जाते हैं तो भोग-राग-शृंगारद्वारा पुष्टिपुरुषोत्तमको लाड़ लड़ानेकी सेवाप्रणालिका ही लुप्त हो जायेगी. सार्वजनिक मन्दिर यदि बन्द कर दिये जाते हैं तो अपने मार्गके वैष्णव इतर मार्गमें प्रव्टि हो जायेंगे.

(९) सिद्धान्तापसिद्धान्तकी चर्चा सार्वजनिक रूपसे नहीं करनी चाहिये. अन्यथा मूर्ख अनुगामिजनता स्वमार्गीय आचार्योंके प्रति आदरविहीन हो जायगी. अतः ऐसी चर्चा गोस्वामी आचार्योंको बंद दरवाजेमें ही करनी चाहिये.

(१०) सिद्धान्त तो सभी मान्य होने ही चाहिये परंतु आजीविकाका दूसरा कोई सुलभ उपाय मिल नहीं जाता तब तक सार्वजनिक मन्दिरोंमें भगवत्सेवाका आजीविकार्थ प्रदर्शन रोकनेका दुराग्रह व्यावहारिक कैसे माना जा सकता है?

(११) हमें जो कुछ करना है हम करेंगें-किसीको भी हमारी

आलोचना करनेका क्या अधिकार है!

देवताशास्त्रमें रुद्रकी संख्या ग्यारह मानी जाती है और हमें लगता हैं कि ये एकादश रुद्र ही आजकी तारीखमें वाल्लभसम्प्रदायके संहरणकी रोद्रलीला प्रकट कर रहे है.

इन रौद्र विधानोंके संक्षिप्त और शान्त समाधान हमें खोजने होंगे. हम यह दावा तो नहीं कर सकते कि हमारा यह प्रयास सभीके लिये सन्तोषकारी ही होगा. फिर भी इन रौद्र विधानोंके प्रति हमारी शान्त वैचारिक प्रतिक्रियाको शब्दोमें अभिव्यक्त करना ही इस प्राक्कथनका मुख्य प्रयोजन है :

(१) हमारे पूर्वज–बापदादा महाप्रभुके सिद्धान्तोंको जानते थे या नहीं यह, उनके दिवंगत होनेके बाद, केवल उनके द्वारा लिखित ग्रन्थोंके आधारपर ही जाना जा सकता है. कोई कारण नहीं है कि पूर्वजोंकी समझकी सुध सिर्फ पिता या पितामह की समझ तक ही लेनी और उससे उपर नहीं. महाप्रभुसे प्रारंभ कर परवर्ती ग्रन्थकारोंके वचन प्रस्तुत वचनावलीमें संकलित है ही.

(२) शास्त्रत: प्रमाणिक कई बातें देशकालादिके परिवर्तनके कारण कई बार अशक्य बन जाती हैं. परिवर्तित देश–कालमें उभरी नई समस्याओंको सुलझानेके लिये नये समाधान भी खोजने ही पड़ते हैं. उन समाधानोंको, परन्तु, किसी दूसरेके नामपर थोप देना नीतिमत्ता नहीं. महाप्रभुके सिद्धानतोंका अनुसरण, यदि, अशक्य हो गया हो तो नया मार्ग अवश्य प्रवर्तित किया जा सकता है. उस नये मार्गको, परन्तु, महाप्रभुके नामपर हठात् थोप नहीं देना चाहिये.

(३) हाल ही मैं राजस्थानके उच्चन्यायालयने वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुविशद समीक्षा करते हुवे, एक पुष्टिमार्गीय मन्दिरको 'सार्वजनिक–प्रन्यास' घोषित करनेवाली सारी सरकारी कारवाईओंको निरस्त कर दिया है. अत: इस लाचारीके बहानेमें अब कोई दम नहीं रहा. जो सेवास्थल सार्वजनिक न्यास घोषित हो चुके हैं वहां भी अपसिद्धान्तके मोहको छोड़ कर : तनुवित्तजा सेवाके व्यावसायिक विभाजनपर; और नित्यसेवा–

मनोरथोंके सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनपर, यथासम्भव सहसा अथवा शनैः-शनैः, अंकुश लगना ही चाहिये. इस तरहकी कारवाईमें यदि कोई हस्तक्षेप करता है तो सिद्धान्तोंके प्रकाशमें न्यायालयोंसे पुनर्विचार भी करवाया जा सकता है. इस देशमें इतने सारे करोड़पति धनिक है तो कराधानोंके भीषण प्रावधानोंसे बचनेका कोई न कोई उपाय वे भी तो अपनाते ही होंगे ! कराधानके भयसे किसी करोड़पतिने अपना घर सार्वजनिक धर्मशालाके रूपमें घोषित किया हो ऐसा सुननेमें तो नहीं आया. तब भगवत्सेवार्थ धार्मिक अनिवार्यतावाले निजी घरको सार्वजनिक मन्दिरके रूपमें क्यों विकृत किया जाता है?

(४) हमारा दावा न तो यह है कि इस सम्प्रदायमें केवल हम ही सभी सिद्धान्तोंका पालन कर रहे हैं और न हम किसी व्यक्तिविशेषपर ऐसा आरोप ही लगाना चाहते हैं कि वह सिद्धान्तोंको तोड़ रहा है. हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि हमसे या अन्य किसीसे निजसौभाग्यवश स्वसिद्धान्त पाले जा सकतें हो तब भी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त वही रहेंगें जो महाप्रभु प्रभृति पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. हमसे या अन्य किसीसे निजदौर्भाग्यवश न भी पाले जा सकतें हो तब भी सिद्धान्त तो वही रहेंगे जो पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. निजसामर्थ्यके आधारपर न तो सिद्धान्त प्रस्थापित हो सकते हैं ओर न निज-असामर्थ्यके आधारपर प्रस्थापित सिद्धान्त विस्थापित ही हो सकते है.

(५) हम भी जीवित परंपराके महत्त्वका अस्वीकार नही करते परन्तु शर्त उसमें यही है की कोई भी परंपरा मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध नहीं होनी चाहिये. पत्थर या धातुसे बनी जड़ मानवमूर्ति उतनी सरलतासे रुग्ण नहीं हो पाती जितना कि जीवित मानव-देव. अतः जो कुछ जीवित है उसका स्वस्थ होना भी आवश्यक है ही.

(६) उच्चाधिकार या निम्नाधिकार को परखनेकी वाचनिक व्यवस्था यदि उपलब्ध न होती तो अपनी कल्पनाको या स्वार्थप्रेरित सुविधाको इस विषयमें प्रमाण माना जा सकता था. सेवा-कथा-प्रपत्तिके भेदसे जब

वाचनिक अधिकारव्यवस्था उपलब्ध है ही ऐसी स्थितिमें अपसिद्धान्तके अनुकरणकी ही क्या आवश्यकता है?

(७) किसी भी रचनात्मक कार्यक्रमको एक धार्मिक कार्यक्रमके रूपमें समाजमें प्रस्तुत करना हो तो उसका धर्मशास्त्राभिमत होना अनिवार्य है ही. अन्यथा रचनात्मक कार्यक्रमके नामपर शराब या जुए के अड्डे तो खोले नहीं जा सकते!

(८) अपना मार्ग यदि प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखता ही न हो तो पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें नमाज क्यों नहीं पढ़ी जा सकती या बकरेकी बली क्यों नहीं चढ़ाई जा सकती?

यदि किसी सैद्धान्तिक भेदके कारण यह शक्य न हो तो सिद्ध हो जाता है कि सकल प्रमाणातीत पुष्टिशक्ति ही केवल नियामिका नहीं है. अन्यथा अनेकविध अकाण्डताण्डवोंको भी अनुमति देनी ही पड़ेगी. भोग-राग-शृंगारका सेवामें विनियोग भावात्मक होना चाहिये या भावाडम्बरात्मक यह भी निर्धारित करना चाहिये. जो जनता धर्म न चाहती हो और आडम्बर ही चाहती हो वह तो पुष्टिमार्गको छोड़कर अन्य मार्गमें प्रविष्ट हो जाय इसमें पुष्टिमार्गका श्रेय ही मानना चाहिये.

(९) सिद्धान्त-वैपरीत्यका अनुष्ठान जब खुले द्वारोंमें नि:शंक हो रहा है तब सिद्धान्तचर्चाको बन्द द्वारोंमें करनेकी तुक क्या रह जाती है? अनुगामी जनताका मूर्ख होना उपदेशक महानुभावोंके उत्तरदायित्वविहीन अधिकारोपभोग अथवा असामर्थ्य का द्योतक है.

(१०) स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रति अपनी निष्ठापूर्ण स्वीकृति आज जनताके समक्ष घोषित कर देनी चाहिये. कल स्वधर्मसे अविरुद्ध आजीविकाके उपायोंको खोजना कठिन कार्य नहीं रह जायेगा.

(११) जिसे जो कुछ करना है वह नि:संकोच तथा सहर्ष करता रहे--हमें जो कुछ करना है वह तो अपने सिद्धान्तोंका केवल उद्घोष ही है. किसीको टोकनेका न हम अपना अधिकार मानते है; और न हमें भी

टोकनेका अन्य किसीका अधिकार स्वीकारनें तैयार है.

व्यक्ति–चाहे चिकित्सार्थी हो या चिकित्सक––के रुग्ण होनेपर चिकित्सालयमें उसकी चिकित्सा शक्य है. चिकित्सालयही, परन्तु कभी, रुग्ण हो जाय तो कहां जाना! इसी तरह उपदेशक या अनुगामी व्यक्तिका धर्ममार्गसे विचलित हो जाना एक वैयक्तिक स्खलनके रूपमें गिना जा सकता है. परन्तु एक धर्मसम्प्रदायमें उसके अपने धार्मिक सिद्धान्तोंसे विरुद्ध प्रकारका सार्वजनिक धर्मा(!)नुष्ठान कथमपि वैयक्तिक स्खलन माना नहीं जा सकता. हम केवल इसी सन्दर्भमें सिद्धान्तोंका उद्घोष करना चाहते हैं.

इस स्पष्टीकरणके साथ एक स्पष्टीकरण यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुत वचनावलीके अनुवादको विचारार्थ प्रकाशित करवानेमें सहयोग प्रदान करनेवाले सभी महानुभावोंका हमारे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे सर्वांशमें सहमत होना अनिवार्य नहीं है, तथापि संप्रदायमें व्याप्त अज्ञान एवं अविचार की मोहनिद्राको तोड़नमें पूर्वाचार्योंके वचनोंका प्रकाश यदि सफल होता हो तो हो जाय, बस इसी सदाशयसे हमें सभीका सहयोग प्राप्त हुआ है. एतदर्थ हम सभी सहयोगी प्रकाशक महानुभावोंके आभारी है.

गोस्वामी श्याम मनोहर.

२६।१२।९१

मुम्बई. संयुक्तप्रकाशन

।।श्रीहरिः।।

चि.गो.श्रीव्रजप्रियजी, श्रीनीरजकुमारजी, श्रीमनोजजी, श्रीयोगेशजी, श्रीशरदजी, श्रीपीयूषजी, श्रीपंकजजी, श्रीमिलनजी, श्रीविट्ठलजी, श्रीगोपेशजी, श्रीभूषणजी, श्रीशरदजी महोदय.

आप सभी स्वमार्गहितैषीनके द्वारा प्रेषित पत्र मिल्यो; तथा जो सिद्धान्तवचनावली मेने आप लोगनकूं दी हती वो भी पत्रके साथ संलग्नतया प्राप्त भई. स्वधर्मनिष्ठानुरूप साहसके साथ आपने ये वचनावली सभी गोस्वामीनकू भेजी याके लिये, या पत्रमें और कोई भी बात लिखवेके पहले, में हृदयसूं भूरिशःअभिनन्दन आप सभीनकूं देनो चाहूंगो! आप सभीनकी या चिरस्पृहणीय पहलके लिये अपनो सम्प्रदाय आप सभी नवयुवकनको चिरकृतज्ञ रहेगो!!

यदि अपने भीतर श्रीमहाप्रभूनके वंशज होवेको लेशमात्र भी आत्मगौरव शेष होय तो; और यदि अपने भीतर या संप्रदायमें प्रामाणिक स्वधर्मोपदेश प्रदान करवेके अपने उत्तरदायित्वको लेशमात्र भी सद्भाव शेष होय तो, वचनावलीमें संकलित वचननको अर्थ, कोई भी तरहकी आंखमिचौनीकी बाललीला करे बिना सच्ची स्वधर्मनिष्ठा एवं सत्यीनष्ठा सू, अपनेकूं स्वमार्गानुगामीनके सामने प्रकटतया स्वीकारनो ही पडेगो. यासू मोकू नहीं लगे है कि कोई भी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-जल्प-वितण्डा की या बारेमें कोई भी आवश्यकता है.

यथासंभव घोषित कार्यक्रमसूं पूर्व ही या वचनावलीमें उद्धृत वचननके हिन्दी-गुजरातीमें प्रकाशित भावानुवादको वितरण, समीक्षार्थ, मैं सभी संबद्ध जननके बीच करवे जा रह्यो हूं. वा अनुवादमें मेरी त्रुटी क्या है ये यदि कोई मोकूं समझावेगो तो सचमुचमें मोकूं निरतिशय प्रसन्नता होयगी. यदि त्रुटिनिर्देश करनो कोईकू अभिप्रेत नहीं होय तो इन वचननको वा महाशयके अनुसार सच्चो भावार्थ क्या हे ये वाकू दि.१०,११,१२ जनवरी, ९२ के दिन

होयवेवाली सभामें वितरणके लिये लिखित या विडिओ-ओडिओ रिकोर्डिंगके लिये मौखिकरूपसू प्रस्तुत करनो चहिये. याके बिना कोई भी निष्कर्ष निकलनो संभव नही हे. अत: अब मतभेद रखनेवाले जो भी महानुभाव होय उनकूं या वचनावलीके स्वाभिप्रेत भावार्थकू प्रकटतया घोषित करवेके उत्तरदायित्वसू कतरानो नहीं चहिये. पर अब भी यदि कतरायेंगे तो मैं उनकूं भरी सभामें, यदि मेरी धारणाके अनुसार वे पठित है तो, मेरे अनुवादसूं सहमत घोषित कर दूंगो. अन्यथा मेरी धारणाके अनुसार अपठित होयवेपे भविष्यमें सिद्धान्तविषयक निर्णयार्थ अयोग्य व्यक्ति घोति कर दूंगो.

आशा है कि अब तो मतभेद रखनेवाले महानुभाव धर्माचार्योचित स्वधर्मनिर्धारणसाहस बटोरके सामने आयेंगे. अन्यथा रोते बच्चानकू चुप करवेकूं उनके मूंहमें शहद लगाके जैसे रबरकी टोंटी रखी जाय वैसी ही हास्यास्पद स्थिति प्रकट हो जायेगी! किमधिकं सुज्ञेषु?

भवदीय **(गोस्वामी श्याम मनोहर)**

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

सिध्दान्त वचनावली

(१) सेवोपदेशदीक्षा १५

(२) सेवास्वरूप २१

(३) सेवाप्रदर्शन २४

(४) सेवाप्रयोजन २६

(५) सेवास्थल २८

(६) सेव्यस्वरूप ३०

(७) सेवार्थ–आजीविका ३५

(८) सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारका ३६

(९) सेवोपदेष्टा ३९

(१०) भागवतकथा ४६

(११) स्वसेव्य–स्वरूप–प्रसाद ग्रहण ४८

(१२) तीर्थपर्यटन ४९

(१३) आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार ५०

परिशिष्ट–१ : शरणागति संबंधी वचनावली ५३

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्तअहेवाल ५८

।। श्रीहरिः।।

।। वचनावली ।।

(हिन्दी–भाषाभावानुवाद–सहिता)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरःप्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा।।
श्रीवाक्पतेर्वागनुगामिनां वै सद्यःस्वकर्तव्यविनिश्चयाय।
कृतो मया तद्वचनानुवादः पुष्पोपहारोपम एष नूनम्।
स्वलाभपूजार्थपरायणानां तदीयसिद्धान्तविलोपकानाम्।
भवेत् खलानां खलु मस्तकेषु पदप्रहारोपम एषएव।।

१. सेवोपदेशदीक्षा–विषयकमूलवचनानि

(क)

परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः; किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह–

कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।। (त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति 'सेवापर'एव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्'इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्'इति. 'जिज्ञासुः' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं'–सर्वभावेन–तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.

(त.दी.नि.प्र.२।२२७)

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम.

'ईक्ष'दर्शनाङ्कनयोः, 'वि'ना च सम्यक्तवं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे–''गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.

(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्गः२।२२७)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं–

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.(त.दी.नि.२।२२७)

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ–काम–लोभ–प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका

तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है.(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य'पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्यमार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष' का अर्थ होता है: 'देखना–अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभाँति परिक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहाँ गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद' ग्रन्थ प्रकट किया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये.(त.दी.नि.प्र.आवरणभंग:२।२२७).

(ख)

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत् ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद् ।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(साधनदीपिका.९–११).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहाँ है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभाँति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये.(सा.दी.९–११).

(ग)

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेद.४).

ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात...एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति; तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः.

(जलभेद.श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.विवृति ४).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) घरगृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढानेवाली होती है.(ज.भे.४).

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखंडमें ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' ब्रह्माजीको कहे गये इस पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गयी भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय ही तो हुवा! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अतः उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती...इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है ''पात्रापात्रका विचार करके ही कुछ दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करने पर स्वयं नामदानकर्ताका ही विनाश हो जाता है'', अतः अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनावश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.विवृति ४).

(घ)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह–

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्।।

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्'–मदेशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते, 'हरेः मूर्ति कृत्वा' भजेत. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः, यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त

आहुः 'सच'इत्यादि. 'तदभावे'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथग इति आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्. (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है.

ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको अपना आराध्य बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानका रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं.

किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहाँ एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान् कलियुगके कारण उपलब्ध न होता तो क्या करना चाहिये इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता; और इसी तरह

तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

***

२. सेवास्वरूप

(क) एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः 'चेत्' इति-

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः 'तद्' इति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः.

(श्रीप्रभुचरणकृत-सिद्धान्तमुक्तावली-विवृत्ति २).

तद् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति.

(सि.मु.वि.प्रकाश.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) कृष्णसेवाका यही स्वरूप है ऐसा 'चेतस्...'द्वारा श्रीमहाप्रभु समझाना चाहते हैं-

चेतस्=चित्तका कृष्णमें प्रवण=तन्मय होना ही सेवा है. वह चित्तकी कृष्णप्रवणतारूप कृष्णसेवा सिद्ध होती है तनुवित्तजा सेवा करनेसे.

चित्तको कृष्णप्रवण बनानेके साधन अन्य (=तनु और वित्त) हैं ऐसा

निरूपण कर रहे हैं 'तद्...'इत्यादि. एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नही सकता. इस अपने अभिप्रायको प्रकट करनेको श्रीमहाप्रभुने 'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी तरहके लौकिक भावोंके आधीन हुवे बिना अपने सर्वस्वका निवेदन भगवान्को करके, अपने देहका भी भगवदर्थ विनियोग करनेपर, जब भगवत्प्रेम प्रकट होता है तब कहीं जाकर चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है (सि.मु.वि.२).

वह आभ्यन्तरभक्तिसाधक बाह्योपाय, यदि किसी अन्य तनुजा सेवाके कर्ता को वेतन-तनुजासेवाके मूल्य-के रूपमें वित्त देकर, कराया जाता है तब वह वित्तजा सेवा हुई, जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नही बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन तनुजा सेवाके मूल्यके रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजा सेवा की जाती है, तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नही मिलता वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नही मिलता (सि.मु.वि.प्रका २).

(ख)

''यद् यद् इष्टतमं लोके...तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्''. भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्...सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्...इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्. (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

ननु भवतु एवं तथापि भगवति यत् समर्पणीयं तद् उत्तममेव समर्पणीयमिति तदर्थम्-मअधिकमपि लोकानुरञ्जनाद्यर्थं प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं च... लौकिकचातुर्यप्राप्तौ पुनः बाहिर्मुख्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्त्यर्थम् आहुः-म'भगवद्'इत्यादि. तथाच एवम् अक्लिष्टस्य सन्मार्गेण उपार्जने तावद् अपि तन्न भविष्यति इति अर्थः एतदेव बोधयितुम् आहुः 'इतर' इत्यादि.

(त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) ''जो कुछ लोकमें इष्टतम है...उसे कृष्णकी सेवामें लगाना चाहिये.'' भगवत्सेवामें भी क्लेशयुक्त सामग्रीका समर्पण नहीं करना चाहिये...सेवामें समर्पित की जानेवाली सामग्री भी सन्मार्गसे उपार्जित की गई होनी चाहिये, ऐसी कि जिसमें किसी दूसरेका हिस्सा न हो... अन्य प्रकारसे उपार्जित सामग्रीके सेवामें विनियोगके निषेधार्थ यह बात कही गई है (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

यहाँ ऐसी शंका उठती है कि भगवत्सेवामें जो कोई वस्तु या सामग्री भगवानको समर्पित करनी है वह उत्तम तो होनी ही चाहिये तदर्थ; इसी तरह लोगोंको खुश करनेको अथवा प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये भी अधिक भी समर्पित करनेके लिये, कुछ लौकिक चतुराई तो अपनानी ही होगी. इस तरह फिर बर्हिमुख हो जानेकी संभावना पैदा हो जाती है. इस शंकित बहिर्मुखताकी निवृत्तिके उपायको समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'भगवत्...' पदका प्रयोग किया है. इस तरह क्लेशरहित वस्तु भी सन्मार्गसे उपार्जित हो तो प्रायः बहिर्मुखता पनप नहीं पायेगी ऐसा आशय है. यही बात समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'अन्य...'पदका प्रयोग किया है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(ग)

स्वमार्गीयप्रकारोऽयं सर्वोपि हि निरूप्यते।
गृहीत्वा नाम शरणं गत्वा सर्वं समर्प्य च ।।
सेवासार्थकतासिद्ध्यै देहादीनां तथा पुनः।
अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा।।

(श्रीहरिरायजीकृत–स्वमार्गीय–शरण–समर्पण–सेवा–निरूपणम्.१–३).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) स्वमार्गीय साधनाका यह सारा प्रकार निरूपित किया जाता है:नामग्रहण करके, शरणदीक्षा लेकर; और सब कुछ समर्पित करके सेवा तथा देहादि की सार्थकता सिद्ध करनेको जिससे देहादिका कहीं अन्यत्र विनियोग न

हो जाय, तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिये (स्व.श.स.से.नि.१-३).

(घ)

यस्तु स्वमार्गीय-सेवास्वरूप-ज्ञानाभाववान् मार्गरीत्या श्रद्धया यथाकथञ्चित् स्वरूपसेवां चेत् करोतीति तत्सेवायाः केवलभौतिकत्वात् ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्' इति न्यायस्य जातत्वात् तदा सर्वथा संक्लिष्टो भवति, तदा भजनत्यागः.(स्वरूपतारतम्यनिर्णय).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) जिसे स्वमार्गीय सेवा-स्वरूपका ज्ञान न हो ऐसा व्यक्ति जब इस मार्गकी मात्र रूढिके अनुसार, श्रद्धापूर्वक ही सही, यथाकथंचित् स्वरूपसेवा करता है तो ऐसी सेवा केवल आधिभौतिक सेवा होती है अतः ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्...'' न्यायके अनुसार ऐसी सेवा करनेवाला क्लेश ही पाता है. ऐसी स्थितिमें भजन छोड देना चाहिये (स्व.ता.नि.).

***

३. सेवाप्रदर्शन

(क)

भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् इत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभो प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिराविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्. (अणुभाष्य.३।४।४९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोका

भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते अनुभूत हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभाष्य ३।४।४९).

(ख)

स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्. (साधनदीपिका.१०८)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसौंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये (साधनदीपिका.१०८)

(ग)

३८तमो अपराधः=गुरुदेवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं=श्वानयोनित्रयम्.

११अपराधः=अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवा–निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्.

३६तमो अपराधः=भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फलम् प्रायश्चित्तं=पञ्चगुणित–नैवैद्य–दानम्.

३५तमो अपराधः=गुर्वाज्ञोल्लङ्घनम्. फलम्=असिपत्रादि–घोर–नरक–पातः. प्रायश्चितम्=वैष्णव–गुरु–प्रसादनम्.

(श्रीहरिरायजी–विरचित–षट्षष्टिरपराधस्तत्फलानि–प्रायश्चित्तानि–च).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) ३८वां अपराध : गुरु या दैवत(=श्रीठाकुरजी सम्बन्धी बातों)के गुप्त–रहस्य–को प्रकट करना. फल:तीन जन्मों तक श्वानयोनि.

११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल:एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:श्रीठाकुरजीको पंचामृतसे स्नान कराना.

३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे ('भेट', 'सामग्री', 'पोथीसेवा' या 'न्योछावर') मांगना. फल:सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं कि समर्पण!) करना.

३५वां अपराध: गुरु–श्रीमहाप्रभु आदि–की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल:असिपत्रादि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित:वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.वि.षट्.).

***

४. सेवाप्रयोजन

(क)

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः।।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।
सेव्यः सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः।।

(शिक्षापद्यानि)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) न तो श्रीकृष्ण लौकिक प्रभु है और नही वे कभी लौकिक भावका अङ्गीकार ही करते हैं. हमारा भाव तो श्रीकृष्णके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं, ऐहिक भी और पारलौकिक भी. इसलिये सर्वभावसे सर्वथा सेव्य वे गोपीश ही हैं. वे ही हमारा सब कुछ करेंगे (शिक्षापद्य).

(ख)

''लौकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' (सि.मु.१६).

ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यत आहुः 'लोकार्थी' इति. 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत्

तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणादिति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति; सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति 'चेद्' इति उक्तम्. (श्रीप्रभुचरणविरचित-सि.मु.विवृत्ति.१६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) यदि कोई लोकार्थी होकर कृष्णका भजन करता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है.(सि.मु.१६).

कोई आजीविका कमाने या यशआदि पानेके लिये भी भजन करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ऐसी जिज्ञासाके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु 'लोकार्थी'की चर्चा कर रहे है. 'लोक'का मतलब है लौकिक धनादि. ऐसी लौकिक कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता हो तब जैसे घंघा करने पर धनादि प्राप्त होता है वैसे धन तो कमाया जा सकता है. भजनद्वारा, परन्तु, उपार्जित धन तो स्वयं अनर्थरूप होता है. अतः एसे लौकार्थीके द्वारा किया गया भजन तो भक्ति ही न होनेके कारण उसके द्वारा किया गया सब कुछ (पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक) क्लेशरूप ही होता है. इसलिये वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है. ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफसाफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक(पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक)क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसे निषिद्धाचरणके कारण, यह स्पष्ट करनेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'सर्वथा'पदका प्रयोग किया है. जिसे (शास्त्र-मार्ग-परम्परा-भगवत्स्वरूप-भक्तिभाव-नीतिका) अत्यल्पभी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है. फिर भी जो इस ज्ञान या संस्कार से सर्वथा ही रहित हो वह ऐसा कुकृत्य कदाचित् कभी कर सकता है. ऐसी संभावनाको देखते हुए श्रीमहाप्रभुने 'चेद्'पदका प्रयोग किया है.(श्रीप्रभु.वि.सि.मु.वि.१६).

(ग)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्।।

(शिक्षापत्रम् १८।१२-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजीकी सेवा स्वधर्म (स्व-तन-मन-धन-गृह-परिजनके ही विनियोग)को निभाते हुए करनी चाहिये, न किसी फलके लिये, न भोगके लिये; और न किसी तरहकी प्रतिष्ठा ही प्राप्त करनेके लिये. यह सेवा भी श्रीमदाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट मार्गके अनुसार ही करनी चाहिये (संगठन-प्रशिक्षण-जनकल्याणके लोकाभिमत तथाकथित उदात्त आशयके) कल्पित प्रकारोंसे नही. और न दुर्भाव(किसी दूसरे सार्वजनिक या व्यावसायिक देवालयोंके साथ प्रतिस्पर्धा)वश ही करनी चाहिये.(शिक्षापत्र.१८।१२-१३).

***

५. सेवास्थल

(क)

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः...भजेत् कृष्णम्...

(भक्तिवर्धिनी.२).

'तु'शब्देन एतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदासः उक्तः स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव आहुः 'गृहे स्थित्वा' इति. भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत्.

(श्रीगोकुलनाथजीकृत विवृति.२)

अत्र गृहस्थान-विधानेन स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन

अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति इति सूचितं भवति.

(श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजीकृतविवृत्ति.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) पुष्टिभक्तिके बीजभावको दृढ करनेका प्रकार तो बस घरमें रहकर स्वधर्मतः...कृष्णको भजना है.(भक्तिवर्धिनी.२).

यहां 'तो'शब्दके प्रयोगसे यह ध्वनित होता है कि इस श्लोकमें अभिप्रेत भजनके प्रकारसे अतिरिक्त भजनका अन्य कोई भी प्रकार सिद्धान्ताभिमत नहीं है. स्वमार्गीय भगवद्भजन घरमें रहे बिना संभव न होनेसे सर्वप्रथम गृहस्थितिका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करते हैं ''घरमें रहकर'' विधान द्वारा. भगवद्भजनानुकूल घरमें रह कर कृष्णको भजना चाहिये (श्रीगो.वि.२).

यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें घरका विधान किया गया है अतः यदि अपने घरमें बिराजते प्रभुका भजन छोड़ कर और कहीं भजन (भेटसामग्री, मनोरथ या झांखी के रूपमें) किया जाता है तो उसे 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता है.(श्रीवल्ल.बाल.वि.२)

(ख)

गूढलीलापरो भक्तगूढभावरसात्मकः।
सेवनीयः सावधानैः विपरीतगतिक्रियः।।
श्रीमदाचार्यकृपया तिष्ठति स्वगृहे हरिः।
एवंविधः सदा हस्ते योगिनः पारदो यथा।।

(शिक्षापत्र.२।१८-१९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) गूढलीलापरायण भक्तके गूढभावानुसारी विपरीत-गति-क्रिया-वाली लीला करनेवाले श्रीहरिकी सेवा सावधान हो कर करनी चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणकी कृपासे प्रभु अपने घरमें बिराजते हैं. इस तरह कि जैसे योगीके हाथमें पाराकी गुटिका (शिक्षा.२।१८-१९).

(ग)

गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजेत् यतोऽधर्मकरणाद् हीनयोनिता।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैः द्रव्यैः संपूजयेद् हरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.४५-४६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है, क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान-मंदिरादि और सिंहासनादि-का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४५-४६).

(घ)

''आचार्यकुलाद्'' इति श्रुत्युक्तरीत्या गृहएव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यं स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयम् इति सिद्धम्.

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-अणुभाष्यप्रकाश.३।४।५०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

''आचार्यकुलाद्'' इस श्रुतिमें कही गई रीतिके अनुसार घरही में रह कर भगवद्भजन करना चाहिये और अपने धर्मके रहस्यको गुप्त रखना चाहिये (अणुभा.प्र.३।४।५०).

***

६. सेव्यस्वरूप

(क)

गुप्तो हि रसः रसत्वमापद्यते = अगुप्तो रसः रसाभासःस्यात्.

(सुबो.१०।१८।५=१०।५९।४४).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है=प्रकट होने पर वही रस रसाभास बन जाता है (सुबो.१०।१८।५=१०।५९।४४).

(ख)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह ।

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं च तत्र च स्थितम् ।। (त.दी.नि.प्र.२।२२८)

'तदभाव' इति. 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति 'तद्रूपम्' इति. वस्तु विचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : ''एनम् उद्धरिष्यामि'' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्र च स्थितम्' इति. (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूल एव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः 'स च'इत्यादि. 'तदभाव'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, ''यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग'' इति आभासत्वाभावः सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकार–विशेष–सन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्. (त.दी.नि.आ.भ.२।२२८).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है.

एसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानके रूप

एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है.

किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान कलियुगके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये, इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते है कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलने पर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता, और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर पुछ-जान लेने में कोई आपत्ति नहीं है यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२२८).

(ग)

गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते।। (साधनदीपिका.९०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) भगवत्स्वरूप चाहे गुरुके द्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या हमें स्वयं कहींसे प्राप्त हो गया हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो;

अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है तो ''अपने मांथे बिराजता सेव्यस्वरूप'' ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो ('वोल्टेज' कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साधनदीपिका.९०).

(घ)

सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते।
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते।।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता।।
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम्।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः।।
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः।
अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत्।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.३९-४१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण प्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षात् भगवद्रूप ही है. पूजामार्गके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रादि-विधिके कारण पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य दोनों मार्गोकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्त्वतः सुवर्ण बन जाती है वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वतः साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीह.कृत.स्व.श.स.से.नि.३९-४१).

(ङ)

स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते।
...तदेकहृदयस्थायी तद्भावः कृष्णएव हि।
लीलासहस्रवलितः सामग्रीसहितस्तथा।
भावनीयः सदानन्दः सदा नन्दादिलालितः।।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः सिद्धान्तस्य निरूपणे।
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवेति यद्वचः।।
तदाशयस्तु विवृतः कृपयैव प्रभोर्मया।
अवगत्य जनाः सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा।।

(श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः.१-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ङ) स्वमार्गीय सेव्यस्वरूप चिन्तनका प्रकार अब कहा जाता है...पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं जो कि अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्री सहित बिराजमान हैं. वैसे सदानन्द और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तों द्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ''आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये'' इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यह ही बताया है. प्रभुकी कृपासे ही उसके आशयका मेंनें विवरण किया है. उनकी कृपासे स्वमार्गीय चिन्तनका स्वरूप जानके सर्व पुष्टिमार्गीयजन सदा हरिका चिन्तन करें ऐसी मेरी शुभकामना है (श्रीहरि.श्री.प्रभो.चिन्त.प्र.१-१३).

(च)

भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः।
सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्।।

(स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः१८)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे

भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध(प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति)को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरि.स्व.स्व.स्था.प्र.१८).

***

७. सेवार्थ–आजीविका

(क)

याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्. अचौराणाम् अपापानाम्... इति वचनात्. जीविकायां चित्तं व्यावृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आह पठेच्च नियमं कृत्वा इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः. (त.दी.नि.प्र.२।२३२).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) दिनमें कमसे कम तीन घन्टा भगवत्सेवा कर लेनेके बाद अनिषिद्ध उपायोंसे आजीविकाके उपार्जनार्थ प्रवृत्त होना चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ रही वृत्ति भी यहि निषिद्ध (देवलकादिवृत्ति–सदृश) हो तो छोड देनी चाहिये. क्योंकि ''अचौराणाम् अपापानाम्...'' वचनसे यही सिद्ध होता है. जीविकामें उलझे हुए चित्तको भगवानमें लगानेका उपाय कहते है भागवतका नियमपूर्वक पाठ करना चाहिये. थोड़ीसि भी बहिर्मुखताकी सम्भावना रहनेपर भागवतका अनुसन्धान करते रहना उपाय कहा गया है. (त.दी.नि.प्र.२।२३२)

(ख) श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थिं शवस्पृशं महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भोऽवगाह्य उत्तीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत. धृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिराचमेद् इति च्यवनवचनात्.

चितिश्च चितिकाष्ठश्च पूयं चंडालमेव च।
स्पृष्ट्वा देवलकश्चैव सवासा जलमाविशेत्।।

देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः।।

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-द्रव्यशुद्धि)

(हिन्दी-गुर्जर-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) कुत्तेका चाण्डालका प्रेतधूमका देवद्रव्योपजीवीका ग्रामयाजकका सोमविक्रेताका चिताका चिताकाष्ठका चरबीयुक्तमानुषास्थिका शवस्पर्श करनेवालेका महापातकीका तथा शवका स्पर्श करने पर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानेके बाद बाहर आने पर अग्निका उपस्पर्श करके एकसो आठ गायत्रीका जप करना चाहिये ओर धृतप्राशन कर त्रिराचमन करना चाहिये ऐसा च्यवनऋषिका वचन हे. चिता चिताकी लकडी पूय चण्डाल तथा देवलक का स्पर्श होनेपर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानी चाहिये. तीन वर्ष पर्यन्त जो वित्तार्थी होकर देवार्चन करता है उसे हव्य-कव्यमें गर्हित समजना चाहिये (श्रीपुरुषोत्तजीकृत द्रव्यशुद्धि).

***

८. सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक

(क)

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्येजत्।।

एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिरनुकूलश्चेद्इति. भार्यादिकं गृहं, विष्णुपरायुखाः भार्यादयो अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन्मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि..प्र.२।२३१)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) भार्यादिसे, उनके भगवत्सेवार्थ अनुकूल होनेपर, भगवत्सम्बन्धि क्रिया=परिचर्या करवा लेनी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करनी चाहिये और प्रतिकूल होने पर गृहादिका त्याग करना चाहिये. इस तरह भजनमें प्रवृत्त

अधिकारीके भार्यादिका भगवत्सेवामें विनियोग कहा जा रहा है ''भार्यादिके अनुकूल होने पर''. 'गृह'यानि भार्यादि. इनका परित्याग विष्णुपराङ्मुख होनेपर ही विहित है अन्यथा नहीं दोषरूप होनेसे. इससे यह कहना अभिप्रेत है कि इस मार्गमें अवैष्णवोंके साथ नहीं रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२३१).

(ख)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।

.....

एवमाश्रित्य धर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
...अतः परं क्रमेणैव जीवः कृतसमर्पणः।।९–१०।।

.....

सेवासंस्काररूपत्वाद् विदध्यात्सेवनां सदा।
...सर्वथा सर्वदैवापि नचाद्यादसमर्पितम्।।२५–२६।
तद्भक्षणे भवेदेवाब्रह्मसम्बन्धि वस्तुतः।
सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्ध–भावना–नाशएव हि।।२७।।
यथा समर्पणे योग्यं यत् तथा तत् समर्पयेत्।

.....

गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजेत् यतो अधर्मकरणात् हीनयोनिता।।४५।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैर्द्रव्यैः सम्पूजयेद् हरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।४६।।

.....

भार्यादीनामानुकूल्ये तैः सेवामेव कारयेत्।।५६।।
स्वयं कुर्याद् उदासीनतया तेषां पुनः स्थितौ।
अपकीर्तिभयात् कृष्णसेवा–वैयग्र्य–संभवात्।।५७।।

स्वकृत–ब्रह्मसंबन्धं विभाव्य हृदि सर्वथा।
तत्पोषणं प्रकुर्वीत रुग्णदेहवदातुरः।।५८।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.नि.९–५८).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) प्रारम्भमें शरणागत अधिकारीको क्या करना चाहिये यह कहा जाता है:श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मार्गके गुरुद्वारा जिसने शरणागतिकी दीक्षा ली हो उसके लिये यह आवश्यक है कि हरिको स्वामी मानकर स्वयंको सेवक मानना चाहिये...इस तरह सङ्क्षेपसे शरणागत अधिकारीके धर्मका निरूपण किया...

इसके बाद क्रमानुसार ही जिस जीवने समर्पण किया है उसका धर्म बताया जाता है. समर्पणकी दीक्षा सेवार्थ अपेक्षित संस्काररूप ही होनेसे वह दीक्षित व्यक्तिको तो सदा सेवा ही करनी चाहिये...सर्वथा सर्वदा ही असमर्पितका भक्षण नही करना चाहिये क्योंकि असमर्पितका भक्षण करनेपर वस्तुतः अब्रह्मसम्बन्धी बन जाता है और ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका भी सर्वत्र नाश ही हो जाता है. जो वस्तु जिस प्रकारसे प्रभुको समर्पित हो सकती हो उस प्रकारसे उस वस्तुको समर्पित करनी चाहिये. घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है. क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान मंदिरादि और सिंहासनादि का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये. भार्यादिके अनुकूल होनेपर उनसे भगवत्सेवा ही करानी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं ही करनी चाहिये. अपयश, कृष्णसेवामें संभावित निरर्थक व्यग्रता; एवं स्वयं अपनेद्वारा ग्रहीत ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका विचार करके, जैसे अपना ही देह कभी रुग्ण–भगवत्सेवामें भी असमर्थ–हो जाये तो भी उसका पालन तो करना ही पडता है वैसे ही ऐसे भगवत्सेवामें उदासीन परिवारजनोंके पालनमें भी रुग्णपरिवारकी भावना करनी चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.९–५८)

९. सेवोपदेष्टा

(क) परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह–म

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।

(त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद् इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद्विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासु' न तु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं–सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.

(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

'वीक्ष्य'इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. 'ईक्ष' दर्शनामनयोः, 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे–गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम् इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.

(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपयैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं.

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त(दम्भ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा)के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदयमें कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्व सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य'पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष'का अर्थ होता है:'देखना-अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अन्धा दूसरे अन्धेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही

'जलभेद'ग्रन्थ प्रकट कीया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कोन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये (त.दी.नि.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(ख)

महात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत्।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद्।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः।।

(साधनदीपिका.९-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) भगवन्महात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग)

गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः।
श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः।।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः।
अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोऽपि हि।।

उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति।

यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.निरू.४९-५१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जानने वाला तथा दम्भादिसे रहित पुरुष होना चाहिये. ऐसे लक्षणोंवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेशग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत गुरुस्थानापन्न आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणोंवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न-श्रीकृष्णज्ञानप्रद-गुरु-श्रीमदाचार्यचरण-वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है. यदि उनकी बुद्धि दुःसंगादि (अर्थलोलुप-वणिक-ट्रस्टी-संगादि) दोषोंसे अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गई हो (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४९-५१).

(घ)

अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः।

विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः।।

स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने।

प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः।।

(श्रीहरि.कृत.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्र.१६-१७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर, किसी भी प्रकारके दम्भकी या शिष्यसे कुछ अपेक्षा रखनेकी मनोवृत्तिसे रहित हो कर, उपस्थित जीवात्माका परमात्माके द्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा जीव पुष्टिलाभसे कहीं वंचित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेका सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके माथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (न कि गुरुभावतया या स्वसेव्यसे

न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये.

(श्रीहरि.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्रका.१६-१७).

(ङ)

वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुद्ध्यताम्।।१६।।
यतः तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम्।
विनयः शान्तता वेशः शंखचक्रादिचिह्नतः।।१७।।
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः।
ततो ज्ञानाभावऽतोपि सर्वथा नाशनं मतम्।।१८।।
दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यतः।
अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारितः।।१९।।
तदीयत्वभ्रमात्तस्मिन् विश्वासो संगदोषतः।
असत्यपि च सद्भावात्पतनं भक्तिमार्गतः।।२०।।
अतएवोक्तमाचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम्।
'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे।।२१।।

.....

सतोऽपि किञ्चिदाधिक्यं वञ्चके तु प्रतीयते।
प्रदर्शनार्थत्वतस्तु वेषादेरिह सर्वथा।।२५।।

.....

भगवद्भक्तसाम्येपि तदसाधारणो गुणः।
निरपेक्षत्वमेतस्मिंस्तदभावाद्धि वंचकः।।३२।।
अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा।
प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन।।३३।।
स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः।
दीनेषु भगवद्भक्तास्तदर्थैकप्रसादकाः।।३४।।
चालयत्ययमुन्मार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः।
ते तु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः।।३५।।

(श्रीहरिरायजीकृत दुःसंगविज्ञान निरू.१६-३५).

(ङ) वञ्चकको तो अन्दर तथा बाहर-दोनों तरहके चोरोंसे भी कुछ अधिक ही दुष्ट समझना चाहिये. क्योंकि उसकी आकृति, चेष्टा, आचार, भाषा, विनीतता, शान्तता, वेश, तथा शफचक्रादि चिह्न सभी भगवद्धर्मानुसार चलनेवालोंके समान ही होते हैं. अतः जिसे ऐसे वञ्चकोंकी यथार्थताका ज्ञान नहीं होता है, उसका सब तरहसे नाश होता है. भक्तोंके समान दीखनेवाले इन वञ्चकोंका ज्ञान सर्वथा अशक्य सा होता है. इसी कारणसे विचार किये बिना किसीपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये. भ्रमवश भगवदीय मान कर यदि ऐसे लोगोंका विश्वास कर लिया जाय तब तो सङ्गदोषवशात् तथा असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेके दोषवशात् निश्चित ही भक्तिमार्गसे अधःपतन हो जाता है. इसी कारणसे श्रीमहाप्रभुने निबन्धमें कृष्णसेवापरं वीक्ष्य द्वारा गुरुके जो लक्षण बतलाये हैं, उसी प्रकारसे गुरुकी भी परीक्षा करनी चाहिये...सच्चे भक्त और वंचक के बीच एक उल्लेखनीय अन्तर यही होता है कि वंचक अपनी वेषभूषा (तिलक-छापा, आचार-अपरस, नित्यसेवा, छप्पनभोगादिमनोरथ, मेरा बालूडा जेसी मिथ्या भावुकवाणी) आदि केवल प्रदर्शनार्थ ही अपनाता है. अतः एक सच्चा भक्त अपनी वास्तविक भावसामर्थ्य के अनुरूप जितनी मात्रामें इन बाह्यलक्षणोंको निभा पाता है, उससे कुछ अधिक ही इन बाह्यलक्षणोंका प्रदर्शन वंचक करता होता है. इस तरह अन्य सभी बातोंमें वंचक सच्चे भक्तोंकी बराबरी कर लेता है. अपने भक्तिभावको जनता ('क्यू'लगा कर) देखने आये ऐसी अपेक्षा एक सच्चा भक्त (जैसे कि वंचक अखबारोंमें विज्ञापन दे कर तथा घरके द्वारपर सूचनापट्ट लगा कर आम जनता उसके सेव्यस्वरूपकी सेवा-मनोरथको देखने आये ऐसी अपेक्षा रखता है!) कभी नहीं रखता. अपने सेव्य प्रभुको रिझानेमें रूपिया-पैसा-फेंकनेवाले दर्शनार्थिओंकी अपेक्षा न रख पाना वंचकसे निभ नहीं पाता! बस, इस एक असाधारण लक्षणके आधारपर वंचकको शीघ्र पहचाना जा सकता है. अतएव कोई न भी बुलाये पर वंचक हरेक धनदाताके पीछे लग ही जाता है (बहुधा स्वयं नहीं तो अपने एजेंट या समाधानी को ही लगा कर!:अनुवादक). सच्चे

भगवद्भक्त तो अनेक बार प्रार्थना करनेपर भी बडी मुश्किलसे कभी कुछ कृपा कर देते हैं, जबकि वञ्चक तो स्वार्थसे मोहित होनेके कारण कोई द्रव्यसम्पन्न है इतना पता चलते ही (लप्पुपंडा बन कर) पीछे पड जाता है. सच्चा भगवद्भक्त तो दीन-दरिद्रोंके साथ भी भेद बरते बिना उनके भक्तिभावोंका पोषण करता है. वञ्चक लोग कपटपूर्ण तथा चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे लोगोंको सच्चे मार्गसे विपरीत दिशामें ले जाते हैं. जबकि सच्चा भगवद्भक्त तो औषधिके समान कडवे सिद्धान्तवचनोंके द्वारा सन्मार्गकी ओर ही ले जाता है

(श्रीहरि.दु.वि.प्र.१६-३५)

(च)

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनात् जनः।
संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।

(शिक्षापत्र.३।८-९)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) आचार्य वचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. (शिक्षापत्र.३।८-९).

(छ)

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति, युक्तं च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(छ) इससे यह फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या

वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछभी कार्य किये बिना मुफ्तमें ही दुसरेका धन ले लेनेपर लेनेवाला ऋणी हो जाता है, जो बन्धनकारी बात है. इसके अलावा ऋत-वृत्तिके बाद 'अमृत'नामकी जो अयाचित वृत्ति कही गई है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचित ग्रहण करनेका आग्रह रखा जाय, अन्य किसीसे नहीं, तो ऐसा सङ्कोच और भी प्रशंसनीय है

(श्रीपुरुषोत्तजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(ज)

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति. (त.दी.नि.प्र.आ.भङ्ग.२।२५५-२५६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ज) गुरुको सेवोपदेश-श्रवणकी इच्छा रखनेवालेके वेशादि(भाषा, भाव, रुचि, आचार-विचार)के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा करके और जिज्ञासा जानकर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवादिका उपदेश करना चाहिये (त.दी.नि.आ.भं.२५५-२५६).

***

१०. भागवतकथा

(क)

.....ततो भागवतं कृतम्।
एतदभ्यसनात् लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।५७।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।
पठनीयं प्रयन्तेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत् ।।२५३-४।।

(त.दी.नि.-२।६७,२४३,२५४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) ...तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास(श्रवण-स्मरण-कीर्तन)से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय, यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(त.दी.नि.६७, २४३, २५४).

(ख)

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।।

(जलभेद.५).

पञ्चमं भावम् आहुः 'जलार्थमेव' इति. प्रक्षालनोच्छिष्ट-जलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्ताः तत्तुल्याः नीचाः गानोपजीविनः इति अर्थः...तेन उच्छिष्ट-गर्त-जलवत् तेषां भावो न सद्भिः ग्राह्यः इति अर्थः... पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनः यद् गायकनिरूपणं तद् एतादृशानां पौराणिकानाम् एतद्गायक-तुल्यत्व-ज्ञापनार्थम्.

(श्रीकल्याणरायविरचित-जलभेद-विवृति.५).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता अपवित्र-मलिन-जल-को एकत्रित करनेके लिये जमीनमें खोदे गये गहरे गड्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

श्रीमहाप्रभु पांचवें भावका वर्णन करनेको जलको एकत्रित करनेके लियेशब्दप्रयोग करते हैं. मुखादिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेके लिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते

हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहिं होता...पौराणिकोंके भावके निरूपणके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह ऐसे (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक ऐसे गायकोंके तुल्य हैं यह दिखलानेके लिये किया गया है (श्रीकल्याण.वि.ज.भे.वि.५).

***

११. स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसाद-ग्रहण

(क) अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्याद् अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा दासधर्मत्वात्. (नवरत्नविवृति.१).

'अपरञ्च'इत्यादि दानं नाम स्वत्व-परित्याग-पूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ''तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम'' इत्यादि शब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते सति 'हि' निश्चयेन 'न स्वविनियोगः' दत्तापहार-दोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः ''तुभ्यं समर्पयामि-निवेदयामि''इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते तु नः स्वविनियोगो दोषाय दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्.

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.न.वि.प्र.१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) अपरञ्च भगवत्स्वरूपके लिये दान(भेट)रूपसे कुछ भी देने पर अपने किसी भी कार्यमें उस प्रदत्त वस्तुका विनियोग किया नहीं जा सकता, परन्तु भगवत्स्वरूपको किसी वस्तुके निवेदन करनेपर यह बात लागू नहीं होती. अन्यथा प्रभुको निवेदित अन्नादिका ग्रहण भी हो नहीं पायेगा. अनिवेदित वस्तुका उपभोग तो निषिद्ध ही है. अतः निवेदित वस्तुके भगवद्भोगार्थ विनियोग हो जाने पर भगवत्प्रदत्त प्रसादके रूपमें भक्तके द्वारा उपभोग भी उचिततर ही है, दासधर्म होनेके कारण (नवरत्नविवृति.१).

अपरञ्च अपने स्वत्वका परित्याग कर परस्वत्वको पैदा करनेवाले– ''तुम्हें में यह देता हूँ, अब यह वस्तु मेरी नहीं है'' जैसे शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त होते संकल्पात्मक मनोव्यापारसे 'दान' किया जाता है. दान करनेपर निश्चयेन स्वार्थविनियोग अनुमत नहीं है, 'दत्तापहार' दोषजनक होनेसे. निवेदन तो, जबकी, स्वयंके तदीय होनेके अनुसन्धानके साथ स्वत्वाभिमान(नहीं कि स्वत्व)के त्याग करनेपर होता है. ''यह वस्तु तुम्हें समर्पित करता हूँ–निवेदित करता हूँ'' जैसे शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला, दानसे विलक्षण, संकल्पात्मक मनोव्यापार यहाँ होता है. इस निवेदनके करनेपर निवेदित वस्तुका अपने उपभोगमें विनियोग दोषरूप नहीं होता. क्योंकि न तो किसी दूसरेको कुछ दिया जा रहा है और न दी हुई किसी वस्तुका अपहरण ही किया जा रहा है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत न.वि.प्र.१).

***

१२. तीर्थपर्यटन

वर्णाश्रम–युक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्पन्ते इति आह ।

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दीनान्नाधिकस्य हि।।
हतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।

...तत्र अटनप्रकारकम् आह 'अतस्तेष्वप्रतिग्राही' इति. तीर्थप्रवेशदिवसे तु उपवासः अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं न तु ततो अधिकम्...उच्चैः नामसमीर्तनं तत्र अङ्गम् अन्तर्भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेत्. न अत्र ''नैक प्रपद्येताध्वानम्'' इति स्मृतिदोषः पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या शान्तश्च चित्ते भवेत्... (त.दी.नि.प्र:२।२४८–९).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

वर्णाश्रमवान अधिकारियोंके लिये भी वर्णाश्रम धर्म ओर तीर्थयात्रा के बीच विकल्प स्वीकारा गया है ऐसा निरूपण करते हैं– यज्ञों और तीर्थोंको

भगवान हरिने समान बनाया है. अतः एक दिनसे अधिक चलने वाली सामग्रीका प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये. भगवानके नाम और लीला का निःसंकोच पाठ करते रहना चाहिये. बिना किसी स्पृहाके शान्त एकाकी और कृष्णतत्त्पर होकर तीर्थ पर्यटन करना चाहिये.

...तीर्थाटनका प्रकार निरूपित करते हैं ''अतः..'' तीर्थक्षेत्रमें प्रवेशके दिन तो उपवास ही रखना चाहिये. अगले दिन यदि खाने जितना अन्न न हो तो उतना लिया जा सकता है उससे अधिक नहीं...वाणीसे उच्चस्वरमें नामसंकीर्तन और हृदयमें भीतर भगवत्स्मरण ये तीर्थयात्राके अंग हैं. पर्यटन एकाकीतया करना चाहिये. यहाँ ''अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिये'' इस स्मृतिमें निरूपित दोषका कोई प्रसङ्ग नहीं है. मार्गमें भोगादिककी स्पृहा नहीं करनी चाहीये. शान्त रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२४८-९).

***

१३. आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार

(क)

तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गात्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं. (श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख)

तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः।।
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।

अनुवादो न स्वबुद्धया किन्तु मूलक्रमागतः।।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

(शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग)

यो वदत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः।
संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम।
निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा।।

(शिक्षापत्र.३।८-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. यह निष्कर्ष सभी-स्वमार्गीय, अस्वमार्गीय; अथवा वल्लभकुलमें

प्रसूत–के साथ किये जाने वाले सत्संगको परखनेके लिये है. अपनी मति स्वतः ही श्रीमदाचार्यचरणमें सदा स्थापित करनी चाहिये. पुष्टिमार्गीयोंके सभी कार्य इसीसे सिद्ध होंगे (शि.प.३।८–११).

।। सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

***

परिशिष्टम्–१

शरणागति सम्बन्धीवचनावली

(१)

(आश्रयस्वरूपलक्षणम्)

.....आश्रयोऽतो निरूप्यते।।
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।।

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुष्ठेयत्वम्)

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः।।
अहङ्कार–कृते चैव पोष्य–पोषण–रक्षणे।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे।।
अलौकिक–मनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः।।

(भगवदाश्रयसिद्ध्यै क्रमिकोपाय[१-४]–चतुष्टयम्)

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१।।
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च।
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथाऽन्यत्र विवर्जयेत् ।।२।।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः।।
यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्।।

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्त्यन्तरेणोपसंहारः)

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः।।

(विवेकधैर्याश्रय.९–१७)

(२)

(प्रपत्तिमार्गे उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमा श्रवणादिषु।
देश–काल–द्रव्य–कर्तृ–मन्त्र–कर्म–प्रकारतः।

(पञ्चपद्यानि.५)

(३)

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः
षड्विधायाः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्।
करिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा ।।४।।
आत्मनैवेद्य–कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

(पञ्चश्लोकी.४–५)

(४)

प्रपत्तिमार्गमाह :

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेंकटे तथा।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।

(त.दी.नि.२५५).

प्रपत्तिमार्गम् इति. भगवानैव मम ऐहिके परलोके च गतिरहं भगवद्दास इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्ग इत्यर्थः. तत्र तिष्ठेत इति मूले. त्वद्दासोऽहं सर्वार्थे त्वामेव आश्रित इत्यादि अभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेत इत्यर्थः.

(त.दी.नि.प्र.कल्या.टि.२।२२५).

प्रपत्ति इत्यादि. अत्रापि अनधिकारे उपायान्तरं तदनुकल्पभूतम् आह इत्यर्थः. सर्वधर्मान्... इत्यत्र 'एक'पदाद् अन्याश्रयः सर्वथा बाधक इति बोधयितुं तत्परपदस्य तात्पर्यम् आहुः प्रपत्तौ इत्यादि. तत्परः तिष्ठेद् इत्यर्थः.

स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थम् आहुः पूजाइत्यादि. एतस्यैव शेषौ विवेकधैर्याश्रयौ ज्ञेयौ. प्रपत्तिश्च शरणागतिः, आश्रयः इति यावत. तत् प्रथमतो मानसं, पश्चात् कायिकं वाचनिकम् इति अक्रूरस्तुतौ उक्तं सुबोधिन्यां तद् उपपादितं शरणागतिप्रकरणे इति च. तदेव विवेकधैर्याश्रये विवेकधैर्ययोः निरूपणेन कायिकम्, आश्रयनिरूपणेन मानसं, वाचनिकं च उक्तम्. अत्रापि कारणं भगवदनुग्रहएव इति सोऽहं त्वाङ्घ्रीत्यत्र अक्रूरस्तुतौ प्रतिपादितम्.

(त.दी.नि.प्र.आव.भङ्ग.२।२५५).

(५)

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते्।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः।।
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्।।
आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।।
यन्न योगेन साफ्येन दानव्रततपोध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।
तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्।।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयम् उक्तवान्।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।।

(त.दी.नि.२।३०४-३११)

(६)

(प्रपत्तौ दीक्षितानां वैष्णवाचारपरिपालनपराणां कृते सप्तविधभक्तेः उपदेशः)

लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः।
धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः।।
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम्।
हिंस्र–काम्या–ऽन्यदेवार्चां यदि नित्यं च लौकिकम्।।
पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः।
श्रवणादि परो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत्।।
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्ययोभ्यः शृणुयात् सदा ।
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेद् अन्यथैकलः ।।
अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत ।
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैः।।
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च ।
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले ।।
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्।
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्।।

(साधनदीपिका.२४–३०)

(७)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।९।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।
लौकिकं वैदिकं वापि विदध्याद् भक्तिसिद्धये।।१०।।
नान्यमार्गाश्रयो नैव देशान्तरसमाश्रयः।
नैव तीर्थाश्रयो नैवाभिमतेः कर्तृताश्रयः।।११।।
नैव मन्त्रसमाधारो न च कर्मादिकाश्रयः।
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं धर्मत्वेन हरौ दृशि।।१२।।

विवेकादेरभावेन दैन्येनार्थत्वभावनम्।
स्वकामपूरणार्थाय पूर्णानन्दत्ववेदनम्।।१३।।
न साधनैर्भवेन्मोक्षो हरिरेव तदात्मकः।
तदीयतायाः संपत्ता (?) मुक्तत्वेनैव चिन्तनम्।।१४।।
अतएव निराकाङ्क्षा मोक्षतः कृष्णसेवकाः।
देशादिसाधनं कृष्णः पुरुषार्थश्चतुर्विधः।।१५।।
एवं मनसि सततं चिन्तनीयं प्रयत्नतः।
प्रायश्चित्तादिषु मतिर्न कार्या शरणं व्रजेत्।।१६।।
उपस्थितेषु दोषेषु सर्वेष्वथ विशेषतः।।
सुशक्येष्वप्यशक्येषु हरेर्गतिमथ स्मरेत्।।१७।।
अन्याश्रयो नैव कार्यो नैवान्यत्र स्वतो व्रजेत्।
प्रार्थना नैव कुत्रापि कर्तव्या भगवत्यपि।।१८।।
अविश्वासो न कर्तव्यो ब्रह्मास्त्रस्य निदर्शनात्।
लौकिके वैदिके वापि कार्ये सङ्गं विवर्जयेत्।।१९।।
यथाकथञ्चित् कर्तव्ये भारवत्तत्र भावनम्।
सर्वत्र ममतां त्यक्त्वा सर्वं कार्यं प्रसाधयेत्।।२०।।
लोभं च हृदये नैव कुर्यात्, प्राप्तं हि सेवयेत्।
शरणस्यापि ये धर्मास्तत्सिद्धौ शरणं व्रजेत्।२१।।
विवेकधैर्येऽपि सदा श्रीकृष्णाश्रयपोषके।
तद्ग्रन्थेभ्योऽवगत्यापि प्रयत्नाद् हृदि भावयेत्।।२२।।
एवम् आश्रितधर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
आश्रित्य वल्लभाचार्यन् बुद्धवैवं कृष्णमाश्रयेत्।।२३।।

(श्रीहरि.श.स.से.निरू.९-२३).

***

॥ શ્રી હરિઃ ॥

: : પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત-ચર્ચાસભાનો સંક્ષિપ્ત અહેવાલ : :

(પુષ્ટિસિદ્ધાંત-ચર્ચાસભાનો વિસ્તૃત અહેવાલ વીડિઓ-ઓડિઓ કેસેટ્સના આધારે તેમાં કોઈ પણ સુધાર-વધાર કર્યા વિના વહેલી તકે પ્રકાશિત કરાવવામાં આવશે).

● આયોજકમંડલ ●

::૧::ગો. શ્રીવ્રજપ્રિયજી મુરલીધરજી(મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીનીરજકુમારજી માધવરાયજી(મુંબઈ)
::૩:: ગો. વિ. શ્રીમનોજકુમારજી નૃત્યગોપાલજી(મુંબઈ)
::૪::ગો .વિ. શ્રીયોગેશ રઘુનાથલાલજી (મુંબઈ-ગોકુલ)
::૫::ગો. વિ. શ્રીશરદ અનિરુદ્ધલાલજી (માંડવી-હાલોલ-મુંબઈ)
::૬::ગો.વિ.શ્રીપંકજ ચિમનલાલજી (માંડવી-ગોકુલ)
::૭::ગો.વિ. શ્રીપીયૂષ કિશોરચન્દ્રજી (માંડવી-જૂનાગઢ-મુંબઈ)
::૮::ગો.વિ. શ્રીગોપેશકુમારજી મુરલીમનોહરજી(મુંબઈ)
::૯::ગો.વિ.શ્રીભૂષણ ચિમનલાલજી (માંડવી-ગોકુલ)
::૧૦::ગો.વિ.શ્રીવિકલદેવકીનન્દનાચાર્યજી (ગોકુલ-અમદાવાદ-મુંબઈ)
::૧૧::ગો.વિ.શ્રીમિલનકુમારજી લાલમણિજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)
::૧૨::ગો.વિ.શ્રીશરદકુમારજી લાલમણિજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)

દ્વારા; સમ્પ્રદાયના પ્રાણોપમ તેમજ વિવાદગ્રસ્ત મુદ્દાઓ પર ; તા.૧૦-૧૧-૧૨-૧૩,જાનેવરી,૯૨ના દિવસોમાં વિશ્વકર્માબાગ, બજાજ રોડ, વિલેપાર્લે (પશ્ચિમ), મુંબઈ-૫૬, સ્થલે ગોઠવવામાં આવેલી ચર્ચાસભામાં અતિશય ઔદાર્ય સ્વધર્મ-નિષ્ઠા તથા નિર્ભીક-સાહસ થી ઉપસ્થિત રહીને ચર્ચાસભાની શોભામાં અભિવૃદ્ધિ કરનાર ઉપસ્થિત આદરણીય ગોસ્વામી મહાનુભાવો તથા શાસ્ત્રીજીઓ ની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીઉત્તમશ્લોકજી દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીકલ્યાણરાયજી ગોવિન્દરાયજી(પૂના-સુરત)
::૩::ગો.વિ. શ્રીકન્હૈયાલાલજી ચન્દ્રગોપાલજી(વિરમગામ-અમદાવાદ)
::૪::ગો. શ્રીકિશોરચન્દ્રજી પુરુષોત્તમલાલજી (જૂનાગઢ-મુંબઈ)
::૫::ગો. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી કૃષ્ણજીવનજી (મુંબઈ)
::૬::ગો. વિ. શ્રીકૃષ્ણકાન્તાજી કૃષ્ણચન્દ્રજી (મુંબઈ-ઉદયપુર)
::૭::ગો. શ્રીકૃષ્ણકુમારજી રમણલાલજી (મુંબઈ)
::૮::ગો. વિ. શ્રીગોપિકાલંકારજી વલ્લભલાલજી (રાજકોટ)
::૯::ગો.શ્રીગોવિન્દરાયજી રણછોડલાલજી (પોરબન્દર)
::૧૦::ગો .વિ .શ્રીચન્દ્રગોપાલજી મધુસૂદનલાલજી (વડોદરા)

::૧૧::ગો.શ્રીત્રિલોકીભૂષણજી ત્રિકમરાયજી (કલકત્તા)

::૧૨::ગો.ચિ. શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી ગોકુલનાથજી (ગોકુલ-અમદાવાદ)

::૧૩::ગો.ચિ.શ્રીદ્વમિલકુમારજી મથુરેશ્વરજી (વડોદરા)

::૧૪::ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૧૫::ગો.ચિ.શ્રીપુરુષોત્તમજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૧૬::ગો.ચિ. શ્રીપ્રશાન્તકુમારજી રાજકુમારજી (મુંબઈ)

::૧૭::ગો.શ્રીબાલકૃષ્ણજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)

::૧૮::ગો. ચિ.શ્રીમથુરેશ્વરજી મધુસૂદનજી (વડોદરા)

::૧૯::ગો.ચિ.શ્રીમધુસૂદનજી કૃષ્ણચન્દ્રજી(મદ્રાસ). શ્રીરઘુનાથલાલજી રમણલાલજી (મુંબઈ-ગોકુલ)

::૨૧::ગો.ચિ.શ્રીરઘુનાથજી રમેશચન્દ્રજી (મુંબઈ)

::૨૨::ગો.શ્રીરસિકરાયજી દ્વારકેશલાલજી (મથુરા-પોરબન્દર)

::૨૩::ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી (કડી-અમદાવાદ)

::૨૪::ગો.શ્રીવલ્લભરાયજી ગોવિન્દરાયજી (સુરત)

::૨૫::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી ગિરિધરલાલજી(કામવન-વિદ્યાનગર)

::૨૬::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી દેવકીનન્દનાચાર્યજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)

::૨૭::ગો.શ્રીવિજયકુમારજી ગોવિન્દરાયજી (ગોંડલ-કડી)

::૨૮::ગો.શ્રીવિકલનાથ-લાલમણિ-જી રણ-છોડલાલજી(જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)

::૨૯::ગો.શ્રીવ્રજજીવનજી પુરુષોત્તમલાલજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૩૦::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ઘનશ્યામલાલજી (રાજકોટ-કામવન)

:૩૧::ગો.ચિ. શ્રીવ્રજેશકુમારજી ચન્દ્રગોપાલજી (વીરમગામ-અમદાવાદ)

::૩૨::ગો.શ્રીમરદકુમાર-શ્રીલુબાવા-જી મુરલીધરજી(વેરાવલ-પોરબન્દર-મુંબઈ)

::૩૩::ગો.શ્યામ મનોહર દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)

::૩૪::ગો.શ્રીશ્યામસુન્દરજી મુરલીધરજી (મુંબઈ)

::૩૫:ગો. શ્રીહરિરાયજી વ્રજભૂષણલાલજી (જામનગર).

::૧::શ્રીજયવલ્લભશાસ્ત્રીજી (મુંબઈ)

::૨::શ્રીનિરંજનશાસ્ત્રીજી(ઉમરેઠ-મુંબઈ)

::૩::શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી (મથુરા)

::૪::શ્રીવ્રજેશશાસ્ત્રીજી(મહેસાણા-વીસનગર).

ગોસ્વામીશ્યામમનોહર(કિશનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત, ભાવાનુવાદમાટે પોતાની સહમતિ દરસાવનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીઅનિરુદ્ધલાલજી દ્વારકેશલાલજી* (માંડવી-હાલોલ)

::૨::ગો. ચિ.શ્રીકન્હૈયાલાલજી ચન્દ્રગોપાલજી (વિરમગામ-અમદાવાદ)

::૩::ગો. શ્રીકિશોરચન્દ્રજી પુરુષોત્તમલાલજી+ (જૂનાગઢ-મુંબઈ)

::૪::ગો.ચિ.શ્રીકૃષ્ણકાન્તજી કૃષ્ણચન્દ્રજી
(મુંબઈ-ઉદયપુર)
::૫::ગો. શ્રીકૃષ્ણકુમારજી રમણલાલજી
(મુંબઈ કામવન)
::૬::ગો.શ્રીગિરિધરલાલજી ગોવિન્દરાયજી * *
(કામવન-વિદ્યાનગર)
::૭::ગો. ચિ. શ્રીગોપિકાલંકારજી વલ્લભલાલજી
(રાજકોટ)
::૮:: ગો. ચિ. શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી
ગોકુલનાથજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)
::૯::ગો.ચિશ્રીદુમિલકુમારજી મથુરેશ્વરજી
(વડોદરા)
::૧૦::ગો.શ્રીદ્વારકેશલાલજી ગોવિન્દરાયજી* *
(કામવન-સુરત)
::૧૧::ગો.શ્રીનવનીતલાલજીગોવિન્દરાયજી* *
(કામવન-ભાવનગર)
::૧૨::ગો.ચિ.શ્રીમથુરેશજી ચન્દ્રગોપાલજી*
(અમદાવાદ-વીરમગામ)
::૧૩::ગો.શ્રીમાધવરાયજી મુરલીધરજી*
(વેરાવલ)
::૧૪::ગો.શ્રીરઘુનાથલાલજી રમણલાલજી
(મુંબઈ-ગોકુલ)
::૧૫::ગો .ચિ. શ્રીરઘુનાથજી રમેશચન્દ્રજી(મુંબઈ)
::૧૬::ગો. ચિ શ્રીરવીન્દ્રકુમારજી દામોદરલાલજી
(માંડવી-રાજકોટ)
::૧૭::ગો.શ્રીરસિકરાયજી દ્વારકેશલાલજી
(મથુરા-પોરબન્દર)
::૧૮::ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી
(કડી-અમદાવાદ)
::૧૯::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી ગિરિધરલાલજી
(કામવન-વિદ્યાનગર)
::૨૦::ગો.શ્રીવલ્લભલાલજી ગોવિન્દરાયજી
(કડી-અમદાવાદ)
::૨૧::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી
દેવકીનન્દનાચાર્યજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)
::૨૨::ગો. શ્રીવિજયકુમારજી ગોવિન્દરાયજી
(ગોંડલ-કડી)
::૨૩::ગો. શ્રીવિકુલનાથ-લાલમણિ-જી
રણછોડલાલજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)
::૨૪::ગો.શ્રીવ્રજરાયજી રણછોડલાલજી*
(અમદાવાદ)
::૨૫::ગો.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી*
(અમદાવાદ-કડી)
::૨૬::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ચન્દ્રગોલાલજી
(વીરમગામ-અમદાવાદ)
::૨૭::ગો. શ્રીશરદકુમાર-શીલુબાવા-જી
મુરલીધરજી(વેરાવલ-પોરબન્દર-મુંબઈ)
::૨૮::ગો. શ્રીશ્યામસુન્દરજી મુરલીધરજી(મુંબઈ)
::૧::શ્રીનવનીતપ્રિયશાસ્ત્રીજી* (નડિયાદ)
::૨::શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી(મથુરા)
::૩::શ્રીવ્રજેશશાસ્ત્રીજી(મહેસાણા-વીસનગર)

ગોસ્વામીશ્યામમનોહર(કિશનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત,ભાવાનુવાદમાટે અસહમતિ દરસાવનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીગોપાલલાલજી પુરુષોત્તમલાલજી* (કોટા)
::૨::ગો.ચિ.શ્રીમથુરેશ્વરજી મધુસૂદનજી (વડોદરા)
::૩::ગો. શ્રીવલ્લભલાલજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)
::૪::ગો. ચિશ્રીવિનયકુમારજી ગોપાલલાલજી* (કોટા)
::૫::ગો. શ્રીવ્રજરત્નલાલજી વેંકટેશજી* (સુરત)
::૬::ગો.શ્રીવ્રજરમણલાલજી દામોરલાલજી* (મથુરા)
::૭::ગો.ચિ.શ્રીશરદકુમારજી ગોપાલલાલજી* (કોટા)
::૮::ગો.શ્રીહરિરાયજી વ્રજભૂષણલાલજી (જામનગર).

ગોસ્વામીશ્યામમનોહર(કિશનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત, ભાવાનુવાદમાટે સભામાઁ મૌન રાખનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો. શ્રીઉત્તમશ્લોકજી દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીકલ્યાણરાયજી ગોવિન્દરાયજી (પૂના-સુરત)
::૩::ગો. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી કૃષ્ણજીવનજી(મુંબઈ)
::૪::ગો.શ્રીગોવિન્દરાયજી રણછોડલાલજી (પોરબન્દર)
::૫::ગો.ચિ.શ્રીચન્દ્રગોપાલજી મધુસૂદનલાલજી (વડોદરા)
::૬::ગો.શ્રીત્રિલોકીભૂષણજી ત્રિકમરાયજી (કોટા-કલકત્તા)
::૭::ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશલાલજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી -મુંબઈ)
::૮::ગો.ચિ.શ્રીપુરુષોત્તમજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)
::૯::ગો. ચિ. શ્રીપ્રશાન્તકુમારજી રાજકુમારજી (મુંબઈ)
::૧૦::ગો. શ્રીબાલકૃષ્ણજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)
::૧૧::ગો.શ્રીવ્રજજીવનજી પુરુષોત્તમલાલજી (અમરેલી-મુંબઈ)
::૧૨::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ઘનશ્યામલાલજી (રાજકોટ-કામવન).
::૧::શ્રીજયવલ્લભશાસ્ત્રીજી(મુંબઈ)
::૨::શ્રીનિરંજનશાસ્ત્રીજી (ઉમરેઠ-મુંબઈ)

(સંવાદસ્થાપક-મંડળના સૌજન્યથી) .

* * * * *

(+) પૃષ્ઠ સંખ્યા ૪, શીર્ષક ૧-ખ, માઁ 'કોઈક પુરુષને'શબ્દપ્રયોગને સ્થાને 'એવા પુરુષને'શબ્દપ્રયોગ હોવો જોઈએ તથા પૃષ્ઠ સંખ્યા ૧૧, શીર્ષક ૨-ઘ, માઁ 'ધોથી' શબ્દ ન હોવો જોઈએ.

(*) પત્રદ્વારા પ્રાપ્ત .

(**)હમારે વિચારસે ઈન વચનનકો જો અનુવાદ શ્રીશ્યામમનોહરજીને કિયો હૈ વહ સહી હૈ એવં યા અનુવાદસૂઁ જહાઁ કહીં વ્યક્તિગત ઉલ્લેખકી ગન્ધ હૈ વા સ્થલકુ છોડકે, હમ સહમત હૈં.

* * * * *



अमृतवचनावली

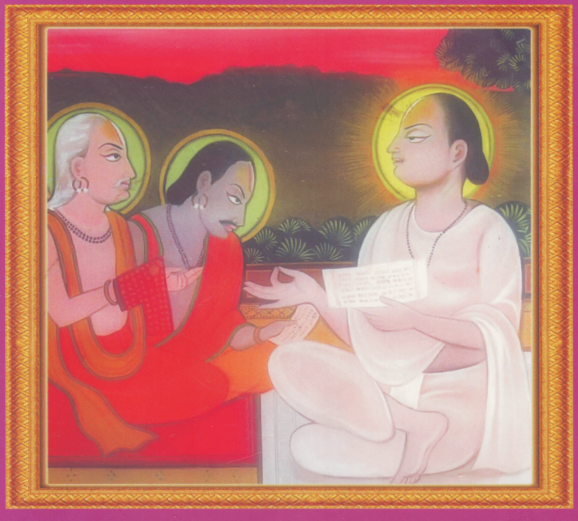

सहयोग प्रकाशन

सहयोग प्रकाशन:

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-मुंबई)
गोस्वामी श्रीमिलनकुमारजी श्रीलालमणीजी (कोटा-जोधपुर-मुंबई),



'सिद्धान्तमुक्तावली' अध्ययनसत्र (२६/०१-०४/०२, २००८) के उपलक्ष्यमें
श्रीबालकृष्णजी हवेली,
जूनी धानमंडी,
जोधपुर, राजस्थान.

श्रीकिशोर राठी, जयपुर
श्रीमती अनुराधा के मास्तर, मुंबई
श्रीसचिन संघवी, मुंबई
श्रीमती शोभा भाटीया, कांदीवली
श्री मदनमोहन शुद्धाद्वैत ट्रस्ट, चेन्नई
श्रीनीरज शाह, यु.एस्.ए.
गो.वा.श्रीकृष्णलाल मास्तर, मुंबई
श्रीमती पार्वती भाटीया, मलाड,
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
श्री प्रितेष शंकरलाल शाह, वडोदरा

संस्करण	वि.सं.	प्रति	
१.	२०४७	१०,०००	(गुजराती)
२.	२०५०	५०००	(व्रजभाषा)
३.	२०६०	४०००	(व्रजभाषा)
४.	२०६०	५०००	(गुजराती)
५.	२०६०	३०००	(गुजराती)
६.	२०६०	२०००	(गुजराती)
७.	२०६०	२०००	(गुजराती)
८.	२०६१	३०००	(हिन्दी)
९.	२०६१	२०००	(हिन्दी)
१०.	२०६१	१०००	(गुजराती)
११.	२०६१	१०००	(गुजराती)
१२.	२०६२	११००	(हिन्दी)
१३.	२०६३	३०००	(व्रजभाषा)
१४.	२०६४	१०,०००	(गुजराती)
१५.	२०६४	१०,०००	(प्रस्तुत हिन्दी संस्करण)

कुल प्रति = ६०,१००

प्रकाशनवर्ष:
वि.सं. २०६४, श्रीवल्लभाब्द ५३०, ई.स.२००७

प्रति : १०,०००

नि :शुल्क वितरणार्थ

मुद्रक:
श्रीवल्लभ बुक मेन्यु. कं., अमदावाद

डिज़ाईन :
लिप्सा - दिप्ती

।। अमृतवचनावली ।।

सहयोग प्रकाशन

।। अनुक्रमणिका ।।

- श्रीगोवर्धननाथजी ६८
- महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ६८
- श्रीगोपीनाथप्रभुचरण ६९
- श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण ६९
- श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी ७१
- श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण ७१
- श्रीहरिराय महाप्रभु ७१
- गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण ७२
- नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी (मुम्बई) ७३
- नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज (जतिपुरा) ७३
- नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी (श्रीनाथद्वारा) ७४
- नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी (राजनगर) ७४
- नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी (अमरेली) ७५
- नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (कामवन) ७५
- नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी (सुरत) ७६
- नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (इन्दौर) ७६
- नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी (किशनगढ-मुंबई) ७७
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (कांकरोली) ७८
- नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी (मद्रास-मुंबई) ८0
- नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी (पोरबंदर) ८१
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर) ८२
- नि.ली.प्रथमेश गो.श्रीरणछोडलालजी (मुंबई-कोटा) ८४
- नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी (सुरत) ८९
- नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमारजी (कामवन-मुंबई) ९२
- नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन) ९५

- नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर) १००
- नि.ली.गो.श्रीव्रजरायजी (अमदावाद) १०१
- गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी श्रीव्रजरायजी (अमदावाद) १०५
- नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी (मुंबई–नासिक) १०५
- गो.श्रीघनश्यामलालजी (कामवन) १०७
- गो.श्रीहरिरायजी (जामनगर) १०८
- गो. श्रीलालमणीजी (कोटा–जतिपुरा–मुंबई) १०९
- गो. श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत) १११
- पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी (वडोदरा–कांकरोली) ११२
- गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी (वडोदरा–कांकरोली) ११३
- गो.श्रीगोकुलोत्सवजी (इन्दौर–श्रीनाथद्वारा) ११४
- पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी (अमरेली) ११५
- गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत) ११६
- गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी (वडोदरा) ११९
- नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीव्रजेशकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.चि.श्रीयोगेश्वरजी श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा) १२६
- गो.श्रीवल्लभरायजी (सुरत) १२७
- गो.श्रीहरिरायजी महाराज (पोरबंदर) १२८
- गो.श्रीद्वारकेशलालजी श्रीगोविन्दरायजी (सुरत) १३०
- गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीगोविन्दरायजी (भावनगर) १३३
- गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगिरिधरलालजी (कामवन) १३५
- गो.श्रीरमेशकुमारजी (मुलुंड) १३८

- गो.श्रीनीरजकुमारजी श्रीमाधवरायजी (मुंबई-वापी) १३८
- गो.श्रीमाधवरायजी (वेरावल) १३९
- गो.श्रीशरद्कुमारजी श्रीमुरलीधरजी (वेरावल) १४२
- गो.श्रीचन्द्रगोपलजी श्रीमुरलीधरजी (वेरावल-पोरबंदर) १४२
- गो.श्रीअजयकुमारजी (मद्रास-पूना) १४४
- गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी श्रीव्रजेशकुमारजी (वडोदरा) १४५
- गो.श्रीश्यामसुंदरजी श्रीमुरलीधरजी (बोरीवली) १४६
- गो.श्रीव्रजप्रियजी श्रीमुरलीधरजी (बोरीवलीा १४६
- गो.श्रीरसिकरायजी श्रीद्वारकेशलालजी (उपलेटा) १४८
- गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ) १५०
- गो.श्रीयोगेशकुमारजी (मुंबई) १५१
- गो.श्रीगोपिकालंकारजी (माणावदर-राजकोट) १५३
- संयुक्तघोषणापत्र पर वल्लभवंशज गोस्वामी आचार्योंके हस्ताक्षरकी फोटो कॉपी. १५६
- संयुक्तघोषणापत्रके समर्थनमें हस्ताक्षर और/अथवा पत्रद्वारा सम्मति प्रदान करनेवाले गोस्वामी आचार्योंके चित्र. १५७
- संयुक्तघोषणापत्रमें निरूपित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें समर्थन देता हुवा नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालज (कडी-कोटा)का पत्र. १६२
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज, जामनगर द्वारा लिखित पत्र जिनमें आपने अपने सभी बालकों सहित संयुक्तघोषणापत्रमें निरूपित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें अपना समर्थन प्रकट किया है. १६३
- पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई 'सिद्धान्तवचनावली' पर सम्मतिके कतिपय हस्ताक्षरोंकी फोटो कॉपी. १६६

श्रीगोवर्धननाथजी



पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ''महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ''हमहु कौन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''. (८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

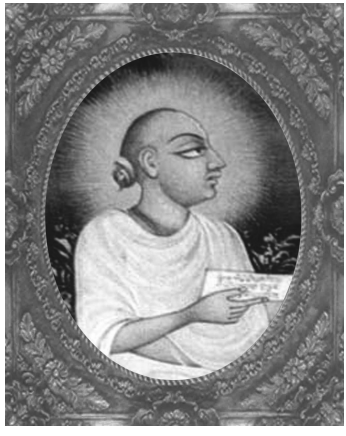

जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे, सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिए गोअनको खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे. **(घरुवार्ता-३)**

श्रीभागवतको स्वयं ही पढना चाहिये. लौकिक-पारलौकिक किसी

भी हेतु-प्रयोजनसे श्रीभागवतको पढना-सुनना नहीं चाहिये. प्राण कण्ठ तक आ गये हों तब भी भागवतकी कथा दक्षिणा लेकर आजीविकाकेलिये नहीं करनी चाहिये. **(निबन्ध)**

कथा-कीर्तनसे आजीविका चलानेवाले नीच लोग मुख-मल आदिके प्रक्षालनके उपयोगमें आये हुवे गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें खोदे जाते गढ्ढे (गटर) के जैसे होते है. पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे नीच गायकोंके तुल्य (गटरके जैसे) ही होते हैं. इन गानोपजीविओं द्वारा किये जाते कथा-कीर्तन नहीं सुनने चाहिये. **(जलभेद)**

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण



श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आकर कहा : ''महाराज! श्रीद्वारकानाथजी वैभव सहित पधारे हैं''.

...तब श्रीआचार्यजीने कहा : ''क्या ठाकुरजीका वैभव देखकर तुम खुश हुवे?''

तब श्रीगोपीनाथजीने कहा : ''आपका कहलाकर जो श्रीठाकुरजीकी वस्तु (देवद्रव्य) पर अपना मन बिगाड़ेगा उसका निर्मूल नाश होगा''.

यह सुनकर श्रीआचार्यजीने कहा : ''हमारा मार्ग तो ऐसा ही है''.

(८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास सम्भलवारेकी वार्ता).

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण

(क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये. अपनी

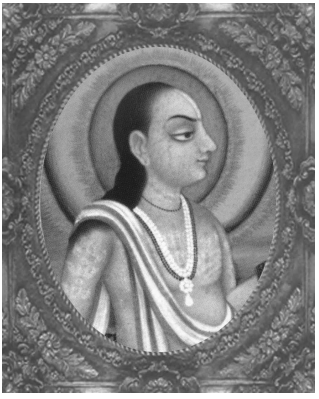

आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं, ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है. इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(भक्तिहंस)

(ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : ''हम कौनसे जीवकों कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है! तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देंय? कौनको बिगार करें? ... पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ''महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी(ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ''हमहु कौन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''.

(८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

श्रीवल्लभात्मज–श्रीबालकृष्णजी

यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोडके कोई दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्में, जैसे आजकल, भेंट–सामग्री पधराके नित्य या मनोरथन की झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(भक्तिवर्धिनी व्याख्या–२)

श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण



अपने सेव्य–स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति–भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(२४ वचनामृत)

श्रीहरिराय महाप्रभु



जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो

कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; (कासिदको कमाईको टका दिये) ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो ''तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो!'' या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई आपुनी सेवा न भई राजभोगको नागा माने. धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये दुःखक्लेश न पाये.

(भावप्रकाश ८४वैष्णवनकी वार्ता-७६)

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण



पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवानमें कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितन्कुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमानन्कुं ही मिले है, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निषफल बन जाय हे.

शंका : यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह:अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है?

समाधान : या शंकाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो

विहित होवेसुं पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं, कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चहिये.

(सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिप्रकाश-२)

नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज



लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेंट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं ''मेरो लौकिक सिद्ध होय'' ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है.

(सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक१६-१७)

नि.ली.गो.श्रीमदुजी महाराज



जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं; अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो. **(३२ वचनामृत; वचनामृत-५)**

गोस्वामी तिलकायत

नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज (श्रीनाथद्वारा)



श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी हे ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(डेक्लरेशन, मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी, वि.सं.१९४८=ता.५-९-१८९३)

नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज (राजनगर)

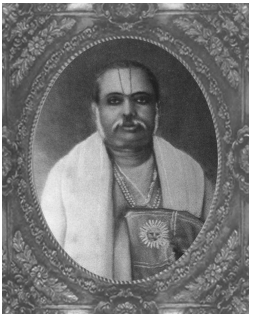

...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेंट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनिया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हैं फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे है,

सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(वचनामृत.४८४-८७)

नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज (अमरेली)



महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार:''अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक'' मुद्देपर सन १९०९-१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

पञ्चमगृहाधीश

नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (कामवन)



जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यर्थाथ उपदेश लोगन्कुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार

जानकारी बच गयी हे.

(मुंबईके वैष्णवन्कुं लिखित पत्र:'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सुरत)

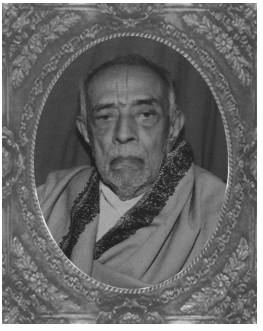

वकील: यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे है ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री: पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको सुनील जागिरदार, सुरत के सादर प्रणाम)

द्वितीयगृहाधीश
नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज
(इन्दौर-नाथद्वारा)

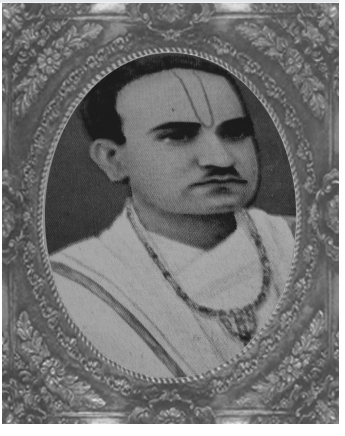

हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें

ही महाप्रसाद लिया जाय. ... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो. ... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मान-कर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमीश्वरम्''. भगवान्को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है. ... अतः मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये...

(श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ१२४)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको प्रवीणचंद्र शाह, महेलोल के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज (मुंबई-किशनगढ़)

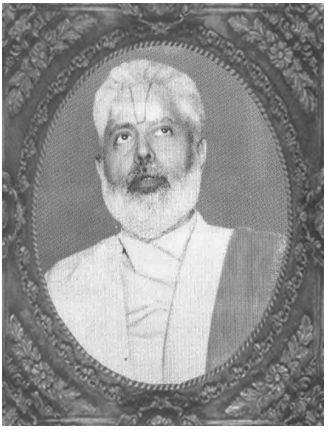

(क) और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो

प्रसाद गायन्कुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तन्को जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरन्में मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(क-''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'' लेख पृष्ठ ७. ख-'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५में प्रकाशित वक्तव्य)

तृतीयगृहाधीश

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (कांकरोली)



(क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन

आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा' कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया. ... श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके सेवक, हम देख सकते हैं कि, सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो. ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी, वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे. आजके समयमें, मुझे प्रतीत होता है कि, हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है. ...मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(क) श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके

पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. **(ख)** बयानःमूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५ **(ग)** श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत २०मुं, पृष्ठ१४६,१४९म.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको बिपिनचंद्र शाह, पावी के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज (मुंबई-मद्रास)



आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ है. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ''करत कृपा निज दैवी जीवनपर'' या उक्तिमें 'निज' शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि'को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं! ... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकठ्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है. ('वल्लभविज्ञान'अंक५-६वर्ष१९६५)

नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज (पोरबन्दर)



(क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय(दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है. अतएव बजारके भावन्की घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें:एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे, सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं:अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं, कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये. (क-'सुधाधारा' पृ.११४. ख-'सुधाबिन्दु' पृ.७३)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको इंदु प्रवीण डढाणीया, माणावदर के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)



''अति धन्यवादार्ह है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्कूं कोर्टमें समझाये'' ''हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तन-मन-धनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयारहैं''.

(गो.श्याममनोहरजी(पार्ला-किशनगढ)कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रन्में. मूल पत्रकी फोटोकॉपिकेलिये देखीये : परिशिष्ठ, पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्तविवरण, हिन्दी)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह



स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता, (उपदेशक या

अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ संप्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धातत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ...सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराजकी उपर्युद्धृत सम्मतीसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कृष्णदास देसाई, मितडी के सादर प्रणाम)

प्रथमेश

नि.ली.गो.श्रीरणछोडलालजी महाराज

(कोटा–जतिपुरा–मुंबई)



(क) <u>ट्रस्ट हवेली–मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मौत</u> : भगवान्–स्वधर्म पूजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों–हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यासोंकी प्रणाली चल रही है वह पूजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा कहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके ''रहिये मेरे ही महल अनत न जैये...'' इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती है. यह प्रेमभरा अनुनय है. और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्को पूजी या सत्ता के जोरपर यह कहते हैं कि ''इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना. ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं. चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे!'' लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु ...इसमें भी प्राणोंकी उतनीही असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं... वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

<u>ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है:</u>

..अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता. इस विषयमें एक कहानी याद आती है. ...एक बार एक रुपये-पैसेवाली बांझ औरत (आधुनिक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी)ने एक गरीब(गोस्वामी गुरु)का बच्चा(ठाकुरजी) खिलानेकेलिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी(वैष्णव, आम जनता, सरकार) लोग उस गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये. न्यायधीश चतुर था. ...न्यायधीश बोला कि ...इस(बच्चे)के दो देवेदार हैं इसलिये इसके दो टुकडे करके दोनोंको बराबर दे दिये जाय. अमीर महिला(ट्रस्टी)ने यह बात मान ली, परन्तु गरीब मांने रोते हुए कहा ''नहीं हुजुर, यह बच्चा मेरा नहीं है; यह इसीका ही है, इसे मारीये मत''. ...यह त्याग एक सच्ची मां दे सकती है. यह तो बनावटी थोपी हुई व्यवस्था है.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश-हमेंश केलिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बंधा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है.

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है: रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी ब्रिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलास किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो यह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने दे दिया.

मन्दिर–हवेलियां दुकान बन चुके हैं: कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा. कितना खाया और कितना कमाया इसकी नांप–तोल होने लगी. बिकने लगा धर्म और धर्मस्वरूप वह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंकेलिये भोला बन गया था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमान्को स्वार्थका साधन और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये–पिलाये? वह तो सार्वजनिक था!

मन्दिर–हवेलियोंके ठाकुरजी जड बन चुके हैं: द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदुरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निष्क्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र!

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमकेलिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेकेलिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, वारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं सकती और है तो वह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहें प्रयोगमें लायें, जैसा चाहें वैसा करें! उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा! फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है! क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह'' कहते हैं? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्के यहां कितनी आमद होती है!

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना: ...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्को जगानेकेलिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पल्सरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पडता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो!

ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी–दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं: ...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पॉलिसीके अंदर. और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गलर्से भी बदतर है: बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गलर्से भी बदतर है. ...भगवान्की सुंदर विनिन्दितमुक्ता–दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है. ...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें!

हवेली–मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना: धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है ... आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे ले लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चीज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता.

श्रीनाथजीमें धनिकोंका साम्राज्य है: ...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढाते हैं. ...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशाजैसें मन्दिर–हवेलियां: भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोडोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी आदर्श गायब होता जा रहा है! शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है: ...वल्लभमतमें यह

सिद्धान्ततः गलत है और ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन–मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते: जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है. और न इसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवानने धर्मकी व्यवस्थाकेलिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनिक हवेली–मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्य सम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता. ...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती तो देवद्रव्य होता है, जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठकें: बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोंसे सारे खर–बारको ही सराबोर करने लगी है! ...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिह्न प्रकट करनेको विवश होना पड़ रहा है!

(''हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन'' दिनांक:२५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रुपये देकर. नहीं. 'तनुवित्तजा' पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है. **(प्रथमेश वाक्सुधा–१, पृष्ठ ५९)**

(ग) ...''सेवाऽपि कायिकी कार्या'' यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वेश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट बात है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा

और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है.**(प्रथमेश वाक्सुधा-१, पृष्ठ ७४)**

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को संम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. **(वहीं पृष्ठ १७१)**

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बढ़ता है और धर्मभावना नष्ट होती है. ...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. **(वहीं पृ. १८०)**

(ङ)धर्मकी परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्वल पक्ष है... कुनवारा और अन्य मनोरथों ...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है.**(वहीं पृ. १९७)**

नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय (सुरत)



(क) प्रश्नः'देवद्रव्य' कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'को मतलब, देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य' कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है. ... मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते

द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है. यामें व्यक्तिगत स्वरूप-निजी स्वरूप की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहे है...

(क-'वैष्णववाणी' अंक३,वर्ष मार्च १९८३. (ख) 'गुजरात समाचार' अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको लीना पटेल, माणावदर के सादर प्रणाम)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा

निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमागर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आाचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय की पत्र द्वारा सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र''१९८६)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी

(कांदीवली–कामवन)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शबदोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार

भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीकृष्णकुमारजी की हस्ताक्षरित सममतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र''१९८६).

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर हे कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; ओर श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुष द्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य

तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराना चाहिये.

११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने के लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ..वह व्यक्ति भी कलेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अनय हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये.. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

....मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं... इससे यह आशय स्पष्ट प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीकृष्णकुमारजी हस्ताक्षति सम्मतिसे पुष्टिसिद्धानतचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

पंचमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज

(कामवन-विद्यानगर)



पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन-सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें अलौकिक (प्रभु)सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. (जुलाई,२००७पृ.६) श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही

सच्चे संस्कारका मूल है. ...श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय(उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी. ...आजकल...मंदिरोंका उपयोग यश-कीर्ति प्राप्त करनेकेलिये होने लगा है. मंदिरोंमें प्राधान्य मनोरथीका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगाहै. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये ...दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है. ...इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसेही दिये जायें येहीहै.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है. ...सम्पत्ति...प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूप-सेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.(जुलाई-२००७ पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये. ...सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है. ...अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. ''प्रीत हियेमें राखीये प्रकट किये रस जाय''की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति कराते हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.(सप्टेम्बर २००४ पृ.७)

आज तो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो 'श्रीजी'का अर्थ ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी होता है. लक्ष्मण बालाजीमें भी 'तिरुपति' शब्दका प्रयोग होता है जिसमें 'तिरु'का अर्थ श्री और 'पति'का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको अरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके

दर्शन होनेके बदले अब तो सबमें अरे, वहां तक कि जीवामात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं! और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी सेवा करें एक ही बात है!! अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें!!!

(सप्टेम्बर, २००७ पृ.७) (वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक:पं.पी.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको पीयूष शाह, अमदावाद के सादर प्रणाम)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अनय भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना

आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमागर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आाचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी पत्रद्वारा सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र''१९८६).

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर हे कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; ओर श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है ीक नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुष द्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराना चाहिये.

११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने के लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ..वह व्यक्ति भी कलेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये.. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

....मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं... इससे यह आशय स्पष्ट प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजीकी पत्रद्वारा सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई 'सिद्धान्तवचनावली'के अमृत अंश)



नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज (दहिसर-मुबई)

(क) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' . यदि श्रीमहाप्रभुजी

मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है. अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरन्में जाके. ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है. **(१७/ख-'वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५,१७/ग-'नवप्रकाश'अंक ८ वर्ष ८)**

***

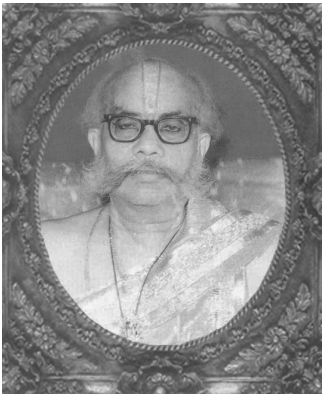

नि.ली.गो.श्रीव्रजरायजी महाराज

(श्रीनटवरगोपालजी) (अमदावाद)

कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना

चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीनटवरगोपालजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतनकुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत

अर्थ करि रहे हैं, लोगन्कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्के साथ घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेनने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके साथ विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके साथ सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये

द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

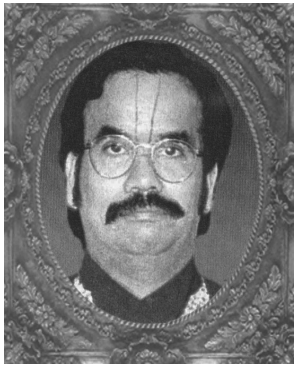

(गो.श्रीनटवरगोपालजी एवं गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे प्रकाशित हुवा ''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति फाल्गुन सुदि७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको चंद्रिका मांडलीया, मोरबी के सादर प्रणाम)

***

नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी महाराज (नासिक-मुंबई)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह



स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका

सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ''महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र'' १९८६)

***

सप्तमगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी (कामवन)



क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है. अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनकोही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनोचहिये.

(''श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना, ता.१-२-५६'')

***

पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज (जामनगर)



गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें ... ''तत्र अयम् अर्थः. लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि'' स्पष्ट सुनें, ''सम्पादकत्वात्'' ... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे. ... **गो.श्रीश्याममनोहरजी:** अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनेवाला देवलक(पापी) बन रहा है... **गो.श्रीहरिरायजी:** और उपधर्मत्व होता है ... और ये निषिद्ध है. ... **गो.श्रीश्याममनोहरजी:** इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह ... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे ... दान होनेसे, देवद्रव होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है. **गो.श्रीहरिरायजी:** हां. बिलकुल. ... ये तो बिलकुल स्पष्ट है. ... 'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है. **('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण' पृष्ठ १६४, १९३)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको संदीप रायचुरा, माणावदर के सादर प्रणाम)

गो.श्रीलालमणीजी महाराज (कोटा-जतिपुरा-मुंबई)

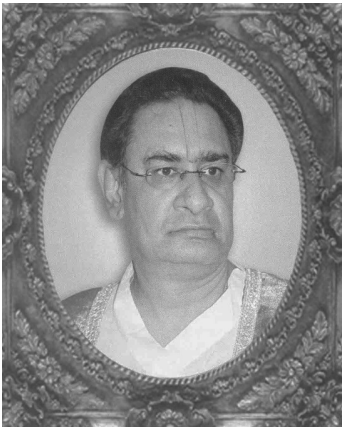

श्रीमहाप्रभुजीके चरणारविन्दकी कृपासे हमने वागीश श्रीश्यामुदादाकी वाणीसे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंका अवगाहन नवरत्नके प्रकाशमें किया. इस प्रकाशमें हमने पुष्टिपथ पर चलनेका अनुकरणीय सिद्धान्त श्रीश्यामुदादासे सुना.

इस पुष्टिपथपर चलते-चलते कई चिन्ताओंका हमने निवारण किया और कई कुरुचिपूर्ण वेदनाओंस हमने छुटकारा प्राप्त किया. परन्तु मैं अपनी बात कहूं तो उन चिन्ताओंसे छुटकारा पाते-पाते मुझे एक नयी चिन्ताका उदय हो गया और वो मैं हिंमत करके श्यामुदादासे कह ही दे रहा हूं कि जहां श्रीमहाप्रभु ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता'' उपदेशसे हमें देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करणके अध्यासोंसे छुटकारा देते हैं, वहीं हमने एक नय केंसरको कहां जन्म दे दिया ये हमारी समझमें नहीं आया! देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करणाध्याससे हम सेवा करते-करते छूटे ही नहीं थे कि मनोरथाध्यास, भगवत्प्रदर्शनाध्यास, प्रसादाध्यास, असत्संगाध्यास इन सब अध्यासोंने मिलकर हमें हमारे सिद्धान्तोंकी विस्मृति करादी. 'अध्यास' का मतलब यह होता है कि जो चीज जैसी है वैसी न दीखकर कुछ ओर दीखना... तो मनोरथोंका हमें अध्यास हो गया. हम जिन्हें मनोरथ समझते थे आज तक... वो मनोरथ ही नहीं हैं, परन्तु कुछ और हैं जो हमें अहन्ता और ममता की ओर धकेल रहे हैं. जिनहे आज तक हम प्रसाद समझ रहे थे और रूपयेसे खरीदते थे वो केवल घसीटारामकी हलवाईके लड्डु हैं, और कुछ नहीं... हम केवल लड्डु ही खरीदके लाते हैं, पर उनमें हमें प्रसादका भ्रम हो गया है. ...जिन भगवद्दर्शनोंको हम हमारी अहन्ता-ममता निचोडकर

भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जानेवाले समझते थे वो व्यावसायिक प्रयोजनवश कराये जाते भगवद्दर्शन हमारे लिये अपसिद्धान्तका फंदा हैं...

'पूतना'का अर्थ श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीजीमें करते हैं ''पूतं नयति इति पूतना'' जो पुत्रोंको ले जाये, हमारी पवित्र वस्तुओंको हमारे यहांसे ले जाये उसे हम 'पूतना' कहते हैं. तो यह जो लोकेषणा और वित्तेषणा रूपी पूतनाए हैं वो हमारे ''व्रज भयो महरिके पूत'' को कब यहांसे उठाके ले गयी, हमने कब उसे धनलिप्साके तृणावर्तको सौंप दिया यह हमें पता ही नहीं चला.

मुझे दमलाकी वार्ता याद आ रही है. महाप्रभुजीने जब पूछा कि श्रीनाथजीकी आज्ञा तूने सुनी? तो दमलाने कहा ''सुनी पर समझी नहीं''. अगर हम भी ... श्यामुदादाकी आज्ञा सुनकर बाहर चले जायें कि ''सुनी पर समझी नहीं'' और फिर मनोरथाध्यास, प्रसादाध्यास और भगवत्प्रदर्शनाध्यास में लग जायें तो हम महाप्रभुजीकी निगाहोमें गद्दार होंगे और महाप्रभुजीके वल्लभ पीनल कोडमें ''यदा बहिर्मुखा यूयं...सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्'' के अधिकारी होंगे और श्यामुदादाके शब्दोमें पतिताका हम पर चार्ज होगा.

...श्रीगुसांईजी एक बार हांसी-खेल कर रहे थे तो दमलाने टोक दिया जाकर अपनी पुष्टिप्रौढीसे कि ''महाराज, यह हांसी-खेलको मारग नाहीं, यहा ताप-क्लेशको मारग है.... जिस दिन आपके भीतर दमला प्रकट होगा उस दिन हमारे भीतर महाप्रभुजी प्रकट होंगे...इसलिये यदि आप अगर बाहर जाकर यह कह दें कि ''सुना पर समझा नहीं'' तो आपमें दमलाका नहीं, पतितताका प्राकट्य है. आप इसे प्रकट करो, बाहर जाकर अपने गुरुसे कहो कि महाराज, यह हांसी-खेलको मारग नाहीं, मनोरथ और प्रदर्शनको मारग नाहीं, ये ''नीके राखि यशोदा रानी नारायण गृह आयो''को गुप्त रखनेका मार्ग है.

(गो.श्रीश्याममनोहरजी द्वारा किये गये नवरत्नग्रन्थके प्रवचनका समापन वक्तव्य, दि.३१-०८-१९८४)

पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज (बडौदा–सुरत)

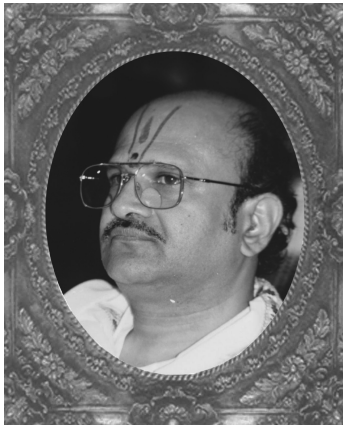

(क) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे है... मन्दिर–गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं. सेवा अपनकुं अपने घरनमें करनी है. ('वल्लभविज्ञान'अंक ५–६ वर्ष १९६५)

(ग) आज बहुत घरोमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है) का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं ही कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेश मात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं. अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगे, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्त्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है. **(पुष्टिबोध भाग–१, पृ.२३, वि.सं.२०३४)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको हर्षवदन शाह, वडोदरा के सादर प्रणाम)

तृतीयगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज (कांकरोली–वडोदरा)



प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट् हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने, तथा बिना समजे–सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो. इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती. ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थानन्कुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान...वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं, पुष्टिमन्दिर नहीं. पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है. **('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४, अंक५, पुष्टिमार्ग–वर्तमान प्रश्न–उत्तर ४, पृ.७)**

(ख) आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुजीके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें कोई भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर–घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्रणालिका अनुसार सेवा करते थे. **(व्रज मोंहे बिसरत नाहीं, पृ.१४०–१४१)**

(ग) खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते. ...वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है. ...अपना पेट पालनेकेलिये भगवद्गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है.

पद्मनाभदासजी...आचार्यचरचणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया! ...अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गड्ढेमें इकठ्ठा हो जाता है. ...वो पानी तो केवल गंध ही मारता है... भगवद्भाव होते हुवे भी जिनके स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गड्ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है. ...पांचवें (भगवद्गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते हैं. **(जलभेद प्रवचन, वडोदरा)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भानु गोर, हालोल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी (वडोदरा-कांकरोली)

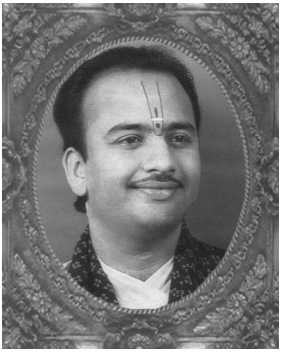

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों, अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो. ('वल्लभीयचेतना', ऑक्टोबर१५ २००३, पृ.-४)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कृष्णकुमार गांधी, कांदीवली के सादर प्रणाम)

द्वितीयगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज (इन्दौर–नाथद्वारा)

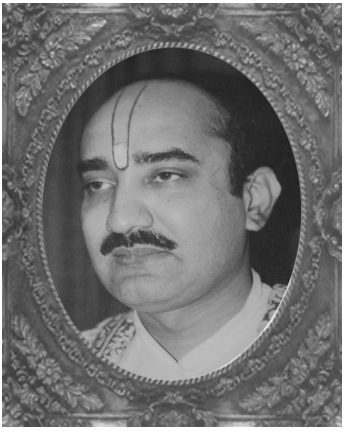

जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं. ...सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है. ...इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ. ...श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है...नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास ...इन महानुभावोंने ...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं. ...ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि(धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल है!

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है. ...घरके ठाकुरजी ही सर्वस्व हैं. ...वे ही नित्यलीलाके आनन्दका अनुभव कराएंगे. वे हमारे पति हैं जो भयसे रक्षा एवं सुरक्षा भी करते हैं.

क्या कोई स्त्री अन्य जगह जाकर किसीकी सेवा कर सकती है? कदापि नहीं. ...घरके परिजनोंको यह बर्दाश्त नहीं होगा. ...इसी तरह जो

अपने माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः ''घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो''.

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. ''व्याजं ललौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलगृहेऽगमत्''. अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके श्रीठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे...तो क्या पति सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार ...जो कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण). सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.

(२५२ वैष्णव वार्ता, खंड-२ की भूमिका पृ.१५-३६)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको राहुल शाह, वडोदरा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी (अमरेली-कांदीवली)



पुष्टिमार्ग गुप्त है, दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पावेकुं?

स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक है. (**'पुष्टिनवनीत' पृ.१२**)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको पायल शाह, थाणा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी (सुरत)



अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है... सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है! ... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के ''गुर्जरि जीर्णतां गताः'' भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है. ... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा ... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो... गुजरातमें. (''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, दि.१०-१३जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई,

विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजीकी सम्मतीसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कामिनी शाह, भरूच के सादर प्रणाम)

***

नि.ली.गो.श्रीइन्दिरा बेटीजी (वडोदरा)



श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती:प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है. ('वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०)

***

नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीविजयकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज

(कडी-अमदावाद)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको ज्योति शाह, कडी के सादर प्रणाम)

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

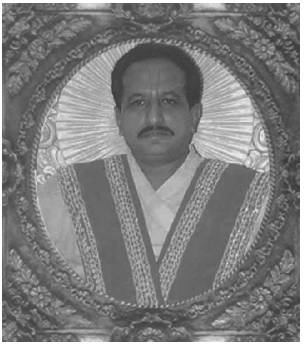

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी महाराज, गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी तथा गो.श्रीविजयकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको प्रियांक भट्ट, केनेडा के सादर प्रणाम)

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना

यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.



...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको मनन शाह, भरुच के सादर प्रणाम)

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के



नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको राकेश राजपरा, यु.के. के सादर प्रणाम)

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह

इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी तथा गो.श्रीविजय कुमारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)



आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतन्कुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं, लोगन्कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्के सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ–पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेन्ने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत

होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी, गो.श्रीविजयकुमारजी तथा गो.श्रीवल्लभलालजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे प्रकाशित हुवा ''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति फाल्गुन सुदि७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२)

पू.पा.गो.चि.श्रीयोगेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वर है । व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भरत शाह, राजपारडी के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज (सुरत)



प्रश्न:अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर:सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेककु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा

सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीन्की तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती होय ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

('पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं.१५७-१५८)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको नारायण मारडीया, सुरत के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज (पोरबंदर)

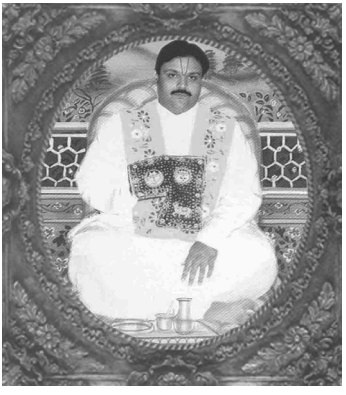

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या

अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीहरिरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको माया तन्ना, गोंडल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज (कामवन-सुरत)



तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी. ... कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं. ... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि को वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी. मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे. ... तब आप कहेंगे ''मैने सेवा लिखायी है''. आप कहते हैं ''मैने सेवा लिखायी है'' तब अहन्ता कहां दूर हु? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे? ''ये मेरी रसीद है, मेरा प्रसाद लाओ''. तो देखीये, अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी, संसारमें बांधेगी. .... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी, ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है. (सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन, भरूच, जनवरी २००५)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके

पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीद्वारकेशलालजीकी सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भरत शाह, उमरेठ के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीनवनीतलालजी महाराज (भावनगर-कामवन)



(क) कई बार प्रभु सामग्रीपर मात्र दृष्टि करते हैं, उसे अरोगते नहीं हैं. जिस प्रसादको लेनेका आमन्त्रण पहले ही दे दिया गया हो उसे... वैष्णवोंको पहलेसे निमन्त्रण भेजा जाता है कि हवेली पर दोपहर बारह बजे प्रसाद लेने आना है. यह बात ठीक नहीं है. (आश्रय, मार्च २००५, पृ.१२)

(ख) श्रीमहाप्रभुजीकी स्पष्ट आज्ञा है कि प्रत्येक वैष्णवका मुख्य कर्तव्य प्रभुसेवा है. अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवा करना ही वैष्णवका परम धर्म है... ''हम घरमें सेवा नहीं कर सकते, नित्य पाठादि भी नहीं हो पाते हैं इसलिये नियमित मन्दिरमें दर्शन कर आते हैं'' यह तो मन मनानेकी बात है. यह विचार ठीक नहीं है. सेवा नित्यनियम अवश्य करने चाहिये. सेवाका विकल्प मन्दिर जाना नहीं हो सकता. (आश्रय, फेब्रुआरी २००५, पृ.१२)

(ग) कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह

कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे

यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन–सेवा–कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीनवनीतलालजीकी सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

***

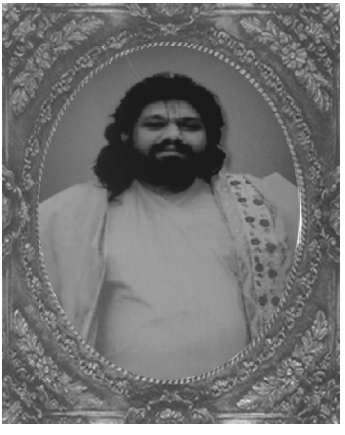

पंचमगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज (श्रीविकिबावा)

(कामवन–वल्लभविद्यानगर)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी

जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीवल्लभलालजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको रासेश शाह, अंकलेश्वर के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीरमेशकुमारजी महाराज

(मुलुंड)

पू.पा.गो.श्रीनीरजकुमारजी महाराज

(मुंबई–वापी–हैदराबाद)

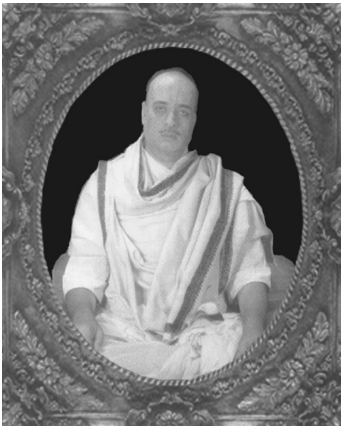

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें



निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीरमेशकुमारजी तथा गो.श्रीनीरजकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको सुधीर शेठ, वापी के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीमाधवरायजी महाराज (वेरावल)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम



देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना

नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कैलाश लक्ष्मीदास मकवाणा, डुमरा के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीशरद्कुमारजी श्रीमुरलीधरजी
पू.पा.गो.श्रीचन्द्रगोपालजी श्रीमुरलीधरजी

(वेरावल–पोरबंदर)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्जनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्जन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें



निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीशीलूबावा तथा गो.श्रीचंदुबावाकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुघरको लक्ष्मीदास मकवाणा, डुमरा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीअजयकुमारजी महाराज (मद्रास-पूना)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीअजयकुमारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

***

षष्ठगृहाधीश

पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी महोदय (वडोदरा)

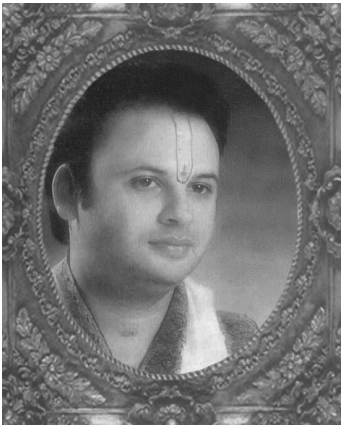

चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णतः भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये. ... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता-मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों

तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये. यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है. वासों तो (चित्तमें)राजसी वृत्ति होत है. **(श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन, पृ.१२५)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको स्मित शाह, हालोल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीश्यामसुंदरजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीव्रजप्रियजी महाराज
(बोरीवली)



...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा



निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीश्यामसुंदरजी तथा गो.श्रीव्रजप्रियजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

पू.पा.गो.श्रीरसिकरायजी महाराज (पोरबंदर-उपलेटा)



कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं

वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ)



(क) ''श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेकेलिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेकेलिये तैयार नहीं है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अनन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करना अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका द्रोह होनेसे गुरु-अपराधसे ग्रसित बनाकर आरूढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने

घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा-कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य-दक्षिणा देकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पिष्यिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख)''अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे'' व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं. फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह! को एकसो आठ! को एक हजार आठ! ...अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो? ...भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा)की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम ...अब गोलोक धाममें भेजना है! मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है!! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है. (श्रीयमुनाष्टक प्रवचन, राजकोट, २००६)

***

पू.पा.गो.श्रीयोगेशकुमारजी महाराज

(मुंबई)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के



अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका

सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीयोगेशकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

***

पू.पा.गो.श्रीगोपिकालंकारजी (राजकोट-माणावदर)

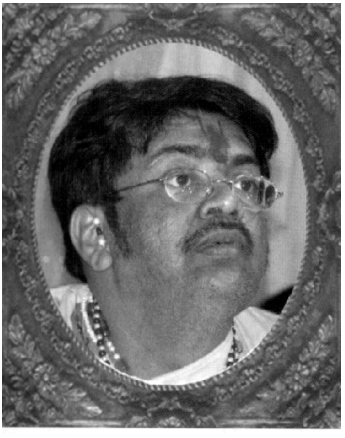

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें

वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना

चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीगोपिकालंकारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश))

***

संयुक्त घोषणापत्रपर मूल हस्ताक्षरोंकी फोटो कोपी

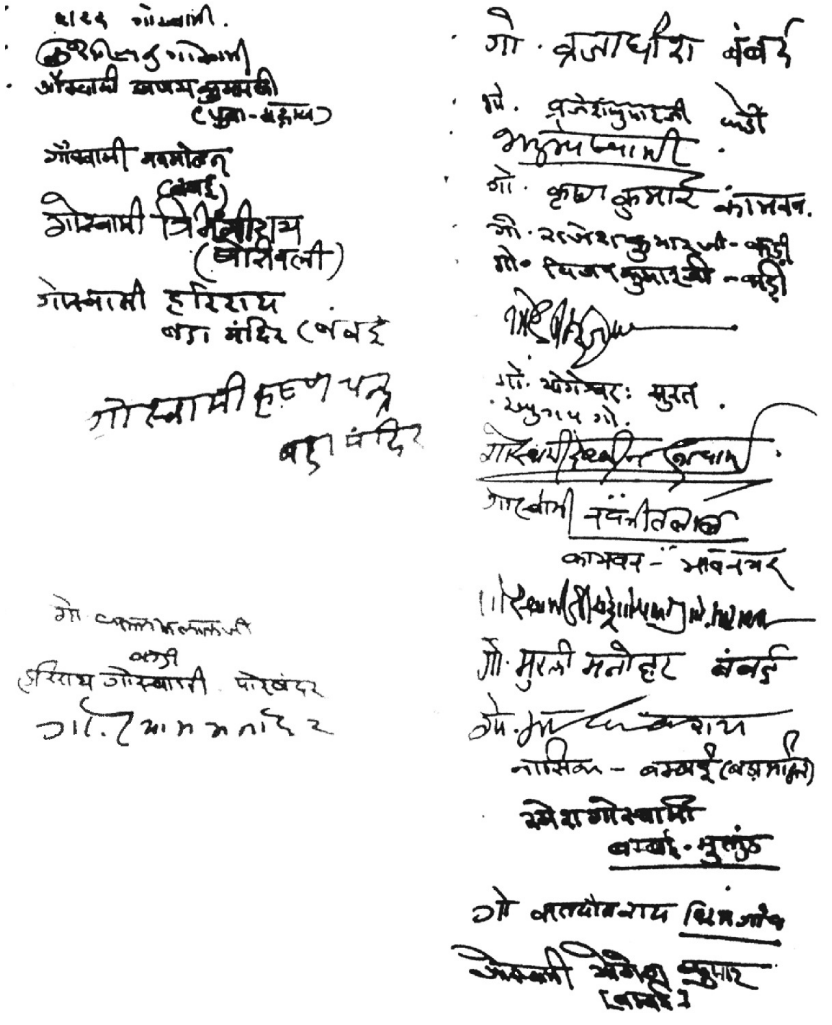

पत्रद्वारा प्राप्त सहमतिके हस्ताक्षरोंमें इन्हें ओर लेना चाहिए :

गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी (वीरमगाम)

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये
''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र''
पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य


१


२


३


४


५


६


७


८


९


१०


११


१२

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये
''श्रीमद्‌वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र''
पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य

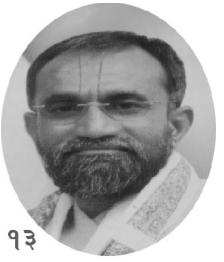
१३

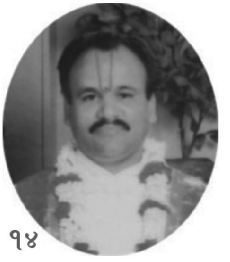
१४

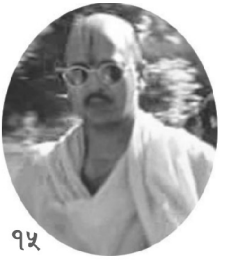
१५


१६


१७


१८


१९


२०


२१


२२

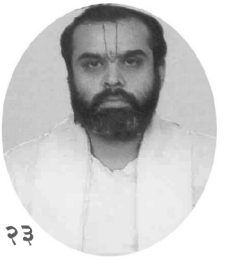
२३


२४

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य


२५


२६


२७

गो.श्रीविट्ठलनाथजी



गो.श्रीहरिरायजी



गो.श्रीव्रजरत्नजी





नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
एवं आपके सभी चि. बालक :
गो.श्रीविट्ठलनाथजी, गो.श्रीहरिरायजी, गो.श्रीश्याममनोहरजी,
गो.श्रीव्रजरत्नजी, गो.श्रीनवनीतरायजी तथा गो.श्रीबालकृष्णजी

गो.श्रीश्याममनोहरजी



गो.श्रीनवनीतरायजी



गो.श्रीबालकृष्णजी




३५


३६


३७


३८


३९


४०

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य


४१


४२


४३

१. गो. शरद् अनिरुद्धजी (मांडवी–हालोल)
२. गो. किशोरचन्द्रजी (मांडवी–जुनागढ)
३. गो. अजयकुमारजी श्यामसुंदरजी (मद्रास)
४. गो. मनमोहनजी श्रीनृत्यगोपालजी (मुंबई)
५. गो. श्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (बोरीवली)
६. नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
७. गो. वल्लभलालजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
८. गो. हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)
९. नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)
१०. गो. श्याम मनोहरजी श्रीदीक्षितजी (किशनगढ–मुंबई)
११. गो. व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१२. नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली–कामवन)
१३. गो. राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१४. गो. विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१५. गो. योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत)
१६. गो. रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन–गोकुल–पार्ला)
१७. गो. देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल–अमदावाद)

१८. गो. नवनीतलालजी श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)
१९. गो. चन्द्रगोपालजी (चंदुबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
२०. गो. मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)
२१. नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)
२२. गो. रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)
२३. गो. कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगाम-अमदावाद)
२४. गो. योगेशकुमारजी शिशुकुमारजी (मुंबई)
२५. गो. व्रजप्रियजी मुरलीधरजी (बोरीवली)
२६. गो. व्रजेशकुमारजी (वीरमगाम-अमदावाद)
२७. गो. अनिरुद्धलालजी श्रीद्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
२८. नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)
२९. गो. विट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ)
३०. गो. हरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
३१. गो. श्याम मनोहरजी श्रीव्रजभूषणलालजी (काशी)
३२. गो. व्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)
३३. गो. नवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)
३४. गो. बालकृष्णजी श्रीव्रजभुषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)
३५. गो. नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)
३६. गो. मधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)
३७. गो. नि.ली.गो.श्रीमथुरेशजी (वीरमगाम-अमदावाद)
३८. नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
३९. गो. शरदकुमारजी (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
४०. नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)
४१. नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)
४२. नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)
४३. गो. हरिरायजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

॥ श्री गोपालकालो जयति ॥ ॥ श्री महाप्रभुर्जयति ॥

गोस्वामी श्री गोविंदलालजी महाराज

पत्र व्यवहार पता:—

श्री गोपालकालजीका मन्दिर
श्रीमद् वल्लभाचार्य मार्ग,
नाथद्वारा (उत्तर गुजरात) पीन 382715
फोन नं. ३१९

श्री यमुनासदन
34/3114
शीशमपुरा, करोलबाग न्यू दिल्ली नं. ५
फोन 576451 पीन 110005

श्री महाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर
घाटनपोल, कोटा (राजस्थान)
पीन 324006

16.11.1986

समादरणीय श्री श्याम मनोहर जी,

आपका दिनांक अक्तूबर २३, १९८६ का साइक्लोस्टाइल्ड पत्र ग्रन्थ विवरणों के साथ प्राप्त हुआ। आपको विदित ही है कि हमारा स्वास्थ्य जरा नरम रहता है। इस कारण से हमारे बाबा आपके पास उपस्थित हुए थे तथा आपकी विचारधारा से हमारी ओर से एवं अपनी उनकी ओर से सहमत हुए थे।

फिर भी इस पत्र द्वारा हम अपनी ओर से आपके सम्प्रदाय विषयक इस कार्य की प्रशंसा करते हैं तथा सहमति प्रदान करते हैं।

इस कार्य की प्रगति आप हमें सूचित करते रहेंगे ऐसी आशा है।

भवदीय गोविंदलाल

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभु ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

(चोपासनी)

जामनगर फोन नं. २३१२ — जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०

मोटी हवेली, — दाउजी मंदिर

जामनगर _____ — जोधपुर ७-११-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु आदरणीय चि. श्याममनोहरजी महोदयेषु गो. वृजभूषणस्य शुभाशिषः शमिहा परञ्च वृत्तम्।

आपका पत्र दिनांक २३-१०-८६ का लिखा मिला। तथा सुप्रीममें दीजानीवाली याचिका [illegible] श्रीस्वामि वंशज संयुक्त घोषणा पत्र भी प्राप्त हुआ। दि. २६-१०-को मैंने पत्र लिखा पर आपको [illegible] होगा। हमारा इसमें पूरा सहयोग होगा। तन मन धन से जो भी आपको कार्य हो वह सुखेन लिखें हम अभी चोपासनी में ही हैं। सुप्रीममें याचिका कब होगी सात जजोंकी बेन्चें बैठनेका नहीं हुआ होगा कृपया विवरणात्मक पत्र लिखें ताकि सभी पाइन्ट सदस्यों आसनों हमारे सभी श्री. बालक इसकार्य में सहयोग करनेको तैयार हैं। और सब मुरालता है। प्रत्युत्तर शीघ्र लिखें।

शुभाशीष गो. वृजभूषणलाल

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभुः ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

(चोपासनी)

जामनगर फोन नं. ~~[illegible]~~ 7612 जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०

मोटी हवेली. दाउजी मंदिर

जामनगर _____ → जोधपुर २६-१०-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु चि० श्यामबाबाकुं — गो० व्रजभूषण

रक्षं शुभाशिषः — शर्मिटापरगच्छ वृत्तम्

आपको जूनागढ़ वेरा सुप्रीमबाबतको पत्र

मिल्यो। मैं दि० २३-९-८६ सूं २२-१०-८६ तक

कलकत्ता हतो — २४-१० [illegible]

[illegible] चहा आयो।

बाबत सब हिस्टरी बांचने में आई। वहांतो

प्रथमेरीजी ने जरूर कुछ बात करी थी। अब

क्या याचिका पुनः हो सकती है! यदि हो सकती

होतो मेरे जो करनो होयसो आप खुलासावार

लिखो वापस्याको सब करें। अन्धभी गोस्वामि

महानुभावों से क्या कराना चाहिये वह भी आ

पने वहां सामूहिक रूपसे विचार कियाही

होगा। इसी कार्य में सबों का सहयोग होना

अत्यावश्यक है। यदि मिटिंग रखकर कुछ

ठोस निर्णय लेना होतो मैं बम्बई भी आसकता हूं

कृपया विवरणात्मक सब बातों से अवगत
करो। मुझे दिल्ली में हाऊजी मं. के अधि
आरी बंकूभाई ने आपके परिश्रम की बात
कही — अति धन्य दादाई हैं कि जो आपने
इतनी महेनत करके संप्रदायके सिध्धान्तनकू
ओट में समझाये। और सब कुशलता ही
प्रत्युत्तर जोधपुर ही लिखें। और माहिजो
मे बात करनी हो तो नंबर उपमेये हैं ही
जैसा उचित समझें। चरण भेट काबो
फैसला अपने फेर मेंटी हुआ है न?

चि० हरिरायजी
सिवाय सब बालक
यही हैं नमस्कार

शापित
जी० ब्र० शु०

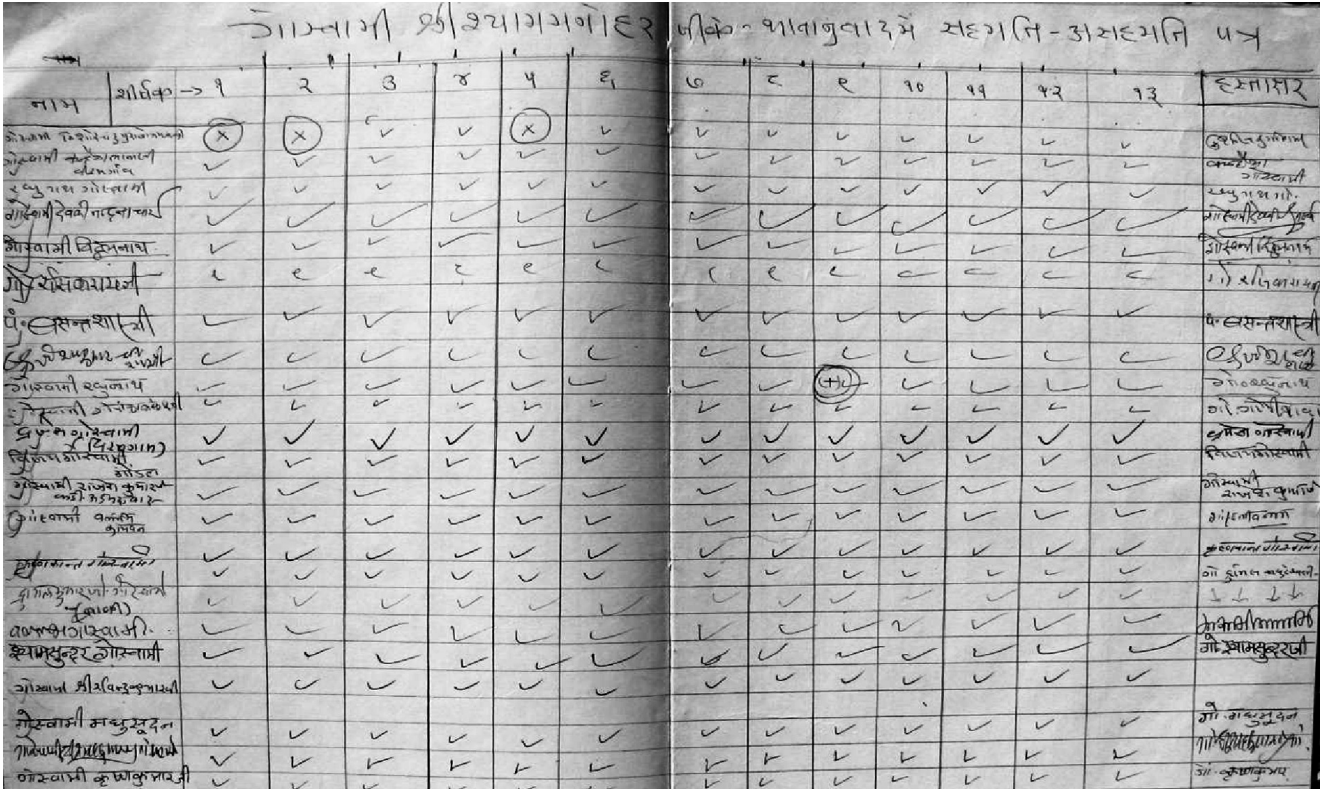

गोस्वामी श्रीश्यामगणेश्वर जीके - भावानुवादमें सहमति - असहमति पत्र

नाम / शीर्षक →	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	हस्ताक्षर
गोस्वामी [illegible]	×	×	✓	✓	×	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी [illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible] गोस्वामी
रघुनाथ गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	रघुनाथ गो.
गोस्वामी देवकीनन्दनाचार्य	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी देवकीनन्दन
गोस्वामी विष्णुनाथ	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी विष्णुनाथ
गो. रसिकरायजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. रसिकरायजी
पं. वसन्तशास्त्री	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	पं. वसन्तशास्त्री
[illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी रघुनाथ	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	(+)	✓	✓	✓	✓	गो. रघुनाथ
गोस्वामी गोपालकेशवजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. गोपीनाथ
प्रभु गोस्वामी (विश्वनाथ)	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible] गोस्वामी
विजय गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	विजय गोस्वामी
गोस्वामी राजेश कुमारजी [illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी राजेश कुमारजी
गोस्वामी बलदेव कुमारजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी बलदेव
[illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible] गोस्वामी
[illegible] गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. [illegible]
[illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	↓ ↓ ↓ ↓
[illegible] गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
श्यामसुन्दर गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. श्यामसुन्दरजी
गोस्वामी श्रीरविन्द्रनाथजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	
गोस्वामी मधुसूदन	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. मधुसूदन
[illegible] गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी कृष्णकुमारजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. कृष्णकुमार

सेवायां स्पृहयालवो यदि भवेत् वित्तप्रदा सा तदा
सिद्धान्तोक्तिविभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः।
श्रीनाथे निजसद्मनि स्थितिपरे श्रद्धालवो वै श्रियां
सन्मार्गात् पतयालवः शृणुत सद्वाचः कदा वाक्पतेः॥

पुष्टि सिद्धान्त चर्चा सभा

(दि. १०-१३ जनवरी ९२ पार्ले, मुंबई)

संक्षिप्त विवरण



चर्चाकार:

गोस्वामी श्याम मनोहर (पार्ले-किशनगढ) तथा **गोस्वामी हरिरायजी** (जामनगर-चोपासनी)



चर्चाकारः

गोस्वामी श्याम मनोहर (पार्ले-किशनगढ) गोस्वामी किशोरचन्द्रजी (जूनागढ)



: संवाद स्थापक मंडल :

(बायेंसे दायें) गो. भूषण, गो. नीरजकुमार, गो. व्रजप्रिय, गो. शरद, गो. योगेश

पुष्टि सिद्धान्त चर्चा सभा

(दि. १०-१३ जनवरी '९२ पार्ले, मुंबई)

संक्षिप्त विवरण

परिशिष्ट सहित

संयुक्त प्रकाशन

संयुक्त प्रकाशन

गोस्वामी श्याम मनोहर
अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नया शहर,
किशनगढ, अजमेर-३०५ ८०२

प्रथमपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी
'लालमणि', २५/३१, आत्माराम मर्चन्ट रोड,
भुलेश्वर, मुंबई-४०० ००२

नि:शुल्क वितरणार्थ :

प्रति : २०००

प्रकाशन वर्ष : १९९२ मार्च

मुद्रक :
नरोत्तम भाटीया
प्रफुल्ल ज्योति,
जवाहर रोड, घाटकोपर (पूर्व),
मुंबई-४०० ०७७
फोन : ५१३ १८ १३

प्रकाशकिय

पुष्टिमार्गके इतिहासमें एक बेजोड़ घटना सिद्ध हुई है दि.१०-१३ जनवरीमें पार्ले मुंबईमें हुई पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा !

आज संप्रदायकी अनुगामी जनताको जिस तरहके अपसिद्धान्तोंसे बरगलाया जा रहा है, वैसी स्थितिमें सच्चे सिद्धान्तोंकी ओर अग्रसर, यदि हमें होना हो तो, यह चर्चासभा मीलका पत्थर सिद्ध होगी । इसमें दो राय हो नहीं सकती ।

निजगृहमें व्यावसायिक - प्रदर्शनरहित तनुवित्तजा सेवाके स्वसिद्धान्तको स्वीकारनेसे जो कतराते रहे हैं, ऐसे कई महानुभाव तो आनेका साहस ही नहीं कर पाये! जिन्होंने आनेका साहस किया वे भी सिद्धान्त-वचनावलीका अपना भावानुवाद ला पानेका साहस नहिं कर पायें!! मेरे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे असहमति दिखाने के बावजूद स्वयंका भावानुवाद चर्चासभा के नियमानुसार प्रस्तुत भी नहीं कर पाये!!! कुछ आनेवाले तो तटस्थ बनकर मौन धार कर गये या फिर अनुपस्थित ही रहे ।

विपक्षिओंके मानों अघोषित प्रतिनिधि हों ऐसी तरह 'जामनगरवाले चि. गोस्वामी हरिरायजी यदि न पधारते तो चर्चासभा की सारी कारवाई इकतरफा ही हो जाती । एतदर्थ उनका जितना आभार मानें वह अल्प ही रहेगा ।

लाभपूजार्थ तनुजा सेवा करनेवाला निषिध्ध कोटीका जघन्य अधिकारी देवलक पतित होता है तथा पुष्टिमार्गीय सेवा सेवाकर्ताकी मालीकीवाले घरमें ही होनी चाहिये । इन दो मूलबातोंको चि. हरिरायजी द्वारा स्वीकार लिये जानेके बाद अन्य सारी चर्चायें निष्प्रयोजन सिद्ध होती हैं, क्योंकि जिन दर्शनार्थीओंकी वित्तजा सेवा एंठनेके लिये गोस्वामि वर्ग उन्हें अपनी मालीकीवाले घरमें बुलानेको लालायित रहता है या तो उन दर्शनार्थीओंकी मालीकी अब अपने घरपर स्वीकारनी पडेगी या फिर यह अपसिद्धान्त खतम करना पडेगा । गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराज तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज अर्थात् एक पदवृद्ध तथा दूसरे ज्ञान वयोवृद्ध धर्माचार्य द्वारा चि. हरिरायजीके द्वारा गृहीत पक्षोंको 'सिद्धान्त संरक्षणकी'की गरिमासे मण्डित करना हमारे कथ्यका ही अचुक समर्थन है उक्त तीनों महानुभावोंकी धारणाके विपरीत इसमें अब कोई शंकाको अवकाश रह नहीं गया । ''बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रीसदतु!''

गो.श्या.म.

सूची

१	चर्चा सभामें उपस्थित महानुभावोंकी सूची	१७४
२	पक्षग्रहण	१७९
३	उपपत्ति	१९६
४	शाखाचंक्रमण-निरसन	२०५
५	गोस्वामी तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी (सूरत) द्वारा पुष्टि-सिद्धान्त-चर्चासभामें सिद्धान्त-स्थापनार्थ प्रदत्त अभिनन्दनकी अनिर्णायकताकी स्वीकृतिका पत्र चर्चाकार गोस्वामी श्रीहरिरायजी (जामनगर) गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ-पारला) तथा संवाद स्थापकमंडल सदस्यो के हस्ताक्षरों सहित ।	२१८
६	सिद्धान्त-घोषणापत्र प्रकट करनेकी भूमिका : नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्य 'प्रथमेश'जी द्वारा लिखित आग्रह पत्र ।	२१९
७	संयुक्त घोषणापत्र	२२५
८	गोस्वामी श्रीबालकृष्णजी (सूरत) द्वारा लिखित पत्र	२४७
९	नि.ली.गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर-चोंपासनी)का पत्र : सिद्धान्तसंरक्षणार्थ सहयोगका वचन	२४९
१०	गोस्वामी श्रीअनिरुद्धलालजी (मांडवी-हालोल) का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र	२५१
११	गोस्वामी श्रीमधुसूदनजी (मद्रास)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र	२५२
१२	गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी पंचमेश का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र	२५३
१३	नि.ली.गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर-चोंपासनी)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र	२५४
१४	नि.ली.श्रीगोविन्दलालजी (कडी)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र	२५५
१५	गोस्वामी श्रीमथुरेश्वरजी (सूरत-बडोदा) का पत्र	२५६

।। श्रीहरिः ।।

पुष्टि सिद्धान्त – चर्चासभामें उपस्थिति

:: आयोजकमंडल ::

(१) गो. श्रीव्रजप्रियजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(२) गो. श्रीनीरजकमारजी माधवरायजी (मुंबई)
(३) गो.चि.श्रीमनोजकुमारजी नृत्यगोपालजी (मुंबई)
(४) गो.चि.श्रीयोगेश रघुनाथलालजी (मुंबई–गोकुल)
(५) गो.चि.श्रीशरद अनिरुद्धलालजी (मांडवी–हालोल–मुंबई)
(६) गो.चि.श्रीपंकज चिमनलालजी (मांडवी–गोकुल)
(७) गो.चि.श्रीपीयूष किशोरचन्द्रजी (मांडवी–जूनागढ़–मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीगोपेशकुमारजी मुरलीमनोहरजी (मुंबई)
(९) गो.चि.श्रीभूषण चिमनलालजी (मांडवी–गोकुल)
(१०) गो.चि.श्रीविठ्ठलदेवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल–अमदावाद–मुंबई)
(११) गो.चि.श्रीमिलनकुमारजी लालमणिजी (जतिपुरा–कोटा–मुंबई)
(१२) गो.चि.श्रीशरदकुमारजी लालमणिजी (जतिपुरा–कोटा–मुंबई)

***

आयोजकमंडल द्वारा सम्प्रदाय के प्राणोपम् ओर विवादग्रस्त मुद्दे पर; दिनांक १०–११–१२–१३, जनवरी १९९२ के दिनोमें विश्वकर्मा बाग, बजाज रोड, विले पार्ले, (पश्चिम) बम्बई ४०० ०५७ स्थल पर आयोजित की गई चर्चासभामें अतिशय औदार्य स्वधर्म–निष्ठा और निर्भीक–साहस से उपस्थीत रहकर चर्चासभाकी शोभामें अभिवृद्धि करनेवाले उपस्थित आदरणीय गोस्वामी महानुभावों और शास्त्रीजीओं की नामावली :

(१) गो. श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ़–मुंबई)
(२) गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना–सुरत)
(३) गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम, अमदावाद)
(४) गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ़–मुंबई)

(५) गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
(६) गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
(७) गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
(९) गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोड़लालजी (पोरबन्दर)
(१०) गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
(११) गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजजी (कलकत्ता)
(१२) गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल-अमदावाद)
(१३) गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
(१४) गो.चि.श्रीद्वारकेशजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
(१५) गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
(१६) गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
(१७) गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायी (सुरत)
(१८) गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
(१९) गो.चि.श्रीमधुसूदनजी कृष्णचन्द्रजी (मद्रास)
(२०) श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
(२१) गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
(२२) गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पोरबन्दर)
(२३) गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी-अमदावाद)
(२४) गो.श्रीवल्लभरायजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(२५) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
(२६) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अमदावाद)
(२७) गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (कड़ी)
(२८) गो.श्रीविठ्ठलनाथ-लालमणिजी रणछोड़लालजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)
(२९) गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली-मुंबई)
(३०) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट-कामवन)
(३१) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अमदावाद)
(३२) गो.श्रीशरदकुमार-शीलुबावाजी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबन्दर-मुंबई)

(३३) गो.श्याम मनोहर दीक्षितजी (किशनगढ़-मुंबई)
(३४) गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(३५) गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर)
(१) श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
(२) श्रीनिरंजनशास्त्रीजी (उमरेठ-मुंबई)
(३) श्रीवसंतशास्त्रीजी (मथुरा)
(४) श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़-मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये अपनी सहमति दर्शानेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीअनीरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी*(मांडवी-हालोल)
(२) गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अमदावाद)
(३) गो.श्रीकिशोरचन्द्रजीपुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ़-मुंबई)
(४) गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
(५) गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई-कामवन)
(६) गो.श्रीगिरिधरलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-विद्यानगर)
(७) गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
(८) गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल-अमदावाद)
(९) गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
(१०) गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-सुरत)
(११) गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-भावनगर)
(१२) गो.चि.श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी* (अमदावाद-वीरमगाम)
(१३) गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी* (वेरावल)
(१४) गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
(१५) गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
(१६) गो.चि.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (मांडवी-राजकोट)

(१७) गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पोरबन्दर)
(१८) गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कड़ी-अमदावाद)
(१९) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
(२०) गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (कड़ी-अमदावाद)
(२१) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अमदावाद)
(२२) गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल-कड़ी)
(२३) गो.श्रीविट्ठलनाथज लालमणिजी रणछोड़लालजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)
(२४) गो.श्रीव्रजरायजी रणछोड़लालजी* (अमदावाद)
(२५) गो.श्रीव्रजेशकुमारजी गोविन्दरायजी* (अमदावाद-कड़ी)
(२६) गो.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अमदावाद)
(२७) गो.श्रीशरदकुमार-शीलुबावा जी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबंदर-मुंबई)
(२८) गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(१) श्रीनवनीतप्रियशास्त्रीजी *(नड़ियाद)
(२) श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)
(३) श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़-मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये अपनी असहमति दर्शानेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीगोपाललालजी पुरुषोत्तमलालजी* (कोटा)
(२) गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
(३) गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(४) गो.चि.श्रीविनयकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
(५) गो.श्रीव्रजरत्नलालजी वेंकटेशजी* (सुरत)
(६) गो.श्रीव्रजरमणलालजी दामोदरलालजी* (मथुरा)
(७) गो.चि.श्रीशरदकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
(८) गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़–मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये सभामें मौन धारण करनेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ़–मुंबई)
(२) गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना–सुरत)
(३) गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
(४) गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोड़लालजी (पोरबन्दर)
(५) गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
(६) गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कोटा–कलकत्ता)
(७) गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(९) गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
(१०) गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(११) गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली–मुंबई)
(१२) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट–कामवन)
(१) श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
(२) श्रीनिरंजनशास्त्रीजी (उमरेठ–मुंबई)

(संवाद स्थापक–मंडल के सौजन्यसे)

(+) पृष्ठ संख्या ४, शीर्षक १–ख, में 'कोईक पुरुषके' शब्द प्रयोग के स्थान पर 'ऐसे पुरुषके' शब्द प्रयोग होना चाहीये ओर पृष्ठ संख्या ११, शीर्षक २–घ में 'थोथा' शब्द न होना चाहिये ।

(*) पत्रद्वारा प्राप्त ।

(**) हमारे विचारसे इन वचननको जो अनुवाद श्री श्याम मनोहरजीने कियो है वह सही है एवं या अनुवादसूं जहां कहीं व्यक्तिगत उल्लेखकी गंध है या स्थलकु छोडके हम सहमत है ।

***

पक्षग्रहण

गो.श्रीहरिरायजी (जामनगर) को सिद्धान्ततया अभिमत तथा चर्चासभामें स्वीकृत पक्षोंकी सूचि

सेवास्वरूपः

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके अनुसार मानसीकी साधनरूपा सेवा जो होती है वह तनुवित्तजा ही होती है या तनुजा और वित्तजा भी?

गो.श्रीहरिरायजी : अर्थात् सेवात्रैविध्य है या द्वैविध्य यही आपका आशय है न?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : बराबर ! सुन्दर !

गो. श्रीहरिरायजी : त्रैविध्यम् ।

सेवाप्रदर्शनः

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सिद्धान्तः भगवत्सेवाका प्रदर्शन आमजनताको कराया जा सकता है या नहीं ?

गो.श्रीहरिरायजी : श्रीनाथजीकी सेवा जो प्रकट करी उसमें मंदिरसेवा और दर्शनसेवाका प्रावधान है । उस समय दर्शन, मंदिरको सिद्धान्ततः स्वीकार लिया गया था ।

सेवाप्रयोजन:

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ ओर भी हो सकता है या नहीं?

गो.श्रीहरिरायजी : पुष्टिमार्गमें (या) पुष्टिसिद्धान्तमें?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिसिद्धान्तमें संभव है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : अधिकारिभेदसे संभव है ।

सेवास्थल :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सेवास्थल स्वगृह होता है या सार्वजनिक मन्दिर भी?

गो.श्रीहरिरायजी : सिद्धान्त या शास्त्रोंमें 'सार्वजनिक' शब्द मैंने पढा नहीं, तब यहाँ जोडनेका कारण क्या?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रमें मूर्तिकी परार्थप्रतिष्ठा साधारण जनता के लिये की जाती है, स्वार्थप्रतिष्ठा स्वयं तथा परिवारके आराधनार्थ । अत: परार्थप्रतिष्ठा जहां हुई वहाँ उसे सार्वजनिक समजना चाहिये । सो सिद्धान्तत: पुष्टिभक्ति के लिये सेवास्थल सेवाकर्ताका घर ही होता है या सार्वजनिक स्थल भी?

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रमें इतना ही है, देवालयमन्दिर और गृहमन्दिर । पुष्टिमार्गमें देवालय नहीं होता । मन्दिर और घर दोनों जगह सेवा हो सकती है ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आदरणीय श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सुरत) के शब्दोमें कहूँ तो पुष्टिमार्गमें घरमें मन्दिर हो सकता है परंतु मन्दिरमें

घर नहीं । घरमें मन्दिर सार्वजनिक नहीं हो सकता, इसमें आपका पक्ष कौनसा है?

गो.श्रीहरिरायजी : श्रीगोपीनाथजीने साधनदीपिकामें 'मन्दिर' शब्द जिस आशयसे लिखा उस आशयमें हो सकता है ।

४. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पक्ष स्पष्ट नहीं हुआ । मेरे पूछनेका अभिप्राय यह है कि घरमें तो मन्दिर हो सकता हे पर मन्दिरमें घर नहीं । अर्थात् सेवा करनेवालेकी मालिकीके घरमें सेवयस्वरूपका मन्दिर हो सकता है परन्तु सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मन्दिरमें सेवाकर्ता रह नहीं सकता । इसमें आपका क्या पक्ष है?

गो.श्रीहरिरायजी : मालिककी चर्चा बादमें होगी । श्रीगोपीनाथजीने साधनदीपिकामें गृह और मन्दिर का जो तारतम्य बताया है वह हमें मान्य है ।

५. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पक्ष स्पष्ट नहीं हुआ । सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें भगवन्मन्दिर हो सकता है या सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मन्दिरमें सेवाकर्ता रह सकता है?

गो.श्रीहरिरायजी : स्पष्ट कह रहा हूँ । श्रीगोपीनाथजीने घरमें मन्दिरको स्वीकारा है । अर्थात् जो गृह स्वामी है वह मन्दिर भी उसीका है ।

६. गो.श्रीश्याममनोहरजी : जो सेवा करनेवालेकी मालिकीका घर है उसमें भगवन्मन्दिर होनेका सिद्धान्तत: मान्य है न?

गो.श्रीहरिरायजी : जो सेवाकर्ता हो उसके घरमें भगवन्मन्दिर हो सकता है इसमें कोई दो राय नहीं । आपको शायद श्रीगोपीनाथजीकी उक्ति ध्यानमें नहीं लगती ।

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ध्यानमें तो बहोत कुछ है । आप 'हो सकता है' कह रहे हो; सिद्धान्त: क्या होना चाहिये वह स्पष्ट क्यों नहीं करते हो?

गो. श्रीहरिरायजी : वह इसलिये कि बादमें उसमें सार्वजनिकता, ट्रस्ट आदि जोड दिया जायगा । अत: जो जोडना हो वह पहले जोडकर बोलें ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शंकामें दो पक्ष में प्रस्तुत करता हूँ; आपको क्या अभिमत है या क्या अनभिमत यह आपका उत्तरदायित्व है । किसी भी तरहकी अस्पष्टता मेरे पूछनेमें हो तो स्पष्टीकरण देना मेरा उत्तरदायित्व है ।

गो. श्रीहरिरायजी : तो 'ट्रस्ट' आदि जो कुछ जोडना हो, जोड दो । तभी उत्तर दूँगा ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ट्रस्ट या घरको प्रश्न नहीं है; प्रश्न है भगवत्स्वामिक मन्दिरमें भगवत्सेवा या सेवाकर्तृस्वामिक गृहमें भगवत्सेवा? इन दो पक्षोंके बीच आपको अभिमत पक्ष कौनसा है ?

गो. श्रीहरिरायजी : जिस मन्दिरमें देवत्वेन प्रतिष्ठपूर्वक भगवान बिराजते हो वह मन्दिर देवालय होता है, वह घर नहीं हो सकता । लेकिन घरमें कोई भी सेवा करता है; जेसे हमारे पूर्वज घरमें ही, अपने मन्दिरोंमें ही सेवा करते थे, वही भगवद्भजनानुकूल घर होता है । वही घरमन्दिर होता है ।

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : स्पष्ट नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : घरमें, जैसे प्राचीन मन्दिरोंमें हवेलियोंमें गो.बालकोंके घरमें, भगवानका मन्दिर होता है वह भगवद्भजनानुकूलतया निर्मित हुवे हैं; जो प्रकार अभी भी आपके सामने दिखलाई दे रहा है । वह सही है और हमें मान्य है ।

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दो पक्षोंमेंसे आपका कौनसा पक्ष है यह स्पष्ट नहीं हो पाया ।

गो. श्री हरिरायजी : वहाँ कौन मालिक हुआ? हमारे पूर्वज गो.

महानुभावोंके स्वामित्वमें ही वह पूरी हवेली होती थी ।

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जो दो पक्ष मैंने आपके सामने रखे उनमेंसे कोई एक पक्ष आपका है या कोई तीसरा ही?

गो. श्रीहरिरायजी : किसी भी देवमूर्तिकी शास्त्रोक्तविधानके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती तब तक वह स्थल उस देवमूर्तिकी मालिकीका नहीं बनता । पुष्टिमार्गीय मंदिरोंमें शास्त्रोक्तविधिसे प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती अत: भगवन्मंदिर होनेपर भी देवालय नहीं होता ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : विषयान्तर ही चालु है । जैसे हम पुष्टिमार्गी घरमें सेवा करते हैं वैसे ही मर्यादामार्गीय भी अपने घरमें पूजा करनेको किसी देवमूर्तिमें शास्त्रोक्तविधानसे प्राणप्रतिष्ठा करते ही हैं । एतावता यह मर्यादामार्गीय घर देवालय या देवमूर्तिस्वामिक नहीं बन जाता । इस लिये शास्त्रोक्तविधिसे प्राणप्रतिष्ठा देवालय होनेका हेतु नहीं किन्तु देवमूर्तिस्वामिकत्व अथवा आराधकस्वामिकत्व ही 'घरमें मंदिर' या सार्वजनिक मंदिरका विभेदक होता है । अत: यह बताईये कि सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें भगवत्सेवा करनी चाहिये अथवा सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मंदिरमें पुष्टिममार्गीको भगवत्सेवा करनी चाहिये?

गो. श्रीहरिरायजी : सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरमें ।

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें जो भगवन्मंदिर हो इसमें भगवत्सेवा करनी चाहिये यह पक्ष आपने ग्रहण किया न?

गो. श्रीहरिरायजी : बिलकुल !

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अब स्पष्ट हुआ । सेवा करनेवालेकी मालिकीवाले घरमें ही भगवन्मंदिर श्रीहरिरायजीको अभिमत पक्ष है । बहोत बहोत धन्यवाद ।

सेव्यस्वरूपः

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

: क :

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सेवास्वरूप सेवाकर्ताके परिवारका सेव्य होता है या परिवारेतर किसीका भी; चाहे वह पुष्टिमार्गीय हो या अपुष्टिमार्गीय? उदाहरणतया मर्यादामार्गीय प्राणप्रतिष्ठा स्वार्थ भी होती है, परार्थ भी । परार्थप्रतिष्ठा भी किसी समुदायविशेषके लिये अथवा सर्वजनताके लिये परार्थप्रतिष्ठा होनेपर सभी आस्तिक जनसमुदायका वहाँ स्वत्व स्थापित होता था । अतः सभीको वहाँ समर्पणाधिकार प्राप्त होता था । फलतः प्रसादादिग्रहणका भी अधिकार प्राप्त होता था । ऐसी देवमूर्तिको दानतया प्रदत्तका उपभोग वर्जित था ओर करनेपर राजदण्डका भी प्रावधान होता था । स्वार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिकी पूजादिके लिये परिवारेतर जनोंसे द्रव्यादि स्वीकारना चाण्डालवत् अशुद्ध देवलकताका अपराध माना जाता था । तदनुसार अपने यहाँ यद्यपि प्राणप्रतिष्ठा नहीं होती तथापि भावप्रतिष्ठा है, जिसे हम 'पुष्ट करना' कहते हैं । वह स्वार्थप्रतिष्ठा है या परार्थप्रतिष्ठा? यदि पुष्टिमार्गीयस्वरूपकी भावप्रतिष्ठा परार्थ हो तो सभीको सेवासमर्पणाधिकार प्राप्त होगा । तब केवल दानतया दी गई वस्तुका प्रसादत्वेन ग्रहण 'दत्तापहार' कहलायेगा । यदि पुष्टिमार्गीय स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा स्वार्थ हो तो परिवारेतर किसीसे भी भेट सामग्री, मनोरथ के लिये, कुछ भी स्वीकारना चाण्डालोपम देवलकत्वके ही अपराधका जनक होता है । अतः इस सन्दर्भमें आप स्पष्ट करें कि भावप्रतिष्ठा स्वार्थ होती है या परार्थ?

गो. श्रीहरिरायजी : मेरा स्पष्टतम मत यह है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिये जब सेव्यस्वरूप पधराया जाता है तो वह स्वार्थप्रतिष्ठा होती है

परन्तु पुष्टिमार्गीय गुरु जो सेवा करता है वह सेव्यस्वरूप स्वार्थ परार्थ होता है अर्थात् परार्थ भी है ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् विषयव्यवस्थासे विभेद है; वैष्णवके यहाँ केवल स्वार्थ और गोस्वामियोंके यहाँ स्वार्थपरार्थ अर्थात् उभयार्थ, ऐसे ही न?

गो. श्रीहरिरायजी : स्वामित्व पहले आ चुका है उसे नहीं भूलेंगे ! स्मर्तव्यम् ! अवेधयम् !

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अनुयायीके केवल स्वार्थ तथा गुरुके स्वार्थपरार्थ ! बहोत सुन्दर !

: ख :

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्या गुरुके यहाँ बिराजते सेवयस्वरूप कोई विशेष पुरुषोत्तमता लिये हुए और शिष्यके यहाँ बिराजते स्वरूप न्यून पुरुषोत्तमता लिये हुए या दोनों जगह बिराजते स्वरूप समान पुरुषोत्तमता लिये हुए होते हैं?

गो. श्रीहरिरायजी : पुरुषोत्तमत्व कहाँ कम होता है और कहाँ ज्यादा होता है ऐसा सिद्धान्तका कोई सूत्र या वचन नहीं है ! श्रीमहाप्रभु श्रीगुसाँईजीके निधिस्वरूपोंके बारेमें हम पुष्टिमार्गीयोमें भावनाधिक्य तो होता ही है.

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : बहोत बहोत बहोत धन्यवाद । पुरुषोत्तमके तारतम्यके बारेमें कोई वचन नहीं है फिर भी श्रीमहाप्रभु आदिके निधिस्वरूपमें भावनाधिक्य तो होता ही है ।

गो. श्रीहरिरायजी : कमसे कम मुझे तो ऐसा वचन कहीं नहीं मिला, फिर हो तो मुझे पता नहीं ।

सेवार्थ आजीविका :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ता भगवत्सेवाद्वारा भेट या सामग्री कुछ उपार्जित कर सकता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : उत्तम प्रकार तो यही है कि भगवत्सेवाको द्रव्योपार्जनका उपाय नहीं बनाना चाहिये । जघन्य तो बनता ही है !

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जघन्य जो बनाता है वह सिद्धान्ततया अभिमत है या अनभिमत ?

गो. श्रीहरिरायजी : अर्थार्थीको भी गीतामें भक्त तो माना ही है !

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : परन्तु वह सिद्धान्ततया अभिमत है या अनभिमत?

गो. श्रीहरिरायजी : अभिमत नहीं है यह में कैसे कहूँ जबकि सिद्धान्तमुक्तावलीकी ''लोकार्थी चेत्'' कारिकामें श्रीमहाप्रभुजी श्रीपुरुषोत्तमजीनें उसे जघन्याकारी माना है ।

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गमें जैसे उत्तमाधिकारी भक्तिका अधिकारी है परन्तु जो उत्तमाधिकारी नहीं है वह प्रपत्तिका अधिकारी होता है। यों भक्ति जितना उत्तमाधिकार न होने पर भी प्रपत्ति भक्तिके विकल्प या अनुकल्पके रूपमें सिद्धान्तभिमत है, प्रतिकूल कल्प नहीं है । इसी तरह सेवाके द्वारा आजीविका अर्जित करनेवाला अर्जित न करनेके उत्तम कल्पका अनुकल्प है या प्रतिकूल कल्प? अर्थात् ऐसा जघन्याधिकारी हीनाधिकारितया अनुमत कल्प है या निषिद्ध कल्प?

गो. श्रीहरिरायजी : ''लोकार्थी...'' कारिकाकी व्याख्यामें लाभपूजार्थ प्रयत्नको उपधर्म तथा देवलकत्व सम्पादक होनेके कारण उससे भिन्न अर्थात् अनिषिद्धप्रकारसे, ''मेरी ऐहिक वस्तुकी कामना पूर्ण हो'' ऐसे

अनुसन्धानके साथ, जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता है उसे 'लोकार्थी' पदसे कहा गया है ।

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् लाभ और पूजा के लिये जो आजीविकार्थ सेवा करता है वह उपधर्म है, यानिकि पाखंड है जिससे कर्ता देवलक बनता है; जो निषिद्धकल्प है ।

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ, ऐसा भी है ! परन्तु पंक्तिमें 'आजीविका' शब्द आया नहीं है; शायद 'आदि' शब्दके अर्थतया लिया जा रहा है ।

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : देवलककी परिभाषामें ही वह अर्थ आ जाता है ''देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।''

गो. श्रीहरिरायजी : 'वत्सरत्रयम्' पदपर ध्यान देना चाहिये !

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् तीन बरस तक माफ किया जा सकता है; बादमें देवलक घोषित कर देना चाहिये ।

गो. श्रीहरिरायजी : मतलब यह है कि करते ही तुम देवलक नहीं बन जाते ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : कोई भी स्थितिमें देवलक निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी है या अनधिकारी ही है इसमें तो कोई सन्देह नहीं न?

गो. श्रीहरिरायजी : वह तो स्वीकार्य हे ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गमें जहाँ सेव्यस्वरूपकी प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती वहाँ भी स्वरूपसेवा द्वारा आजीविका अर्जित करनेके या ख्याति बढानेके प्रयत्न करनेवाला देवलक होता है; अर्थात् निषिद्धप्रकारका जघन्याधिकारी होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ यही कह रहे हैं ! फिर भी यहाँ ''तादृशश्चेत्... कृष्णं भजेत्... भगवत्प्रियाचार्यमार्गस्थत्वेन'' शब्दोंपर विशेषतया ध्यान देना चाहिये । (श्रीसुरेशबावाद्वारा पूछे जानेपर) यह

अनिषिद्ध के लिये आया है । निषिद्धकी बात तो अपने (गो. श्याममनोहरजीने) स्पष्ट कर ही दी है !

गो. श्रीश्याममनोहरजी : बहोत सुन्दर !

स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसाराँश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : निवेदितका ही समर्पण होता है और समर्पित सामग्रीका ही प्रसाद लिया अथवा लिवाया जा सकता है या फिर दानतया प्राप्त कर भोग धरी हुई सामग्रीका भी?

गो. श्रीहरिरायजी : समर्पितका ही ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानतया प्राप्तकर भोग धरी हुई सामग्रीका लिया जा सकता है अथवा नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : दत्तापहार दोष लगता होनेसे दानतया प्राप्तकर भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसाद नहीं लिया जा सकता । जो भगवानको दान दी गई हो; जो देवको दी गई हो कहना चाहूंगा ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : निवेदितका ही समर्पण होता है या अनिवेदितका भी ?

गो. श्रीहरिरायजी : जीवसे संबंधित वस्तुमात्र समर्पित हो जाती है !

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : भूतवर्तमानभावि स्वत्वाभिमानविषय ही संबंधित होता है या ऐसे अभिमानका अविषय भी?

गो. श्रीहरिरायजी : कालभेद नहीं है; जन्मजन्मांतरके संस्कारत: ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ समर्पित हो जाता है !

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हम जिस सरकारी बसमें सवारी करते हैं वह समर्पित होती है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : संबंध जोडनेवाले शास्त्रीय संस्कारके आभारवश उसे समर्पित नहीं, केवल व्यवहार्य मानना चाहिये । इसके विपरीत किसी स्त्रीसे विवाहके संस्कारवश संबंध स्थापित होता है अत: उसका समर्पण विवाहसे पूर्व भी (पतिने दीक्षा ली हो तब भी) हो जाता है ।

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित भूतवर्तमानभाविके स्वत्वाभिमानके विषय ही संबंधित होते हैं और संबंधितका भी समर्पण होता है न?

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ ।

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित भूतवर्तमानभाविके स्वत्वाभिमानविषयोंका ही संबंधिततया निवेदन किया जाता है अत: असंबंधित अनिवेदित समर्पित होता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : असमर्पित वस्तुको भगवत्सेवार्थ किसी दूसरेसे लेनेपर दान होता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : जिसमें स्वत्व नहीं उसके असमर्पित होनेके कारण असमर्पितका ग्रहण ही अप्रासंगिक बात है ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : असमर्पित वस्तुको भी भगवत्सेवार्थ दूसरेसे लेनेपर दानतया स्वीकारना होता है या नहीं; क्योंकि ''दाने हि न स्वविनियोग:'' कहा गया है ।

गो. श्रीहरिरायजी : दृष्टतया कोई वस्तु असंबंधित होनेपर भी अदृष्टतया संबंधित होनेपे समर्पित हो सकती है । एतावता दानतया ही उसे स्वीकारना आवश्यक नहीं है ।

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दृष्ट या अदृष्ट हेतुके वश शास्त्रानुमोदित स्वत्वाभिमानकी विषयीभूत वस्तुका निवेदन होता है, निवेदितका ही

समर्पण होता है; अनिवेदितका समर्पण नहीं होता, अत: असमर्पितका स्वविनियोग वर्जित होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रानुमोदित अदृष्ट स्वत्वका निर्णय ले पाना अशक्य है !

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित स्वत्वका निर्णय भगवत्सेवार्थ विनियोग एवं स्वार्थ उपयोगसे पूर्व लेना आवश्यक है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : भगवत्सेवार्थ विनियोग हो जानेपर अनुमेय है !

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें ''दाने हि न स्वविनियोग:'' वचन कहीं सावकाश है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : दान या समर्पणकी प्रक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तियोंके भिन्न भिन्न होनेके कारण जहाँ दानकी मनोवृत्तिसे दिया जाता है वहीं यह वचन सावकाश है ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानकी प्रक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तिके साथ जहाँ कुछ भगवत्सेवार्थ दिया जाता हो वहाँ तो 'दान' कहलायेगा न, 'समर्पण' तो नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : अज्ञानवश कोई वैष्णव दान देनेकी मनोवृत्ति रखकर कुछ दे देता हो एतावता उसे प्राक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तिवश दिया हुआ दान नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा अज्ञान गुरूपदेशसे निवृत्त हो सकता हैं ।

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानकी मनोवृत्तिसे देनेवाले वैष्णवका अज्ञान जहाँ गुरु निवृत्त नहीं करते वहाँ दान होता है या समर्पण?

गो. श्रीहरिरायजी : अनेकों वैष्णवोमें गुरु एक होता है अत: वह शक्य नहीं है !

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जहाँ वैष्णवों और गुरु, दोनोंके बीच

सहमतिपूर्वक भगवत्सेवार्थ परधन या परवस्तु ली जाती हो वहाँ तो दान होता है या वहाँ भी समर्पण ही?

गो. श्रीहरिरायजी : ठाकुरजीके लिये ही लेनेदेनेकी जब दोनोंके बीच सहमति हो वहाँ दान हो सकता है । फिर भी श्रीमहाप्रभुके निधि मेरे आपके नहीं प्रत्युत सभीके हैं अत: समर्पण ही होता है ।

१६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : गोस्वामी सभी दृष्टस्वत्वके कारण एक दूसरेके ठाकुरजीको समर्पण कर सकते हैं, परंतु कोर्टमें परस्पर स्वीकृत अस्वत्वके साथ जब भगवत्सेवार्थ वैष्णवसे द्रव्यग्रहण किया जाता है तब दान होता है या समर्पण?

गो. श्रीहरिरायजी : सेवासिद्धान्त शास्त्रीय विषय है; उसमें आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण नहीं माना जा सकता !

१७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : यदि वैष्णव और गुरु दोनों मिलकर आंबेडकरस्मृति को प्रमाण मानकर चलें तब दान होता है या समर्पण? और यदि दान होता हो तो ''दाने हि न स्वविनियोग:'' निषेध लागू होगा या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : आंबेडकरस्मृतिका प्रामाण्य इस विषयमें अप्रासंगिक है अत: अज्ञानवश कोई गुरु वैसा करता है तो वह अतिव्यावहारिक विषय है। यह पत्रकारपरिषद नहीं अत: में व्यक्तिगत चर्चा नहीं करना चाहता !

१८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रश्न व्यक्तिगत व्यवहारका नहीं, सिद्धान्तका है कि ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तत: दान होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण मानकर कोई गुरु एवं वैष्णव भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेतेदेते हैं तो वह उनका दुर्भाग्य है; मैं क्या करूं?

१९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें तो नि:संकोच आप भी

स्वीकारेंगे कि ''दाने हि न स्वविनियोग:'' निषेध लागू होगा कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : इसमें तो मुझे संकोच पहले भी नहीं था, अभी भी नहीं है ।

२०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण मानकर गो. गुरु तथा अनुयायी वैष्णवजनता जब परस्पर सहमति साधकर भगवत्सेवार्थ पराया द्रव्य लेतेदेते हैं; जहाँ देनेवालेका रसीदद्वारा व्यक्त होता संकल्प-मनोवृत्ति भगवानको ही देनेका है तथा लेनेवालेकी पॅम्फलेट-रसीदद्वारा अभिव्यक्त मनोवृत्ति भगवदर्थ ही लेनेकी है; वहाँ तो स्वविनियोगार्थ निषिद्ध देवद्रव्य होता है न?

गो. श्रीहरिरायजी : मेंने आंबेडकरस्मृतिकी बात नहीं पढी इसलिये कुछ कह नहीं सकता । इतना अवश्य कह सकता हूँ कि भगवत्सेवार्थ देनेलेनेवाले वैष्णव और गुरु गोस्वामि वर्ग जब सिद्धान्तके निर्धारणमें हृदयसे आंबेडकरस्मृतिको प्रमाणतया स्वीकारते हों तो वह अनुचित है क्योंकि इस विषयमें उसे प्रमाण ही माना नहीं जा सकता । यह तो अतिव्यावहारिक चर्चा हुई; सिद्धान्तचर्चा नहीं ।

२१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मैं भी उस व्यक्तिके बारेमें कोई निर्णय नहीं पूछ रहा हूँ; ऐसी स्थितिमें सिद्धान्त: क्या मानना चाहिये यही पूछ रहा हूँ । वह तो बतायेंगे न?

गो. श्रीहरिरायजी : मैने सिद्धान्त कह दिया । में कोई पत्रकारपरिषदमें नहीं बैठा हूँ ! यह शास्त्रार्थका विषय है अत: शास्त्रार्थके समय ही बताऊंगा ।

२२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : विषय शास्त्रार्थका नहीं; पूछनेका प्रयोजन ये है कि आपका पक्ष क्या है यह स्पष्ट नहीं हो रहा है । न मैने उपपत्ति दी है न मैं मांग रहा हूँ, पर आपका पक्ष तो स्पष्ट शब्दोमें कहेंगे कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : पक्ष मैं ग्रहण कर रहा हूँ आंबेडकरस्मृतिको छोडकर

शास्त्रप्रमाणके अनुसार जो संकल्प होते हैं उनहें ही मान्य करना चाहिये । यदि कोई अज्ञानवश आंबेडकरस्मृतिके नियमोंको मान्य रखकर ऐसा संकल्प करता भी हो तब भी वो मिथ्या है क्योंकि प्राप्त ही नहीं ।

२३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मुझे लगता हे कि ऐसी स्थितिमें ''दाने हि न स्वविनियोग:'' निषेधका कहीं कोई अवकाश ही नहीं रह गया ।

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रोक्त विधि, शास्त्रकी परिधिमें दान करने पर शास्त्रानुसारी संकल्प होते हैं वहाँ मनोव्यापार...

२४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हम देख गये कि देवलकवृत्ति निषिद्ध है अत: लाभपूजार्थ यदि कोई मांगता या लेता है तो वह शास्त्रनिषिद्ध है कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : निषिद्ध ही है ।

२५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंसे मांगा या लिया द्रव्य दान लेना है या समर्पण ही है ? और यदि दान है तो अपने उपभोगमें लाया जा सकता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : यह तो मैं पहले ही स्वीकार चुका हूँ । ऐसा करना जघन्याधिकार है इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता ।

२६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रश्न इसलिये उठता है कि दानमें उसका अवकाश अवरुद्ध किया जा रहा है । या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ।

२७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें कोई गुरु अपने शिष्यसे ठाकुरजी के लिये कुछभी मांगता हो तो वह शास्त्रनिषिद्ध होनेसे शास्त्रानुमोदित दान नहीं है; फिर संकल्प चाहे गुरुको या गुरुके ठाकुरजीको, किसीको भी देनेका हो, वह नियामक नहीं रह जाता । निषिद्ध होनेसे दान होनेसे देवद्रव्य होनेसे अनुपभोगार्ह ही होता है ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह तो बिलकुल स्पष्ट है; इसमें ठाकुरजीका प्रश्न ही नहीं । लाभपूजार्थ यत्न करके कोई भी गुरु किसी भी शिष्यसे कुछ भी ग्रहण करेगा वह ऋणानुबन्धी दोषोत्पादक ही है । वहाँ तो ठाकुरजीके लिये लेनेका भी सवाल नहीं, अपने लिये भी लेना बन्धनकारी है ।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : मुझे लगता है कि अब मेरी सभी शंका मिट गई । श्रीहरिरायजीने ५०० वर्ष बाद खतम होते संप्रदायको ५००० वर्ष तक खतम न हो ऐसी आयुष्य प्रदान की है ।

आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्या श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण के वचनोंके प्रामाण्यमें कोई तारतम्य होता है?

गो. श्रीहरिरायजी : प्रश्न ही नहीं उठता । सोच भी नहीं सकता ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रमादवश या अज्ञानवश कोई विपरीतकथन या विवशतया विपरीताचरण की तो बात अलग है परंतु ज्ञानपूर्वक - इच्छापूर्वक यदि कोई महाप्रभु या प्रभुचरण के वचनोंसे विपरीतकथन या विपरीताचरण करता है, उदाहरणतया रूढि आदिका बहाना काढ़कर, तो वह सहज आसुरी जीव होता है; पुष्टिजीव नहीं ''तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य... केवलांधंतमोगाः'' अतः आचार्यवचनोंका आशय कैसे निर्धारित किया जाय? केवल उसपर भाषण-प्रवचन करके नहीं परंतु निर्दिष्ट मार्गमें निष्ठा रखकर । वह निष्ठा भी स्वयंके बोधसे नहीं किन्तु तादृग्गुरूदित प्रकारसे । तादृग्गुरूदित वचनोंका अर्थ भी स्वतः नहीं, अनुवादतः । अनुवाद भी स्वबुद्धिसे नहीं, मूलक्रमागत परंपराके अनुसार करना चाहिये । इस रूपमें पुनः दृढ आचार्यश्रय होना जरूरी है इसमें तो संशय ही नहीं क्योंकि दृढ आचार्याश्रय जिसे नहीं

ऐसा कोई भी वाल्लभ, वंशज या अनुगामी, वाल्लभ ही नहीं हो सकता । संशय यह है कि श्रीमहाप्रभुसे परंपराका प्रारंभ करके हम जिस कड़ीपर स्थित है उससे एक कड़ी पहले तक लिये गये आशयके अनुसार श्रीमहाप्रभुकी वाणीका अर्थ स्वीकारना चाहिये कि नहीं? कोई भी आधुनिक गोस्वामी मूलक्रमागत अर्थको छोड़कर तद् विपरीत अर्थघटन करता हो तो उसका संग दुसंग है कि नहीं? यद्यपि इस विषयमें कथनीय नहीं है, फिर भी पक्षग्रहणकी विधिकी संपूर्तिके हेतु यह पूछना पड़ रहा है ।

गो. श्रीहरिरायजी : कुछ कहनेका नहीं । ठीक ही है यह ।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : आपने पुष्टिमार्गको जीवनदान दिया है ।

गो. श्रीहरिरायजी : अगर मैं मरकर भी जिवा सकूँ तो वह मुझे मंजूर है!

गो. श्रीश्याममनोहरजी : शतायुषान् पुत्रपौत्रान् वृणीष्व ।

***

उपपत्तिविचार

सेवास्वरूप :

(चर्चाकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : श्रीहरिरायजीको विनती है कि वे अपने पक्षकी उपपत्तिका प्रारंभ करें । साथहीसाथ यह भी विनती कि कितना समय लेंगे यह पूर्वनिर्धारित कर लें । यथाशक्य जितना समय कम लेंगे उतने अधिक विषयोंकी चर्चा और जितना अधिक समय एक एक विषयपरकी चर्चामें लेंगे उतने कम विषयोंकी चर्चा हो पायेगी । अत: कितना समय लेंगे इसका कृपया खुलासा करें तो तदनुसार में भी अपेक्षित समयका स्पष्टकरण दे दूँ ।

गो. श्रीहरिरायजी : जो आप मांगते गये वो मैं लिखाता गया था कि 'त्रैविध्यम्' । वही चलेगा न? तो उस पक्षकी स्पष्टता करदें तो लिंक बन जाये।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हाँ, वह मैं कह देता हूँ ।

श्रीमहाप्रभुके अनुसार ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' अर्थात् चित्तका भगवानमें चोंट जाना सेवा है । वह मानसीकी कक्षा तक पहुँचनेपर 'परा फलरूपा' मानी जाती है । चेतस्तत्प्रवणात्मिका सेवा मानसीके रूपमें फलित हो एतदर्थ क्या तनुजा और वित्तजा, ऐसे एक ही सेवाके दो प्रकार हो सकते हैं या एक ही प्रकार तनुवित्तजा है । अर्थात् पक्षग्रहणके समय श्रीहरिरायजीने इसे ''द्वैविध्यं त्रैविध्यं वा?'' शब्दोमें कहा । यहाँ एक स्पष्टता कर देनी आवश्यक है कि सेवाका द्वैविध्य यानि मानसी और तनुवित्तजा । त्रैविध्य यानि मानसी, तनुजा और वित्तजा । मानसी जो फलरूपा है उस विषयमें कोई विवाद नहीं है । मानसीसेवा फलित हो एतदर्थ है 'तनुजा', यानि पराये धनको लेकर अपने तनसे की जाती सेवा और 'वित्तजा' यानि पराये व्यक्तिके तनसे की जाती सेवामें

आर्थिक सहयोग देना । अर्थात् तनुवित्तजाका ऐसा विभागीकरण सिद्धान्त: शक्य है या नहीं? उसमें श्रीहरिरायजीका त्रैविध्यका पक्ष है, अर्थात् १. फलरूपा मानसीसेवा २. तनुजासेवा और ३. वित्तजासेवा ।

इसके अलावा, कोई भूल न करता होऊं तो, चौथी एक तनुवित्तजा और होती है । इस तरह सेवाचातुर्विध्य होनेसे पक्षत्रैविध्य मुझे लगता है कि संशोधनार्ह है । मैं कुछ गलत तो नहीं कह रहा ? श्रीहरिरायजी अपना वास्तविक पक्ष और उपपत्ति प्रदान करें ।

गो. श्रीहरिरायजी : पक्षग्रहणके अवसरपर केवल संशयका उत्तर मांगा गया था । सेवा तीन प्रकारकी ही होती है; चार प्रकारकी नहीं । अब स्पष्टीकरण दे दूँ कि अधिकारभेदसे त्रैविध्य होता है ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्षमा करें ! अभीतक हम दोनोंके बीच समयबंध नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : जो समयमर्यादा आप बाँध दें ।

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : नहीं; आप निश्चित करिये कि आपको अपनी बात कहेनेको कितने समयकी अपेक्षा है । मेरा इस विषयमें कोई आग्रह नहीं है । फिर भी कमसेकम चार पाँच मुदोंको देखते हुए बीसेक मिनिट यदि निर्धारित की जाय तो हरकत नहीं ।

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ बस । तो (मूल पंक्तियाँ पढ़ते हुए) वह सेवा, यानि सेवास्वरूप जो बता दिया गया वह, दो प्रकारकी है; ''फलरूपा साधनरूपा चास्ते'', फलरूपा और साधनरूपा । यहाँ 'फल' और 'साधन' के साथ 'रूप'पद जुड़ा हुआ है । घट और घटरूप में जो भेद होता है वही फल-फलरूप और साधन-साधनरूप में भी है । इसके बाद ''उक्तसेवासाधने इतरे'' में प्रभुचरणने 'रूप' पद हटा दिया है; अर्थात् साधनत्व स्वीकारा गया है । 'इतरे' अर्थात् 'द्वे सेवे' । अत: साधनत्वके विचारसे दो तरहकी सेवा होती है; क्योंकि ''द्वन्द्वान्ते

श्रूयमाणत्वाद्...'' आगे मैं भूल गया हूँ (गो.श्याम : प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते) हाँ, वह थोड़ा सा भूल गया । इससे यह सिद्ध होता है कि तनुजा-वित्तजा साधन हैं परंतु साधनरूप नहीं । आगे जो कहा गया है वह ठीक है पर उतना ध्यान देने लायक नहीं ।

अब ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न....'' अर्थात् जिनका साधनत्व स्वीकारा गया वे साधनरूपा नहीं हैं; अलगअलग की जाती दो सेवाए मानसीकी साधिका नहीं होती, साधन होनेपर भी । श्यामुदादाके लेखोंमें पढ़ा है कि यह (उक्तसेवासाधने इतरे) निषेध्यकोटिस्थ वाक्य है । श्रीप्रभुचरण 'तत्साधिके न' कहकर साधकत्वका निषेध कर रहे हैं, साधनत्वका नहीं । उदाहरणतया कर्ममार्गके जितने भी साधन हैं वे भक्तिमार्गमें साधक नहीं है । मायासे असंबद्ध शास्त्रद्वारा निर्धारित सभी कुछ साधन तो हैं ही । पर दोनोंको मिलाकर जो तनुवित्तजा है वह साधनरूपा = मानसीकी साधिका है ।

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : 'सेवासाधने इतरे' को स्त्रीलिंगमें खींचतानकर लिया गया है । 'साधन' शब्द नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त है और 'तनुवित्ते' यह जब मिल ही रहा है तो 'तनुवित्तजे सेवे' लेनेकी कोई आवश्यकता समझमें नहीं आती कि 'तत्साधिके न' वचन द्वारा तनुजा-वित्तजा सेवाओंकी मानसीसाधकताका निषेध है, साधनताका नहीं । निष्फल साधन अजागलस्तन जैसी तनुजा और वित्तजा निष्फल होनेमात्रसे अकरणीय न भी होती हो परंतु हमें पता है कि श्रीहरिरायजीने यह बात कबूल की है कि सेवार्थ किसी दूसरेसे द्रव्य लेना सेवाकर्तामें देवलकता लाता है । अत: निष्फल तो है ही पर निषिद्ध और है; अनिषिद्धकोटिमें निष्फल नहीं है ।

श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्यापर भी ध्यान नहीं दिया गया है ''स्नेहेन क्रियामाणं तत् साधनम् । तत् चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं

वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति । न च यागी यजमानस्येव वित्तदातु: फलतीति शंक्यम् । तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादे: भक्तिमार्गे भगवता अनुक्त्वात् । अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् । तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं जनयन्ती स्वयमपि पश्चात् फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति ।'' अत: सेवाकर्ता सेवाके लिये दूसरेसे जो द्रव्य लेता है तो पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता वैसे ही सेवाकर्ताको भी नहीं मिलता । कर्ममार्गमें शास्त्रविहित होनेसे पौरोहित्य अनुमत है, जबकि भक्तिमार्गमें भगवानने पौरोहित्यकी अनुमति दी नहीं है । अत: कर्ममार्गकी तरह यहाँ वित्तदाताका पौरोहित्य नहीं करना चाहिये, किन्तु भगवदुक्तरीतिसे ही सेवा करनी चाहिये । तभी सफल होगी । ''वचनात् प्रवृत्ति: वचनात् निवृत्ति:'' ही यहाँ नियामक है । आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारमें श्रीहरिरायजीने मूलक्रमागत अर्थानुसार अनुवाद करनेका उत्तरदायित्व स्वीकारा ही है । अत: गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज आदि वृद्धपुरुषोंने भी तनुजा – वित्तजाके विभक्तरूपोंको तो अस्वीकारा ही है (दृष्टव्य अमृतवचनावली पृ. ४२, ४३ तथा ४५) । अत: विभक्ततया तनुजा या वित्तजा सेवा नहीं करनी चाहिये; निष्फल तथा निषिद्ध होनेके कारण ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह बात फल तक आ गई । यद्यपि पहले यह निश्चित हुआ था * कि त्रैविध्यं द्वैविध्यं वा । मैने सिर्फ उसका उत्तर दिया है ।

(* गो.श्रीहरिरायजी द्वारा गृहीतपक्षत्याग : श्रीमहाप्रभुके अनुसार पुष्टिमार्गमें मानसी फलकी साधनभूता सेवा तनुवित्तजा होती है अथवा तनुजा या वित्तजा, यही चर्चासंदर्भ था, न कि व्याकरणके द्वंद्वके अनुसार द्वैविध्य अथवा त्रैविध्य मात्रकी चर्चा । अनसंधेय : २ । में

गो.श्याम.का वचन)

कोई बात नहीं । अब सवाल यह है । अलगअलग दो तरहकी तनुजा और वित्तजा होती है तब वह साधनमात्र होती है परंतु जब दोनों मिलती है तब मानसीकी साधक होती है । आपने भी अजागलस्तनकी तरह तनुजा – वित्तजाको साधन तो मान लिया और निषेध्यकोटिमें यह निषेध कहाँ व्याप्त हो रहा है यह हमें सोचना है ।

श्रीपुरुषोत्तमजीका 'न तथा कार्यम्' निषेध भी जिस उत्तमाधिकारीको फलरूपा मानसीसेवा सिद्ध होनी है उसकेलिये निषेध है । यदि ऐसा नहीं होता तो ''एतादृश्य अवान्तरफलं भवति इति आहु तत इति'' इसमें जो मानसी करता है उसे, परब्रह्मकी तरह अवांतर मिलते हैं । 'तत्साधिके न' वचनके कारण मानसीका अधिकारी नहीं है । परंतु मंदमध्यमाधिकारीद्वारा की गई तनुजा या वित्तजा भगवत्सेवा निष्फल जाय यह तो भगवच्छास्त्रमें दृष्टिगोचर नहीं होता । गीतामें भी अर्थार्थी भक्तको 'उदार' कहा गया । सुदुराचारी भी भक्तका नाश नहीं होता यह भी कहा गया है । यहीं श्रीपुरुषोत्तमजी ''यदाधुनिकैस्तादृशाधिकार-राहित्येपि मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण'' कह रहे हैं । अत: मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकार 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्' हेतुके बलपर तनुजा वित्तजा प्रकार है । अत: अलगअलग करनेवाला भी निषिद्धप्रकारसे* कर रहा है ऐसा नहीं ।

(*श्रीपुरुषोत्तमजीने ''स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् । तत् चेद् वित्तं दत्वा... तथा न कार्यम्' अत: साधनको निषेध्यकोटिमें ही लिया है; न कि साधिकाको । इसी तरह 'भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात् कहा है; 'उत्तमाधिकारिणे' नहीं कहा । अत: संपूर्ण भक्तिमार्गमें निषेध है, केवल उत्तमाधिकारीके लिये नहीं ।)

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तनुजासेवा करनेवाला और देवलकके बीच प्रभेद क्या है यह समझायें । ''तथा न कार्य, भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्''

इस निषेधका अन्तर समझायें । मूलक्रमागत अर्थ आप मान्य कर रहे हैं या छोड़ रहे हैं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं मूलक्रमागत अर्थको अमान्य नहीं कर रहा । पुरुषोत्तमजीने जो यहाँ जो लिखा है वो अगर मूलक्रमसे अलग हो तो बात अलग है !*

(*गो. श्रीहरिरायजी द्वारा परिगृहीत 'तनुजासेवा देवलकत्वसंपादक होती है' इस पक्षका त्याग । (दृष्टव्य गृहीतपक्षसूचिके अंतर्गत स्व.से.स्व.प्र.ग्र. २४ में गो. श्रीहरि.) देवलक और तनुजासेवाकर्ताके प्रभेदका स्पष्टीकरण भी नहीं दिया।)

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागत अर्थ आपके अनुसार कुछ और है और यहाँ आप पुरुषोत्तमजीने अर्थ किया उसकी व्याख्या कर रहे हैं?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं । मैं पुरुषोत्तमजीके अर्थको मूलक्रमागत अर्थसे भिन्न नहीं मानता ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो जो पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री तथा पू.पा. श्रीगोविन्दरायजी महाराजश्री के उद्धृत वचनोंकी क्या संगति ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं नहीं; उनसे मुझे मतलब नहीं । न में आधुनिक बालकोंकी या पुरुषोत्तमजी या उससे आगे, मतलब बिल्कुल परवर्ती; जैसे वो एक अंश था 'लोकार्थी' वाला वो कहाँसे आया था वो पता नहीं, तो सविनय नमस्कार करके वहाँसे हट जाता हूँ । ये यहाँ जो है वह मुझे मान्य है ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रम कहाँ तक आप लेते हैं ये स्पष्ट नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ऐसा कुछ नहीं है । मतलब जिसका कहीं पता नहीं हो वह, माने किसका है यह मझे पता नहीं है । वह लोकार्थीवाला

किसका है?

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : नहीं नहीं; मैं लोकार्थीकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ। मूलक्रम आप कहाँ तक लेना चाहते हो? श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, श्रीगोविन्दरायजी के वे अर्थ मूलक्रमागत हैं और इसी तरह सौसे भी अधिक वर्ष पूर्व नरसिंहलालजी महाराजने भी यही बात कही है । और मेरे पास श्रीव्रजभूषणलालजी काकाजी (श्रीहरिरायजीके पितृचरण) का भी एक पत्र है जिसमें उन्होंने यह मान्य किया है । वह मैं प्रस्तुत करता हूँ ।

गो. श्रीहरिरायजी : देखो मैं आपसे एक बात...

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो वह मूलक्रमागत है कि नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं आपको निवेदन कर चुका हूँ । ये कहाँ दूसरी और जा रही है बात । पुरुषोत्तमजीका प्रमाण मैने दे दिया । अब मूलक्रमागतका प्रश्न उठना नहीं चाहिये ।

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आचार्यतात्पर्यानिर्धारणप्रकारमें आपने यह मान्य किया इसलिये उठा रहा हूँ । अन्यथा नहीं उठाता ।

गो. श्रीहरिरायजी : मान्य किया है लेकिन पुरुषोत्तमजीका प्रमाण देनेके बाद अब मूलक्रमागतकी शंका आपको रहनी नहीं चाहिये ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागतकी व्याख्या तो मैं भी कर सकता हूँ और वो सारे वचन (श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजजी आदिके) श्रीपुरुषोत्तममजीके वचनसे संगत हो रहे हैं ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह गलत ढंगसे फंसाया जा रहा है । (उद्घोषकको संबोधित करके) ध्यान दें !

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ये वचनतो मैं सबको विचारार्थ प्रस्तुतः कर दूँ?

गो. श्रीहरिरायजी : उससे मुझे कोई मतलब नहीं है ।

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : (उद्घोषकको संबोधित करके) यह रेकोर्ड पर लिया जाय ।

गो. श्रीहरिरायजी : क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं है ।

१६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ये वचन हैं नित्यलीलास्थ श्रीव्रजभूषणलालजी (श्रीहरिरायजीके पितृचरण) काकाजी के ।

उद्घोषक : मैं समझता हूँ श्रीहरिरायजीने अपना स्पष्टीकरण दिया कि पुरुषोत्तमजी आदि तक ही अपने व्याख्यानको सीमित रखना चाहते हैं ।

गो. श्रीहरिरायजी : आप ऐसी बात मत करो । ये वचन मुझे पहले से भेजे नहीं गये । यहाँ आनेपर मिले हैं; आप अपनी कारवाई देख लीजिये ऐसा अन्याय मत करिये ।

१७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो फिर अन्य वचनोंसे भी उपपत्ति नहीं दी जा सकेगी । फिर तो वचनोवलीमें ही बंधना होगा । मूलक्रमागत वचन आचार्यनिर्धारणप्रकारमें हम दोनोंने मान्य किया था ।

गो. श्रीहरिरायजी : मूलक्रमागत वचनमें में श्रीहरिरायजी श्रीपुरुषोत्तमजीका मैं प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ, फिर ये प्रश्न क्यों उठाया जा रहा है कि व्रजरत्नलालजी महाराज ऐसा क्यों कह रहे हैं ।

१८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ''श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज ऐसा क्यों कह रहे है'', नहीं पूछ रहा ! मैं पूछ रहा हूँ : उनके वचन आपको मान्य है कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं उसकी चर्चा करना नहीं चाहता ।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागत अर्थ है कि नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं इसकी चर्चा अब यहाँ करना नहीं चाहता ।

व्यक्तिगत चर्चा नहीं ।

१९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : व्यक्तिगत नहीं सिद्धान्तचर्चा है, सिद्धान्त जो नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी काकाजीने मान्य किये हैं, इस (संयुक्तघोषणापत्रकी प्रति एवं नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी द्वारा उसे मान्य घोषित करनेवाले पत्रकी प्रति देते हुए) में ।

गो. श्रीहरिरायजी : ऐसा कोर्टमें वह पेश करना है इस सन्दर्भमें वह मान्य की गई होगी । *वह कोई स्वतन्त्र...

(गो. हरिरायजी द्वारा गृहीत मूलक्रमागत अर्थानुसार अनुवाद करनेका पक्षत्याग : पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त कोर्टमें कुछ और होते हों, ग्रन्थोमें कुछ और होते हों और व्यवहारमें कुछ और ऐसा तो हो नहीं सकता है!)

गो. श्रीश्याममनोहरजी : तब अब मुझे और कुछ नहीं कहना है । जिसको जो कुछ पूछना हो पूछे ।

***

परिशिष्ट

शाखाचंक्रमणनिरसन :

इसके बादमें जो चर्चा हुई है वह स्वगृहीत पक्षोंका त्याग करके हुई होनेसे उसका विवरण विस्तृत रिपोर्टमें पढ लेना ही उचित होगा । फिर भी ''उक्तसेवासाधने इतरे'' वचनमें 'साधने इतरे' पदों द्वारा तनुजावित्तजा सेवाका द्वित्व विवक्षित है या तनुवित्तका द्वित्व विवक्षित है इस सन्दभर्भमें चर्चा हुई । प्रसक्तानुप्रसक्तिवश 'साधने' पद नपुंसकलिंगका होनेसे सेवाका विशेषण बन सकता है कि नहीं यह चर्चा भी चली । ''यल्लिंगं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य तल्लिंगं तद्वचनं सैव च विभक्तिर्विशेणस्य'' नियमके अनुसार 'सेवा' पद स्त्रीलिंग होनेसे 'साधने' पदको विशेषण मानकर 'तनुवित्तजे' विशेष्य बन नहीं सकता । इसपर चि. हरिरायजीने श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी तथा श्रीरघुनाथात्मज-श्रीवृजनाथकृतविवृतिटिप्पणी - यों दो टीकाओंके आधारपर 'इतरे तनुवित्तजे' अंशपर ध्यान दिलाकर यहाँ सेवाके द्वित्वकी विवक्षापर भार दिया । मूलत: ग्रन्थसंपादकके अनुसार एक ही टीका दो नामोंसे प्रचलित हुई है, जो विषय यहाँ सन्दर्भोपात्त नहीं है । अत: प्रधानतया अनुसन्धेय इस विषयमें यही है कि इस टीकामें भी 'तनुजवित्तजे' न कहकर 'तनुवित्तजे' कहा है । अत: उसी ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' नियमके अनुसार यहाँ भी व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्ति तनुजा-वित्तजा करनी पड़ेगी; जिसे ये दोनों टीकाकार ''उक्तसेवा मानसीसेवा, इतरे तनुवित्तजे'' कह कर मानसीसेवाका साधन मान रहे हैं । यहाँ चि. हरिरायजीकी क्लिष्टकल्पनाके अनुसार वे अवान्तरफलकी साधिका हैं और मानसीकी साधन हैं । ऐसा भी मान लिया जाय तब भी ''तथा च एककर्तृके एव ते तत्साधिके (अर्थात् तनुजा-वित्तजाके द्वित्व के बावजूद उन दोनोके एककर्तृका होने पर उन्हें मानसीकी साधिका कहा जा रहा है नकि अवान्तरफलकी. जबकि चि. हरिरायजीके पक्षके अनुसार (एकवचननिरूपित 'तनुवित्तजा' मानसिकी साधिका होती है तथा

द्विवचन निरूपित 'तनुवित्तजे' अवान्तर फलकी साधिका होती है) इति फलितार्थः ननु एवम् एककर्तृका भगवदपेक्षितयावद्द्रव्यसमर्पणरुपसेवा शरीरजभगवद्यावत्सेवा च भगवदपेक्षितयावद्द्रव्याभावात् तादृशतनु-सामर्थ्याभावात् च असंभाविता इति चेत् तत्राहुः एतेनेति । एवं सेवाकथनेन फलाकांक्षारहितया-वत्स्वीयद्रव्यादिनिवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहित-भगवदर्थस्वदेहविनियोगे जाते क्रमप्राप्ते प्रेम्णि जाते सा मानसीसेवा भवति... एतादृशस्य निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य'' अंश द्वारा सेवागत द्वित्वका निरास ही इन टीकाकारोंको भी अभिप्रेत है । अतः तनुजा तथा वित्तजा द्वन्द्वसमासके विग्रहनियमके अनुसार दो पदों द्वारा निरूपणीय होनेपर भी इन दोनोंका कर्ता तो एक ही होना चाहिये । अतः अनुष्ठानतः पुनः एक ही सेवा होती है, पदतः दो होनेपर भी ।

यहां भी उत्तमाधिकारीकी चर्चा उठानेपर यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि जघन्याधिकारीके जघन्याधिकारको लक्ष्य करके यहाँ तनुजा या वित्तजा सेवाका विधान किया जा रहा है? अथवा तनुजा या वित्तजा सेवा करनेवालेके लिये जघन्याधिकारी होनेका अभिधान किया जा रहा है? दोनों ही कल्पोंमें कंठोक्त तो एक भी कल्प नहीं है । किसी अन्यथानुपपत्तिसे कल्प्य माननेपर भी ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसंपादकत्वात्'' श्रीपुरुषोत्तमोक्त हेतुके आधारपर निषिद्धकोटिका जघन्याधिकार ही उदिष्ट या अभिहित हो रहा है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा । दोनों ही स्थितिमें ''भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः'' चरितार्थ होता है । क्योंकि तब दर्शनार्थी वैष्णवोंके द्रव्यसे अपने सेव्यस्वरूपकी तनुजा सेवा करनेवाले गुरुको निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी माननेपर सेवोपदेशका अधिकार छिन जायेगा ! अधिकांश अनुगामी वैष्णव उनके घरोंमें तनुवित्तजा सेवा ही करते हैं सो उन्हें ही सेवोपदेशका उत्तम अधिकार प्राप्त हो जायेगा । अतः द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणपदका व्याकरण द्वन्द्वान्त ही सिद्ध हो जायगा ! इससे अधिक उटपटांग कुशकाशावलंबन और क्या हो सकता है !

अतएव श्रीमथुरानाथात्मज-श्रीद्वारकेशजीकृत टीकाकी ''तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, ताभ्यां जाता कृता प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा; द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च, तत्सिद्धौ । ते इति संसारानिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् । वस्तुस्वभावादिति मानसीपूर्वरूपवस्तुस्वभावत् । मानसीसेवासिद्धयै तनुवित्तजा सृष्टिः दैवी आसुरी च, 'पुष्टिं कायेने' ति वाक्यात् । दैवी तनुजा । वितं माया, तद्भूता आसुरी । उभे मानसीसेवार्थके । दैवी सेवा कर्त्री द्वितीया तद्रूपज्ञापिका पंक्ति, जिसे उद्धृत किये बिना चि. हरिरायजी पकड़कर चलते रहे हैं, वहाँ भी एककर्तृका त्रिविध सेवाओंके सूक्ष्म भेदोंको समझानेकी विवक्षा है; नकि भिन्नकर्तृका सेवाओंके त्रैविध्यको समझानेकी । 'तनुवित्तजात्व' अवच्छेदकसे या अंशितया सेवा मानसीफलसाधिका होती है । 'तनुजात्व' अंश या अवच्छेदकसे ब्रह्मबोधरूप अवान्तरफलसाधिका होती है । 'वित्तजात्व' अंश या अवच्छेदकसे संसारनिवृत्तिरूप अवान्तरफलसाधिका होती है । क्योंकि संसार मायाजन्य है इसलिये वित्त भी माया है । अतः वित्तजा सेवा 'आसुरी सेवा' है । जब हमारे साथ लगी दैवी तथा आसुरी, विषय-प्रपंच-रूपा तथा विषयता-संसार-रूपा, वास्तविक देहको तथा मिथ्या ममतास्पदीभूत द्रव्यको भगवत्सेवामें विनियुक्त करेंगे तभी मानसी सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं ।

किसी भी स्थितिमें अनेककर्तृका तनुजा-वित्तजाका निषेध है । एककर्तृका तनुजा-वित्तजाको निषेध्यकोटिमें हम भी नहीं मानते । जैसे एक व्यक्तिके 'राधाकृष्णदास' नामका यह अर्थ तो किया जा सकता है कि वह राधादास भी है और कृष्णदास भी । परंतु राधादास वृन्दावनी कोई अलग है तथा कृष्णदास पुष्टिमार्गी कोई अलग है ऐसी खींचतान संभव नहीं ।

भूलना नहीं चाहिये कि श्रीमहाप्रभु ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजे'' भी आज्ञा कर सकते थे, परन्तु 'तनुवित्तजा' ही कहा है । मूलकारिकास्थ 'तनुवित्तजा' गत एकवचनकी व्याख्या श्रीप्रभुचरण ''वित्तं दत्वा....एतादृश्यौ ते (भिन्नकर्तृ के तनुवित्तजे) तत्साधिके (मानसीसेवासाधिके) न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं (तनुवित्तजा) पदं'' कर रहे हैं । श्रीपुरुषोत्तमजीने भक्तिमार्गमें भिन्नकर्तृका

तनुजा–वित्तजा सेवाको अविहित होनेसे अकरणीय माना है । तनुजा करनेके लिये पराये व्यक्तिसे द्रव्य लेनेपर देवलकता आती है।

लाभका अर्थ पारिश्रमिक या वेतन कुछ भी हो सकता है । मूलमें ''वित्तं दत्त्वा'' उल्लेख किया गया है उसे 'वेतन' के अर्थमें सीमित पुरुषोत्तमजी नहीं करना चाहते किन्तु वित्तग्रहणकी व्याख्या वेतनके उपलक्षणके द्वारा देना चाहते हैं । अतएव लाभ (अर्थात् तनुजाके श्रमसे अधिक लेनेपर या तनुजारूप श्रमके अनुपातमें दर्शनार्थीके वित्तसे विनिमय मात्र कर) लेनेपर भी देवलकता तो आती ही है; यद्यपि वह देवद्रव्य तो नहीं होता फिर भी । यदि स्वयंके नामपर पराये पुरुषसे द्रव्य न स्वीकारें परन्तु अपने सेव्यस्वरूपके नामपर स्वीकारें तब तो वह देवद्रव्य ही हो जाता है । उससे अपना निर्वाह चलानेपर देवद्रव्योपभोगका अपराध भी लगता ही है, देवलकता न होने पर भी ।

उपपत्तिनिरूपणके दूसरे वाक्यमें चि. हरिरायजीका कहना है कि अधिकारभेदसे त्रैविध्य ही है, चातुर्विध्य नहीं । यहाँ यह अवधेय है कि यदि उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा करता है तो मानसी और तनुवित्तजा का द्वैविध्य ही होता है । इस तनुवित्तजाके साथसाथ वह कथंचित तनुजा और वित्तजा भी कही करता है तो पुनः चातुर्विध्य हो जायेगा । अतः नितांत अनवगतस्वाभिप्रायक वचन है यह । चि. हरिरायजी यह भी नहीं कह सकते कि इस द्वैविध्य या त्रैविध्य के विकल्पमें मानसीकी परिगणना नहीं करनी चाहिये, अतः (१) तनुवित्तजा (२) तनुजा और (३) वित्तजा – ऐसे त्रैविध्य उपपन हो जायेगा, क्योंकि यह 'त्रैविध्य कल्प' द्वैविध्यके विकल्पतया स्वयं चि. हरिरायजी द्वारा प्रस्तावित है । अर्थात् उनके द्वारा मानसी–तनुवित्तजा–द्वैविध्यके विरोधमें त्रैविध्यकल्प परिगृहीत है । ऐसी स्थितिमें चि. हरिरायजी यह भी नहीं कह पायेंगे कि मेरा पक्ष द्वैविध्य है, क्योंकि तनुजा और वित्तजा रूप द्वैविध्य तो मेरा पक्ष कभी था नहीं, है नहीं और हो भी सकेगा नहीं ।

भगवत्सेवार्थ जनतासे रुपये ऐंठनें कि नहीं यही तो विवादका मुख्य मुद्दा

था और है । चि. हरिरायजीने रुपया ऐंठनेवाले गोस्वामियोंको अर्थार्थी या लोकार्थी मानकर अनिषिद्ध जघन्याधिकारी मानना चाहा तथा मैं इसे निषिद्ध जघन्याधिकारिता मानता हूँ । सेवार्थ आजीविकाके विचारके ९वें वाक्यमें चि. हरिरायजीको भी निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी मानना पड़ा था । इसी तरह स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहणके विचारमें १९वे वाक्यमें कबूल करके यद्यपि शाखाचंक्रमण कर गये थे परंतु २७वे वाक्यमें पुनः चि.हरिरायजीने तनुजासेवाको दोषरूप मान लिया था । बावजूद उसके उपपत्तिविचारमें चि. हरिरायजी शाखाचंक्रमण कर गये हैं । उसमें भी अवधेय एक और बात यह है कि आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहारके अंतमें मेरे ''आपने पुष्टिमार्गको जीवनदान दिया है!'' कहनेपर चि.हरिरायजीने ''अगर मैं मरकर भी जिवा सकूँ तो वह मुझे मंजूर है'' कहकर मूलक्रमागत अर्थको छोड़ने तैयार हो गये हैं उपपत्तिमें । इसे निष्ठाहीनताका नग्नताण्डव नहीं तो और क्या समझना चाहिये!

यहाँ उपपत्तिचर्चामें चि. हरिरायजी फल-फलरूपा साधन-साधनरूपा के चातुर्विध्यका निरूपण स्वयं कर रहे हैं । ऐसी स्थितिमें (१) व्रजभक्तोंकी फलात्मिका सेवा (२) आधुनिक उत्तमाधिकारिओंकी फलरूपा मानसीसेवा (३) निजगृहमें सेवापरायण आधुनिक वैष्णव अनुगामिओंकी साधनरूपा तनुवित्तजासेवा (४) जघन्याधिकारी सार्वजनिक मंदिरवादी देवलक आधुनिक गोस्वामिओंकी वैष्णवपुरोहित-साधनात्मिका तनुजासेवा तथा (५) जघन्याधिकारी मंदिरवादी दर्शन-प्रसादकी शौखिन आधुनिक वैष्णव जनताकी साधनात्मिका वित्तजासेवा - ऐसे पाँच सेवा होने जा रही है ! यह 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण' पदविग्रहहका ही माहात्म्य नहीं तो और क्या हो सकता है?!

प्रतीत होता है कि सिद्धान्तके तथा विवादास्पद विषयके गांभीर्यके किसी भी तरह आकलन किये बिना ही चि. हरिरायजी चर्चार्थ उत्कंठित हैं । अत एव निरंतर शाखाचंक्रमण इनकी विचारशैलीकी एक महती विलक्षणता है!

अन्य विषयोंपर यद्यपि उपपत्तिक्रम तक विचार पहुँच नहीं पाया परंतु पक्षग्रहणके क्रमसे विचारश्रृंखलाको आगे बढ़ाने के लिये कुछ अनुपपत्तियाँ या उपपत्तियाँ अब मेरी ओरसे प्रस्तावित की जा सकती है ।

सेवाप्रदर्शन :

चि. हरिरायजीने श्रीनाथजीकी सेवाके अंतर्गत मंदिरसेवा तथा दर्शनसेवा का प्रवधान स्वीकारा है । मूलत: यह निरूपण वार्तासाहित्यको प्रमाण माने बिना शक्य नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तग्रंथोमें इसका निरूपण कमसेकम मेरी दृष्टिमें नहीं आया । श्रीगोपीनाथजीविरचित साधनदीपिकामें स्पष्टतया ''स्वीयान् भक्तान प्रदर्शयेत्'' सिद्धान्त घोषित किया गया है; अर्थात् भक्त हों परंतु स्वीय न हों अथवा स्वीय हो परंतु भक्त न हो उन्हें दर्शन नहीं कराने चाहिये । इसकी पुष्टि श्रीहरिरायचरणने भी की है । (दृष्टव्य सि.वचनावली ३ । ख-ग)

मुझे साग्रह यह सूचित किया गया था कि सोनेकी कटोरी गिरवी रखनेवाला प्रसंग; जहाँ देवद्रव्य खानेवालेको 'महापतित' कहा गया है, प्रमाणतया उद्धृत न करुं ! परंतु यदि वार्ताको प्रमाण मानना ही है तो श्रीमहाप्रभुद्वारा स्थापित देवालयमें श्रीनाथजीकी सेवाके प्रकारमें गैरब्रह्मसंबंधी बंगालियोंको भी सेवाधिकार था । सो अब पुन: यदि वृन्दावनके चैतन्यसंप्रदायवाले या हरेकृष्णवाले अमरिकी श्रीनाथजीकी सेवामें नहाना चाहें तो तथाकथित आमजनताके इस मंदिरमें चि. हरिरायजी उसे भी स्वीकृति देने तैयार हैं? क्या इस तरहकी अनर्गल विचारशैली प्रस्तुत करनेके कारण ही गोस्वामि तिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराज तथा संप्रदायके वयोवृद्ध आचार्य पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजीने इन्हें 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' की उपाधिसे विभूषित किया है? तो क्या उन्हें भी चि. हरिरायजीके इस पक्षका फलितार्थ मान्य है? सारे के सारे पुष्टिमार्गियोंको अब गंभीरतया यह विचार करना ही पड़ेगा, क्योंकि सुप्रीमकोर्ट भी श्रीनाथजीके मंदिरको आम हिन्दुजनताके लिये, आम हिन्दुजनताका पुष्टिमार्गियों द्वारा संचालित देवालय

मानती है । क्यां हम भी इसे सिद्धान्ततया स्वीकारने जा रहे हैं?

सेवाप्रयोजन :

सेवाप्रयोजनविचारके अंतर्गत भक्तिप्रवर्धनके अलावा भी लौकिकालोकिक प्रयोजन पुष्टिसिद्धान्तमें अधिकारी भेदसे संभव है – यह चि. हरिरायजीने स्वीकारा है । पुन: उत्तमाधिकारी तो सेवा भक्तिप्रवर्धनार्थ ही करेगा परंतु जघन्याधिकारी तो आजीविकार्थ या वित्तोपार्जनार्थ भी गीतोक्त अर्थार्थितया करता ही है – यही बात दोहरानी पड़ेगी; जिसका फलितार्थ केवल ये ही होगा कि अधिकांश गोस्वामी जघन्याधिकारी सिद्ध हो जायेंगे तथा अधिकांश निजगृहसेवापरायण वैष्णवजनता उत्तमाधिकारी सिद्ध होगी ! फलत: ब्रह्मसंबंधदीक्षा प्रदान करनेका अधिकार गोस्वामियोंका खंडित हो जायेगा तथा निजगृहमें सेवापरायण वैष्णवोंका सिद्ध होगा, क्योंकि वे ही उत्तमाधिकारी हैं । गो.तिलकायतद्वारा 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' पदवीसे इस तथ्यका भी समर्थन होगा ही – यह सभी पुष्टिमार्गियोंको मुक्तहृदयसे स्वीकार लेना चाहिये !

सेवास्थल :

सेवास्थलमें तो बचकानी आखमींचोली खेलनेके बावजूद चि. हरिरायजी अंतमें कबूल कर ही गये हैं कि सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरके भीतर जो भगवन्मंदिर हो उसमें सेवा करनेका सिद्धान्त है । ऐसी स्थितिमें गोस्वामि बालकोंके मंदिरोंमें; जहाँ सिद्धान्तत: उत्तमप्रकारकी तनुवित्तजासेवा ही स्वयं गोस्वामियोंको करनी चाहिये परंतु अपसिद्धान्तत: प्रचलित मुखिया–भीतरिया आदिकी बटालियनसे तनुजासेवा, दर्शनार्थी जनताकी भीड़से वित्तजासेवा तथा खुले टेरेमें आरती करनेकी नामजासेवाका क्रूर विभाजन चल रहा हो, वहाँ तनुजासेवा और वित्तजासेवा को सिद्धानताभिमत प्रकारवाली सेवा माननेपर मुखिया–भीतरिया आदिकी तथा दर्शनार्थी जनताकी मालिकी घरमें माननी पड़ेगी, कि जिससे सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरके भीतर आये

भगवन्मंदिरमें ही सेवा करनेका सिद्धान्त खंडित न हो । इस पक्षको 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण कहा तो जा सकता है परंतु ऐसी स्थितिमें नाथद्वारस्थित मोतीमहल तथा सुरतवाली मोटीहवेली पर भी मुखिया-भीतरिया तथा दर्शनार्थी वैष्णवजनताका भी मालिकी हक स्वीकारना पड़ेगा !

सेव्यस्वरूप :

सेव्यस्वरूपके विचारमें चि. हरिरायजी द्वारा परिगृहीत पक्षके अनुसार वैष्णवोंकेलिये पुष्ट किये गये स्वरुप स्वार्थ होते हैं । क्योंकि श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरण प्रभृति पूर्वाचार्योद्वारा ८४-२५२ वेष्णवोंकेलिये पुष्ट किये गये स्वरूप स्वार्थ ही पुष्ट हुए सिद्ध होते हैं अत: श्रीमहाप्रभुजी आदिके अनेक निधिस्वरूप, जो प्राय: संप्रति गोस्वामियोंके माथे बिराजते हैं, वे स्वार्थ ही पुष्ट हुए होनेसे उनकी सेवाके लिये दूसरोंसे द्रव्य लेना देवलकत्वमें या देवद्रव्योपभोगमें ही पर्यवसित होगा । वैष्णवोंके घरोंमेसे लौटकर जब ये निधिस्वरूप पुन: आचार्यवंशजोंके यहाँ पधारे तबसे उन्हें स्वपरोभयार्थ माननेकी बात कही जाय जब तो उनको श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके निधि माननेके बजाय जिस आचार्यवंशजके माथे पुन: पधारें उनके निधिस्वरूप मानना पड़ेगा; अन्यथा आचार्यचरणोंने तो उन्हें स्वार्थ ही पुष्ट किया था; उस भावका विलोपन पुष्टिपुरुषोत्तमत्वविलोपनके बिना शक्य ही नहीं !

ऐसी स्थितिमें श्रीमहाप्रभुके निधिस्वरूपोमेंसे कामवनस्थ श्रीमदनमोहनजी, गोकुलस्थ श्रीगोकुलनाथजी, नाथद्वारास्थ श्रीविठ्ठलनाथजी तथा प्रभुचरणके निधिस्वरूपोंमेंसे सुरतस्थ श्रीबालकृष्णलालजी, अमदावादस्थ श्रीनटवरलालजी को छोड़कर सभी स्वरूप स्वार्थ प्रतिष्ठापित सिद्ध होते हैं । अत: इन स्वरूपोंको छोड़कर अन्यत्र वैष्णवोंसे सेवार्थ द्रव्य लिया ही नहीं जा सकता । इन उल्लिखित स्वरूपोंकी; क्योंकि श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणने सिद्धान्तत: तो स्वार्थ ही भावप्रतिष्ठा की थी, फिर भी चि. हरिरायजीकी उटपटांग सिद्धान्तकल्पनाके अनुसार भी देखें तो, स्वपरोभयार्थ भावप्रतिष्ठा है। अत: सभीके स्वत्वमूलक निवेदनका तथा निवेदितको समर्पण करनेका भी

अधिकार मान्य किया जा सकता है । फलत: प्रसादग्रहण भी सिद्धान्ताभिमत हो सकता है । अन्यत्र श्रीमहाप्रभु आदिके स्वार्थप्रतिष्ठापित निधिस्वरूपोंमें वह शक्य नहीं है । इसका अपवाद न जामनगरस्थ स्वरूप हो सकते हैं और न चाँपासनीस्थ ही ।

वैसे उल्लेखनीय तो यह भी है ही कि यह मत स्पष्टतम होनेपर भी है केवल चि.हरिरायजीका ही; प्राचीन किसी भी ग्रन्थमें इस तरह वैष्णवसेव्य-गोस्वामिसेव्य बनानेकी भावप्रतिष्ठाविधिमें भेद वर्णित नहीं हुआ है । श्रीमदाचार्यचरणविरचित सर्वनिर्णयकारिकाप्रकाश २२७-८, उसका श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित आवरणभंग, श्रीप्रभुचरणविरचित श्रीपुरुषोत्तम-प्रतिष्ठाप्रकार अथवा श्रीहरिरायचरणविरचित स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार में इस तरहकी भिन्न भिन्न विधि दिखलाई नहीं गई है; उपदेशक या अनुयायी उभयके लिये समान विधि ही उपदिष्ट हुई है । अत: मूलत: चि. हरिरायजीकी यह कल्पना ही निर्मूल है ।

भूलना नहीं चाहिये कि चि. हरिरायजीने गोस्वामिवर्ग एवं वैष्णववर्ग के सेव्यस्वरूपोंमें पुरुषोत्तमत्वमें तारतम्य भी स्वीकारा नहीं है । ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंके स्वार्थ और गोस्वामियोंके स्वपरोभयार्थ-किस वचनके बलपर सिद्ध होंगे, सिवाय कि अधिकांश आधुनिक गोस्वामिओने देवलकवृत्तिकी रूढ़िको अपनाये रखना पसंद किया है !

इसके अलावा यहाँ चि. हरिरायजीने यह जो भारपूर्वक स्पष्टीकरण दिया है कि सेव्यस्वरूपपर स्वामित्व (स्वत्व) केवल गोस्वामिओंका है परंतु स्वयं सेव्यस्वरूप स्वपरोभयार्थ (अर्थात् अर्थार्थी गोस्वामी एवं दर्शनार्थी जनता - दोनोंके लिये पुष्ट हुए) हैं । वह सार्वजनिक मंदिरवादी गोस्वामिओंकी ट्रस्टी ही सिद्ध करता है । कोई भी वस्तु, जो परार्थ होनेपर भी अपने स्वत्वमें हो वह न्यास ही कहलाती है; न केवल आधुनिक आंबेड़करस्मृतिके अनुसार अपितु प्राचीन शास्त्रोंके अनुसार भी । अत एव भरतजीके लिये वचन आते हैं - ''राज्यं न्यासमिवाभुनक् ।'' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके लिये भरतजीने राज्यपर

स्वामित्व किया न्यास मानकर !

क्या यह पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण है? यह सभी गोस्वामिओंको सोचना पडेगा ! विशेषत: उन्हें जो महाजनप्रदत्त इस उपाधिसे चि. हरिरायजीको स्वयं भी विभूषित करना चाहते हैं ।

स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण :

इस चर्चामें शाखाचंक्रमण पराकाष्ठामें किया गया है । अंतमें किंतु आंबेड़करस्मृतिको प्रमाण मानकर जिन वैष्णवों और गोस्वामिओं के बीच भगवत्सेवार्थ द्रव्यकी लेन-देन होती है; जिसमें रसीद ले-कर अपनी प्राक्तनकर्मजन्य मनोवृत्ति या संकल्प भी स्पष्ट कर दिया जाता है, वही दान होना स्वीकारा है । इतने हास्यास्पद शाखाचंक्रमणके बावजूद इस प्रकारमें देवलकत्व तो स्वीकार ही लिया ! अत: कोई विशेष बचाव देवलकवृत्तिका नहीं हो पाया ।

वैसे क्या कारण है कि प्राक्तनकर्मवश गोस्वामी ही वैष्णवोंसे भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेते हैं, वैष्णवोंको द्रव्य देते क्यों नहीं? जवाब एक ही लगता है - वैष्णव देवलकवृत्ति नहीं करते, जब कि गोस्वामि वर्ग खुलेआम करना चाहता है । प्राचीन वार्ताओंके आधारपर भेट-प्रसादकी लेन-देनको प्रमाणिक सिद्ध करना चाहते हैं और उन्हीं वार्ताओंमेसे एक सोनाकी कटोरीसे धरी सामग्रीकी वार्ता, जिसमें प्रसाद नहीं लिया गया और लेनेवालेको महापतित कहा गया, स्वीकारते नहीं है ! दूसरे वैष्णवोंसे लेकर भोग धरी हुई सामग्री श्रीठाकुरजी आरोगते ही नहीं है - यह सिद्ध करनेवाली किशोरीबाईकी वार्ताको प्रमाणित मानकर ऐसी सामग्रीको अनप्रसादी क्यों नहीं मानी जाती?

कुछ लोग कहते हैं - ''अपने आत्मीय निष्ठावान वैष्णवों द्वारा जो सामग्री इत्यादि देनेमें आती है वह भगवत्सेवाका पारिश्रमिक या वेतन नहीं है; वह तो केवल प्रणालिकाके निर्वाहार्थ चला आता व्यवहार है, इसके अलावा भी क्योंकि गोस्वामिओंको तो गुरुके रूपमें वैष्णव चरणभेंट करते ही हैं । अत:

गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूपोंकी सेवार्थ दी या मांगी जाती भेटसामग्री गोस्वामिओंकी आजीविका या वृत्ति नहीं है । ''भल्लाजीकी वार्तामें श्रीनाथजीके यहाँ प्रसाद न लेनेपर आचार्यचरण रुष्ट हुए थे'' इत्यादि ।

परंतु जिन वार्ताओंके प्रामाण्यपर यह सब सिद्ध करना चाहते हैं उन्हीं वार्ताओंके आधारपर ''सो देवालयकी रीति यहाँ राखनी उचित है'' वचनका फलितार्थ विचारना नहीं चाहते कि श्रीनाथजीकी सेवाका प्रकार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंपर नहीं घड़ा गया था किंतु अनुल्लंघ्य भगवदाज्ञाके अनुसार ''बाधनं वा हरीच्छया'' कल्पका अनुसरण था । यदि वह प्रकार सिद्धान्त होता तो सेवाधिकारसंपादिका ब्रह्मसंबंध दीक्षारहित बंगालियोंको सेवा क्यों सोंपी जाती? भगवदिच्छया सिद्धान्तविपरीत वह परार्थप्रतिष्ठा थी; अत एव भल्लाका वहाँ प्रसाद न लेना अहंकार माना गया । अतएव श्रीमहाप्रभुने भल्लाके ''देवअंस कैसे लेहुँ?'' का उत्तर यह नहीं दिया कि देवअंस ले लो, अपना तो शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद है ! वस्तुत: तो परार्थप्रतिष्ठामें दानतया प्रदत्त ही देवअंश होता है; समर्पणतया विनियुक्त तो मर्यादामार्गीय मंदिरोमें भी देवअंश नहीं होता । अत एव जगदीश आदि मंदिरोमें प्रसादग्रहण अनुमोदित रहा है । भल्लाजी इस सूक्ष्मताको समझने तैयार न थे, केवल अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे । अत एव श्रीमहाप्रभु अप्रसन्न हुए ।

अन्यथा संतदासकी वार्तामें ''तेरो सगरो द्रव्य नास होईगो । जो द्रव्य श्रीठाकुरजीमें लगावेगो सो रहेगो । परंतु श्रीठाकुरजीको वैभव बढ़ाये (पाछे) जब द्रव्य न होय तब वामेंते खानपान करे सो बहिर्मुख होई'' में स्पष्टतया समर्पण तथा दान का ही प्रभेद वर्णित हुआ है । संतदासके स्वयंके स्वामित्वका समर्पणीय द्रव्य खतम हुआ था, स्वयं संतदासद्वारा स्वयंके सेव्यस्वरूपको दानतया प्रदत्त द्रव्य खतम नहीं हुआ था । उसमेंसे सेवाका सांगोपांग अनुष्ठान चलता ही था – ''जब संतदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखें...जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो ।'' अत: समर्पणके अभावमें प्रसाद नहीं लेना चाहिये वह ''दाने

हि न स्वविनियोग: न तु निवेदने'' वचनका ही उदाहरण है । परंतु इसपर दुर्लक्ष्य करनेका एकमात्र कारण देवलकवृत्तिका आग्रह ही है ।

क्या कारण था कि ''कृष्णदासकी देह छूटी और अधिकारी बिना चलेगो नाहीं सो हम कौनको बिगार करें ! तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो हमहू कौन जीवको बिगार करें ! जो कोई अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो !'' कृष्णदासकी वार्तामें केवल श्रीनाथजीके देवद्रव्यके अधिकारके बारेमें कहा गया ! क्यों इतने सारे श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणके अन्य निधिस्वरूपोंकी सेवाके अधिकारसे बिगार होनेकी बात नहीं कही गई ? क्यों पुष्टिमार्ग आज श्रीमहाप्रभुद्वारा देवालयमें प्रतिष्ठा, जो अक्षयतृतीयाके दिन की गई थी । उसे पाटोत्सवके रूपमें न मनाकर श्रीप्रभुचरणके गृहमें फागुन वद सप्तमीके दिन जो पाट बिराजे उसे पाटोत्सवके रूपमें मनाते हैं? इसका जवाब मंदिरवादी क्यों नहीं देते ? कारण देवलकवृत्तिका आग्रह नहीं तो और क्या हो सकता है ?

आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार :

यद्यपि मूलक्रमागत अर्थमें चि. हरिरायजीने मूल श्रीमदाचार्यचरण-श्रीगोपीनाथजी-श्रीविठ्ठलनाथजीके बाद सप्तात्मज, पौत्र, प्रपौत्रादि क्रमसे अपनेसे एक पीढ़ी उपर तक जो अर्थ अविच्छिन्नतया किया जाता हो उसे मान्य न करनेवालेको अंधंतम नरकगामी आसुरीजीव होना मंजूर किया था । इसमें लक्ष्यमें रखनेकी बात ये ही है - अपने किसी पूर्वजने भी अपने वचन या कृतिमें मूलक्रमागत अर्थका त्याग या विरुद्धाचरण किया हो वह अपने आपमें प्रमाण नहीं हो सकता; मूलाचार्यवचनविरुद्ध होनेसे । परंतु अविच्छिन्नतया जो अर्थ मुलक्रमागत हो उसे तो छोड़ा जा नहीं सकता । फिर भी चि. हरिरायजी अपने पितृचरण नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजीके वचनोंका भी प्रामाण्य स्वीकारनेसे कतरा गये ! यह तो गजबका शाखाचंक्रमण हो गया !!

इसी दिनकी रात्रिको मेरेपास आकर चि. हरिरायजीने कहा था कि में अब इस चर्चामें गुलाँट खाना चाहता हूँ । और बादमें मुझे पुर्वनियोजित संवाद

समझाने लगे कि सभामें अपन दोनों ऐसे ऐसे बोलेंगे और फिर अपन समझौता कर लेंगे । सौराष्ट्रके वैष्णव इस चर्चाके परिणामकी प्रतिक्षा कर रहे हैं; अत: अनुचित परिणाम निकलेंगे । ऐसे भी कहने लगे कि मुझे फँसा दिया गया है । तब मैने सुझाव दिया कि समयाभावसे चर्चा समाप्त घोषित करवाई जा सकती है । चि. हरिरायजीने कहा कि इसका अर्थ कोइ चि. हरिरायजी हार गये – ऐसा न लें ले । मैंने कहा कि मैं घोषित कर दूंगा कि सोपपत्तिक स्वस्वपक्षनिरूपण ही चर्चासभाका प्रयोजन था; उसके संपूर्ण हो जानेपर हारजीतका कोई प्रश्न है ही नहीं । अत: आप चिंता मत करो ।

अगले दिन इसी तरह मैने घोषित कर दिया । बावजूद इसके, चि. हरिरायजीने 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' उपाधि गो. तिलकायित महाराजसे तथा पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीसे स्वीकार ली ।

गुलाँट खानेकी बात चि. हरिरायजीने संवादस्थापकमंडलके सदस्योंकी उपस्थितिमें की थी । तदनुसार संवादस्थापकमंडलने भी चर्चासमाप्तिकी घोषणा कर दी थी । अत: 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' अभिनंदनपत्रकी बचकानी हरकतसे क्षुब्ध तथा रुष्ट होकर संवादस्थापकमंडल पुन: चि.हरिरायजीको मेरेपास लाये । तब चि. हरिरायजी बोले कि बड़ोने सूचित किये बिना ही अकस्मात् यह सन्मानपत्र मुझे दे दिया है ! तब लिखितरूपमें उक्त सन्मानपत्रकी अप्रामाणिकताका प्रलेख चि. हरिरायजीके, संवादस्थापकमंडलके सदस्योंके तथा मेरे हस्ताक्षरोंके सहित तैयार किया गया।

अब 'संदेश', राजकोट दि. १९-२-९२ के अंकके अनुसार इस उपाधि पानेका सन्मानपत्र लेनेके विस्मयजनक समाचार प्रकाशित हुए हैं ! फलत: अब उक्तप्रलेख भी यहाँ प्रकाशित कर देनेमें कोई आपत्ति नहीं रही । इस छलप्रपंचका कारण क्या ? उत्तर केवल एक : देवलकवृत्तिका दुराग्रह ! इति शम् ।

संलग्न : प्रलेखकी प्रतिलिपि ।

॥ श्रीमदनमोहनप्रभुर्विजयते ॥

दिनाङ्क १०, ११, १२, १३ जनवरी ९२ को विश्वकर्मा बाग पार्ले बम्बई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा में सिद्धान्त-परिसंवाद में हम दोनों ने भाग लिया। प्रस्तुत चर्चा निर्धारित समय में पूरी नहीं हो पाई। सिद्धान्तवचनावली में प्रस्तुत तेरह शीर्षकों के अन्तर्गत २, ३, ४, ५, ६, ७, - ११, एवं १३ विषयवाक्य जो संशय की पूर्वोत्तरकोटि के उपस्थापकतया ही केवल प्रस्तुत हुए थे, इन वाक्यों के आधार पर उठे संशयों में स्वस्वपक्षों के ग्रहण तक की ही चर्चा हो पाई थी, केवल द्वितीय शीर्षकान्तर्गत वचन को छोड़कर द्वितीय शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यों के उपर भी केवल स्वस्वउपपत्तिनिरूपण ही हो पाया था, किसी भी तरह के निष्कर्ष तक परिसंवाद पहुँच नहीं पाया। ऐसी स्थिति में समादरणीय गोस्वामी तिलकायत श्री गोविन्दलालजी एवं समादरणीय गो. श्री व्रजरत्नलालजी महाराज द्वारा प्रदत्त शुभाभिनन्दन किसी भी तरह की निर्णायकता का प्रमाण बन नहीं सकता, तथापि इसे जब तक जनता में सम्बद्ध किसी भी महानुभाव द्वारा प्रकाशित नहीं करवाया जाता, तब तक हम दोनों भी इसे गुप्त ही रखेंगे, पर यदि किसी भी तरह से यह प्रकाशित किया जाता है तो अपने अपने अभिप्रेत फलितार्थ के निरूपण को प्रकट करने को हम दोनों ही स्वतन्त्र रहेंगे। एतदर्थ ही स्वयं अभिनन्दन प्राप्त कर्ता गो. श्री हरिरायजी द्वारा अभिनन्दन की प्रामाणिक जेरोक्स प्रति गो श्री श्याम मनोहरजी को प्रदान की गई है। उपर्युक्त लेख में हम दोनों अपनी-अपनी सहमति एतद्द्वारा प्रदान करते हैं।

गो. [illegible]
१५ जनवरी ९२

गो. हरिराय:
15-1-92.

गो. [illegible] कुमार,
गो. भूषण 12/2/92
गो. शरद
गो. पंकज

गो. व्रजेन्द्र.
गो. [illegible]

!! SREE HARI !!

बम्बई.

दि. ४ - अगस्त -१९७९

H. H. PRATHAMESH

KOTA
Phone : 3526
Bada Mathuradhis Mandir,
Patan Pole-KOTA (Raj.)

•

BOMBAY
Phone : 310039 - 313299
Gram : Prathamesh
25/31, Dr. A. Merchant Rd.,
"LALMANI" Bhuleshwar,
BOMBAY 400 002.

•

JATIPURA
"Giridhar Niwas"
Giriraj Baug,
JATIPURA-Govardhan,
Dist. MATHURA (U. P.)

•

CALCUTTA
Gram : "PRATHAMESH"
Phone : 482879
35/11, Paddupukhar Rd.,
Bhavanipur,
CALCUTTA - 20.

•

BHAVNAGAR
Dauji Haveli, Khargate,
Bhavnagar.

•

KHAMBHALIA :
Junihaveli, Jam Khambhalia.

•

JODHPUR
Balkrishnaji Mandir,
Juni Mandi, Jodhpur.

•

UJJAIN
Madan Mohanji Haveli,
Sarafa, Ujjain.

श्रद्धेय आचार्यश्री
सादर यथोचितम्.

सेवामे निवेदन है कि आज वल्लभ संप्रदाय एवं आचार्यों की [illegible] परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय है.इस विषय मे कुछ मुझे भी व्यक्तिगत चर्चा करनी आवश्यक है.क्यों कि मेरे संस्थान कोटा के एवं अन्यत्र के स्वरूप को देखते हुए क्या आचार्यसंस्थान किसी राजूय या ट्रस्ट के आधीन रखना ठीक होगा यह प्रश्न तत्काल विचारणीय है.यह संभव नहीं कि गोस्वामी समाज से समवेत होकर अपनी समस्या का समाधान करे ऐसी स्थिति मे क्या निर्णय करना यह परामर्श अपेक्षित है.मेरा यह मत है कि ऐसे स्थानोंपर आचार्य - पीठ एवं आचार्य परंपरा सुरक्षित नहीं है.यह बाला जी के महन्त के ही दृष्टान्त एवं नाथद्वारा के विवरण से स्पष्ट होरहा है.अतः आपश्री एवं परिषद् के अध्यक्ष महोदय तथा हितेच्छु आचार्य बालक एकत्र होकर मुझे शीघ्रमार्गदर्शन करने का कष्ट करें.यह मेरा व्यक्तिगत अत्यन्त आवश्यक अनुरोध है.जिसे निश्चित करके मैं कोटा जाना या नहीं एवं मेरे स्थानों की मार्ग - के अनुसार व्यवस्था करने का निर्णय करसकूं.भिन्न भिन्न निर्णयों से अब यह स्पष्ट होगया है कि ऐसे निर्णय चारों ओर होने से विरोधाभासवाले एवं परम्परा के लिये घातकसिद्ध होरहे हैं.और इसीका परिणाम है शनैः शनैः आचार्य बालक उखड़ते जारहे हैं.और पब्लिक स्थिति आने पर अयोग्य या राजनिति द्वारा अन्य प्रकार से हटाने की संभावना है.आशा है आप मुझे शीघ्र मंतव्य प्रदान करने का कष्ट करेंगे.क्यों कि मै कल अपनी दुकानदारी मे व्यस्त रहाऔर आगामि कल भी व्यावसायिक व्यस्तता होने की संभावना है.साथ ही मै इस प्रवंचना से दूर जाना चाहता हूं.अतः बाध्य होकर यह प्रतिवेदन किया है. शेष भगवत्कृपा.

भवदीय
गो. रणछोडाचार्य

पू.श्रीकृष्णजीवन जी महाराज
पू.श्रीश्याममनोहर जी महाराज
श्रीअध्यक्ष जी.अ.भा.पु.वै.परिषद्.

इस विषय मे अन्य से भी आपपरामर्श करें यह वांछनीय है.

II SHREE HARI II

Pratham Pithadhishwar
of Vallabh Sampradaya

H. H. Prathamesh

बम्बई

Date दि. १-१२-८१

स्वस्तिश्री श्यामसनोहर जी महाराज
आदिष:।

आपकी उदयिन ईकीय यह निवेदन नहीं कर-सका किन्तु वल्लभसंप्रदाय के आचार्य बालकों का प्रभाव सर्वथा क्षीण होरहा है। साथ ही उनके विषय में जनमत भी खराब है।यह हम सभी बानते हैं।

इसके साथ ही सभी कुछ भी नहीं बानते जैसा कुप्रभाव जनता पर है।अत:इस स्थिति को आपही संभाल सकते हैं।मेरा परिवद् के प्रति - कोई स्वार्थ नहीं है किन्तु उसके माध्यम से आचार्य बालक अपनी खोईहुई प्रतिष्ठा प्रचारात्मक परिश्रम करके अर्जित कर सकते हैं।

आपने इस विषय में मौन साधन किया यह किसी अन्यथेवि में बाता है किन्तु इस परम्परा का प्रारम्भ करना आवश्यक है।

आपकी देखरेखी में कुछ प्रचार आचार्य बालकों उदाराही तो हम फिर एक प्रतिष्ठित मंच तैयार कर सकते हैं तथा इससे उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरेगी साथही वैष्णवाय की गरिमा भी बढेगी।

मुझे आशा है कि आप इसविषय में गम्भीरता से विचार करेंगे। समय रहते हम महाप्रभु का यह विस्तार जन सामान्य में करें तो यह - सबसे बडा संबल होगा जिससे धनपति हमपर हावी नहीं होसकते।इसके लो प्रचार का व्ययहोगा वह परिवद् या कोई भी वैष्णव वहन कर सकता है।

आपके वरद हस्तों से इसका प्रारम्भ सभी की प्रेरणा दायक बन सकता है।साथ ही इससे संगठन की आवश्यकता का अनुभव भी होगा।यह प्रचार कि सभी धार्मिक सुखमें लगी है यह नष्ट होगा।वातावरण का निर्माण और स्वधर्म की उन्नति का यह अवसर बनेगा।कुछ्ज किम् बहुना।

इवत्मत्_स्वस्तिक सोसायटी

भवदीय

KOTA : Bada Mathuradhis Mandir, Mahaprabhu Vallabhacharya Marg, Kota, RAJASTHAN. Tel. No. 3526
BOMBAY : 25/31, "Lal Mani", Dr. Atmaram Merchant Road, BOMBAY-400 002. Tel. No 313299/310039. Gram : 'PRATHAMESH'
JATIPURA : Giridhar Nivas, Giriraj Bag, Jatipura Govardhan, Dist Mathura (U.P.).
CALCUTTA : 35/11, Padupukhar Road, Bhawanipur, CALCUTTA-20. Tel. No. 482879 Gram : PRATHAMESH
BHAVNAGAR : Daji Haveli, Khargate, BHAVNAGAR.
HAVELI : Juni Haveli, Jam Khambhalia.
JODHPUR : Balkrishnaji Mandir, Juni Mandi, JODHPUR.
UJJAIN : Madan Mohanji Haveli, Sarafa, UJJAIN

॥ SHREE HARI ॥

Pratham Pithadhishwar
of Vallabh Sampradaya

*व्यक्तिगत एवं गोपनीय

बम्बई.

H. H. Prathamesh

Date ५-१२-१९८१

विरुदावली

श्रीमत् श्यामनवीहरजी महाराज

आशीर्वाद।

आज वल्लभसंप्रदाय के आचार्यों की प्रतिष्ठा गिरगई है और उनके चरित्र आदि के विषयमें लोग शंकित हैं जिसका प्रभाव गुजरात पर भी हो रहा है। इसका दबा हुवा षड्यंत्र भी चलरहा है कि आचार्यों को तिरस्कृत करके अन्य परम्परा स्वीकार की जाय। श्री डाह्याभाई और श्री डोंगरे इसका पुरोहाम लेरहे हैं।

आप वि०द्वान् हैं और समझदार हैं अतः यह अनुरोध कररहा हूँ कि परिषद् के प्रचार दौरेपर पधारने से यह छाप मिट सकती है। इसमें मोटर तथा अन्य - प्रबन्ध किया जासकता है किन्तु यह कार्यक्रम श्रीमान् ही तैयार करासकते हैं और गोस्वामी बालकों को भी यह आन्तरिक निवेदन कियाजाना चाहिए।

मुझे इस बात से महान् दुख होता है और यह संवेदन शीलता के कारण ही आग्रह कररहा हूँ। अगर वि०द्वान् बालक आगे अपनी प्रतिष्ठा नहीं जमावेंगे तो फिर भविष्य खराब होजायगा। पुजारी या अन्य बनकर भी नहीं रह - पायेंगे। अभी अन्य साधन ऐसा नहीं है कि जिसके ०द्वारा हम फिर से संगठन के ०द्वारा उनको प्रतिष्ठित कर सकें।

मैं यह नहीं कहता कि किसी को बाधक कियाजाय किन्तु यह स्वेच्छा से हो यह उचित है। अन्यथा संस्था बिना साधन टूटाना संभव नहीं है। दूसरों का जो- प्रच्छन्न आक्रमण है वह संगठित है। साथ ही आचार्य बालकके साथ स्टाफ भी हो ना चाहिए अन्यथा प्रचार नहीं होगा। न यहाँ शिष्य ही सही हैं। कमी के मन मे मैंने शंकाकुलता देखी है। यह मेरा अनुभव है। मेरा जीवन तो समाप्ति की ओर है किन्तु आज गोकुलनाथ जी या देवकीनन्दन जी जैसे आचार्य आगे उपलब्ध नहीं है न अभी ऐसा प्रभाव है। शिष्य वर्ग बिखरगया है और अविश्वास से भरा है।

KOTA : [illegible] Mathuradhis Mandir Maharajadhiraj Vallabhacharya Marg, Kota RAJASTHAN Tel. No. 3520
BOMBAY : 9/31 [illegible] Mandir, Dr. Ambedkar Memorial Road BOMBAY 400 012 Tel. No. [illegible] 310035
Gram: PRATHAMESH
JATIPURA : [illegible] Nath Ghag, Post [illegible] Bypass Road, Distt. Mathura (U.P.)
CALCUTTA : 93 [illegible] Sarani, Calcutta-700 [illegible] Tel. No. 462679 Gram: PRATHAMESH
BHAVNAGAR : [illegible] Mandir, BHAVNAGAR.
HAVELI : [illegible] Jain Mandir, [illegible]
JODHPUR : [illegible] Singh Mandir Jain Mandir, JODHPUR.
UJJAIN : 23 [illegible] Vishnu Chowk, Nanda UJJAIN

किसी के पतन पर प्रसन्न होना अपना ही पतन करना है यह कोई नहीं समझता और आप इसको समझा सकते हैं। क्यों कि मैंने अपने व्यक्तिगत - अनुभव से यह बात आपमे देखी है।

साथ ही यह निवेदन करना चाहता हूँ कि श्रद्धेय दादा भाई श्रीदीक्षित जी व्दारा चालित चिकित्सालय की कार बन्द पडी है यदि उसी नाम से हमे चलाने को दा जाय तो झाबुवा और अन्य ग्रामीण क्षेत्रों मे इसका उपयोग किया - जासकता है। बम्बई मे भी व्यवस्था की जासकती है। साथ मे साहित्य भी होनेपर क्रिश्चिनिटि रुकेगी और संप्रदाय तथा महाराजश्री का यश बढेगा। यदि आप उचित समझें तोइस विषय पर मुझपर विश्वास कर सकते हैं। कामवन वाले बाबा और अन्यजन तैयार होंतो प्रचार कार्यक्रम बनाया जासकता है। सेवा भी - आसकती है। आज मील क्षेत्र मे यह काम होना चाहिये कि हम उनको क्रिश्चियन बनने से रोकें। श्री दीक्षितजी ने जो इनके विरुद्ध साहित्य इंग्लिश मे छपाया था उसकी प्रति भेजने का कष्ट करें। तथा आपके पास स्ववृत्तिवाद होतो मैं जेरोक्स करके उसको पुनः भेजदूंगा। साधनदीपिका तथा प्रथमस्कंध अभी श्री सूरतवालों ने निवेदन करने पर भी नहीं भेजे हैं। रुपया भी देने को तैयार था। कुछ आपके निर्देशानुसार कोटा से ग्रन्थ लाया हूँ उसकी प्रति जेरोक्स आपको निवेदन कर दूंगा। विशेष क्या लिखें। आशा है आप सानन्द है। शेष भगवत्कृपा।

भवदीय

गो. रणछोडाचार्य

ब्रजकमल
स्वस्तिक सोसायटी
पार्ला जुहु स्कीम बम्बई.

II SHREE HARI II

H. H. Prathamesh

Pratham Pithadhishwar of Vallabh Sampradaya

25/31, "Lal Mani", Bhuleshwar,
Dr. Atmaram Merchant Road,
Bombay 400 002, Maharashtra, India

મુમ્બઈ.૧૫-૧-૧૯[illegible] ૮૩

સ્વસ્તિશ્રી ચિ.શ્રીશ્યામમનોહરજી મહારાજ

આશીર્વાદ.સભી બાલકન કૂં ઔર અ.સૌ.બહુકૂં.

કિશનગઢ કે લિયે યહાં અધિકારી જી કાગદ લેકૈ આયે ઔર આપશ્રી બાહર પધારે.સાથ હી સભી કાગદ રાખે હૈ.કહા કરનો ઔર કૈસે કરનો યે બાત બતાયવે પે મૈ અપને મન્દિર કે વિષાય મે વૈસે હી લિખાપઢી કરૂં.ઔર કછુ લિખવે સૂં આપકો કૈસ કહીં બિગડ ન જાય યે વિચાર કરનો આવશ્યક હૈ.આપ બાહર પધારૈ,તો સૂચના મિલે તો કામ હોય.

વહાં આદમી ભેજનો પડેગો.અભી તો તાર કર્યો હૈ.દેવસ્થાન સૂં વહાં કી હવેલી પાછી મિલ સકે હૈ.અપને યહાં મહારાજન કે આચાર્યત્વેન અધિકારન કો ઉલ્લેખ તથા સગ્રહ હોનો ચહિયે જાસુ કેસ મે પરસ્પર વિરોધાભાસ ન હોય.જુનાગઢ સુ પત્ર છપે આયે હૈ.ઐસે આક્ષેપ શોભનીય નહીં હૈ.

સાથ હી ઔર મુકદમાન મે પરસ્પર વિરોધાભાસ હોય હૈ તો એક આચાર પરમ્પરા વ્યાપક રુપ મે લિખકૈ રાખની ચહિયે.મોકૂં એસો લગે હૈ કે વૈષ્ણવન કો કોઈદલ અથવા અન્યજને જો બાલકન કે વિપરીત હૈ વો સભી મિલકૈ આચાર્ય સસ્થાન કૂં સમાપ્ત કરવે કો ઔર ભિડાયવે કો ષડયત્ર કરૈ હૈ.કોટા મે ભી મૈ પ્રથમપીઠ કી વ્યવસ્થા કરાય વે કો પ્રબન્ધ કરવે કી ચેષ્ટા હાઈકોર્ટ સૂં અથવા નીચે કી કોર્ટ કરદે તો નીચે સૂં કરાય સકૂં હૂં.આચાર્ય બાલક પુજારી હી બનવે કી બાત કરૈ હૈ.ઈન્દોર સુ વૈષ્ણવ સમાજ ને પત્ર નિકાર્યો હૈ.સો આપકૂં મિલ્યો હોયગો.યા વિષાય મે ધ્યાન ભીતર સૂં રાખનો ઉચિત હૈ.ઔર તો કહા કરનો? વિવાદમે સાર નહીં હૈ.

બાલકન મે આત્મબલ જાગ્રત કરૈ ભલે મોકૂંગારી પડે વૈસે ભી ફાગુન અધિક હૈ. તિલકાય કે અધિકાર ભી સુરક્ષિત નહીં હૈ.ચેયર મૈન ઔર આચાર્ય મે અન્તર હૈ. વિશ્વનાથ કો મન્દિર સરકારને લેલિયો હૈ.આપ સબન કૂં વિચારવે કી કહો. આપ સાનન્દ બિરાજતે હોયેંગે.શેષા ભગવત્કૃપા.

ભવદીય

[signature]

KOTA	:	Bada Mathuradhis Mandir, Mahaprabhu Vallabhacharya Marg, Kota, RAJASTHAN. Tel. No. 3526
BOMBAY	:	25/31, "Lal Mani", Dr. Atmaram Merchant Road, BOMBAY-400 002. Tel. No. 313298/310039 Gram: 'PRATHAMESH'
JATIPURA	:	Girdhar Nivas, Giriraj Bag, Jatipura Govardhan, Dist. Mathura (U.P.)
CALCUTTA	:	35/11, Pedupukhar Road, Bhavanipur, CALCUTTA-20. Tel. No. 482879 Gram: 'PRATHAMESH'
BHAVNAGAR	:	Dauji Haveli, Khargate, BHAVNAGAR.
HAVELI	:	Junihaveli, Jam Khambhalia.
JODHPUR	:	Balkrishnaji Mandir, Juni Mandi, JODHPUR.
UJJAIN	:	Madan Mohanji Haveli, Sarafa, UJJAIN

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

शुद्धाद्वैत – पुष्टिभक्ति–संप्रदाय–प्रवर्तक–महाप्रभु

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–वंशज–गोस्वामिओंका–

संयुक्त घोषणाापत्र

विविध धार्मिक संप्रदायोंके अनुयायीओंकी स्वधर्मपालनकी स्वतंत्रताको अपने देशने जनतांत्रिक संविधान द्वारा मौलिक अधिकार होनेकी गरिमासे मंडित किया है । फिरभी हालमें देशके उच्चतम न्यायालयमें दो जजोंकी बेंचने (न्यायाधीशोंकी पीठने) जूनागढस्थित पुष्टिमार्गीय हवेलीके श्रीबहूजी महाराजके विरुद्ध दिये गये गुजरात न्यायालयके निर्णयको (चरणभेंटके व्यक्तिगत घोषित किये जानेके एक अपवादको छोड कर), यथावत् मान्य कर लिया है । सन् १९६३ में, क्योंकि, उच्चतम न्यायालयके पांच न्यायाधीशोंकी पीठने पुष्टिमार्गीय हवेलियोंके निजी होनेकी किसी तरहकी सैद्धान्तिक अनिवार्यता स्वीकारी नहीं थी, अतः पांच न्यायाधीशोंके उक्त निर्णयको दो न्यायाधीशोंने अपनेपर बन्धनकारी मानकर पुष्टिमार्गीय सिद्धांतके विमर्शार्थ अनावश्यक मान लिया है ।

यद्यपि सन् १९६३ के उच्चततम न्यायालयके निर्णयमें यह स्वीकारा गया था कि ''इस संप्रदायके कुछ मंदिर भूतकालमें निजी रहे होंगे, कुछ वर्तमानकालमें भी निजी हो सकते हैं, कोई मंदिर सार्वजनिक है या नहीं इस बातका निर्णय उस मंदिरसे जुडे तथ्योंपर अवलंबित होना चाहिये । ऐसा कोई भी सामान्य नियम नहीं है वाल्लभ संप्रदायमें सार्वजनिक मंदिर निषिद्ध हो और अतएव नाथद्वारा–मंदिरको सार्वजनिक न माना जाये'' (अनुच्छेद २२ एस.सी.आर. ४३१/१९६८ तिलकायत श्रीगोविनदलालजी महाराज विरु. राजस्थान सरकार) । इसी न्याय निर्णयमें यह भी कहा गया था कि ''यदि मंदिर निजी होता और मंदिरकी संपत्ति तिलकायत की होती तो बात दूसरी थी परन्तु एक बार यह स्वीकार लेनेपर कि यह मंदिर सार्वजनिक है, यह तर्क

दुर्बोध हो जाता है कि संपत्तिकी व्यवस्था तिलकायत द्वारा होनी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार एक धार्मिक विषय है । वस्तुत: ऐसा कोई भी सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत ही नहीं किया गया'' (अनुच्छेद ६९) नाथद्वारा मंदिरका अत: सिद्धान्तके आधार पर नहीं किन्तु सन् १९३८ में उदयपूरके महाराणा द्वारा जारी किय गये फरमानके आधारपर श्रीनाथजीके मंदिरको, पूर्वकालीन तिलकायतोंकी अन्य भी निजी संपत्तिके साथ, सार्वजनिक मंदिर एवं सार्वजनिक धर्मार्थ न्यासकी संपत्ति घोषित किया गया था (अनुच्छेद ३० तथा ३१) ।

यहाँ एक अतीव महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह हैकि सन् १९३८ के बहुत बाद सन् १९४१ में भी उदयपूरके महाराणाने (आदेश संख्य १०९९८ दिनांक २-९-४१ में) वर्तमान तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी महाराजको संपूर्ण नाथद्वाराकी जागीरका मालिक माना था । इस आदेश की प्रतिलिपि उच्चतम न्यायालयमें प्रस्तुत पेपरबुककी पृष्ठसंख्या २११ पर एनेक्स्वर संख्या १० के रूपमें अंकित है । सन् १९३४ में जारी किये फरमानके अपवादको छोड कर पुराने तो अनेक फरमानोंमें उदयपुरके तत्कालीन महाराणाओंने तत्कालीन सभी तिलकायतोंको नाथद्वारा-जागीर तथा श्रीनाथजीके मंदिर और उससे जुड़ी हुई तमाम संपत्तिका एकमात्र मालिक माना था । इन फरमानोंकी प्रति भी उक्त पेपरबुकमें मुद्रित है । साथ ही साथ यह भी अवधेय है कि श्रीदामोदरलालजीको पदच्युत करनेका मूल आदेश उदयपुरके महाराणाका स्वयंका नहीं किन्तु श्रीदामोदरलालजीके पिता तिलकायत गोस्वामी श्रीगोवर्धनलालजी महाराजने स्वयं ही दिया था । इस तथ्यकी पुष्टिके हेतु गोस्वामी श्रीगोवर्धनलालजी तिलकायतद्वारा महाराणाको दिनांक सन् ४-९-३२ को लिखा गया पत्र, जो प्रस्तुत पेपरबुक की पृष्ण संख्या १९४-५ पर एनेक्स्वर नं. ५/६ के रूपमें प्रस्तुत हुआ था, अवलोकनीय है । इससे सिद्ध होता है कि महाराणाने तो अपने धर्मगुरुके आदेशका केवल पालन ही किया था । वैसे भी वाल्लभ संप्रदायकी प्रधानपीठपर किसीको तिलकायित या नियुक्त करनेका अथवा पदच्युत करनेका अधिकार न तो महाराणामें निहित

था और न बलात् वैसी अनधिकारचेष्टाको हमारे संप्रदायने कभी मान्यता ही प्रदान की थी । क्योंकि हमारे धर्मसंप्रदायकी स्थापना न तो किसी राज्यके राजाकी आज्ञावश हुई थी और न वह किसी एक राज्यकी सीमासे घिरा राज्यधर्म ही था, है या बन पायेगा । अतएव सन् १८५७ के स्वातंत्र्यसंग्रामके अन्यतम सेनानी श्रीतात्या टोपेको तत्कालीन ति. गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी महाराजने जो तीन दिन नाथद्वारामें आश्रय दिया था और जिससे पैदा हुए मनमुटावके कारण उदयपुर स्थित ब्रिटिश रेजीडेंटने उदयपुर महाराणाकी नाबालिगीका फायदा उठाकर महाराजा सज्जनसिंहके नामपर श्रीगिरधरलालजी महाराजको पदच्युत करके देशनिष्कासनका आदेश दे दिया था । परन्तु उसके आधारपर न तो संप्रदायने और न अन्य ही तत्कालीन कोटा तथा हैद्राबाद आदि राज्योंने गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी महाराजको तिलकायतके रूपमें अमान्य किया था ।

यह तो तथ्य है कि वाल्लभ संप्रदायके प्रधानपीठाधीशकी पदवीके अलावा उस पीठसे जुडे विशेषतया तत्कालीन उदयपुर राज्यकी सीमाके अन्तर्गत तथा महाराणाओंद्वारा गुरुभाव एवं श्रद्धासे प्रदत्त जो जागीर थी उसे तिलकायतके पास रहने देना या पुन: छीन लेना का अधिकार अवश्य ही महाराणामें तत्कालीन उदयपुर राज्यके सार्वभौम प्रशासक होनेकी हैसीयतमें निहित था । क्योंकि वह जागीरदारी उदयपुर राज्य द्वारा प्रदत्त थी, अत: उसे छीन लेनेका राज्यका अधिकार भी स्वीकारा जा सकता है ।

इस तरह तिलकायतकी पदवीसे जुड़े एक धर्माचार्य होनेके तथा दूसरे उदयपुर राज्यके एक ठिकानेके मालिक होनेके पक्षोंका भलिभांति विश्लेषण हो नहीं पाया । परिणामस्वरूप जागीरकी मालिकीसे पदच्युत करनेके उदयपुर राज्यके अधिकारोंका तिलकायतके धर्माचार्य होनेके पक्ष पर भी प्रभावशाली मानकर उदयपुरके महाराणाओंके स्थानापन्न आधुनिक राजस्थान-प्रशासनमें भी वह अधिकार स्वीकार लिया गया है । वाल्लभ संप्रदायकी प्रधानपीठको वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त एवं परंपराके विपरीत सार्वजनिक मंदिर बना दिया

गया है ।

हमारे यहाँ घरमें मंदिर होता है मंदिरमें घर नहीं अतएव इस संदर्भमें यह उल्लेखनीय है कि श्रीनवनीतप्रियाजीका स्वरूप ज्येष्ठपुत्र क्रमाधिकारके नियमानुसार प्रभुचरण गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजीके ज्येष्ठपुत्र श्रीगिरधरजीको प्रभुचरणके पश्चात् उत्तराधिकारमें प्राप्त हुआ सेव्यस्वरूप था । श्रीमथुराधीश आदि सात स्वरूपोंके सात पुत्रोंमें बंटवारेके समय श्रीनाथजीका स्वरूप किसीभी एक पुत्रके एकाधिकारमें दिये बिना इस अंशमें अविभक्त परिवारके कर्ताके रूपमें ज्येष्ठ पुत्रको सौंपा गया था । अत: न केवल स्वरूप ही किन्तु श्रीनाथजीका मन्दिरभी पारिवारिक निजी था । पहले जब जतिपुरामें वह स्थित था तब और बादमें नाथद्वारामें जब विस्थापित हुआ तब भी, इन दोनों गाँवोपर तिलकायतके पूर्वजोंका स्वामित्व नि:संदेह सारे संप्रदायके अनुयायीओंको, तिलकायतके परिवारबन्धु सभी गोस्वामिओंको तथा उदयपुरके महाराणाओंको भी मान्य ही था । अत: श्रीनवनीतप्रियाजीका मंदिर व्यक्तिगत निजी घरमें स्थित मंदिर था तो श्रीनाथजीका मंदिर भी वल्लभकुलके गोस्वामिओंमें ज्येष्ठ भ्राताके स्वामित्वके गांवमें स्थित परिवारगत निजी मंदिर था ।

उच्चतम न्यायालयमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत भी सभी प्रमाणोंका निष्कर्ष तथा संप्रदायकी परंपरागत धारणाका स्वरूप भी यही है ।

जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचनाका प्रश्न है वह हालमें जूनागढके विवादमें उच्चतम न्यायालयके दो न्यायाधीशोंकी पीठके समक्ष महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मूलवचनोंको आधार बनाकर, उनकी संप्रदायमान्य व्याख्याओंके साथ प्रस्तुतकी गयी है । इनके आधारपर यह नि:संदेहतया सिद्ध हो जाता है कि पुष्टिमार्गीय हवेलियोंका निजी होना एक सैद्धान्तिक अनिवार्यता है ।

इसी तरह पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमे दर्शनार्थ आती वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तों एवं परंपराओंमें आस्थाशील वैष्णव जनताकी आस्थाके द्योतक समग्र देशकी तिरासी नगरियोंमें से ग्यारह हजारसे भी अधिक शपथपत्र उक्त

सिद्धान्तके समर्थनार्थ प्रस्तुत किये गये हैं ।

फिर भी इन सिद्धान्त वचनों तथा शपथपत्रोंको पढने-विचारनेसे उच्चतम न्यायालयने इन्कार कर दिया है (जूनागढ निर्णय अनुच्छेद १९) ।

जूनागढ हवेलीके बारेमें गुजरात न्यायालयके निर्णयमें ऐसी कई बातें हैं जो कहनेको तो केवल जूनागढ हवेलीसे जुड़े तथ्य है, परन्तु एक समान पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त एवं परंपरा पर आधारित होनेके कारण वास्तवमें तो सामान्यतया सभी हवेलियोंमें पाये जा सकते हैं; और अतएव उन तथ्योंके बारेमें दिये गये निर्णय वाल्लभ संप्रदायकी अन्य भी सभी हवेलियोंपर भविष्यमें अन्ततः निश्चिततया एवं सामान्यतया लागू होने ही वाले हैं ।

यह अतीव विस्मयजनक है कि नाथद्वारानिर्णयमें यह कहा गया था कि वह निर्णय केवल नाथद्वारामंदिरके बारेमें ही है, फिर भी गुजरात न्यायालयके इस विधानका कि ''नाथद्वारा स्थित वाल्लभ संप्रदायका प्रधानमंदिर जब सार्वजनिक हो सकता है तो जूनागढस्थित मंदिरके सार्वजनिक होनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये'' (गुजरात न्यायालयका निर्णय पृष्ठ संख्या ११५), उच्चतम न्यायालयने कुछ भी स्पष्टीकरण देना आवश्यक नहीं समझा । इससे सिद्ध होता है कि नाथद्वारा विवादके विशेष निर्णयको अब सामान्य नियम बनानेकी प्रक्रिया शुरु हो गई है, क्योंकि पहले यह कहा गया था कि पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होनी चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है, अब किन्तु यह कहा जा रहा है कि मंदिरका सार्वजनिक होना तो एक सामान्य नियम है, नाथद्वाराके निर्णयमें कहा गया था कि उस मुकदमेमें ऐसा कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया गया किन्तु अब यह कहा जा रहा है कि ऐसे सिद्धान्तके विमर्शकी कोई आवश्यकता नहीं है । तब दस्तावेजी तथ्यके आधारपर नाथद्वारा-मंदिरको सार्वजनिक मंदिर घोषित किया गया था । परन्तु अब गुजरात न्यायालयने उसे सामान्य नियम मानकर जूनागढ-हवेलीको सार्वजनिक मंदिर घोषित कर दिया है । फिरभी इस विषयमें उच्चतम न्यायालय द्वारा रखा गया मौनव्रत भीषण भविष्यकी पूर्वसूचना है ।

एक नहीं अनेकों मुद्दें इस विवादमें ऐसे उलझे हुए है, जिन्हें ''जूनागढ हवेलीसे जुड़े तथ्य'' मानकर हम अपने-आपको फुसलाना चाहे तो और बात है, अन्यथा भविष्यमें उच्चतम न्यायालयद्वारा समर्थित जूनागढ हवेलीके निर्णयमे दिये गये विधान सामान्य नियम मान लिये जायेंगे । वाल्लभ संप्रदायके जीवन-मरणके जैसे गंभीर प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना संप्रदायके सिद्धान्त एवं जनभावनाके विमर्शको अनावश्यक मान लेना वाल्लभ संप्रदायके धार्मिक स्वातंत्र्यका क्रूर अपहरण है । हमारे सिद्धान्तपर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये जाने जैसी यह बात है (द्रष्टव्य जूनागढ हवेलीके बारेमें उच्चतम न्यायालयका निर्णय अनुच्छेद ११-१२) ।

इससे ऐसी विषम स्थिति पैदा होगी कि कोई निचली अदालते भी अब पुष्टि मार्गीय हवेलियोंकी सार्वजनिकताके विरुद्ध पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त वचनोंको या तर्कोको सुनना-विचारना पसंद नहीं करेगी । जनतामेंसे कोई आवेदन करे या न करे चेरीटी कमिश्नर स्वयं ही सभी जगह स्वत: जांच पड़ताल शुरु कर सभी हवेलियोंको सार्वजनिक घोषित करेंगे और ऐसे निर्णयके विरुद्ध की गई अपील निचली अदालतोंसे लेकर उच्चतम न्यायालयके दो न्यायाधीशोंकी पीठ तक खारिज होती रहेंगी । जब तक सात न्यायाधीशोंकी पीठ उच्चतम न्यायालयके नाथद्वारा मंदिरके निर्णयमें दिये विधानोंको असंगत घोषित नहीं करती, तब तक हमारे सिद्धान्तोंपर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, यह मान कर हमें अब चलना पडेगा यों जनतांत्रिक देशकी न्यायप्रणालीने अकारण ही वाल्लभ संप्रदायकी अनुगामी जनताकी धार्मिक भावना तथा स्वातंत्रको क्रूरतासे कुचल दिया है ।

भाण्डारकर द्वारा लिखित ''शैविजम एंड वैष्णविज़म'' नामक ग्रन्थके आधारपर सन् १९६३ में उच्चतम न्यायालयने सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत एवं परंपरासे असंगत जो धारणा वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तकी मान ली थी बस वही व्याख्या आज हमसे हठात मनवायी जा रही है । सिद्धान्त हमारा कुछ भी क्यों न हो सब कुछ भूल भाल कर हमें अपने घरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूपका

ट्रस्टीपूजारी मान कर तथा शनैः शनैः भविष्यमें इसी प्रक्रियामें हमें हठात फंसाकर साधारण जनताको भी सौंप देनेको बाधित किया जा रहा है । वेरावलकी पुष्टिमार्गीय हवेलीमें इस प्रक्रियाके अन्तर्गत उसे हिन्दु-मुस्लीम-सिख-इसाई आदि सभी धर्मविलंबिओंके आराधनाधिकारवाले सार्वजनिक मंदिरके रूपमें घोषित कर दिया गया है । जबकी श्रीहरिरायजीने स्पष्ट विधान किया है कि असांप्रदायिक व्यक्तिको अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन करानेपर संपूर्ण वर्षकी सेवा विफल हो जाती है तथा स्वरूपको पुनः पंचामृत स्नानद्वारा शुद्ध करना आवश्यक हो जाता है ।

यह एक वास्तविकता है कि भाण्डारकर द्वारा लिखित ग्रन्थ उस समय न्यायालयके समक्ष विवादग्रस्त विषयके सभी मुद्दों या सिद्धान्तके समग्र स्वरूपको समझानेके लिये रखा ही नहीं गया था । उस विवादमें सांप्रदायिक सिद्धान्त एवं परंपरा के अलावा अन्य भी असांप्रदायिक विद्वान लेखकोंके अनुसार ''पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होती है'', बस इसी बातको दिखलानेके लिये वह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया था । अतएव विल्सन, मणिलाल सी. पारेख तथा एन.ए. थूथीके ग्रन्थोंमें से भी उक्त आशयके वचन उद्धृत किये गये थे । पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होती है, सार्वजनिक नहीं इस विषयमें इन सभी असांप्रदायिक् विद्वानोंकी एक राय दिखलाई गई थी । खेदके साथ, किन्तु, कहना पडता है कि नाथद्वारा विवादमें संमान्य न्यायाधीश श्रीगजेन्द्र गडकरने वाल्लभ सिद्धान्त एवं मान्यता की दृष्टिसे सर्वथा महत्वहीन उस ''शैविजम एंड वैष्णविजम'' के एक छोटेसे परिच्छेदपर अनावश्यकतया निर्भर होकर यह विधान कर दिया कि वाल्लभ संप्रदायमें आराधनार्थ प्रयुक्त स्थल एवं संपत्ति के निजी होनेका कोई भी प्रमाण हमें इस ग्रन्थमें या दासगुप्ता अथवा सर्वपल्ली राधाकृष्णन के ग्रन्थोंमें भी मिला नहीं हैं (अनुच्छेद १६, १७, १८, १९, २० तथा २१) ।

यहाँ यह उल्लेखनीय हो जाता है कि दास गुप्ता तथा राधाकृष्णन के लेखों का मुख्य विषय वाल्लभ दर्शन है धार्मिक आराधना नहीं भाण्डारकरने

यद्यपि आराधनाप्रणाली तथा हवेली का निजी होना स्वीकारा है, फिर भी वह वाल्लभ संप्रदायकी धार्मिक आराधना प्राणालीके सिद्धान्तों की कोई सांगोपांग विवेचना तो नहीं थी । सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि वह संक्षिप्त लेख भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा विरचित मूलग्रन्थोंके अवलोकन किये बिना ही लिखा गया था । इस तथ्य की पुष्टि ''शैविजम् एंड वैष्णविजम'' के अन्तमें प्रकाशित आधारभूत ग्रन्थोंकी सूचीके अवलोकन द्वारा सरलतया हो सकती है। प्रसिद्ध भारतविद् विद्वान लेखक प्रो. श्रीहेल्मूथ वॉन ग्लासनेपने भी अपने ग्रन्थ ''डॉकट्रीन ऑफ वल्लभाचार्य'' में भाण्डारकरके लेखनकी इस न्यूनताकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है । जूनागढ हवेलीके मुकदमेमे उच्चतम न्यायालयके समक्ष यह तथ्य भी (सिविल मिसिल पिटिशन संख्या १९८०९/१९८६ द्वारा) प्रस्तुत किया गया था । इसपर भी उच्चतम न्यायालयने कोई ध्यान नहीं दिया है ।

ऐसी स्थितिमें उक्त भाण्डारकरके ग्रन्थगत विधानोंपर बांधी गई वाल्लभ सिद्धान्तकी निर्मूल धारणाओंपर अवलंबित निर्णय वाल्लभ संप्रदायको कितना न्याय दे पायेगा यह स्वत: ही समझमें आनेवाली बात हैं । इस तथ्यपर सावधानतया गंभीर विमर्श सभी न्यायाधीशोंको करना चाहिये था, तिलकायतके केस (सन् १९६३) में तथा उसपर आधारित नडियाद (सन् १९७०) एवं जूनागढ (सन् १९८६) के निर्णयोंमें भी ।

श्रीतिलकायत महाराजके समर्थनमें उस समय वाल्लभ संप्रदायके धर्मगुरुओं तथा अनुयायिओं ने जो बातें कही थी उन्हें भी तब उच्चतम न्यायालयने यह कह कर ठुकरा दिया था कि उक्त नाथद्वारा स्थित मंदिरकी संपत्तिकी व्यवस्था सम्हालनेका अधिकार तिलकायतके हस्तगत रहे या अन्यके यह विचारनेका पहले कभी कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ होनेसे संप्रदायकी ऐसी धारणा बंध गई होगी । परन्तु संप्रदायकी यह धारणा एतावता संविधानकी धारा तथा २६(बी) द्वारा प्रदत्त तिलकायतके मौलिक अधिकारोंका प्रमाण नहीं मानी जा सकती है (अनुच्छेद ६९) ।

प्रस्तुत विवादग्रस्त विषयके बारेमें जहाँ तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोंमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परंपराओं के अनुसार भगवत्सेवा-सेवास्थल-सेवोपयोगिसंपत्ति-सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी)-एवं सेव्य भगवत्स्वरूप -का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है । अत: इनमें से किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि न्यासकी विश्वमान्य धारणाके विपरीत जाकर भी अर्थात् एक ओर हमें हमारे ही घरमें मालिक के बजाय केवल व्यवस्थापक न्यासी घोषित किया जाता है तथा दूसरी ओर उस सार्वजनिक न्यासकी संपत्तिसे हमारे और हमारे परिवारके निर्वाहकी वंशानुगत छूट भी दी जाती है । ये तीनों अधिकार-(१) व्यवस्थापकीय अधिकार (२) निर्वाहलाभ के अधिकार (३) वंशानुगत उत्तराधिकारिता के अधिकारों के बावजूद हमें हमारे घरोंमें मालिक नहीं माना जाता यह कहां का न्याय है?

वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार घरमें मंदिर होता है मंदिरमें घर नहीं हमारे घरको सार्वजनिक मंदिर घोषित करके हमारे सिद्धान्त, परंपरा एवं धार्मिक भावनाओंके विरुद्ध हमें मंदिरमें घर बसानेको बाधित किया जा रहा है। जब तक सभी भारतीय नागरिकोंके घरोंको सार्वजीनक मान लेनेका संविधानमें परिवर्तन नहीं लाया जाता, तब तक केवल हमें ही खुद हमारे घरोंमे मालिक माननेके बजाय न्यासी बना देना कहांका न्याय है?

सबसे अधिक खेदजनक बात तो यह है कि वाल्लभ संप्रदायमें हमारे लिये पुजारी बनना सर्वथा वर्जित है, फिर भी इन न्याय निर्णयोंमें हमें हठात् पुजारी बनाया जा रहा है । धर्मगुरु तथा पुजारी न तो एक कोटीके पद हैं और न इनसे जुड़े कार्यकलाप ही एक तरहके माने जाते हैं । भारतीय संस्कृतिसे

लेशमात्र परिचय रखनेवालेको भी इस अन्तरका भान तो रहता ही है । आश्चर्यकी बात तो यह है कि करसंबन्धी विवादमें कराधानके कानूनोंके आधारपर निर्णय दिया जाता है – औद्योगिक विवादोंमें औद्योगिक कानूनके आधारपर निर्णय लिया जाता है – परन्तु धार्मिक संस्था या संप्रदायके बारेमें उठे विवादका निर्णय धार्मिक सिद्धान्त एवं परंपरा का भलीभांति विमर्श किये बिना ही दे दिया जाता है । धर्मगुरुको पुजारी बना दिया जाता है । यदि किसी न्यायालयमें न्यायाधीशको प्रस्तोता (रजिस्ट्रार) या आशुलिपिक (स्टेनो) कहा जा सकता हो तो धर्मगुरुको पुजारी कहा जा सकता है । जैसे न्यायाधीशके लिये वैसे शब्दोंका प्रयोग संमान्य न्यायव्यवस्थाका अनादर है, वैसे ही धर्माचार्यके लिये ''पुजारी'' पदका प्रयोग समादरणीय धर्माव्यवस्थाका अनादर है।

इस तथ्यकी पुष्टिके हेतु ही हजारों अनुयायीओंने शपथपत्र द्वारा अपनी भावनाको स्पष्टतम शब्दोंमें न्यायालयके समक्ष प्रस्तुत किया था, परन्तु उनकी भावनाका लेशमात्रभी विमर्श किया नहीं गया । यह उस स्थितिमें विशेष क्षोभजनक बात बन जाती है जब हमारे घरोंको जनहितकी दुहाई देकर सार्वजनिक तो घोषित कर दिया जाता है परन्तु स्वयं जनताकी धार्मिक भावनाका विमर्श आवश्यक नहीं माना जाता ।

कोई स्थान या संपत्ति निज है या सार्वजनिक यह कानूनी मुद्दा हो सकता है । परन्तु आराधना कैसे करनी चाहिये अर्थात किसी संप्रदायके अनुसार आराधनाका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह न तो विधानसभा, न प्रशासन और न ही न्यायालयके निर्णय द्वारा ही निर्धारित हो सकता है । चर्चमें आराधना प्रार्थना आदिके रूपमें की जाती है । मस्जिदमें आराधना नमाज पढनेके रूपमें की जाती है । दरगाहमें आराधना फूलकी चादर चढाकर या कव्वाली गाकर की जाती है । अन्य हिन्दु मंदिरोमें आराधना धूप–दीप–नैवेद्य पत्र–पुष्प आदि चढाकर की जाती है । वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें

उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है । ऐसी स्थितिमें उन्हें निजी न मान कर सार्वजनिक बना देना वाल्लभ संप्रदायके अनुयायिओंके धार्मिक स्वातंत्र्यका अकारण ही क्रूर अपहरण है । जनता तो सामाजिक तथा राजनैतिक नेताओं के घरपर भी आती है तथा थेली तथा चुनाव चन्दा भी देती ही है, परन्तु उनके घरोंकी सार्वजनिक नहीं बना दिया जाता और धर्मगुरुओंके घरोंमें जनताका निर्बाध आना या भेंट आदि चढाना धर्मगुरुके घरके सार्वजनिक संपत्ति होनेका अकाटय प्रमाण मान लिया जाता है । कानूनकी निगाहमें जबकि सभी समान होने चाहिये । दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह हमारे धार्मिक स्वातंत्र्यपर अकारण ही प्रतिबंध लगाया जा रहा है ।

अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ संप्रदायकी आराधनाकी परिभाषा के अनुसार, आराधना ही नहीं है । ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है । अत: ऐसे निर्बाध आचरणके कारण आराधनाके अधिकारकी कल्पना भी शक्य नहीं है । जनता हमारे घरोंमें आकर सिद्धान्तोंपदिष्ट आराधना करती होती तो, उसका आराधनाका अधिकार माना भी जा सकता था, पर जैसा आचरण है वह आराधना ही नहीं हो तो अधिकार कैसा ? कानूनन ऐसे आचरणको जनताके अधिकारका प्रमाण, कानूनी उदेश्यकी पूर्तिके लिये मानना ही पड़ता हो, तब भी ऐसे कानूनमें पुष्टिमार्गीय हवेलियोंको अपवाद मानना चाहिये । क्योंकि यह कानून मौलिक अधिकारोंकी सूचीमें संनिविष्ट नहीं है, जबकि धार्मिक स्वातंत्र्य मौलिक अधिकारोंमें परिगणित है । जनताका हमारी हवेलियोंमें निर्बाध आना दर्शन करना अथवा भेंट धरना आराधना ही नहीं है, परिभाषाके सुनिश्चित होनेके कारण, अत: वह जनताका मौलिक अधिकार नहीं माना जा सकता है।

इसलिये देशकी किसी भी प्रान्तीय विधानसभा, प्रशासन अथवा न्यायालय द्वारा ऐसे कानून बनाना, उन्हें लागू करना या ऐसे न्याय निर्णय देना

कि कोई पुष्टिमार्गीय हवेली जनताके निर्बाध आगमन आदि हेतुके कारण सार्वजनिक धार्मिक आराधना स्थल है, हमारे धार्मिक स्वातन्त्र्यका घोर अन्यायपूर्ण अपहरण है । अत: इस संयुक्त घोषणापत्र द्वारा हम सभी धर्माचार्य अत्यन्त गंभीर शब्दोंमें यह अनुरोध करते है कि हमारे संप्रदायके साथ किया जाता यह अन्याय एवं अत्याचार शीघ्र ही समाप्त किया जाये ।

वर्तमानकालमें अपने देशमें अनेकानेक समस्याए बिनसुलझी सामने पड़ी हुई है । ऐसी स्थितिमें वाल्लभ संप्रदायको माननेवालोंके हृदयमें व्यर्थ ही धार्मिक क्षोभ उत्पन्न करनेसे देशको कौनसा लाभ होगा? किसी भी वर्ग या संप्रदाय के मौलिक अधिकारोंको अकारण ही खण्डित नहीं करना चाहिये । देशकी प्रगतिशील तथा सृजनशील शक्तियोंको समुचित अवसर प्रदान करने के लिये देशमें जनतांत्रिक सौमनस्य तथा सद्भावके वातावरणकी अतिशय आवश्यकता है ।

साथ ही साथ इस प्रसंगपर हम सभी धर्माचार्य एकमत होकर यह भी घोषित करते हैं कि व्यक्तिगत रागद्वेष एवं प्रतिस्पर्धा की निम्नस्तरीय मनोवृत्तिके वशीभूत होकर जिन दो तथाकथित वैष्णवोंने यह मुकदमा लड़कर संप्रदायके सिद्धान्त एवं परंपरा पर निन्दनीय आघात किया है, उनके इस कृत्यसे संप्रदायमें आस्थाशील किसी भी व्यक्तिको धबराने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है । औरंगजेबके कालमें भी जब मंदिरो तथा हिन्दुधर्म को तलवारके जोरपर खतम करनेका प्रयास किया गया था तब भी यह धर्म जीवित रहा था और उसका एकमात्र कारण थी हमारे हृदयमें हमारे दिव्य धर्म तथा सिद्धान्तोंके प्रति कभीभी न बहकनेवाली आस्था, जो भगवत्कृपासे हमारे पूर्वजोंके हृदयमें दृढ थी । हमें उसी भगवत्कृपालब्ध आस्थाके उपर विश्वास रखते हुए इन धर्मद्वेषियोंके दुष्प्रयासोंका सामना करते रहना पड़ेगा । जो सिद्धान्त सनातन होता है उसकी सुरक्षाके हेतु सनातन जागरुकता एवं निष्ठा भी अपेक्षित होती है । क्योंकि ''धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:।''

संप्रदायके मूल ग्रन्थोंके आधारपर तथा हजारों वैष्णवोंकी वास्तविक

आस्थाके द्योतक हजारों शपथपत्रोंके आधारपर भी जूनागढके विवादमें उच्चतम न्यायालयमें इंटरवेंशन द्वारा जो सिद्धान्त एवं परंपरा का प्रस्तुतीकरण हुआ उसपर हम सभी अपना सन्तोष तथा सहमति प्रकट करते हैं ।

फिरभी इस विवादग्रस्त विषयमें सर्वदा दृष्टिगत रखने लायक हमारे मूलग्रन्थोंमें से अधोलिखित सैद्धान्तिक विधानोंको अविस्मृतिके हेतु हमारे धार्मिक निष्कर्षके साथ यहाँ संकलित कर रहे हैं ।

(१) सिद्धान्ताभमित सेवाका स्वरूप

मूल :

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ।।

(श्रीमहाप्रभु विरचित सि.मु.१-२)

व्याख्या : वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा च कृता अपरा । एतादृश्यौ ते ततसाधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरूपधि स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेह विनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव: । (श्रीमत्प्रभुचरण कृत व्याख्या)

व्याख्या : तत् चेद वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य रासत्वं कुर्वनती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति ...अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् ।

(श्रीपुरुषोत्तमजी कृत व्याख्या)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि हमारे घरोंमे केवल दर्शनार्थ निबधि आना अथवा केवल भेट चढाना, स्वीकृत परिभाषाके अन्तर्गत, सेवा नहीं है । अत: जनताके ऐसे आचरणसे जनताको सेवाके अधिकार मिल जानेकी बात सिद्ध नहीं होती । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारी हवेलियोंमें हमारी

आड़ीके बिना किसी भी तरहकी सेवा करनेका वैष्णव जनताका कोई भी अधिकार नहीं है । यह गुजरात न्यायालयमें भी स्वीकारा गया है । परन्तु अपने खुदके घरमें कोई भी वैष्णव हमारी आड़ीके बिना भी सेवा कर सकता है । ''आडी'' का अर्थ गुजरात न्यायालयने जो भी धर्मद्वेषियोंने कहा सो, स्वीकार लिया है । जबकि उसका वास्तविक अर्थ वह नहीं है । क्योंकि हमारी आराधना प्रणालीके मुख्यतम सिद्धान्त ''तनुवित्तजासेवा'' को वहां तोडा गया है । दरअसल वह तूटे नहीं तथा वैष्णवोंको अपने पारिवारिक सदस्योपम मान कर ही हम गोस्वामिओंने हमारे प्रतनिधिके रूपमें हमारे निजी सेव्य स्वरूपके केवल बहिरंग सेवाकी थोडी बहुत छूट वैष्णवजनताको दी थी । अन्तरंग सेवामें तो कभी किसी वैष्णवको घुसने देनेकी बात तो दूर, दर्शनके अधिकार भी नहीं दिये गये । इसका मतलब यह नहीं कि कोई वैष्णव स्वयं उसके घरमें बिराजते भगवत्स्वरूपकी अन्तरंग सेवा करनेका अधिकारी न माना जाता हो । ऐसी स्थितिमें हमं ही हमारे घरमें आराधक वैष्णव जनसमुदायका प्रतिनिधि मान लेना सेवाके सिद्धान्तका असह्य उल्लंघन है ।

(२) सिद्धान्तभिमत सेवास्थलका स्वरूप

मूल :

बीजदाढ्यर्प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: ।

अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम् पूजया श्रवणादिभि: ।।

(श्रीमहाप्रभु विरचित भ.व.२)

व्याख्या : ''तु'' शब्देन एतदतिरिक्त-प्रकारान्तर-व्युदास: उक्त: । स्वमार्गीय-भगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवती पूर्वं गृहस्थितिमेव आहु:।

(श्रीगोकुलनाथजीकृत व्याख्या)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है । पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा

अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं । अत: हमारे आराधनाके स्थलको सार्वजनिक बनाना हमारे भगवद्भजनके प्रकारपर कानूनी प्रतिबंध लगाने जैसा अत्याचार है ।

(३) सिद्धान्ताभिमत सेवोपयोगिसंपत्तिका स्वरूप :

मूल :

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद् ।
निवेदिभि: समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति स्थिति: ।।

(श्रीमहाप्रभु विरचित सि.र.४-५)

व्याख्या : स्वात्मसर्पणावसरे भगवते निवेदितै: दारादिभि: चेतनै: गृहवित्तादिभि: अचेतनै: च यत् कुर्यात् तत् सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात् । शास्त्रे निवेदनं दानं समर्पणं त्रिविधं स्मृतम्, निवेदनं समुदिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम् । दानं स्वकीयतात्याग: परस्वापादनं विधे: अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम् । तथाच चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुंजन् अचेतनान् गृहवित्तादीन् उपयोजयन, अन्नादीन् नैवेद्यरूपेण वस्त्रालंकारादीन् च उचितविनियोगे नियोजयन् ...तदत्तप्रसादत्वेन तत्तद् उपयुंजीत इति स्थिति: -

(श्रीपुरुषोत्तमजी कृत व्याख्या)

व्याख्या : अपरंच दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादे: भोजनं न स्यात्, अनिवेदितस्य निषद्धत्वात् निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृति: उचिततरा ।

(श्रीप्रभुचरणकृत नवरत्न व्याख्यां)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि जैसे अनिवेदित-असमर्पित वस्तुको उपभोग, सिद्धान्तत: वर्जित है, वैसे ही भगवत्स्वरूपको दानरूपेण अर्थात (भैंट धरी हुई) वस्तुका उपभोग भी वर्जित है । अत: गृह-धन-अन्न-वस्त्र-

अलंकार आदि गृहस्थीमें उपभोगकी सभी वस्तुओंको भगवानकी सेवामें निवेदित-समर्पित बना कर ही परिवारजनोंके साथ सेवाकर्ता स्वयंके उपभोगार्थ ग्रहण कर सकता है । ऐसी स्थितिमें सेवोपयोगिसंपत्तिकी व्यवस्था का अधिकार (मेनेजरीयल राईट) तथा लाभग्राहिताके अधिकार (बेनीफिशयरी राईट) भी सेवाकर्ता व्यक्ति या परिवार के वैयक्तिक या पारवारिक ही हो सकते हैं, सार्वजनिक नहीं । असमर्पितके उपभोगका निषेध होनेके कारण ही हम अपने उपभोगमें लानेसे पहले घर-धन-अन्न-वस्त्र आदि गृहस्थीमें काम आती सभी वस्तुओंको भगवान्‌को समर्पित करते हैं, न कि दानरुपेण भेट धरते हैं । अन्यथा ऐसे भेंट धरे हुए घरमे रहना या भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहाँ सर्वथा वर्जित है ।

(४) सिद्धान्ताभिमत सेवाकर्ताका स्वरूप :

मूल :

अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहित गृहाश्रम एव विशिष्यते । (श्रीमहाप्रभुकृत निबंध १/५९)

मूल :

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ।। (श्रीमहाप्रभुकृत निबंध २/२३१)

मूल :

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।

(श्रीमहाप्रभुकृत सि.मु.१६)

व्याख्या : ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः लोकार्थीति, ''लोक'' पदेन लौकिको अर्थः उच्चते तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव । (श्रीप्रभुचरणकृत व्याख्या)

मूल :

सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि ।
कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्
श्रीभागवततत्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् ।।
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम् ।।

व्याख्या : अतः स्नेह एव तत्प्राप्तिहेतुः अतो युक्त्यापि भगवन्मार्गस्य प्रमाण्यं साधितम् इति अर्थः । परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते । तत्र आदितः साधनानि आह कृष्णसेवापरम् इति । यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापर एव गुरुः – तत्रापि निमित्तानि वारयति दंभादिरहितम् इति । सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अनयद विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम् इति । जिज्ञासुः न तु कौतुकाद्याविष्टः भजनं सर्वभावेन तदा तदुकाप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या सच दुर्लभः इति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह तदभावे इति । क्वचिद् देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते । हरेः मूर्तिं कृत्वा भजेत् । अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः । (श्रीमहाप्रभु कृत व्याख्या)

व्याख्या : ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकांक्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीय गुरुत्वं नियच्छन्त आहुः सचेत्यादि ''तदभावे'' इति आज्ञापनाद इदं ज्ञात्वा करणे, ''यस्त्विवच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इति आभासत्वाभावः, सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः

इत्यपि सूचितम् । (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत व्याख्या)

मूल :

महात्म्यज्ञानपूर्वस्त सुदृढ सर्वतोधिकः ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।

माहत्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।

शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोः भवेत् ।।

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम् ।

श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् ।।

देहद्रोण्या यियासूना परं पारं भवाम्बुधेः ।

गुरुणा कर्णधारेण ह्युत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(श्रीगोपीनाथजी कृत सा.दी.८-११)

मूल :

ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि (श्रीमहाप्रभुकृत सि.र.२)

व्याख्या : ब्रह्मसंबन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम् तेनैव सर्वेषां देहानां सर्वेषां जीवानां च सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिः भवति ।

(श्रीगोकुलनाथजीकृत व्याख्या)

मूल :

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति युक्तं चैतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात, किंच ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्याम् अपि प्रशस्तत्वसिद्धिः । (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत स्ववृत्तिवाद)

मूल :

चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालमेव च ।

स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद् ।।

देवपूजापरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।

सवै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ।।

(श्रीपुरुत्तोमजीकृत द्रव्यशुद्धि)

मूल :

तब आप कहे जो कटोरी गिरवी धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपुनके द्रव्यको आरोगे सो तो आप ही को भयो जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहि और मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो । जो खायगो सों महापतित होयगो । ताते वा प्रसादमें ते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो । वाके लिये गोआनको खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो । (निजवार्ता-घरुवार्ता)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि अपने परिवारजनों अथवा परिवारोपम इष्ट जनों के साथ गृहस्थ हो वा ब्रह्मचारी अपने घरमें अपने स्वधर्मके रूपमें ही भगवत्सेवा करनी चाहिये । सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनसमुदायके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ संप्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धान्ततः प्रशंसनीय ही है । भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें ही किया जा सकता है ।

वाल्लभ संप्रदायमें गोस्वामी महाराजोंको उनकी गुरुकी हैसीयतमें वाल्लभ संप्रदायकी अनुगामी जनता द्वारा चरणभेंट, गोलखभेंट, पधरामणी भेंट या सेवा प्रदेश भेंट आदि रूपमें जो चल अथवा अचल संपत्ति अयाचिततया भेंट आती है, उसे स्वीकारनेका अधिकार है । क्योंकि वह उनकी आजीविका है । परन्तु भगवत्सेवाके एवजमें या पुजारीकी हैसीयतमें कुछ भी भेंट स्वीकारना न केवल वर्जित है अपितु अधर्म तथा अयोग्यतासंपादक है ।

किसी वैष्णव अनुयायीको किसी हवेलीके अधिष्ठाता-मालिक गोस्वामीमहाराजमें श्रद्धा न होतो वह उस हवेलीमें न जाये । उसे ब्रह्मसंबन्ध लिये बिना भी उसके खुदके घरमें बिराजते स्वरूपकी, ऐसी विषम परिस्थिति

में, सेवा करनेकी छूट तो है ही । यह बात और है कि ब्रह्मसंबंध दीक्षाके बिना सेवाप्रतिबंधक सर्वदोषोंकी निवृत्ति हो नहीं पाती यह ''अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन'' (सि.र.४) वचनके आधारपर है और ब्रह्मसंबंध दीक्षाके दानका अधिकार संप्रदायमें पुष्टिमार्गीय आचार्यो का ही है अन्य किसीका नहीं।

स्वमार्गीयदीक्षादाता तथा स्वधर्मोपदेशक धर्माचार्य या गुरु की हैसीयत में, अतः गोस्वामी महाराजोंको वाल्लभ संप्रदायके अनुयायीकी हैसीयतमें वैष्णव जनता द्वारा जो भेंट धरी जाती है उसे स्वीकारनेका अधिकार सिद्धान्तानुमोदित है । एक चिकित्सकको चिकित्सार्थी द्वारा, या एक अध्यापकको विद्यार्थी द्वारा अथवा एक वकीलको अपने न्यायर्थी मुवक्किल द्वारा दिये जाते धनको स्वीकारने तथा उसे निजी आय माननेकी छूट है, तब केवल धर्मगुरुओंको उसके अनुयायिओं द्वारा दिये जाते धनको निजी आय माननेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? केवल धर्मगुरुकी संचित संपत्तिको ही क्यों सार्वजनिक मान लिया जाता है? क्या धर्मनिरपेक्षताका अर्थ धार्मिक संप्रदायोंपर शनैः शनैः प्रतिबन्ध लाना है? पूर्वकालमें जूनागढकी हवेलीके इतिहाससे सिद्ध होता है कि बिना मांगे जूनागढके नवाब तथा वैष्णवों द्वारा जो जागीर या चलाचल संपत्ति गो.श्रीमाधवरायजीको भेंटके रूपमें आईथी उसे स्वीकार कर उन्होंने हवेली बांधी थी तथा अपने सेव्यस्वरूपके साथ स्वयं वहाँ रहना शुरु किया था । क्या नवाबको व्यक्तिगत जागीर देनेका हक नहीं था? फिर व्यर्थ ही श्रीमाधवरावजीको क्यों ट्रस्टी पूजारी मान लिया गया है? एक धर्मगुरु जो निजघरमें निजी आयके स्रोतोंपर अवलंबित होकर स्वधर्मतया भगवत्सेवा करता हो उसे धार्मिक सिद्धान्त तथा भावना के विपरीत हठात पुजारी घोषित कर देना कैसा न्याय है ।

फिरभी हम सभी धर्माचार्य एतद् द्वारा यह घोषित करते हैं कि ऐसी गलत व्याख्याओंका अवकाश मिले ऐसा कोई भी आचरण किसी भी पुष्टिमार्गीयको करना नहीं चाहिये ।

श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें ! हमारी धार्मिक स्वतंत्रता अखंडित रहे ! तथा सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्य स्वरूप सर्वदा निजी ही रहें – कभी सार्वजनिक न बन जायें ! ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ।''

हस्ताक्षर कर्ता :

शरद गोस्वामी (हालोल–मांडवी)
किशोर चन्द्र गोस्वामी (पारला–मांडवी)
गोस्वामी अजयकुमार (पूना–मद्रास)
गोस्वामी मनमोहन (बम्बई)
गोस्वामी त्रिभंगीराय (बोरीवली)
गोस्वामी हरिराय (बम्बई)
गोस्वामी कृष्णचन्द्र (बम्बई)
गोस्वामी वल्लभलाल (कडी)
हरिराय गोस्वामी (पोरबंदर)
गो. श्याम मनोहर (किशनगढ–पारला)
गो. व्रजाधीश (बम्बई)
गो. व्रजेशकुमार (कडी)
गो. कृष्णकुमार (कामवन)
गो. राजेशकुमार (कडी)
गो. विजयकुमार (कडी)
गो. योगेश्वर (सुरत)
रघुनाथ गो. (पारला–गोकुल)
गोस्वामी देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल)
गोस्वामी नवनीतलाल (कामां–भावनगर)
गोस्वामी मुरली मनोहर (बम्बई)
गोस्वामी माधवराय (नासिक–बम्बई)
गोस्वामी रमेश (बम्बई–मुलुंड)
गोस्वामी कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगांव)
गोस्वामी योगेश कुमार (पारला–बम्बई)
व्र.मु.गोस्वामी (बोरीवली)
गो. नीरज माधवराय (नाशिक–बम्बई)
गो. शरदकुमार (पोरबंदर)
गो. चन्द्र गोपाल (पोरबंदर)
गो. नृत्यगोपाल (बम्बई)

**

संयुक्त घोषणापत्रपर मूल हस्ताक्षरोंकी फोटो कोपी

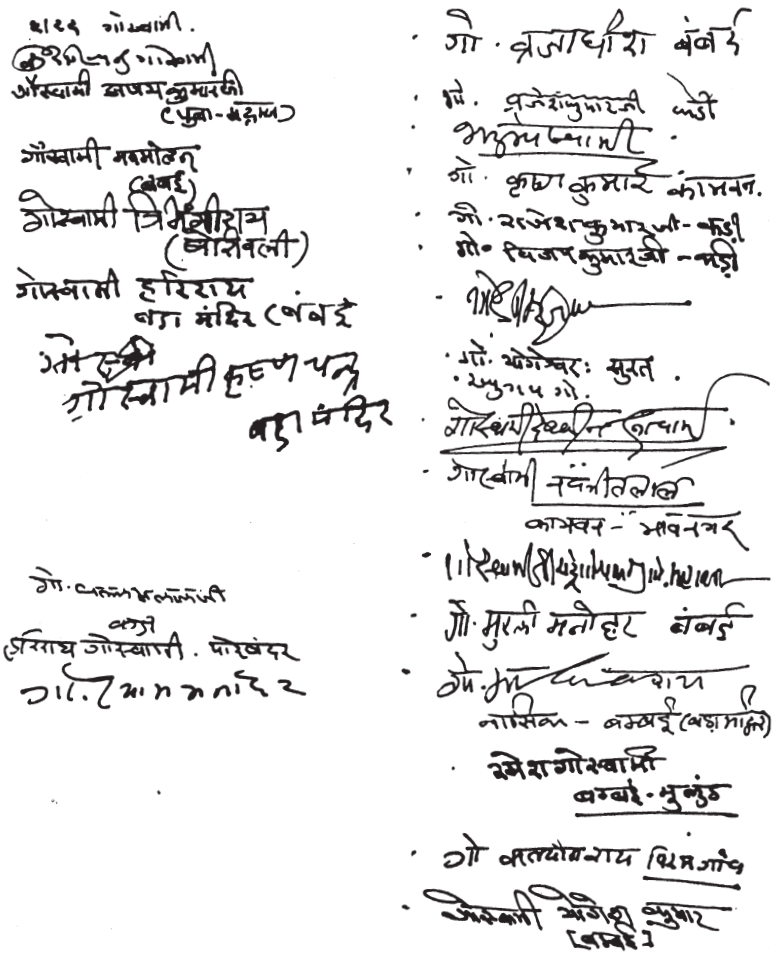

पत्रद्वारा प्राप्त सहमतिके हस्ताक्षरोंमें इन्हें ओर गिन लेना चाहिए :
गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी (वीरमगाम)

શ્રીહરિ :

ગોસ્વામી શ્રી બાલકૃષ્ણલાલજી
૧૦-૧૩૧ ભાગાતળાવ,
મોટાં મંદિર, સુરત.

સંવત ૨૦૪૨
આસો વદ ૪, બુધવાર
તા. ૨૨-૧૦-૮૬

ગોસ્વામી શ્રી શ્યામમનોહરજી મહારાજ,
જમસ્કાર.

જૂનાગઢ કેસ અંગે સર્વોચ્ચનાયાલયમાં આપણી ત્રણે સંસ્થા (શ્રી ગોવિંદપ્રભુ ટસ્ટ, શ્રી કૃપાનિધિ ટસ્ટ અને આં.રા.પુ.વૈ.પરિષદ) ધ્વારા રજૂ થયેલ અગિયાર હજાર એફીડેવીટસ તથા નિયુક્ત એડવોકેટસ ધ્વારા ઇન્ટસ્વીનર તરીકે થયેલી રજૂઆતને અદાલતે યોગ્ય દાદ આપી નથી. પરંતુ આપની મૌખિક રજૂઆત ને કારણે ગુજરાત હાઇકોર્ટના ચૂકાદામાં આંશિક ફેરફાર કરી ગુરૂભેટ અને ચરણભેટ ને ગુરૂની અંગત આવક ગણાવી છે.

આથી એક વિશ્વાસ દૃઢ થયો છે કે, માર્ગિય રજૂઆત લાર્જર બેંચ સામે બરાબર કરવામાં આવે તો સર્વોચ્ચનાયાલય ને પોતાનો નિર્ણય માર્ગિયસિધ્ધાંત તરફી બનાવવો પડે. આ વિષય ઉપર વિગતે વિચાર કરવા માટે તા. ૬-૧૦-૮૬ ના રોજ મુંબઇ શ્રીયદુનાથજીના મંદિરના માળ પર બપોરે ૩-૩૦ કલાકે માત્ર ગોસ્વામી બાળકોની બંધબારણે સભા થઇ. સભામાં ૨૬ ગો. બાળકો હાજર રહયા અને સૌએ સર્વાનુમતે ઠરાવ્યું કે :-

(૧) સર્વોચ્ચનાયાલયમાં લાર્જર બેંચ માટે રીવ્યુ પીટીશન કરવી.

(૨) આ કાર્ય માટે આઠ સભાસદોની કાર્યકારીણી સમિતિ બનાવવામાં આવી.

(૩) આ કામ માટે પ્રત્યેક ગોસ્વામિ ૭ બાળક કે જેમણે અનુમતી આપી છે તેઓ (વ્યક્તિદીઠ) વિતસેવા રૂા. ૧૦,૦૦૦)- આપે.

(૪) આપે તૈયાર કરેલ ૨૫ પાનનું નિવેદન સર્વની સંમતિ સૂચક સહી લઇ તૈયાર રાખવું અને ઉચ્ચન્યાયાલયનો લાર્જર બેંચનો ચુકાદો પણ જો તરફેણમાં ન આવે તો તે નિવેદન જાહેર કરવું અને વૈષ્ણવ સૃષ્ટિનું વિશાળ પાયે સમર્થન મેળવવા તેનો ઉપયોગ કરવો. ન્યાયાલયનો ચૂકાદો ન આવે ત્યાં સુધી તે પ્રસિધ્ધ ન કરવું. વિરૂધ્ધ ચુકાદો સ્વધર્માચરણમાં કેટલો બાધારૂપ છે તેની સમજ આપવા માટે આ નિવેદનનો ઉપયોગ કરવો.

આમ ઉપર પ્રમાણે સર્વાનુમતે લેવાયેલ આ ચાર નિર્ણયોમાંથી પ્રથમ ત્રણ નિર્ણયો માટે મારી ત્યારે સંમતિ હતી. આજે છે. અને આવતી કાલે ન હોવાનું કોઇ કારણ નથી.

ચોથા નિર્ણયમાં જે નિવેદનનો નિર્દેશ કર્યો છે તે નિવેદનની નકલો જોઇતા પ્રમાણમાં સભામાં હાજર ન હોવાથી સંમતિ અપાયા છતાં તેનો ઉડો અભ્યાસ-ચર્ચા વિ. થઇ શકયા નથી. ઉક્ત નિવેદનના પાન ૨૩ ઉપર લીટી ૨૧ થી ૨૨ માં જણાવાયું છે કે,

"બિના બ્રહ્મસંબન્ધ દિયે ભી અપને ઘરમેં ભગવત્સેવાકી છૂટ તરે હે હી." આ વાકય ન રહે તો સારૂં એવો આશય છે. તેથી માત્ર આ એક વાકય પુરતી મારી સંમતિ નથી. આ સિવાય બધુંજ લખાણ યોગ્ય છે.

ઉક્ત નિવેદન ઉપર સહી કરનાર તમામ ગો.બાળકો તેમજ નિયુક્ત થયેલી કાર્યકારીણી સમિતિ પુનઃ વિચારણા કરે અને આખા નિવેદનમાંથી માત્ર આ એક વાક્ય રદ થાય તેવો નિર્ણય કરે તેવી અપેક્ષા છે. પ્રથમ ત્રણ નિર્ણયો સાથે પૂર્ણ સંમત છું તેવી આ તકે સ્પષ્ટતા કરૂં છું.

લડતને અંતઃકરણપૂર્વકનો મારો ટેકો હોવાનું પુનઃ સ્પષ્ટ કરૂં છું.

ગો. બાલકૃષ્ણલાલજી

ગો. બાલકૃષ્ણલાલજી સુરત.

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभुः ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

(चोपासनी)

जामनगर फोन नं. ~~२३१९~~ 76212 जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०

मोटी हवेली, दाउजी मंदिर

जामनगर _____ → जोधपुर २६-१०-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु चि० श्यामबाबाकुं — गो० वृजभूषण

स्य शुभाशिषः — शर्मिटापरगच्छ वृत्तम्

आपको जूनागढ़ केरा सुप्रीमबाबतको पत्र

मिल्यो। मैं दि० २३-९-८६ सूं २२-१०-८६ तक

कलकत्ता हतो — २४-१०-८६ [illegible]

[illegible] आयो है।

[illegible] सब हिस्टरी बांचने में आई। वहांतो

प्रथमेरीजी ने जरूर कुछ बातकरीथी अब

क्या याचिका पुनः होसकती है! यदि होसकती

होतो मेरे जो करनो होयसो आप खुलासावार

लिखो वाप्रमाणे सब करें। अन्यभी गोस्वामि

महानुभावों से क्या कराना चाहिये वहभी आ

पने वहां साप्रहिक रूपसे विचार कियाही

होगा। इसी कार्य में सबों का सहयोग होना

अत्यावश्यक है। यदि मिटिंग रखकर कुछ

ठोस निर्णय लेना होतो मैं बम्बई भी आसकता हूं

कृपया विवरणात्मक सब बातों से अवगत
करावें। मुझे दिल्ली में हाऊजी मं० के अधि
कारी बक्कू भाई ने आपके परिश्रम की बात
कही — अति धन्य वादार्ह हैं कि जो आपने
इतनी महेनत करके संप्रदाय के सिध्धान्त नकूं
ओट में समझाये। और सब कुशलता है।
प्रत्युत्तर जोधपुर ही लिखें। और यदि फोन
में बात करनी होतो नंबर उपमये हैं ही
जैसा उचित समझें। चरण भेट कावें
फैसला अपने फेर मंटी हुआ है न?

चि० हरिरायजी
सिवाय सब बालक
सटी है नमस्कार

शाफीत
गो० ब्र० शु०

॥ श्रीलटवरभ्यु विजयते ॥

गौस्वामी अनिरुद्धलालजी

ठे. मोटी हवेली. — २०, किरण सोसायटी,
मांडवी-कच्छ — पिं.२९-१०-८६ हालोल. (पंचमहाल जिला)
३७० ४६५ (गुजरात) — ३८९ ३५० (गुजरात)
दिनांक : — फोन : पी. पी. ३११

सप्रादरणीय गोस्वामि
श्रीरमणलालजी श्रीरघुनाथलालजी श्रीकिशोरचन्द्रजी

आपका पत्र दि. २३ अक्टूबर ८६ को लिखा (रजिस्टर्ड) प्राप्त हुवा। साथमें भेजी—
१ विष्णु सिद्धिदात्री की गजल
२ संयुक्त घोषणा पत्र का प्रारुप
३ गो.श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर) तथा गो.श्रीकालकृष्णजी का पत्र प्राप्त हुवे।

बंबई में दि. ६ अक्टूबर ८६ को हुई गोस्वामि महानुभावों की मिटिंगमें मैं उपस्थित नहीं हो सकाथा अतः इस पत्र के द्वारा— शुध्धाद्वैत-पुष्टि भक्ति-सम्प्रदाय प्रवर्तक-महाप्रभु-श्रीमद् वल्लभाचार्य-जंशज-गोस्वामिओं के संयुक्त घोषणा-पत्र का स्वागत करताहूं एवं मेरी स्वीकृति प्रदान करता हुं।

श्रीमहाप्रभु आपको इस महान सत्कार्य में विशेष सामर्थ्य एवं सफलता प्रदान करें

सधन्यवाद
गो. अनिरुद्ध

गो.श्रीकालकृष्णजी का पत्र दि. २२-१०-८६ (तारीख) प्राप्त हुवा है लिखते हैं की— उद्घाटनिवेदन का [illegible] आपका पत्र मिला है— विज्ञापकृष्ण संबन्धदेव..... छूटे हैं।" आ अेक आम्र वृक्षनी आडी संज्ञानथी आशिर्वाद लखाण मोकल्यु छे. (२६/१०/८६) लिखीने साथे पूर्ण मोकलुं लडतने अंतर२८० अर्थ नो थाके टेड मोकलुं [illegible] छुं. — ये मात्र जानकारी के लिये लिखा है।

Shri Madanmohan Mandir Trust Fund

15, EKAMBARESHWAR AGRAHARAM,
MADRAS-600 003

PHONE : 37578

BOARD OF TRUSTEES

Office Bearers :

President :
SRI MADHUSUDAN GOSWAMI

Secretary :
L. B. PUROHIT

Treasurer :
N. H. SHAH

Members :
Sri. J. Vittal Doss
Mrs. Padma Goswami
Sri. Ramesh Sayani

Ref :

Date 30/10/1986.

पू. श्रीश्यामू काका,

प्रणाम,

अत्र कुशलम् तत्रास्तु। जूनागढ़ हवेली के केस के कागज प्राप्त हुए। छै: अक्टूबर की मीटिंग में उपस्थित न होने की क्षमा चाहता हूँ। उच्चतम न्यायालय में की जानें वाली कार्यवाही में मैं आपके साथ हूँ। जो भी खर्च वगैरह आयेगा उसमें भी मैं आपका सहयोगी रहूँगा। आप जब भी मुझे इस सन्दर्भ में लिखेंगे मैं आपकी हिदायत के अनुसार राशि भेज दूँगा। संयुक्त घोषणा पत्र की सर्व बातों में मेरी स्वीकृति है। शेष कुशल।

आपका

गो. मधुसूदन

30/10/86

॥ श्री गोकुलेन्दुर्जयति ॥

गोस्वामी गिरधर

"शुद्धाद्वैत पञ्चमपीठ"
पोस्ट-कामां ३२१०२२
(जिला-भरतपुर-राजस्थान)

दूरभाष : ३८
तार : पञ्चमपीठ

१/११/८६

श्रद्धेय दादा,

सादर नमः। आप द्वारा प्रेषित Re-Petition और घोषणा पत्र का प्रारूप प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में मेरी सम्पूर्ण सहमति है - (श्री गोविन्दरामजी एवं श्री कालकृष्ण लालजी की कापति भी पढ़ी है)। अन्य क्या कार्यवाही हुई है - कृपया अवगत करावें। यदि कुछ कार्य हो तो अवश्य लिखें।

मेरा इस सम्बन्ध में M.M. Tewari, Jaipur से भी बात करने का विचार है - आपकी इस बारे में क्या राय है - लिखेंगे।

श्री भाभी को प्रणाम एवं बच्चों को

हनेहाशी:।

— शेष गगनेन्दु

Contd.

[signature]

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभु ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

(चोपासनी)

जामनगर फोन नं. २३१२
मोटी हवेली,
जामनगर

जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०
दाउजी मंदिर
जोधपुर

→ जोधपुर ७-११-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु आदरणीय चि. श्याममनोहरजी महोदयेषु गो. व्रजभूषणस्य शुभाशिषः शमिहा परञ्च वृत्तम्।

आपका पत्र दिनांक २३-१०-८६ का लिखा मिला। तथा सुप्रीममें दीजानीवाली याचिका भी दिल्ली श्रीस्वामिवंशज संयुक्त घोषणा पत्र भी प्राप्त हुआ। दि. २६-१०-को मैंने पत्र लिखा पर आपको मिला होगा। हमारा इसमें पूरा सहयोग होगा। तन मन धन से जो भी आपको कार्य हो वह सुखेन लिखें हम अभी चोपासनी में ही हैं। सुप्रीममें याचिका कब होगी सात जजोंकी बेन्चें बैठनेका नहीं हुआ होगा कृपया विवरणात्मक पत्र लिखें ताकि सभी पोइन्ट समझमें आसकें। हमारे सभी चि. बालक इस कार्य में सहयोग करनेको तैयार हैं। और सब कुशलता है। प्रत्युत्तर शीघ्र लिखें।

शमिति गो. व्रजभूषणलाल

॥ श्री गोपाललालो जयति ॥ ॥ श्री महाप्रभुर्जयति ॥

गोस्वामी श्री गोविंदलालजी महाराज

पत्र व्यवहारका पता:—

श्री गोपाललालजीका मन्दिर
श्रीमद् वल्लभाचार्य मार्ग,
कड़ी (उत्तर गुजरात) पीन 382715
फोन नं. ३१९

श्री यमुनासदन
34/3114
मीनपुरा, करोलबाग न्यु दिल्ली नं. ५
फोन 576451 पीन 110005

श्री महाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर
पाटनपोल, कोटा (राजस्थान)
पीन 324006

16.11.1986

समादरणीय श्री श्याम मनोहर जी,

आपका दिनांक अक्तूबर 23, १९८६ का साइक्लोस्टाइल्ड पत्र प्रेम्य विनरणों के साथ प्राप्त हुआ। आपको विदित ही है कि हमारा स्वास्थ्य जरा नरम रहता है। इस कारण से हमारे बाबा आपके पास उपस्थित हुए थे तथा आपकी विचारधारा से हमारी ओर से एवं अपनी इनकी ओर से सहमत हुए थे।

फिर भी इसपत्र द्वारा हम अपनी ओर से आपके सम्प्रदाय विषयक इस कार्य की प्रसंशा करते हैं तथा सहमति प्रदान करते हैं।

इस कार्य की प्रगति आप हमें सूचित करते रहेंगे ऐसी आशा है।

श्री गोविन्दलाल

પ્રેષક -
ગો. મધુરેશ્વરજી (સ્વરાત-વડોદરા)

ધોરણ

વડોદરા
૨૬ - ૯ - ૧૬

ગો. શ્રીશ્યામમનોહરજી,

અપ્રેમ નમસ્કાર.

અપરંચ :- આપના દ્વારા પ્રેષિત ટાઈપ કરાવેલ તા. ૧૬-૮-૯૬નો પરિષદ ગુજરાત હાઈકોર્ટના ઠેલ્લા સુકાદા અંગેનો વ્રજમાંથી ગઈકાલે પાઠા ઘરે આવી જવાપર પ્રાપ્ત થયો. વાંચી વિગત ભલી છે.

આપની અને સાથીઓની ખૂબજ જરૂરિયાતથી ભેટ અંગેનો સુકાદો અનુકૂળ આવ્યો અને આમાટે આપલોકો ખૂબજ ધન્યવાદાર્હ છો; અને સાથે કોર્ટ, મંદિર અંગે ભુનાગઢના સુકાદાને માન્યરાખી સંપ્રદાય અને ગો. બાબકોપર કુઠારાઘાત કર્યો છે. તે ખૂબજ ખેદ જનક છે. આ અંગે આપના સદ્દ પરિષદ્‌માંની ચેતવલી ઘણીજ સામીચક છે. જરૂર વિચારલીય છે. તો આ અંગે આપલોકો મુંબઈમાં દશહરા પહેલા મિટીંગ બોલાવી રસ્યા છે તે આવકારદાયક છે. અમો તેમાં ઉપસ્થિત રહીશું. તો અગાઉથી તારીખ સ્થળ વિ. ની સૂચના પાઠવશો.

વળી આ અંગે હવે અમારે પોતે શું કરવાનું પ્રાપ્ત થાય છે તે જણાવશો હાલ મારો મુકામ અહીંયાજ છે.

ભવદીય:

ગો. મધુરેશ્વર



चर्चासभा की समापनघोषणा के लिये विमर्श करते हुये गोस्वामी हरिरायजी



: संवाद स्थापक मंडल :
(बायेंसे दायें) गो. मनोज, गो. पियूष, गो. वल्लभ, गो. पंकज, गो. शरद



संवाद स्थापक मंडल द्वारा मंचत्याग तथा अन्य अभ्यागत महानुभाव



अभ्यागत महानुभाव गो. मथुरेशजी, गो. रसिकरायजी,
गो. बालकृष्णजी, तथा गो. कल्याणरायजी

विशोधनिका

(१)

जो कटोरी (गिरवी) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यको आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतिकी होयगो. [illegible] भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो. वाके [illegible] पधरायो.

—पुष्टिसिद्धान्तप्राकट्यकारी महाप्रभु श्रीवल्लभ (घरुवार्ता ३).

(२)

(प्रथम प्रकरण)

वैष्णवे सेवा, भगवद्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. ओर काहुके दिखायवेके अर्थ, पुजा अर्थ, उद्धारार्थे न करे. आपनो सहज धर्म जानें, जेसे ब्राह्मण गायत्री जपे. लाभ संतोषसुं सेवा करे...ओर विवेक बिना पुजा सेवा करे तो नर्कमें पडे, ओर पाखंडीकी पूजा,सेवा प्रभु अंगीकार न करे...अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा आपुही करनी. ओर उत्सवादि समय अनुसार अपने वित्त अनुसार वस्त्र, आभुषण, भांतिभांतिके मनोरथ करि सामग्री करनी...सो रीतिप्रमाण यथाशक्ति करनी. जो द्रव्य होय सो श्रीकृष्णके अर्थ लगावनो, कृपणता नाहीं करनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपालनकारी श्रीवल्लभ गोकुलनाथजी (२४ वचनामृत: ६ तथा १०).

(३)

...श्रीठाकुरजी पधरायके सेवा करन लागी. सुत कांतीके निर्वाह चलावे. हरहंमेश अढाई आने कमावे तासों निर्वाह आनंदसों चलावे. तब एक दिन एक वैष्णवने रुपीआ पांच देके कह्यो— आज श्रीठाकुरजीको आछी भांतसों आरोगावो. तब श्रीठाकुरजीके लिये बहोत प्रकारके व्यंजन किये, छेऊ रसको राजभोग धरे. पीछे श्रीको अनोसर कियो. तब श्रीठाकुरजी किशोरीबाईसों कहे—मोकुं भुख लागी है. तब किशोरीबाईने कह्यो— आज बहोत सामग्री आरोगाई है, तब भुखे क्यों भये? तब श्रीठाकुरजी कहे— आज तैंने पराई सत्ता धराई है, सो मैं नहि आरोग्यो. तातें वैष्णवको पराई वस्तु अंगीकार न करावनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपोषणकारी श्रीवल्लभ (कामवनवाले) (६९ वचनामृत: ५३)

गोस्वामी श्याममनोहर

सेवा ए जाहेर कार्य के जाहेर प्रवृत्ति नथी परन्तु सेवा ए पोताना आंतरिक जीवन साथे संबंध धरावती होवाथी ते आपणा जीवननी आपणा निजी घरमां थती स्वधर्मरूप प्रवृति छे... पोताना माथे बिराजता स्वरूपनी सेवा वगेरेनो पोताना अंगत धर्माचरण तरीके ते ते बालकोनो ज अधिकार अने कर्तव्य छे.

—अधुना पुष्टिसिद्धान्तविनाशार्थ विमर्शकारी श्रीवल्लभ (सुरतवाले)

(पुष्टिने शीतल छांयडे: भाग १ पृ.१५८).

प्रकाशक-प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई-४०००५६.

प्रति : ५०००

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९

श्री पी.कुंभनानीभाईके आर्थिक सहयोगसे
तथा
चि. असित, चि.विपुल तथा चि.मनीष के मुद्रणोपयोगी सहयोगसे

नि:शुल्कवितरणार्थ

मेरे दादाजी (नित्यलीलास्थित गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज)के मुखसे
मैंने प्रमेयरत्नार्णव, सव्याख्य षोडशग्रन्थ, अवतारवादावलीके प्राय: सभी
वाद तथा अंशत: निबन्ध–भाष्यादि ग्रन्थोंका अक्षरश: पांक्तालापनकी
प्रक्रियासे श्रवण–मनन किया था. वह मेरे प्रति उनकी सहज कर्तव्य–
बुद्धिप्रेरित वात्सल्याभिव्यक्ति थी. ऐसी कि उसके बारेमें मुखरित
होना भी अनावश्यक ही है. फिर भी वक्तृत्व–पाण्डित्य–
निरुपधि–भगवद्भजन–भगवत्कथा–रूप आचार्योचितधर्मके
अक्षुण्ण निर्वाहक प्रात:स्मरणीय नित्यलीलास्थित
श्रीगोविन्दरायजी (सुरत) फूफाजीके यादृच्छिक
सान्निध्यमें मैंने श्रुताधीत सिद्धान्तोंके दर्शन–
निदिध्यासनका दुर्लभ लाभ यदा–कदा प्राप्त
किया था. आज उन्हीं दोनों गुरुचरणोंको
मैं मेरा यह ग्रन्थ समर्पित करता हूं,
साभिवन्दन!

*

विनीत

गोस्वामी श्याममनोहर

अनुक्रमणिका

आमुखदर्पण २६३-२८५

इसके अन्तर्गत आलोच्य 'विमर्श'ग्रन्थके लेखकोंकी पूर्वधारणा, पूर्वस्वीकृतिओं तथा पूर्वाचरणों की पृष्ठभूमिमें अधुना प्रकटित ग्रन्थकी एकवाक्यताकी परीक्षा की गई है.

सेवाप्रकरण २८६-३५८

(अ) पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाका प्रामाणिक स्वरूप : श्रीमहाप्रभुविरचित सिद्धान्तमुक्तावलीस्थ वचनके आधारपर 'विमर्श'की विशोधनिका

(यय) सिद्धान्तमुक्तावलीकारिकाओंके अष्टधा विभागपूर्वक श्रीप्रभुचरणविरचित विवृत्तिका आधार लेकर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तपूर्ण विवृति-व्याख्याकी विशोधनिका. इसी तरह वित्तदान तथा वित्तपरिग्रहके अनेकविध शास्त्रीय स्वरूपोंकी विवेचनाके सन्दर्भमें सेवार्थ वित्तदान तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रहके 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंी विशोधनिका

(ययय) उल्लिखित अष्टधा विभागोंपर प्रभुचरणोत्तरकालीन विभिन्न व्याख्याकार, नामतः, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीविट्ठलरायजी, तथा श्रीनरसिंहलालजी द्वारा की गई व्याख्याओंके आधारपर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंकी विशोधनिका

(IIII) उपसंहार

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आमुख–दर्पण

स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम् ।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मत्प्रियंकरम् ।।

(१) सेवोपदेशदीक्षा (२) सेवास्वरूप (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (५) सेवास्थल (६) सेव्यस्वरूप (७) सेवार्थ आजीविका (८) सेवाकर्ता–सेवापरिचारक (९) सेवापदेष्टा (१०) भागवतकथा (११) स्वसेव्यस्वरूप–प्रसादग्रहण (१२) तीर्थपर्यटन (१३) आचार्यवचनाशय–निर्धारणप्रकार.

ये वे मुद्दे हैं जिनपर दि. १०–१३ जनवरी ९२ विश्वकर्मा बाग पार्ले, मुंबई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्त–चर्चासभामें परिचर्चा होनी थी. एतदर्थ स्वमार्गीय मूलग्रन्थोंमें से सभावानुवाद 'सिद्धान्तवचनावली' विचारार्थ प्रस्तुत की गई थी. प्रदत्त भावानुवादके समर्थनमें मूलाचार्यवचनसे प्रारम्भ कर प्राचीन ग्रन्थकारों तथा अर्वाचीन गोस्वामिमहानुभावों के भी विधानोंको 'अमृतवचनावली' नामसे संकलित किया गया था. आचार्यवचनाशय–निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत प्रमाण्यव्यवस्था सुनिर्धारित थी की सर्वमूल श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भ कर अपनेसे एक पीढी ऊपर स्थित पूर्वजतक जिस अर्थमें एकवाक्यता मिलती हो उससे विपरीत अर्थोंके ऊहको प्रमाणिक नहीं माना जायेगा. अपनेसे पूर्वपीढीके भी किसी महानुभावका उनकी पीढीसे पूर्वके ग्रन्थकारोंके अभिप्रायसे विपरीत वचनको प्रमाणिक नहीं माना जायेगा. एतदर्थ मेरे द्वारा उपस्थापित भावार्थके बारेमें मेरेसे पूर्वापर पीढीके अनेक गोस्वामी महानुभावोंके विधानोंकी अमृतवचनावलीमें एकवाक्यता प्रदर्शित की गई थी. इसके अन्तर्गत पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत) तथा इनके पौत्र गो. श्रीबालकृष्णलालजी तथा गो. श्रीवल्लभरायजी के वचन भी संकलित थे..

... परंतु अक्षम्य कालक्षेप करवा देनेकी कूटनीतिके कारण उक्त चर्चासभा किसी निर्णायक बिन्दुतक पहोंच न पाई. फिर भी चर्चासभाके तीसरे दिन उस सभामें श्रीहरिराय (जामनगर) का अपना पक्ष क्या है यह वे स्पष्ट शब्दोमें घोषित नहीं करते तो मैं (गो.श्या.म.) भाग नहीं लूंगा, ऐसी स्पष्ट घोषणा करनेपर कई गोस्वामी महानभावोंके अघोषित प्रतिनिधि गो. चि. श्रीहरिरायजी (जामनगर) को सरोष-सखेद उनके द्वारा ग्रहीत पक्ष घोषित करने ही पडे ! चर्चासभाकी संपूर्ण कार्यवाहीकी उतारी गई ओडियो-विडियो केसेटके आधारपर तैयार किया गया विवरण 'विस्तृत विवरण' नामसे प्रकाशित करवा दिया गया. चर्चा जिस मुकाम तक पहुंच पायी उससे और आगे बढानेके लिए 'संक्षिप्त विवरण' नामसे एक पुस्तिका पहेले ही प्रकाशित करवा दी थी. अत: उन सारी बातोंका अब पिष्टपेषण अनावश्यक ही है.

फिर भी सिंहावलोकन विधिसे इनके उल्लेखका प्रयोजन यह है कि चर्चासभाके तीसरे दिन पक्षग्रहणकी प्रक्रियाके अन्तर्गत गो. श्रीहरिरायजीको जो भी कुछ स्वीकारना पडा वह उन्हे अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालों द्वारा अपनायी हुई भगवत्सेवाप्रणालीसे तथा स्वयं श्रीहरिरायजी द्वारा भी अपना रखी भगवत्सेवाप्रणाली से भी सर्वथा विरुद्ध जानेवाली बातें थी. लिहाजा रात्रिको संवादस्थापकमण्डलके अनेक सदस्योंकी उपस्थितिमें घरपर आकर गो. श्रीहरिरायजी परिचर्चाको स्थगित करनेका अनुरोध करते हुए समझाने लगे कि कैसे पूर्वनिर्धारित संवाद बोलकर सभामें मुझे तथा श्रीहरिरायजीको परस्पर सहमति प्रदर्शित कर देनी चाहिये. एतदर्थ मेरे अनुद्यत होनेपर श्रीहरिरायजी समझाने लगे कि कैसे स्वमार्गका अहित हो जायेगा. तिसपर मैने यह सुझाव दिया कि स्वस्वपक्षनिरूपण ही इस चर्चासभाका मुख्य प्रयोजन था, सो पूर्ण हो जानेके कारण चर्चा स्थगित की जाती है ऐसे घोषित किया जा सकता है. गो. श्रीहरिरायजीने इसपर, कोई उन्हें पराजित न मान ले यह आशंका प्रकट की. तिसपर मैं संवादस्थापकमण्डल और श्रीहरिरायजी एकमत हुए कि चर्चाको अनिर्णीत घोषित किया जाये. तदनुसार चतुर्थ दित घोषित भी करवा दिया गया था. निरर्थक भाषणोंके द्वारा चतुर्थ दिनकी कार्यवाहीको यथाकथंचित् सम्पन्न किया गया. परन्तु बादमें पू.पा. तिलकायत महाराजश्री

तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने संयुक्त हस्ताक्षरोंसे अंकित अभिनन्दनपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान कर दिया. उसमें यह उल्लेख किया गया कि श्रीहरिरायजीने सभामें जो सिद्धान्तपक्ष स्थापित किया वह उचित तथा भूरिश: प्रशंसनीय है!

इससे क्षुब्द होकर संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंने उस सभाकी कार्यवाहीमें व्यवधानार्थ आपत्ति प्रस्तुत की, जब अभिनन्दनपत्र गो. श्रीवल्लभरायजी वीडियो केमेराके सामने पढ कर सुना रहे थे. बादमें श्रीहरिरायजीको घेर कर मेरे घर लाया गया. ऐसे नाटककी क्या आवश्यकता थी यह में पूछ पाऊं उससे पहले श्रीहरिरायजीने कहा कि पूर्वसूचना दिये बिना बडोने यह कृत्य किया है, जिनका अनादर वे कर नहीं पाये. तब मैने कहा कि कोई बात नहीं, यह अभिनन्दन किसी तरहकी निणार्यकताका प्रमाण नहीं है ऐसे आशयका पत्र हम दोनों तथा संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंके भी हस्ताक्षरोंसे अंकित कर रख लेना चाहिये. वह तैयार किया गया और बादमें समाचारपत्रोंमें मुझे प्रकाशित भी करवाना पडा, क्योंकि इसके बाद अभिनन्दनपत्र पानेकी खुशीमें अभिनन्दनपत्र पानेकी सभाओंके सचित्र वृत्तान्त समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होने लगे !

फिर तो सर्वथा निराधार अनर्गल और जनताको बरगलानेवाले निवेदनोंका समाचारपत्रोंमें तांता लग गया. विवशतया मुझे भी अपने स्पष्टीकरण देते रहनेको बाधित होना पडा. स्वाभाविकतया मार्गके हितैषियोंका इस आन्तरिक कलहको सार्वजनिक बनानेकी कूटनीतिसे दु:खी होना उचित ही था. वैसे सभीने मुझे ही प्राय: कोसा था कि वह सब मैं कर रहा था, क्योंकि पर्देके पीछे खेले जाते खेलसे सभीको अवगत हो जानेकी सुविधा उपलब्ध नहीं होती. कई लोग कहते हैं – इस विवादको आपसमें मिल-बैठ कर सुलझाना चाहिये.

परन्तु एक हकीकत यह भी है एतदर्थ सर्वप्रथम मैने पू.पा.गो.श्रीतिलकायत महाराजश्रीसे उनकी अध्यक्षतामें गोस्वामिओंकी एक बैठक आयोजित करनेकी विनती की थी, क्योंकि ग्रन्थस्थ सिद्धान्त कुछ और

हैं, व्यवहारमें कुछ और न्यायालय कुछ तीसरी ही बात हमारे सिद्धान्तोंके बारेमें मान कर चलते हैं. तिसपर पू.पा.तिलकायित महाराजश्रीने मुझे कहा कि नाथद्वाराके मुकद्दमेंके सुप्रीम कोर्टके फैसलेको बदल पाना अब शक्य नहीं है अत: जो-जैसा कुछ मिला है उससे वे सन्तुष्ट हैं; तथा मेरे जैसे गोस्वामिओंकी इसके कारण जो कठिनाईयां हैं उन्हें वे गोस्वामी स्वयं सुलझा पायेंगे ऐसी शुभकामना रखते हैं. इसके बाद स्वमार्गमें ज्ञानवयोवृद्ध पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीकी अध्यक्षतामें सभी गोस्वामिओंकी एक बैठक बुलाई जाये ऐसी प्रार्थना पू.पा.महाराजश्रीसे मैने की. तदनुसार पू.पा.महाराजश्रीके यहां मुंबईके यदुनाथजीके मंदिरमें सभा आयोजित हुई. इस सभामें उपस्थित सभी गोस्वामिमहानुभाव एक संयुक्त घोषणापत्र द्वारा स्वमार्गीय भगवत्सेवा आदि विषयोंसे सम्बद्ध सिद्धान्त एवं परम्परा का सुस्पष्ट निर्देश दें यह प्रस्तावित था. किसी कारणवश यह शक्य न हो पाये तो एक वैकल्पिक उपाय सिद्धान्तविपरीत सेवा-मनोरथ-दर्शन-प्रसाद-कथाके आयोजनोंमें सहयोगी न बनने के आत्मनिर्णयको घोषित करनेवाला एक शपथपत्र भी तैयार किया गया था.

सखेद, परन्तु, यह स्वीकारना पडता है कि पू.पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने उस सभामें सम्मिलित होना न जाने क्यों उचित नही समझा ! उस गोस्वामिओंकी बैठकसे एक दिन पहले मेरे घरपर गो.श्रीकल्याणरायज पधारे थे उन्हें शपथपत्रका प्रारूप पढ़ कर मैने सुनाया था और सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो अनुचित हो उसका निर्देश देनेकी विनती की. पर्याप्त धीरजसे पढ कर उन्होंने कहा कि सभी कुछ ठीक ही है. तब मैने अनुरोध किया कि आपके भी हस्ताक्षर इसपर हो जायें तो अच्छा! इतना सुनते ही श्रीकल्याणरायजी चुपचाप मेरे यहांसे खिसक गये. दूसरे या तीसरे दिन गोस्वामिओंकी बैठक सुरतवालोंकी पूर्वोक्त हवेलीमें हुई जिसमें श्रीकल्याणरायजी तो अनुपस्थित थे परन्तु श्रीबालकृष्णलालजी उपस्थित थे. उपस्थित गोस्वामिओंमें वयसा ज्येष्ठ श्रीगोविन्दरायजी (पोरबन्दर) थे सो उनकी अध्यक्षतामें बैठक सम्पन्न हुई. संयुक्त घोषणापत्रका प्रारूप पढ कर सुनाया गया, एक प्रति श्रीबालकृष्णलालजीको भी दी गई थी. तब सभी

महानुभावोंने निरपवाद सहमति प्रदान करते हुए अपने-अपने हस्ताक्षरोंसे उसे अंकित किया जिनमें श्रीबालकृष्णलालजी तथा उक्त बैठकके अध्यक्ष श्रीगोविन्दरायजी (पोरबन्दर) के हस्ताक्षर भी थे ही.

बादमें अध्यक्ष तथा स्वयं के हस्ताक्षरोंसे अंकित एक स्पष्टीकरणका छोटा पुर्जा श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी मेरे घरपर ले कर आये कि उक्त बैठकमें सुप्रीम कोर्टमें रीव्युपिटिशनमें जानेके एक निर्णयके अलावा अन्य किसी भी निर्णयके साथ उनकी सहमति न मानी जाये-ऐसा स्पष्ट उल्लेख था. लिहाजा संयुक्त घोषणापत्रगत अध्यक्ष महोदय तथा श्रीबालकृष्णलालजी के हस्ताक्षरोंपर मैने व्हाईटनर लगा दिया. तब श्रीबालुराजा और श्रीकल्याणरायजी ने विस्मय प्रकट किया कि कहीं हस्ताक्षर पुन: तो उभर नहीं आयेंगे! तब मैने आश्वस्त किया यदि उभरे भी तो उन्हें पुन:पुन: व्हाईटनरके प्रयोग द्वारा ढंकता रहूंगा! तिसपर श्रीबालुराजाने कई वैष्णवोंकी उपस्थितिमें कहा कि सिद्धांततया तो हमें सभी कुछ मान्य है परन्तु जब तक कोई दूसरा व्यवसाय चारपांच वर्षपर्यन्त जम नहीं जाये तब तक भगवत्सेवार्थ परवित्त न लेनेका दुराग्रह करना उचित नहीं होगा. यह सुन कर मैं तो समुपस्थित वैष्णवोंसमेत हतप्रभ हो गया ! श्रीकल्याणरायजीने, तिसपर, यह खुलासा दिया था कि ऐसा कहनेसे तो हम देवलक सिद्ध हो जायेंगे. सो श्रीबालुराजाने तब श्रीकल्याणरायजीको ही कैसे कहना यह सुझानेका आग्रह किया. तिसपर श्रीकल्याणरायजीने कहा कि ऐसे कहना चाहिये कि हमें तो सभी सिद्धान्त मान्य हैं परन्तु अपनी अवयस्कतामें क्योंकि हमारे पितामह (पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री) वणिक ट्रस्टियोंके मार्गदर्शनाधीन रहे थे अत: उनकी मनोवृत्ति सिद्धान्तशुद्ध नहीं है, परन्तु बडोंकी आज्ञाने विरुद्ध हम क्या कर सकते हैं ! तब श्रीबालुराजाने भी इस खुलासाके साथ अपनी सहमति-संतुष्टि प्रदर्शित की... बादमें निजहस्ताक्षरोपेत एक पत्र (दि.२२-१०-८६), संयुक्त घोषणापत्रगत **''बिना ब्रह्मसम्बन्ध दिये भी अपने घरमें भगवत्सेवाकी छूट तो है ही''** वाक्यके अलावा सारेके सारे संयुक्त घोषणापत्रगत विधानोंको योग्यतया मान्यता प्रदान करनेववाला, प्रेषित किया गया था. उल्लेखनीय है कि उसमें स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी

भावसंगोपनात्मिका अव्यावसायिक-अपौरोहित्यात्मिका स्वतनुवित्तपरिजन-विनियोगात्मिका सेवाका सिद्धान्त ही प्रस्तुत हुआ था. इस तरह बन्द दरवाजोंमें आपसमें विवाद सुलझानेके प्रयासोंकी प्रभावहीनताका सुस्पष्ट प्रमाण यह है कि अधुनाप्रकाशित सेवा-देवद्रव्यादिविमर्शमें इन्हीं दोनों श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी के नाम भी जुडे हुए हैं! अस्तु.

विश्वकर्मा बाग पार्ले-मुंबईवाली सार्वजनिकसभामें मेरेद्वारा प्रदत्त सिद्धान्त वचनावलीके भावानुवादके साथ अपनी असहमति तथा गोस्वामी श्रीहरिरायजीके द्वारा ग्रहीत पक्षकी भूरिभूरि प्रशंसा करनेवाले श्रीवल्लभरायजी मेरे खण्डनार्थ एक जबरदस्त ग्रन्थ लिखनेवाले हैं - लिख रहे हैं - लिख लिया है - प्रकाशित करवा देंगे - प्रकाशित हो गया है - पोद्दार हाउसमें अनावरण भी हो गया है--ऐसी कर्णोपकर्ण बातें सुनाई देती रही और ग्रन्थदर्शनलालसा मेरी तीव्रसे तीव्रतर होती चली गई. परसों (९-९-९२) के दिन सहसा वह जब मेरे हस्तगत हुआ तो मेरे विस्मय की कोई सीमा नहीं रही! क्योंकि इस ग्रन्थका वास्तविक कर्ता कौन है यह जान पाना भी दुष्कर परीक्षण हो गया !

मुखपृष्ठपर पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीका नाम ऐसे छपा है मानों वे इस ग्रन्थके कर्ता हो. भीतर प्रकाशकीय-सर्वाधिकारसुरक्षापृष्ठपर पू.पा. महाराजश्रीके नामके साथ तीन और नाम जुडे हुए मिले. यथा (१) गो. श्रीबालकृष्णलालजी (२) गो. श्रीकल्याणरायजी तथा (३) गो. श्रीवल्लभराय दीक्षित. पू.पा.महाराजश्री नामके साथ प्रकाशित आमुख पढनेपर तो अचंभेमें डाल देनेवाली कई बातें सामने आती है. अतएव उस आमुखके कुछ उल्लेखनीय अंशोंपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा.

''...वर्तमान शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे तथा तत्त्वपक्षपाती विद्वानोंकी संगति दुर्लभ हो जानेसे अनेक विषयोंमें सन्देह एवं भ्रान्ति व्याप्त हैं. इस स्थितिको देखते हुए **सेवा-देवद्रव्य आदिके** विषयमें वास्तविक तथ्यको विदित कर उसे कहीं लिपिबद्ध कर देना आवश्यक प्रतीत हुआ. तदनुसार

हमने उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर इस ग्रन्थमें सेवा देवद्रव्यादि विषयमें विचारोंको स्वान्त:सुखाय लिपिबद्ध कराया है. उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर ग्रन्थका प्रणयन किया गया है. अत: अन्य प्रमाणोंके उपलब्ध होनेपर ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन किया जा सकता है... हमारे पूर्वके लेखन एवं वक्तव्यको इस ग्रन्थके अविरोधसे ही ग्रहण करना चाहिये. यह हमारा निवेदन है.... ग्रन्थमें कुल ९ प्रकरण है – (१) कृष्णसेवा प्रकरण (२) देवद्रव्य प्रकरण (३) देवलक प्रकरण (४) ट्रस्ट प्रकरण (५) भावसंगोपन प्रकरण (६) हास ब्रह्मसम्बन्ध प्रकरण (७) मंत्रविक्रयाशंकानिरसन प्रकरण (८) गुरुशिष्यनियम प्रकरण (९) भागवतकथा प्रकरण. इनमेंसे प्रारम्भके पांच प्रकरण ग्रन्थके पूर्वार्धमें आते हैं, अवशिष्ट चार प्रकरण उत्तरार्धमें आयेंगे...''

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके तेरह मुद्दोंमेंसे कुछ कुछ मुद्दे यहां परिग्रहीत हुए है. जो छूट गये हैं उन्हें ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' न्यायके अनुसार मान्य समझना अथवा ''अनावश्यकम् उपेक्षणीयं भवति'' न्यायके अनुसार उपेक्षणीय समझना यह भी समझमें नहीं आया. सन्देहनिराकरणार्थ प्रवृत्तिमें सन्देहजनक विधानोंका होना यानि स्पष्टताका अभाव होना या तो अनुभवहीनता या किसी दुराव-छिपाव की वृत्तिको प्रकट करता है.

पू.पा.महाराजश्री सम्प्रदायमें न केवल ज्येष्ठतम वयोवृद्ध अपितु विद्यास्वाध्यायतपोवृद्ध भी हैं ही. अत: कमसे कम मेरा अन्तर तो गवाही नहीं देता कि सेवा-देवद्रव्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण तथा बहुधा चर्चित विषयमें साम्प्रदायिक ग्रन्थगत कोई भी प्रमाणवचन अपनी आयुके इस भागमें भी इस तरह अनुपलब्ध रह गये हों कि उन्हें विदित करके लिपिबद्ध कराने पडे! सो भी इस भीति और संशयात्मा के साथ कि अन्य प्रमाणवचन उपलब्ध होनेपर इस ग्रन्थमें परिवर्तन-परिवर्धन भी किया जा सकेगा!! अपने पूर्वलेख एवं पूर्ववक्तव्यों को इस ग्रन्थसे अविरोधसे लेनेके पू.पा.महाराजश्रीके निवेदनमें भी सुर-काकूकी जगह पूर्वकालीन लेखन-वक्तव्योंके बारेमें अज्ञान संशय भ्रान्ति अथवा मिथ्याभाषण का दैन्य और इस वक्तव्यमें अीनश्चयात्मकता अर्थात्

संशयात्मकताकी मनोवृत्ति इस आमुखके पू.पा.महाराजश्री द्वारा लिखित होनेके दावेपर एक प्रश्नचिन्हका धब्बा सा लगा देती है !

प्रकाशकीय पृष्ठपर प्रथम तीन नाम ही 'जी'कार सहित प्रयुक्त हुए हैं, केवल 'श्रीवल्लभराय दीक्षित' 'जी'काररहित प्रयुक्त हुआ है. कहीं इसीमें आमुखकी प्रामाणिकतापर लगे प्रश्नचिन्हका गूढ उत्तर तो ध्वनित नहीं हो रहा!

उल्लेखनीय है कि आमुखके ये शब्द – ''हमने लिपिबद्ध कराया है'' भी ग्रन्थकर्ता, ग्रन्थनिर्माणप्रेरक, अथवा निर्मितग्रन्थशुभाशंसक होनेमेंसे किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है.

मुखपृष्ठपर उल्लिखित पू.पा.महाराजश्रीके नामसे उनका ग्रन्थकर्ता होना ध्वनित हो रहा है. उसे मानकर चलनेपर पू.पा.महाराजश्रीके द्वारा नडियादके केसमें दी गई जुबानी तथा हालमें श्रीहरिरायजी(जामनगर)को दिये अभिनन्दनपत्रके कारण खडे होते नैतिक उत्तरदायित्वसे छटकनेकी कूटनीति प्रकट होती है. इसी तरह प्रकाशकीय पृष्ठोल्लिखित 'श्रीबालकृष्णलालजी – श्रीवल्लभराय' नामोंके साथ ग्रन्थकर्तृत्वको जोडनेपर इन दोनों महानुभावोद्वारा ''पुष्टिने शीतल छांयडे'' ग्रन्थोमें दिये उत्तरोंसे तथा संयुक्त घोषणापत्रके समर्थनार्थ गो. श्रीबालकृष्णलालजी द्वारा मुझे लिखे गये पत्रोंके नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी कूटनीति खेली जा रही है ऐसा लगता है !

बहुत सम्भव है कि हाल ही में जैसे नाशिकमें हमारे चचेरे भाई श्रीव्रजाधीशजीको उकसा कर उनसे स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके विपरीत यद्वा-तद्वा अनगृल वक्तव्य दिलवा दिये गये और यहां पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में, जब इस तथ्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया, तब भरी सभामें यह कह कर श्रीवल्लभरायजी कतरा गये कि नाशिकमें वे न तो अध्यक्ष थे, न मुख्य वक्ता; और न प्रेरक ही ! अर्थात् ''वृद्धास्ते न विचारीयविषया:'' न्यायानुसार श्रीवल्लभरायजी तो केवल अहोवाददाता ही थे! अतएव कहा गया है : ''जनो विद्वानेक: सकलमभिसन्धाय कपटै: तटस्थ: स्वानर्थान् घटयति च मौनं च भजते.''

कर्तृगुप्तअप्रहेलिकायें ''गोरीनखरसादृश्यश्रद्धया शशिनं दधौ इहैव गप्यते कर्ता वर्षेणापि न लभ्यते'' तो काव्यकुशलता प्रकट करनेको लिखी जाती रही हैं परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही कर्तृगुप्त लिखनेमें विमर्शकुशलताकी जगह भावकुटिलता अही अधिक प्रकट होती है.

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में भी यही कुटिल नाटक खेला गया था. जान करके चर्चासभाके सारे नियमोंको ताकपर रख उन्हीं विषयोंको छेडा गया कि जिनका जवाब, पू.पा.महाराजश्री - जो सभास्थलके बाहर स्वेच्छया कारमें ही बिराज रहते थे - की मौजूदगीमें देने या न देने दोनों ही स्थितियोंका भरपूर लाभ उठाया जा सके, बडोंकी अवहेलनाका बहाना बना कर ! अन्यथा शान्त चित्तसे समझनेकी बात थी कि श्रीबालकृष्णलालजी, श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीवल्लभरायजी को चर्चासभामें बेरोकटोक पधराकर अनर्गल बातें बोलनेसे भी रोका नही गया. स्वयं श्रीवल्लभरायजीको पू.पा.महाराजश्रीका लिखित वक्तव्य पढनेके व्याजसे संवादस्थापकमण्डलके नवयुवक सदस्योंके प्रति दिल खोल कर विषवमन भी करने दिया ही गया था. तो पू.पा.महाराजश्रीके सभा पधारनेसे और अधिक क्या होना जाना था? जबकि संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंको तो पता भी नहीं था कि पू.पा.महाराजश्री कब पधारना चाहते थे और क्यों नहीं पधारे! वास्तवमें तो स्वयं श्रीकल्याणरायजीके कहनेपर पू.पा.महाराजश्री नहीं पधारे. उन्हें बोलनेके अवसरसे वंचित रखे जानेका रोषवेदनापूर्ण वक्तव्य, क्या कारण था कि स्वयं श्रीकल्याणरायजीको पढनेको नहीं दिया गया? और क्यों श्रीवल्लभरायजीको ही दिया गया? सो भी श्रीकल्याणरायजीसे कारण पूछे बिना ही!

मैने जब श्रीकल्याणरायजीसे अनर्गल विधान करते श्रीवल्लभरायजीको रोकनेको कहा तो उन्होंने मुझे कहा कि उन्हें जो कुछ कहना है, कह लेने दो, बादमें खुलासा कर दूंगा. क्या खूब यह साधी हुई मिलिभगत थी! सो श्रीकल्याणरायजीने बादमें खुलासा दे दिया कि समयाभाववश श्रीकल्याणरायजी पू.पा.महाराजश्रीको केवल न आनेकी ही सूचना दे पाये थे और कोई खुलासा दे नहीं पाये और श्रीवल्लभरायजी क्योंकि इस तथ्यसे वाकिफ नहीं थे सो... सो बस हो गया न सारा खुलासा!

प्रतीत होता है वही चक्कर यहां भी चलाया जाना है कि पू.पा. महाराजश्रीके नामपर ग्रन्थ छपा दो ताकि लोग इसकी महत्ता पू.पा. महाराजश्रीके नामानुसार स्वीकार लें ! भविष्यमें जब भी बात बदलनी हो तो ''आज्ञा गुरूणामविचारणीया'' भी कहा जा सकेगा. अन्यथा वृद्धजनोंकी अवहेलनाका बावेला तो चर्चासभाकी तरह मचाया ही जा सकेगा!

परन्तु भगवत्कृपासे पार्लेकी चर्चासभामें भी अधिकांश जनता स नाटकको बराबर भांप गई सो मनोवांछित सफलता नहीं मिली. अतएव अनिर्णीत चर्चासभामें सिद्धान्तपक्ष स्थापित करनेका निर्णायक प्रमाणपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान करवाकर प्रतिशोध लिया गया. उसमें भी ''तवार्धं च ममार्धं च'' की एक कूटनीति और वापरी गई थी. श्रीहरिरायजीके अनुज काशीकी गादीपर गोद गये हैं – जाहिर है कि षष्ठपीठकी दावेदा काशीकी भी गादी है. सो पू.पा.तिलकायत महाराजश्री तथा श्रीहरिरायजी दोनोंको, अभिनन्दनपत्रपर षष्ठपीठाधीश्वरकी हैसियतमें, सहहस्ताक्षरकर्ताके रूपमें फंसा लिया गया ! प्रकाशित ग्रन्थके १२६वें पृष्ठपर स्वीकारा गया है – ''...'निरूपधि' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है फलकी आकांक्षा एवं कपटता से रहित. श्रीहरिरायजीने भी कहा है 'तस्य सेवा प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मत: न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' तदनुसार निरपेक्षरूपसे सेवा कर्तव्य है यहह निश्चित होता है.''

यह सद्योग्रहीत पक्ष भविष्यमें कितने समय तक टिकेगा यह भी देखनेका विषय है.

क्योंकि नडियाद केसकी जुबानी में पू.पा.महाराजश्रीने यह स्वीकारा था कि कांकरोली अर्थात् तीसरे घरके उपगृहमें श्रीगिरधरजीके वंशज हैं. ऐसी स्थितिमें ठाकुरजी श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनीधि मान भी लिया जाये तो स्वप्रतिश्रुत तृतीय गृहान्तर्गत उप (३/२) गृहमें श्रीगिरधरजीकी वंशजताके पक्षको छोड कर षष्ठनीधिके दावेको अपनी षष्ठपीठाधीशतामें पर्यवसित करना औ उसकी प्रसिद्धिके लिये मिथ्या मनोरथ-स्तोत्रादिका आयोजन क्या 'प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' षष्ठनिधिसेवन नहीं है? भूलना नहीं चाहिये कि प्रस्तुत

ग्रन्थके १६४वें पृष्ठपर यह स्वीकारा गया है कि अपने लाभ एवं अपनी पूजा के लिए की जानेवाली भगवत्सेवा ही धर्मशास्त्रत: निषिद्ध प्रकारकी देवलकत्वापादिका भगवत्सेवा है. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि षष्ठनिधिकी सेवाका आधिदैविक लाभ लेनेके लिए सुरतकी हवेलीको 'षष्ठपीठ' नहीं कहा जा रहा है, परन्तु अपनी षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाकी अभिवृद्धिके लिए अपने सेव्यस्वरूपको 'षष्ठनिधि' कहा जा रहा है. अन्यथा मिथ्या मनोरथों-स्तोत्रोंद्वारा ''इतिश्रीयदुनाथगृहोद्भव'' विशेषणोंको प्रचारित करनेकी क्या आवश्यकता? नाशिकके आयोजनमें चि.श्रीवागीशकुमार भी आये थे उनके नामोंकी घोषणाके साथ 'तृतीयपीठ'का उल्लेख तो नहीं हो रहा था. पू.पा. महाराजश्रीकी विद्यमानतामें जबकि श्रीवल्लभरायजीके नामके साथ उनके षष्ठपीठके साथ जुडे होनेका उल्लेख निरन्तर होता रहा (मेरे पास इसकी कैसेट मोजूद है)! इससे सिद्ध होता हैं षष्ठनिधिके लिए षष्ठपीठाधीशता नहीं है बल्कि षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाभिवृद्ध्यर्थ स्वसेव्यस्वरूपकी षष्ठनिधिता घोषित की जा रही है.

जैसे पूजाभिवृद्ध्यर्थ भगवत्सेवनका यह नग्नताण्डव है, वैसे ही आजसे करीब सित्तर-अस्सी वर्षपूर्व आर्थिकलाभार्थ स्वसेव्यके षष्ठनिधित्वका झघडा जानबूझ कर खडा किया गया था. वह प्रमाण भी द्रष्टव्य है :

''सात स्वरूप निमित्ते काढेली सेवा श्रीठाकुरजीनी के गुसांईजी महाराज बालकोनी?''

लखतर दरबार श्रीकरणसिंहजी ठाकोर साहेब एक परम वेष्णव छे... राजकोटमां एकठा महाराजश्रीना दर्शनार्थे गयेला... जेमां तिलकायितश्री बिराज्या हता. आ मेलावडामां लखतरना दरबार श्रीकरणसींहजी ठाकोर साहेबे पण हाजरी आपी हती. आ प्रसंगनो लाभ लई पोताना मनमां घणा वखतथी धोळातो प्रश्न पुष्टिमार्गना श्रेष्ठमां श्रेष्ठ गादीनशीन तिलकायित महाराजने नम्रताथी अने बिनयथी विनंतीरूपे रजु कर्यो... 'सात स्वरूपनी सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीनी के श्रीगुसांईजीना सात बालकोनी, वैष्णवोए समजवी?' हसता मुखारविंदथी अने मनप्रसन्नथी उत्तर तिलकायितश्रीए आाप्यो के 'ते सेवा अने

भेट सात स्वरूपो एटले श्रीगुसांईजीना सात लालजीओना घरनी गादीए बिराजता टिकेत श्रीगोस्वामी बालकोने अर्पण करवामां आवे छे तेम समजवुं. ए सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीने अर्पण थयेली छे एम मानवुं नहीं.' (श्रीगट्टुलालाजी संस्था द्वारा प्रकाशित ''पुष्टिमार्गना वैष्णवोने खास, तेमज धर्मविलासीओने सामान्यपणे जाणवा अने मनन करवा जेवा धर्मना विषयोनुं टीप्पण अथवा संग्रहस्थान'' पृष्ठ ५२-५३ ले. प्रका. काशीदास नारणदास दलाल. प्रका. वर्ष : संवत् १९७४).

''आवी रीते हवेली अने तेमां बिराजता स्वरूपो अने तेने लागती स्थावर-जंगम मिलकतो महाराजोनी खानगी मिलकत होवाथी श्रीराजकोट मुकामे तिलकायितश्रीए आपेलो जवाब रास्त गणाय अने ते सेवा अने भेट स्वरूप-श्रीठाकुरजी-नी मानो के जेमने माथे ते बिराजता होय तेमनी मानो पण छेवटे सरवाळो एकसरीखो छे एम कही शकाय. परन्तु सुरतनी गादी साथे शेरगढवाळी गादीनी श्रीबालकृष्णजीने लीधे तकरार छे ते तरफ जोतां ए सरवाळो कामनो नथी. एमां तो गंभीर सवाल ए छे के जो ते ठाकुरजीना निमित्ते कढायेली होय तो ते ठाकुरजीनी कहेवाय अने ज्यां ते स्वरूप बिराजतुं होय त्यां वैष्णवोए मोकली देवी जोईए. पण जो सेवाभेट छठ्ठा बालकनी, उपर जणावेला तिलकायितश्री गोवर्धनलालजीना अभिप्राय प्रमाणे, थती होय तो ते शेरगढवाळा महाराजने छठ्ठा घरना तिलकायित तरीके तेमने मळवी जोईए...

सुरतवाला तरफथी घणी दलीलोमांनी एक एवी दलील होय एम जणाय छे के श्रीहरिरायजी महाराजे एक नमन श्लोकमां आ स्वरूपने छठ्ठा घरना श्रीजदुनाथजीना कही नमन कर्युं छे.... उक्त श्रीहरिरायजीना वहुजी महाराजे धोळ बनाव्या छे तेनुं एक लघुपुस्तक हमोने खास आ तकरार माटे वांचवासारु आपवामां आव्युं छे. तेमांना एक धोळमां लख्युं छे --'जोडी हाथने कहे छे जदुनाथजीरे लोल, मन वस्या छे हमारे तो श्रीनाथजी रे लोल, कृपानुग्रहथी श्री आप पधरावीआ रे लोल, श्रीबालकृष्णजी हमारे मन भावीआ रे लोल, त्यारे प्रसन्न थईने तात मन घणुं रे लोल, स्वरूप पधराव्युं श्रीकल्याणरायजी तणुं रे लोल...' आ धोळ सुरतवाला महाराजश्रीना घरमांथी गुजरातीमां प्रकट करवामां आव्युं छे... सुरतनी हवेलीमां सेवाविधिनुं एक

हस्तलिखित पुस्तक छे तेमां चैत्र सुद ६ ने दिवसे आ छठ्ठा लाल श्रीजदुनाथजीना उत्सवनो जणाव्यो छे. ते दिवसे केसरी वस्त्रो एवे प्रसंगे धराववा जोईए तेने बदले श्याम (काळी) चुंदडी धराववी एवुं लख्युं छे. आ शुं सूचवे छे?... शेरगढवाला महाराजश्री गिरधरलालजी ए स्वरूप उपर कोई प्रकारनो हक के दावो धरावता नथी एम एमनुं खुल्ला शब्दोमां हमो प्रत्ये बोलवुं थयुं छे... एमनी तकरार एटली ज छे के तेओश्री जणावे छे के सात स्वरूपनी सेवा अने भेट वैष्णवो तरफथी मले छे तेमां छठ्ठा घरने मलती सेवा भेट लेवानो, तिलकायित तरीके हक तेमनो ज छे अने सुरतवाला महाराजश्रीने ते लेवानो हक नथी... सुरतमां हाल बिराजता महाराजश्री गो. श्रीव्रजरत्नलालजीना फई.. श्रीजसोदा बेटीजीए 'सात स्वरूपोनी कहाडी भेट तथा मनोरथ भेट नी व्यवस्था बाबत सप्रमाण विवेचन' ए नामनुं लघुपुस्तक संवत १९६५ मां छपावेलुं छे'' (वहीं पृष्ठ ५९-६३).

उस लघुपुस्तकके आद्यन्त पृष्ठोंकी प्रतिलिपि :

અવશ્ય વાંચી સંશય દૂર-કરો-અને-કૃતાર્થ થાઓ.

—શ્રીનાથજી—

શ્રીબાળકૃષ્ણો વિજયતે

સાત સ્વરૂપોની કાહાડી ભેટ તથા

મનોરથ ભેટની વ્યવસ્થા

બાબત સપ્રમાણ

વિવેચન.

છપાવી પ્રસિદ્ધ કરનાર.—

સુરતવાળા શ્રી બ્રિજરત્નલાલજીના વાલી
શ્રીજશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી
તેમના ટ્રસ્ટીઓ—

સંવત—૧૯૬૫ કાર્તિક-શુદી ૧

પ્રિન્ટિંગ પ્રેસ કાંદાવાડી

અમૂલ્ય—

૩ મુંબાઇના વૈષ્ણવોએ જેને સુસ્ત મોકલવાનું અનુકુલ ન પડે તેમણે શ્રીમુંબઇમાં ભોઈવાડામધે હમારા શ્રીજદુનાથજી માહારાજના મંદીરમાં જમા કરાવવી અને તે બાબતની ત્યાથી હમારી સુરત ખાતાની પહોચ લેવી.

લી૦ વૈષ્ણવોના દાસનાદાસ,

શ્રીયશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી છપાવનાર,

તેમના ટ્રસ્ટીઓના ભગવત સ્મર્ણ.

વિનંતી.

આ લેખમાંની સર્વ હકિકત સુરતવાળા શ્રીજદુનાથજી મહારાજના બેટીજી મહારાજ શ્રીજશોદા બેટીજી જેઓ શ્રીમગનલાલજી મહારાજના સગીર લાલબાવા શ્રીબ્રિજરત્નલાલજીના વાલી હતા તેમણે ગ્રંથોનું અવલોકન કરીને વૈષ્ણવોપર કૃપા કરીને એકઠી કરી હતી અને જે સમયે સર્વ કાર્ય પુર્ણ થયુ અને છપવા આપવા માટે કાંઈ વિલંબ નહતો તે સમયે તેમના પતિનો ગોકુળવાસ થયો અને તે લૌકિક આધિ વ્યાધિઓથી પોતાનુ શ્રીઅંગ ઘેસઈ ગયું તેથી કરીને પોતે તૈયાર કરેલું કાર્ય પોતાની હયાતીમાં છપાવી શકયા નહિ પણ પોતાના અંત સમયે અમોને ટ્રસ્ટીઓ નીમીને આ લેખ જેમ બને તેમ તાકીદે છપાવીને વૈષ્ણવોને મફત વહેંચવા આજ્ઞા કરી જેથી અમોએ આ ગ્રંથ છપાવ્યો છે તેમાં જે આજસુધીની ઢીલ થઈ છે. સુજ્ઞ વૈષ્ણવો ક્ષમા કરશે.

-બ

...ણવ

...ના કરી છે કે "...

કંથ મહારાજો હે." માટે હરિ, ગુરૂ

...ડા ઉતરી વિચારે

નિજજનને કૃપામાંહ નહી મ...

શ્રીજદુનાથજી જીવન જગ જાણી

આ શિ... ઘણાં પોળ કીર્તન...

आलोच्य ग्रन्थके पूर्वोद्धृत आमुखमें लिखा गया है - ''वर्तमान

शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे...''. इस शब्दावलीद्वारा पाठकके हृदयमें ऐसा आभास प्रकट करनेका प्रयास किया गया है कि आलोच्य ग्रन्थके विधान या निष्कर्ष साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें दीक्षित व्यक्तिद्वारा किये गये हैं. अत: हमें थोडा सा यह भी देखना है कि अन्य परम्पराओंको थोडी देरके लिए भूल कर भी केवल सूरतके घरसे भूतकालमें क्या-क्या विधान-प्रशंसा-निष्कर्ष प्रकट हुए थे! यदि उन सभीसे विरुद्ध विधान तथा निष्कर्ष इस ग्रन्थमें प्रकट हुए हों तो सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें भी जैसे ग्रन्थगत सिद्धान्त परम्परया अधीत या अध्यापित थे उनसे नितान्त विरुद्ध ही है !

नडियाद के केसमें पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री द्वारा दी गई साक्षी दि. २-४ नवंबर ४६ (का हिन्दी अनुवाद)

पू.पा.म.श्री : निवेदनमें स्वयंके स्वत्व की निवृत्ति नहीं होती होनेसे स्वयंके उपयोगमें उन वस्तुओंको लिया जा सकता है. निवेदनमें स्वत्वकी निवृत्ति होती नहीं यह बात श्रीकल्याणरायजी स्पष्ट रीतिसे समझाते हैं. अब जो प्रभुको अर्पित की गई वस्तु दान बन जाती होती तो हमें उन्हें उपभोगमें लानेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे नहीं सके (पृ.५) सम्प्रदायके अनुसार किये गये समर्पणमें अर्पण की गई वस्तु अर्पणकर्ताके पास रहती हैं.

वकील : आपके कथनानुसार वैष्णवद्वारा श्रीठाकुरजीको जो मिल्कत अर्पण की जाती है उसपरसे उस (वैष्णव) की मालिकी हट नहीं जाती. क्या यह सच है?

पू.पा.म.श्री : वैष्णवके घरमें बिराजते ठाकुरजीके बारेमें पूछा जा रहा है कि गुरुके घर बिराजते श्रीठाकुरजीको उद्देश्य करके यह प्रश्न है?

सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श तथा से.दे.वि.सारसंग्रह कोडपत्रसहित.

फलाकांक्षा एवं कापट्य को छोडकर अपने समस्त द्रव्यका प्रभुके लिए विनियोग करना वित्तजा सेवाका स्वरूप है. तब जिस प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु पतिद्वारा प्रदत्त द्रव्यसे सामग्री लाकर प्रभुको अंगीकार करनेमें पत्नीकी तनुजा सेवामें बाधा नहीं तथा पतिको भी उस द्रव्यको देनेमें उसकी वित्तजा सेवामें बाधा नहीं, उसी प्रकार एक वैष्णवद्वारा भगवत्सेवामें विनियुक्त करनेके हेतु दूसरे वैष्णवको सामग्री दिये जानेपर प्रभुद्वारा उस सामग्रीका अंगीकार होनेमें बाधा नहीं होनी चाहिये. तब किशोरीबाईकी वार्तामें यह उल्लेख कैसे आया? ''...यामें यह जताये जो वैष्णवको औरकी सत्ताकी सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. ओर कछू वैष्णवपेंते लेके श्रीठाकुरजीकों विनियग न करावनो, सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करे.''

उत्तर : ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' की व्याख्यामें समागत पंक्तियां मानसीकी साधिका तनजा, वित्तजा कौन है व कौन मानसीकी साधिका नहीं है यह बतलाने आयी हैं. किशोरीबाईकी

वकील : यह प्रश्न श्रीठाकुरजी वैष्णवके घर बिराजते हों या अन्य कोई वैष्णवके घर बिराजते हों, श्रीगोस्वामी बालकके यहां बिराजते हों, पुष्टिमार्गीय मंदिरोंमें बिराजते हों, अर्थात् जहांजहां पुष्टिमार्गीय स्वरूप बिराजते हों उनके बारेमें है.

पू.पा.म.श्री : गोस्वामी बालकोंके घरमें बिराजते स्वरूपोंको वैष्णव अर्पण कर ही नहीं सकते. परन्तु गुरुओंको ही भेट दी जाती है. अत: वहां देनेवालेकी मालिकी रह नहीं जाती... और वहां 'अर्पण' नहीं परन्तु 'भेट' वापरा जाता है. खुदके घर (अर्थात् एक वैष्णवके घर) कोई स्वरूप बिराजता हो तो उस स्वरूपको अपने उपयोगमें लानेसे पहले अर्पणकर्ताका स्वत्व रहता है... 'भेट' और 'अर्पण' ये दोनों पृथक् हैं. भेट करनेपर देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है और लेनेवालेका स्वत्व पैदा होता है. और समर्पण करनेपर देनेवालेका स्वत्व कायम रहता है. अत: दोनों एक अर्थमें कही दो बातें नहीं...

वकील : साम्प्रदायिक किसी भी मन्दिर कि जिसमें गो.बा. हों या न हों ऐसे किसी भी मंदिरमें श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिए वैष्णव भेट धर सकते हैं या नहीं अथवा जिन मंदिरोंमें गो.बा. हों उन्हीमें नहीं दे सकते?

पू.पा.म.श्री : कहीं भी नहीं

(पृष्ठ : ४,८, तथा १८).

वार्तामें समागत पंक्तिया भगवानके लिये दूसरे द्वारा प्रदत्त सामग्रीको अंगीकार करानेके निषेधमें हैं, अत: दोनोंका प्रतिपाद्य विषय भिन्न है... यह नियम सार्वत्रिक है अथवा संकुचित? सार्वत्रिक यदि हो तो इसी प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु गुरु शिष्यको द्रव्य नहीं दे सकते हैं तथा न तो गुरु शिष्यको द्रव्य दे सकते. पतिद्वारा प्रदत्त सामग्रीको पत्नी प्रभुको अंगीकार न करावे. पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिका प्रभुसेवामें विनियोग न करे इत्यादि आपत्तिया आती हैं... प्रकृतमें किशोरीबाई को जिस वैष्णवने ठाकुरजीके लिए सामग्री दी है वह किशोरीबाईके परिवारका है या शिष्य है इसमे कोई प्रमाण नहीं. (पृ.१०-११)

(यहां तुलनीय है कि परम्परया अधीत ग्रन्थभिप्राय में पू.पा.महाराजश्रीने समर्पण और भेटका पृथक्करण निरूपित किया था. एक वैष्णवद्वारा अपने गुरुको जब भेट की जाती है तब वहां शिष्यके स्वत्वकी निवृत्ति स्वीकारी थी. गुरुके ठाकुरजीको वैष्णव अर्पण नहीं कर सकते थे यह भी स्वीकारा था. अर्पण करनेपर स्वत्वकी निवृत्ति नहीं नहीं होती यह भी स्वीकारा था; जैसे पतिपत्नी या मातापिता-सन्तति के अविभक्त स्वत्ववाली सम्पत्ति अर्पणार्थ देनेपर स्वत्वनिवृत्ति नहीं होती. ये सारे पूर्ववर्णित सिद्धान्त परम्पराधीत थे अथवा अधुनाप्रकाशित सिद्धानत? यदि पूर्ववर्णित तो अधुनाप्रकाशित अपरम्पराधीत अपसिद्धान्त हैं. और यदि अधुनावर्णित सिद्धान्त हो तो यह कौन सी विच्छिन्न परम्परा है जो पुनरुज्जीवित हुई है! - इसका खुलासा देना पड़ेगा.

यह ठीक है कि पहले कही सारी बातोंको इससे अविरोधसे लेने की शर्त रखी गई है. परन्तु पूर्वस्वीकृति या इस ग्रन्थके बीच किसी एकको अज्ञान या स्वार्थ से प्रेरित स्वीकारना होगा. इसमें सच क्या यह तो ग्रन्थकार ही बता पायेंगे !

(गो.श्याम))

ता. २-१२-८० के दिन श्रीव्रजरत्नदास परीखकृत पुस्तकार्थ प्रदत्त आशीर्वचनमें पू.पा.महाराजश्री आज्ञा करते हैं - ''आ पुस्तक अमे साद्योपान्त वांची गया छीए अने अमने लाग्युं छे के पुस्तक सामान्य शिक्षित वैष्णवने पण लीलानुभावन करवा माटे अति उपयोगी थई पडशे. पुस्तकमां ज्यां आवश्यक सुधारा करवा जणाया ते अमे कराव्या छे. आवुं सुंदर पुस्तक प्रकट थवाथी अमने घणो आनन्द थाय छे.''

साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् परम्परयाध्ययनप्राप्त बोधके अनुसार सेवाद्वैविध्य है या सेवात्रैविध्य एतद्विषयक ऊहापोहके सन्दर्भमें यहां एक मजेदार वदतोव्याघात उभर कर आता है :

श्रीव्रजरत्नदासभाई परीखकृत पुस्तक, जो पू.पा.महाराजश्रीद्वारा अभिनन्दित है

... पोतानुं घर व्रज-गोकुल छे अने घरमां ज्यां श्रीठाकोरजी बिराजे छे त्यां होंशे-होंशे पहोंची जई, श्रीयशोदामैयानी आज्ञा लई, श्रीबालकृष्णलालने लाड लडावीए छीए तेवी भावनाथी चित्तने सेवामां जोडवुं. अथवा नंदरायजीना आपणे पाडोशी छीए. श्रीयशोदामैयाए श्रीबालकृष्णने कृपा करीने थोडो समय खेलाववा आपया छे, तेमने आपणा घेर पधरावी लाव्या छीए - तेवा व्रजभक्तना भावथी चित्तने सेवामां जोडवुं... श्रीमहाप्रभुजी सेवाना मुख्य बे प्रकार बतावे छे (१) साधनरूपा सेवा (२) फलरूपा सेवा. साधनरूपा सेवा शरीर अने द्रव्यना विनियोगद्वारा थाय छे. ते जातेज गोपीजननी भावनाथी प्रेमपूर्वकअदीनताथी करवी जोईए. स्वमार्गीनी रीते करवी. कल्पित प्रकारे न करवी... आम शरीर अने द्रव्य द्वारा सेवा करतां करतां भगवत्कृपाथी ज्यारे मन एकार्ग थई तल्लीन थई जाय त्यारे मानसी सेवा जे फलस्वरूप छे ते आपोआप सिद्ध थाय छे. (पृ.११-१२)

सेवा-देवद्रव्यादि विमर्श तथा से.दे.विमर्श-सारसंग्रह कोडपत्रसहित

ऐसी स्थितिमें फलरूपा और साधनरूपा इस प्रकारसे गणना करनेपर सेवा दो प्रकारकी होती है. मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार सेवाकी गणना करनेपर सेवा तीन प्रकारकी होती है. ''उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति'' ऐसा श्रीप्रभुचरणोंने लिखा है... इस वाक्यमें द्विवचनका प्रयोग होनेसे तनुजा और वित्तजा इस प्रकारसे साधनरूपा दो प्रकारकी निश्चित होती है. अतः मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार तीन प्रकारकी सेवा मनःकल्पित नहीं किन्तु प्रामाणिक है (पृ.८९).

वित्तको वेतनके रूपमें देकर दूसरे पुरुषके द्वारा करायी गयी एक. वित्तको वेतनके रूपमें ग्रहण कर की हुई सेवा दूसरी. ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न''-ऐसी दोनों सेवायें मानसीकी साधिका नहीं. सारांशः क्रीत तनुजा और विक्रीत तनुजा मानसीके साधन नहीं यह कहना अभिप्रेत है. अतएव सेवाका मूल्य देकर करायी गयी सेवा द्रव्यदाताकी वित्तजा सेवाके अन्तर्गत होगी अतः वहांपर द्रव्यदाताको तनुजा सेवा करना आवश्यक है. (पृ.५-६).

इस तरह हम देख सकते हैं कि सन '८०तक सेवाके जो दो ही प्रकार वे कहनेको वैसे यहां तीन हुवे हैं परन्त शान्त चित्तसे विचारनेपर केवल तीन नहीं रह जाते हैं. यह कैसी वंचना स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके साथे की जा रही है! यथा--

(१) केवल स्वतनु केवल स्ववित्त द्वारा सम्पन्न मानसीसाधिका सेवा (उदाहरणतया अधिकांश निष्ठाशील वैष्णवोंद्वारा अनुष्ठित).

(२) स्वतनुवित्तसहकृत परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअबाधिका वित्तजा सेवा (उदा. सवसिद्धान्त-निष्ठाबोधरहित देवलकमोहित प.भ.धनिकों द्वारा अनुष्ठित).

(३) स्वतनुवित्तसहकृत परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअबाधिका तनुजा सेवा (उदा. कतिपय गो.महाराजों तथा अबोध अकिंचन भावुक वैष्णवोद्वारा भी अनुष्ठित).

(४) स्वतनुवित्तासहकृत परवित्त-परतनुद्वारा क्रीता-विक्रीता मानसीअसाधिका नामैककरणिका सेवा (उदा. गो.बालकोंके नाममात्र स्वामित्ववाली - कलोल, भरुच जैसी सूरतकी - हवेलिओमें अनुष्ठित).

(५) परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा तनुजा सेवा (उदा. 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' त्वसाधिका!).

(६) परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा वित्तजा सेवा (उदा. देवलकव्यामोहित अधिकांश वैष्णव जनता जिसे आज परमधर्म समझती है).

इस तरह तीनकी जगह छह प्रकार की अनिषिद्ध सेवायें अब अकस्मात् परम्पराधीत-ग्रन्थ-निष्कर्षतया 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण' हो रही हैं!

वैसे प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी, जो स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको निष्ठापूर्वक जीनेका एक मूर्तिमान आदर्श थे, उनके वचनामृत इस सन्दर्भमें अतीव मननीय हैं. वे आज्ञा करते हैं - ''पूर्ण पुरुषोत्तमका ही भजन

यह (स्वत: पुरुषार्थरूप) भक्ति है. इस लोककी या परलोककी किसी भी फलाशाके बिना प्रभुमें अपने चित्तको जोड़ देना, तत्प्रवण... श्रुतिमें किया गया है. ऐसी सभी श्रुतियोंके आशयको लेकर श्रीमहाप्रभुने सिद्धान्तमुक्तावलीमें 'कृष्णसेवासदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा' इत्यादि का समावेश किया है. (श्रीगोविन्दप्रभुकृत २४ वचनामृतान्तर्गत ८वे वचनामृतका हिन्दी अनुवाद)

कहां तो फलांकाक्षारहितताके सन्दर्भमें तनुवित्तजा सेवाको निहारनेकी उनकी भक्तिमयी दृष्टि और कहां उनकेद्वारा सुपाठित होनेपर भी उनके ही आत्मजोंकी 'तनुवित्तजा'के दिव्यैक्यको भंग करके स्वसेव्य प्रभुकी सेवार्थ परवित्त ऐंठनेकी वकालतकी वृत्ति ! अस्तु भगवदिच्छा !

कुल मिला कर बात यही है कि अधुनाप्रकटित ग्रन्थोक्त बातें यदि परम्पराधीत सिद्धान्त होता तो श्री आर.के.भट्टकी 'श्रीमद् वल्लभाचार्यके दार्शनिक आचार की परम्परा' पुस्तकका पुन:प्रकाशन क्यों किया गया? वह भी श्रीगोविन्दप्रभु ट्रस्ट (सुरत) द्वारा 'उज्ज्वलमणि' तया प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी द्वारा प्रशस्त होनेके उल्लेखके साथ क्यों यह पुस्तक प्रकाशित की गई? भट्टजीके इस पुस्तकको 'अत्युत्तम' कहकर बिरदानेवाले सुरतके घरके षष्ठपीठके दावेमें मौन रहनेवाले पू.पा.तिलकायतश्री को क्या खुश करने के लिए? क्या श्रीबालकृष्णजी-श्रीकल्याणरायजी-श्रीवल्लभरायजी अपने पितृचरणको परम्परया अधीत नहीं मानते? और यदि यह विरुद्ध न हो तो द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थके पृष्ठ ११८-११९ पर यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि सेवार्थ धन लेना (तनुजा सेवा) या देना (वित्तजा सेवा) दोनों ही वर्जित प्रकारकी सेवा है. गुरुके सेव्य स्वरूपको नहीं प्रत्युत गुरुको ही जो भेट धरनी हो सौ वैष्णवोंको धरनी चाहिये. सार्वजनिक देवालयके प्रकारसे अन्योंको दर्शन कराना इस ग्रन्थमें सिद्धान्तविरुद्ध बात मानी गई है. (द्रष्टव्य: पृष्ठ ७४-७५, ११२-११३ तथा ११८-११९)

अब परन्तु लगता है कि स्वजनक-श्रीगोविन्दप्रभुप्रशस्त 'उज्ज्वलमणि' उनके आत्मजोंकी धारणाके अनुसार धूलिधूसरित या

स्वार्थविरुद्धकर्दमलिप्त हो गई है. अन्यथा यह नयी परम्परा अकस्मात् कहांसे प्रकट हो गई? अन्यथा उनके तीनों आत्मज अपने उज्ज्वलमणिप्रशंसक पितृचरणकी परम्परासे विरुद्ध परम्पराके साथ अपना नाम कैसे जोड पाते!

अहमदाबादवाले प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीरणछोडलालजीके वचनामृतोंका तो दो बार सुरतसे प्रकाशन हुआ, बावजूद इसके कि ४८४ तथा ४८७ वें वचनामृतोंमें स्पष्ट उल्लेख किया है कि ''... अपने यहां भी सन्मुख भेट जो होती है वह देवद्रव्य है और उसे सामग्रीके काममें नहीं लाया जाता. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजीके घरमें तो अभी भी यह नियम पाला जा रहा है... हम श्रीनाथजीके सन्मुख जो भेट धरते है वह श्रीमहाप्रभुजीके पादुकाजीको धरते हैं तो भी उसे अलंकारादिमें वापरा जाता है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुख भेट धरनेमें बहोत अनाचार होता है (४८४). श्रीठाकुरजीके निमित्त कुछ भी मांगना नहीं चाहिये या कुछ भी देना नहीं चाहिये. इस रीतिसे प्राप्त द्रव्य देवद्रव्य बनता है. श्रीठाकुरजी उसे अंगीकार नहीं करते अत: वह सामग्री महाप्रसाद बनती नहीं और लेनेवालेकी बुद्धि बिगडे बिना रहती नहीं (४८७)''

लगता है परम्परया अधीत सिद्धान्त इन वचनामृतोंके प्रकाशनके समय विस्मृत हो गये होंगें !

वैसे एक हकीकत यह भी है कि इन वचनामृतोंकी मूल प्रतिमें स्पष्टतम शब्दोंमे लिखा था : ''छठ्ठे घरके श्रीकल्याणरायजी हैं. श्रीयदुनाथजीकी आसक्तिका यह स्वरूप है. और उन्होंने चुपचाप इनकी सेवा की थी. उन्होने श्रीबालकृष्णलालजीको नहीं स्वीकारे उसका कारण यह था कि यह बालस्वरूप है और रास(मण्डल) में उस स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव नहीं, क्योंकि रासमें तो प्रौढ स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव है. अब जो घर होता है वह बालकसे होता है श्रीठाकुरजीसे नहीं (६२)'' सुरतके घरकी षष्ठपीठतया लाभपूजाभिवृद्ध्यर्थ क्योंकि स्वसेव्य श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनिधि तथा स्वयंको 'श्रीयदुनाथगृहपरम्परोद्भव' कहा जा रहा है उसमें यह विधान आडे आ रहा था, सो प्रथम आवृत्ति इस अंशके निष्कासनके साथ

प्रकाशित करवायी गयी थी. बादमें जब 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य' पुस्तकमें मैने सभी स्वमार्गियोंका इस छलकपटपर ध्यान आकर्षित किया तब द्वितीयावृत्तिमें इस वचनामृतको स्वस्थानच्युत करके परिशिष्टतया ग्रन्थान्तमें मुद्रित करवा दिया गया था. उल्लेखनीय, परन्तु, यही है कि परम्पराधीत सिद्धान्तनिष्कर्ष तब यदि ज्ञान थे तो अपनी असहमति प्रथमावृत्तिमें न सही द्वितीय संशोधित आवृत्तिमें तो प्रकट करनी थी! इससे सिद्ध होता है कि 'सेवा दे.द्र.विमर्श' ग्रन्थ परम्पराधीत सिद्धान्तबोधके आधारपर लिखा गया नहीं है.

हम कह चुके हैं कि संयुक्त घोषणापत्रमें तनुवित्तजैक्यका सिद्धान्त श्रीबालकृष्णलालजीने अपने हस्ताक्षरोपेत पत्र दि. २२-१०-८६ द्वारा मान्य किया था. इससे सिद्ध होता है कि तब तक श्रीबालुराजाका अध्ययन तथाकथित परम्पराके अनुसार नहीं हुआ होगा. अब, अर्थात् सन् '८६-९२ वर्षोमें परम्पराप्राप्त सिद्धान्तग्रन्थोंकी ग्रन्थिओंका निराकरण अकस्मात् दैवीवाणीके सदृश प्रकट हुई परम्परासे हुआ भी स्वीकार लें तो भी बात बनती नहीं है, क्योंकि हाल ही में गतवर्ष श्रीहरिरायजी(जामनगर)के द्वारा पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें परिग्रहीत पक्षोंको अभिनन्दनीय मानकर उन्हें प्रशस्तिपत्र प्रदान किय गया था. उनके द्वारा परिग्रहीत पक्षोंकी सूचिपर भी दृष्टिपात इस प्रसंगमें आवश्यक हो जाता है :

(१) पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार मानसीकी साधनरूपा जो सेवा उपदिष्ट हुई है वह एक तनुवित्तजा है या दो : (क) तनुजा (ख) वित्तजा हैं? -इस संशयमें त्रैविध्यपक्षको श्रीहरिरायजीने अधिकारिभेदवश मान्य किया था. अर्थात् उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा है, मध्यमाधिकारी तनुजा या वित्तजा एवं जधन्याधिकारी लोकार्थी बनकर.

(२) भगवत्सेवा सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें ही करनी चाहिये. (ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंद्वारा की जाती वित्तजा सेवाको स्वीकारनेपर उनका मालिकाना हक सूरत सदृश हवेलिओंपर स्वीकारना होगा अन्यथा स्वीकृत परिभाषाके अन्तर्गत वह सेवा ही सिद्ध नहीं होगी.)

(३) गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ अर्थात् उभयार्थ होते हैं.

(४) पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ता भगवत्सेवाद्वारा भेट या सामग्री उपार्जित कर सकता है या नहीं इस संशय में तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' श्रीहरिरायजीद्वारा ग्रहीत पक्ष यह था कि अधिकारिभेदवशात् उत्तमाधिकारी नहीं बनाता पर जधन्याधिकारी तो बनाता ही है. इस अधिकारीभेदके अन्तर्गत भी आजीविकातया भगवत्सेवा करनेवाला देवलक होता है यह भी स्वीकारा था ही. (जबकि अब इस नूतन पक्ष के अनुसार देवलक नहीं होता. ऐसी स्थितिमें वस्तुतः होता हो कि नहीं होता यह दूसरी बात है, कमसे कम एक वर्ष पूर्व परम्परया अधीत विषय या तो विस्मृत या अज्ञात था इसमें सन्देह नहीं. अन्यथा चि. हरिरायजीको तो अभिनंदित नहीं ही किया जाता. अथवा यह परम्परया अधीत सिद्धान्तमूलक निष्कर्ष न होकर स्वयं कही जधन्याधिकारी सिद्ध न हो जायें ऐसा प्रतिष्ठाहानिभीतिमूलक तो नहीं, साथ ही साथ आजीविकातया अनुष्ठित भगवत्सेवाद्वारा आर्थिक लाभके मोहपर भी काबू न पानेके कारण प्रकट हुआ पक्ष तो यह कहीं नहीं है!)

(५) स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण विषयके अन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' चि. हरिरायजीका पक्ष था कि सरकारी कानूनको स्वीकार भगवत्सेवार्थ पेम्फलेट-रसीदद्वारा परवित्तग्रहण देवलकत्वापादक होता है. (वह भी इस नूतन ग्रन्थ में छोडा गया है स्वार्थसंरक्षणार्थ!)

(६) आचार्यवचनाशय-निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत जो प्रामाण्यव्यवस्था भी तदन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' चि. हरिरायजीसे मैने पार्लेवाली सभामें यह पूछा था कि उन्हें पू.पा.म.श्रीके विधान प्रमाणतया मान्य हैं कि नहीं? क्योंकि स्वयं उन्हींके परिवारकी नडियादवाली हवेलीके केसमें एक मान्य विशेषज्ञकी हैसियतमें पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने गवाही दी थी!

पू.पा.महाराजश्रीसे वकीलने पूछा था--''किसी भी पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा तथा नेगभोग के लिए तथा श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहार्थ भेट इत्यादि देकर वित्तजा सेवा करता हो तो; और उस मंदिरमें तनुजा सेवा करता हो तो वह मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं है ऐसा आपका कहना है?'' इसपर पू.पा.म.श्रीने प्रत्युत्तर दिया था--''पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा या वित्तजा सेवा स्वतंत्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है और ऐसी सेवा की जाती हो तो उसे 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कहा जा सकता.''

बिचारे तथाभिनन्दित पु.सि.शं.शि.की वाणी लडखडाने लग गई और अन्तमें ''मुझे इस बारेमें कुछ भी नहीं कहना है'' कहकर शाखाचंक्रमण करना पडा. यदि चर्चासभाकी पूर्वरात्रिको आदरणीय श्रीगोविन्दरायजी (पोरबंदर) के यहां श्रीकल्याणरायजी, श्रीबालकृष्णलालजीने अपने अघोषित प्रतिनिधितया जब चि. हरिरायजीको उपस्थापित करना चाहा था तथा चर्चासभाके संचालनके नियमोंमें संशोधन-परिवर्धनादि संवादस्थापकमण्डलद्वारा करवाये तब इतनी सूचना और दी होती तो यह हाल तो नहीं होता! क्योंकि स्ववचनगोरव या स्ववचनप्रामाण्य स्वयंको अनभीष्ट हो तो बिचारे 'पु.सि.सं.शि.' को चर्चामें वृद्धजनकी गौरवहानिकी भीतिसे लडखडाना तो न पडता! हकीकत परन्तु यही है कि तबतक परम्परया अधीत(!) सिद्धान्तबोधका उदय ही नहीं हुआ था.

'पुष्टिने शीतल छांयडे' में परम्परया अधीत जैसे सिद्धान्तोंका निरूपण हुआ है वह तो विमर्शविशोधनिका एवं क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग में यथावसर आगे चलकर निरुपित करेंगे ही.

कुल मिलाकर इन सभी मुद्दोंका गंभीर आकलन करनेसे मन:प्रत्यय नहीं होता कि मुखपृष्ठपर इंगित पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री इस ग्रन्थके कर्ता हों.

पूर्वमें भी 'कल्याणराय' समानार्थी 'खेमराज' छद्मनामसे अनर्गल बातें

परिपत्रोंद्वारा प्रकाशित करवाई गई तब भी मैने निवेदन किया था कि अधीत भ्रातृत्रयीको यह शोभा नहीं देता. परन्तु अब मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर के अपने मतको, यद्यपि स्पष्टकर्तृनाम्ना न सही फिर भी स्पष्टभाषामें, सो भी अतीव परिमार्जित शालीन तथा निर्वैयक्तिक भाषामें, ग्रन्थ प्रकट किया है वह वस्तुत: जितने भी अभिनन्दन दिये जायें उससे कुछ अधिक ही अभिननदनीयतासे मण्डित है--इसमें सन्देह नहीं.

इस आमुख-दर्पणमें या आगे भी जहां-कहीं मुझे वैयक्तिक सन्दर्भोंमें कुछ चर्चा छेडनेको बाधित होना पडा है या होना पडेगा उसके कारण मेरा मन भीतरसे अपराधबोधसे तो ग्रस्त हो ही रहा है तथा आगे भी होता रहेगा--इसमें संशय नहीं. पर ''दूधका जला छाछको भी फूंक मारकर पीता है'' वेसी ही कुछ मेरी भी मनोग्रन्थियां बंध गई है. अत: सभी सहृदय पाठक इस पर्देकी ओटमें खेले गये नाटकके विवरणको पढकर मेरे प्रति सहानुभूतिपूर्ण क्षमाभाव प्रकट करेंगे. मैं अपने बनते यथाशक्य निर्वैयक्तिक युक्ति-प्रतियुक्तियोंके निर्वैयक्तिक समाधान ही देनेका भरसक प्रयास करूंगा. फिर भी यत्र-तत्र होनेवाले स्खलनकी पूर्वक्षमायाचना मांगना चाहूंगा. सो सर्वबुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णचरणकमलके परागसे मेरे भाव तथा भाषा परिपूत रहें ऐसे शुभमनोरथके साथ.

– गोस्वामी श्याममनोहर

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

सेवाप्रकरण

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

प्रस्तुत प्रकरणमें मुख्यतया विचार्य विषय हैं : श्रीमहाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तमुक्तावलीके प्रारम्भके श्लोक तथा उनपर विरचित श्रीप्रभुचरण, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी, श्रीरघुथानात्मज श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीलालमणिसुत श्रीविठ्ठलरायजी तथा श्रीनृसिंहलालजी की टीकाएं, तदनुसार सर्वप्रथम मूलवचन है --

नत्वा हरि प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धानतविनिश्चयम्[१] ।
कृष्णसेवा[२] सदा[३] कार्या[४] मानसी सा परा मता[५] ।।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा[६] तत्सिद्धयै तनुवित्तजा[७] ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्[८] ।।

कुल मिला कर इन दो कारिकाओंमें (१) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी सिद्धान्तविनिश्चितता (२) उपदिश्यमाण कर्तव्यके कर्म अथवा विषयका स्वरूप (३) उपदिश्यमाण कर्तव्यांगभूत कालका स्वरूप (४) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी कृत्यर्हता तथा आवश्यकता (५) फललक्षण (६)स्वरूपलक्षण (७) साधनलक्षण तथा (८) आनुषंगिक या अवान्तरफल लक्षण--इतनी बातें हैं.

तदन्तर्गत विप्रतिपत्तिग्रस्त अंश प्रायशः ६ठा ७वां तथा ८वां हैं फिर भी प्रमुख तो ७वां अंश ही है सो उसपर ही सर्वप्रथम विचार आवश्यक है :

(१) ''तत्-सिद्धयै तनु-वित्त-जा''

६ठे श्लोकांश ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' अर्थात् 'तत्-

कृष्ण'प्रवणचित्तरूपा सेवा पूर्वप्रकृत होनेसे उसका ही परामर्श 'तत्-सिद्ध्यै' अन्तर्गत 'तत्' पदसे हो रहा है, अथवा फलोपयोगिस्वरूपोपलक्षित 'मानसी सेवा'रूप फलका भी परामर्श प्राचीन टीकाकारोंने स्वीकारा है. किसी भी स्थितिमें 'मानसी सेवा'रूप फलके व्यवहित होनेके कारण स्वरूपद्वारक ही परामर्श उसका शक्य है. इस एक प्रासंगिक निरूपणके बाद अब यथोचित ''तस्य=तत्प्रवणचेतसः अथवा तस्याः=मानस्याः सिद्ध्यै=तत्सिद्ध्यै'' विग्रहके अनुसार अर्थग्रहण करना चाहिये. यहां 'तत्सिद्ध्यै' में चतुर्थीको 'पत्ये शेते' उदाहरणद्वारा ''क्रियया यमभिप्रैति सोपि सम्प्रदानम्'' नियमानुसार लेनी अथवा ''मुक्तये हरिं भजति'' उदाहरणद्वारा ''तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'' नियमानुसार लेनी अधिक उचित है? प्रथम कल्पमें कृष्णप्रवणचित्तसिद्धि एक ऐसा सम्प्रदानकारक बनेगा जिसके पूर्वसिद्ध होनेपर ही तनुवित्तजा क्रिया सम्पन्न हो पाती है अन्यथा नहीं. उल्लेखनीय है कि ''चित्तकी कृष्णप्रवणता'' कृष्णसेवाका स्वरूपलक्षण होनेसे फलावस्था-साधनावस्था उभयसाधारण सिद्ध होगा. अतः अकृष्णप्रवण चित्तद्वारा अनुष्ठित तनुवित्तजा क्रिया कृष्णसेवा ही नहीं रह जायेगी. और यदि कारक क्रियार्थ होते हैं - क्रिया कारकार्थ नहीं, तदनुसार तत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थ तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान यदि उपदिष्ट होता मानना हो तो तदितरप्रयोजनार्थ तनुवित्तजाका अनुष्ठान भी अर्थलग्न ही आ जाता है.

इसी तरह 'तनुवित्तजा'पदद्वारा विवक्षितार्थके बारेमें जो तीव्र विप्रतिपत्तियां उभरी हैं, उस सन्दर्भमें कुछ मौलिक व्याकरणके नियमोंको एक बार हृदयंगम करनेके बाद ही भक्तिमार्गीय सिद्धान्त एवं व्याख्याओं की विवेचना उपकारिणी हो पायेगी.

एतदर्थ 'सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श'ग्रन्थकारका पक्ष 'विमर्श' नाम्ना तथा श्रीमहाप्रभुप्रभृति प्राचीन ग्रन्थकारोंका पक्ष 'विशोधनिका' नाम्ना दिया जायेगा. तदनुसार -

विमर्श : 'तनुवित्तजा'पदसे तनुजा एवं वित्तजा का बोध : यहां तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते ताभ्यां जाता तनुवित्तजा. 'तनुवित्त' पदमें द्वन्द्व समास है,

अनन्तर 'जा' पद आया है. अतः ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' इस नियमके अनुसार 'तनु' और 'वित्त' -इन दोनों पदोंके साथ 'जा' पदका अन्वय होता है. इस प्रकार 'तनुवित्तजा'पदसे 'तनुजा' 'वित्तजा' ये दो सेवाएं मानसीके साधन निश्चित होती हैं.

विशोधनिका : ''चार्थे द्वन्द्वः''-पाणिनिसूत्रके वार्तिक तथा भाष्यमें वार्तिककार तथा भाष्यकार कहते हैं--''चार्थे द्वन्द्ववचने असमासेपि चार्थसंप्रतययादनिष्टं प्राप्नोति 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति'... सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात् सिद्धमेतत्. कथम्? युगपदधिकरणवचने द्वन्द्वो भवतीति वक्तव्यम्''. प्रदीपकारने इसका स्पष्टीकरण इस तरह दिया है कि एक-एक शब्दसे जब एकसाथ कोई एक बात ऐसी कहनी हो, जो समुदायरूप हो, तब द्वन्द्व होता है. ''गाय, घोडा, पुरुष, पशु के प्राण यमराज प्रतिदिन लेता रहता है परन्तु सन्तुष्ट नहीं होता'' वचनमें 'गाय', 'घोडा' आदि पदोमें द्वन्द्व समास नहीं होनेका कारण यही है कि यमराज गायकी अपेक्षा रखते हुए घोडेका अथवा घोडेकी अपेक्षा रखते हुए गायके प्राण नहीं मरता. वैसे दोनों अर्थात् किसी भी प्राणीके प्राण हरता है तो इतरनिरपेक्षतया-स्वतन्त्रतया प्राण हरता है. अतएव ऐसी स्थितिमें 'गाय'-'घोडा' पदोंको द्वन्द्व समासमें जोडा नहीं जाता. प्रत्युत गाय एवं घोडे का भिन्न-भिन्न शब्दोंद्वारा पृथक्बोध ही पैदा होता है.

अतएव 'प्लक्षन्यग्रोधौ' समासके उदाहरणमें द्वन्द्व समासके स्वभावको समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं --''सहभूतावेव अन्योन्यस्य अर्थम् आहतुः न पृथग्भूतौ'' (यहीं) अर्थात् द्वन्द्व समासमें समासघटक दोनों पद परस्पर सहभूत होकर ही अपना एक अर्थ कहते हैं, पृथग्भूत होकर नहीं. इससे समझमें आना चाहिये कि 'तनुवित्तजा'पदमें भी 'तनु'-'वित्त'पद यदि सहभूत होकर ही अपना अर्थ कह पाते हों पृथग्भूत होकर नहीं तो द्वन्द्वान्तश्रुत 'जा' पद भी अपना अर्थ द्वन्द्वघटक सहभूत 'तनु-वित्तसे जन्य'तया ही अपना अर्थबोधन करा पायेगा, पृथग्भूत 'तनु' और 'वित्त' से जन्यतया नहीं. अतः ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्पद्यते''का झंडा हाथमें लेकर दौडनेवाले स्वयं द्वन्द्व समासके अर्थ, स्वभाव एवं नियम से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट

करते प्रतीत होते हैं.

वास्तविकता जबकि यह है कि प्रदीपकारने भी स्वयं 'च'के (१) समुच्चय (२) अन्वाचय (३) इतरेतरयोग (४) समाहाररूप चार अर्थ समझाये हैं. परस्पर निरपेक्ष पदार्थोंका जब क्रियामें समुच्चय होता है, उदाहरणतया, ''गाय, घोडा, पुरुष, पशु (सभी)का यमराज प्राण हरता रहता है'' वाक्यमें परस्पर निरपेक्ष गाय, घोडा आदिका समुच्चय प्राणहरणात्मिका क्रियामें द्योतित हो रहा है. वह 'च'कारके बिना भी द्योतित हो रहा है. अत: समासमें जुड पानेको 'गाय', 'घोडा' आदि पद समर्थ नहीं है. ''न्यग्रोधको देखो' कहकर जब ''और प्लक्षको भी'' कहा जाता है तो अन्वाचयका उदाहरण बनता है. यहां दर्शनक्रियामें न्यग्रोधकी प्रधानता और प्लक्षकी गौणता प्रकट होती है. अत: प्रधान-न्यग्रोध-द्वारक गौणप्लक्षका क्रियान्वय होनसे द्वन्द्वसमासका घटक बन पानेको समर्थ नहीं हैं. क्योंकि प्रधानपद 'न्यग्रोध' 'च' के अन्वाचय अर्थमें प्रयुक्त नहीं है. गौणपद 'प्लक्ष' ही अन्वाचयके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. अत: यहां भी द्वन्द्वसमास नहीं होता. 'च'का तीसरा अर्थ है:इतरेतरयोग. 'इतरेतरयोग' यानि परस्पर अपेक्षा रखनेवाले अनेक पदोंके एक अर्थमें समन्वित होनेपर 'च'शब्दसे द्योतित होती उनकी परस्परसहित्ता. अत: यह द्वन्द्व समासका योग्य उदाहरण है. चतुर्थ समाहारके अर्थमें भी परस्परसहितका भान होता होनेसे वहां भी द्वन्द्वसमास हो सकता है.

अतएव महामहोपाध्याय जयराज न्यायपंचानन भट्टाचार्य समासवादमें इसका स्पष्ट खुलासा देते हैं कि 'च'के चारमें से दो अर्थोमें द्वन्द्वसमास हो सकता है. (१) इतरेतरयोग (२) समाहार. जहां अवयवार्थकी प्रधानता होती है वहां इतरेतरयोगरूप द्वन्द्वसमास होता है. प्रधानता यानि विभक्तिके अर्थसे जुडना. अतएव द्विचन या बहुवचन का प्रयोग इतरेतरयोगद्वन्द्वमें होता है. उदा. 'धवखदिरौ' 'धवखदिरपलाशा:', जहां संहति=सहितना प्रधान होती है वहां समाहारद्वन्द्व होता है. दोनोंकी या दोसे अधिककी सहितता क्योयंकि एक धर्म है अत: वहां एकवचन ओर नपुंसकलिंगका प्रयोग होता है... अतएव 'चार्थे द्वन्द्व' पाणिनिसूत्रमें समुच्चय और अन्वाचय अर्थके अलावा इतरेतरयोग और समाहार ही 'च'के अर्थतया अभीष्ट हैं. समाहार=साहित्य=सहितता तथा

इतरेतरयोग=साहित्यविशिष्टता. अतएव ''धर्मार्थकामादि जो कुछ सम्पन्न करने हों इसके साथ करना'' -इस विधानमें पत्नीका सहभाव ही द्योतित होता है, साहित्य नहीं. अर्थात् पत्नीकी अनुमतिद्वारा भी धर्मार्थकाम सम्पन्न किये जा सकते हैं. जबकि साहित्य यदि विवक्षित हो तो अनुष्ठानक्रियामें सहकर्तृत्व नियत बन जायेगा.

अतएव इस सन्दर्भमें सिद्धान्तकौमुदीतत्त्वबोधिनीकारका भी एक मननीय स्पष्टीकरण है-''... अत: इतरेतरयोग और समाहार में परस्परसाहित्यके विद्यमान रहनेके कारण द्वन्द्वसमास होता है. समुच्चय या अनवाचय में उसके न होनेके कारण द्वन्द्वसमास नहीं होता. फिर भी इतरेतरययोगमें परस्पर साहित्य विशेषण होता है और परस्परसहित द्रव्य विशेष्य. जबकि समाहारमें परस्पर साहित्य प्रधान तथा द्रव्य विशेषण.'' (सि.कौ.तत्त्वबो.द्वन्द्व प्रक.२/२/२९)

इसपर टिप्पणी करते हुए म.म.शिवदत्तशास्त्रीने भी स्पष्टीरण दिया है कि कौमुदीकारद्वारा प्रदत्त ''मिलितानामन्वय: इतरेतरयोग:-समूह: समाहार:'' लक्षणमें 'मिलितानां' का अर्थ है परस्परापेक्षा रखनेवाले उद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. उसके 'अन्वय'का अर्थ है एकधर्मावच्छिन्नतया अन्वित होना. इसीतरह समाहारान्तर्गत 'समूह'का अर्थ है अनुद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. यहां इतरेतरयोगमें क्योंकि उद्भूतावयवभेद समूहकी प्रतीति होती है अत: प्रवृत्तिनिमित्त प्रत्येकवृत्ति धर्म होता है जबकि समाहारमें विभिन्न अवयव अनुद्भूत रहते होनेसे समूहका अतिरिक्ततया भान होता है. अत: समूह ही प्रवृत्तिनिमित्त बनता है.

प्रकृतमें विमर्शकारने भी ''तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते'' कहकर समाहार द्वन्द्व तो स्वीकारा नहीं है अत: 'तनुवित्ते' द्वन्द्वमें तनु और वित्त को पहले उद्भूतभेद तथा प्रत्येकवृत्ति पदप्रवत्तिनिमित्तधर्मवान मान कर पश्चात् एकधर्म=तनुवित्तत्वरूपसे अपने प्रथमा द्विवचन अथवा तृतीया द्विवचनमें अन्वित मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें त्रिकालमें भी ''तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा'' का अर्थ ''तनुजा और वित्तजा'' निकल ही नहीं पायेगा.

ऐसी स्थितिमें ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' नियम भी केवल इतनी ही बात कह पायेगा कि जिस सेवा=क्रियाका अनुष्ठान तनु-वित्तसे समपन्न करना है वह तनुरहित वित्त अथवा वित्तरहित तनुसे सम्पन्न नहीं हो सकता. वह क्रिया प्रत्येकसे अभिसम्बद्ध होनी चाहिये. अतः प्रत्येक साहित्यसे ही उसे सम्पन्न करना पडेगा. भूलना नहीं चाहिये कि द्वन्द्व यहां तनु-वित्तका है, तज्जन्य क्रियाका नहीं. ऐसी स्थितिमें ''तनुजा और वित्तजा'' अर्थ करना पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि-कैयट-नागेशादिके श्राद्ध किये बिना शक्य नहीं है.

इतरेतरयोग द्वन्द्व कौमुदीकारके अनुसार भी, ''मिलितानाम् अन्वयः'' अर्थात् प्रकृत सन्दर्भमें द्विपद द्वन्द्व होनेसे ''मिलितयोः अन्वयः'' तदनुसार ''परस्परापक्षयोः तनुवित्तयोः उद्भूतावयवभेदयोः=तनुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-वित्तानुयोगिक-वित्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतन्वनुयोगिकभेदसमूहरूपयोः तनुवित्तयोः सेवारूपक्रियानिष्ठज-न्यतानिरूपितकरणतावच्छेदकरूप=एकधर्मावच्छिन्नत्वेन=तनुवित्तत्वेन अन्वयः'' अकाम-गलेपतित है.

यदि यह नहीं स्वीकारते तो ''समस्तपितृणां निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकावाप्त्यादि-कन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये अनेन वरेण अस्यां कनयायाम् उत्पादयिष्यमाण-सन्ततया द्वादशावरान् द्वादशपरान् पुरुषांश्च पवित्रीकर्तुम् आत्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये अमुकगोत्रोत्पन्नाय विष्णुरूपिणे रामकृष्दासनाम्ने वराय इमां लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां तुभ्यमहं सम्प्रददे'' के संकल्पपूर्वक दिये गये कन्यादानके बावजूद कोई स्वैरिणी ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' व्याकरणनियमकी दुहाई देकर रामकृष्णदासनामक स्वपतिके अलावा किसी 'रामदास' एवं 'कृष्णदास' नामक जारपुरुषोंसे सन्तति प्रकट करने लगे तो भी द्वादशावर द्वादशपर पुरुषोंके निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकफलावाप्तिपूर्वक स्वयं कन्यादाताको श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतिरूपफल मिलना चाहिये !

अन्यथा अधिकसे अधिक यहांभी यह तो कहा ही जा सकता है कि उक्त फलप्राप्तिसाधिका केवल रामकृष्णदासरूप वरसे उत्पन्न सन्तति होगी.

एतावता 'रामकृष्ण'रूप द्वन्द्वके अन्तमें श्रूयमाण 'दास'पद, क्योंकि राम और कृष्ण उभयसे अभिसम्बद्ध है एतावता रामदास एव कृष्णदास नामक उपपतियोंके साथ रमणको कथमपि असंकल्पित अधर्म तो कहा ही नहीं जा सकता! तब तो लोग व्याकरणशास्त्रको व्यभिचारशास्त्र ही मानने लग जायेंगे! द्वन्द्वसमासका ही द्वन्द्वान्त कर देंगे!

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी श्रीमहाप्रभुद्वारा संकलित प्रकारसे स्वतनुवित्तजन्या सेवाको मानसीकी साधिका तथा ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण...'' नियमानुरोधवश तनुजा और/अथवा वित्तजा को अनिषिद्ध मान रहें हैं - यह उल्लिखित स्वैरिणीसदृश ही अर्थघटन है!

(।।) श्रीमत्प्रभुचरण-विरचित-विवृति

(१) 'स्वसिद्धान्ते'ति... स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः (२) तमेवाहुः 'कृष्णसेवे'ति. फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते... (३) सेवा हि सेवकधर्मः; तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः 'सदे'ति. (४) आवश्यकार्थण्यत्प्रत्यय-यान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते. (५) साच फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र 'मानसी सा परा' फलरूपेत्यर्थः, यथा व्रजसीमन्तनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं ''ता नाविदन् मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्'' इत्यादि. (६) एतदेव सेवास्वरूपम् इत्याहु 'चेत' इति. (७) उक्त-सेवा-साधने इतरे इत्याहुः 'तदि'ति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता चापरा -एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्त पदम्. एतेन भगवदर्थ निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. (८) एतादृशस्य अवान्तरफलं भवतीत्याहुः 'तत' इति. अहन्तामम्तात्मकः संसारः नतु प्रपञ्चात्मकः; तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्. तन्निवृत्यानिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायामभिनिविष्टष्य यद्यपि अनभिलषिते ते

तथापि वस्तुस्वभावाद् भवत इति भाव:. (सि.मु.वि.१-२).

(१) इस प्रथम अंशमें तो यही केवल मननीय है कि जिस तरहका अनिश्चितरूप कृष्णसेवाका आज हमने बना रखा है उससे कितने विपरीत भाव पिता-पुत्रके हैं.

(२) द्वितीय अंशमें मननीय यह है कि श्रीप्रभुचरणने स्पष्ट शब्दोंमें कृष्णसेवाके, अन्यशेषतया नहीं प्रत्युत स्वत:पुरुषार्थत्वेन, अनुष्ठानको ही स्वसिद्धान्त माना है. धर्मप्रचारार्थ या आजीविकोपार्जनार्थ अन्यशेषतया कृष्णसेवाका अनुष्ठान स्वसिद्धान्त न होकर सर्वथा अपसिद्धान्त है.

(३) तृतीय अंशके मनन करनेपर यह भी स्पष्ट हो ही जाता है कि आधुनिक कालमें पुरुषोत्तममास (=मनोरथोंके आडंबरद्वारा द्रव्योपार्जनकी सीझन) के कालपरिच्छेदको अथवा दैनंदिन आठसमयकी झांकीके कालपरिच्छेदमें अथवा वार्षिक उत्सवोंके कालपरिच्छेदमें वैष्णवोंको वित्तजासेवा करनेके लिये जैसे उकसाया जा रहा है वह भी अपसिद्धान्त है. क्योंकि परिच्छिन्नकालके निमित्तानुरोधवश नहीं प्रत्युत कालापरिच्छिन्न आत्मस्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाकी कर्तव्यताका ही सिद्धान्त है. वह तो अर्थोपार्जनार्थ स्ववित्तसामर्थ्यसे बढा-चढाकर भगवत्सेवाका प्रदर्शन करनेवाले सार्वजनिक मन्दिरोमें नहीं परन्तु अपने घरमें ही संभव है.

(४) चतुर्थांशमें विशेषतया उल्लेखनीय यही बात है कि एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, षड्विध, नवविध या द्वादशविध भी सेवा क्यों न हो, स्वमार्गप्रवर्तक पिता-पुत्रके अनुसार सेवा स्वमार्गिओंका एक ऐसा कर्तव्य है जिसे यथोक्तरूपमें न करनेपर व्यक्ति प्रत्यवायी बनता है. अत: कृष्णसेवाका सिद्धान्ताभिमत स्वरूप एकविध हो तो उसके अकरणपर और अनेकविध हो तो उसके अकरणपर मार्गानुयायी प्रत्यवायी बन जाता है. ऐसी स्थितिमें क्योंकि यथाश्रुत 'तनुवित्तजा'पक्ष तो निसंदिग्ध सिद्धान्त है अत: विशोधनिकाद्वारा उसपर भार देनेसे प्रत्यवायी होनेका कोई प्रसंग नहीं जबकि अश्रुत स्वार्थकल्पित त्रिविध पक्ष संदिग्ध है अत: उसके अनुष्ठानमें प्रत्यवायसन्देह वज्रलेपायित है.

(५) पांचवे अंशकी व्याख्या करते हुए श्रीप्रभुचरणने यह स्पष्ट कर दिया है कि मूलत: कृष्णसेवा तो एक ऐसा कर्तव्य है कि जिसके दो रूप होते है: (क) फलावस्थापन्नरूप (ख) साधनावस्थापन्नरूप. अर्थात् स्वयं कृष्णसेवा ही कभी साधनरूपा होती है तो कभी फलरूपा. कृष्णसेवा ऐसा साधन नहीं है कि जिसका साध्य कृष्णसेवासे अतिरिक्त कोई फल हो.

जैसे द्विजका नित्यकर्म वेदादिशास्त्रस्वाध्यायरूप ब्रह्मयज्ञ, अक्षरग्रहण अर्थबोध तात्पर्यबोध आवर्तनोंकी विभिन्न अवस्थाओंमें, स्वयं उत्तरोत्तर साध्यफलभावापन्न होता रहता है. अवान्तरफलरूप निशंक कर्मानुष्ठानकी कथा दूसरी है. (अनुसंधेय: ''निष्कारणं ब्राह्ममणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'').

एक और उल्लेखनीय बात जो श्रीप्रभुचरणने इस अंशमे निरूपित की है वह यह है कि इस मानसीसेवाको फलरूपा कहा और इसके व्यक्त्युदाहरणतया व्रजगोपिकाओंका उल्लेख किया है. इसीतरह प्रमाणवचनोदाहरणतया ''तानाविदन् मय्यनुषंगबद्धधिय: स्वमात्मानमदस्तथेदं यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्य: प्रविष्टा इव नामरूपे''. श्रीभागवतश्लोकका उल्लेख किया है. युगलगीत के प्रसंगमें व्रजगोपिकाओंकी मानसी लीलानुभूतिका वर्णन उपलब्ध होनेपर भी तथा व्यासवचनमें लेशत: भी ईषत्प्रामाण्यका तो कोई प्रश्न न रहनेपर भी एकादशसकन्धीय भगवद्वचनका प्रमाणवचनत्वेन उपन्यास यहां किसी विशेष बातकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है. इस वचनमें दो तथ्य वर्णित हुए :(अ) भगवदनुषंगबद्धधीता (आ) स्वपर(:ऐहिक-पारलौकिक सर्व)विस्मरण. ऐसी स्थितिमें प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध ही यहां विवक्षित है-इतना तो स्पष्ट है.

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानसी सेवा, मानस ध्यान या चिन्तन के रूपमें परा=फलरूपां नहीं परन्तु प्रपंचविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके रूपमें ही परा=फलरूपा है. ऐसी स्थितिमें धर्मप्रचारार्थ-शिष्यसंग्रहार्थ-धनसंग्रहार्थ प्रपञ्चाभिनिवेशपूर्विका भगवदासक्तिरूपा फलसिद्धिके लिए तो कृष्णसेवोपदेश हो ही नहीं सकता. अत: विमर्शपक्षका अपसिद्धान्त होना विवृतिअनावृत ही है.

(६) इस षष्ठ अंशमें प्रभुचरण कृष्णसेवाकी फलावस्थाके स्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाका सामान्यस्वरूप ''एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहु 'चेत' इति'' अंशद्वारा निरूपित कर रहे हैं. यहां फलावस्थाका ही निरूपण है अथवा सेवाके फलसाधनोभयावस्थासाधारण सामान्यस्वरूपका – इसमें टीकाकारोमें प्रस्थानभेद है. इसका यथावसर आगे चलकर स्पष्टीकरण देंगे.

(७) यह अंश निरतिशय विवादग्रस्त बन गया है. अत: यहां अतिशय सावधानीपूर्वक मननकी आवश्यकता है. अत: सर्वप्रथम इस अंशगत विभिन्न विधानोंका विहंगावलोकन कर लेना चाहिये :

उत्थानिका : (क) उक्तसेवा–साधने इतरे इति आहु: 'तत् (सिद्धयै तनुवित्तजा)' इति.

अभिप्रायज्ञापिका : (ख) वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा –एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.

निष्कर्ष : (ग) एतेन भगवदर्थं निरूपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेवविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भाव:.

(क) 'उक्तसेवा' = छठे अंशमें अथवा प्रथमसे प्रारम्भ करके छठे अंशतक जैसे प्रकारकी सेवा निरूपित की गई है वैसी सेवा.

'साधने इतरे' = 'तनु–वित्ते' अर्थ लेना या 'तनुज–वित्तजे' लेना इसमें विमर्शपक्ष है 'तनुज–वित्तजे'. श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भकर परवर्ती प्राय: सभी टीकाकारोंको अभिप्रेतार्थ 'तनुवित्त' ही प्रतीत होता है. जिन्होंने –अर्थात् श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी तथा श्रीद्वारिकेशजीने –यथायथ कभी समासविग्रहार्थ अथवा कभी ''प्रसक्तस्य प्रतिषेधो'' न्यायसे 'तनुवित्तजे' लिया है वह सिद्धान्तानुमोदित अनुष्ठेयतया नहीं. इसपर विस्तृत विचार क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग परिच्छेदमें आगे चलकर किया जायेगा.

हम देख चुके – द्वन्द्वसमासके प्रयोगकी व्याकरणशास्त्रीय मर्यादाके अनुरोधवश स्वयं वाक्पति वक्ता भी ''तनुजा और वित्तजा'' के द्वन्द्व की विवक्षावश यदि 'तनुवित्तजा' प्रयोग करे तो उसे अशुद्ध प्रयोग अथवा आर्षप्रयोग ही मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें किसी भी व्याख्याकारद्वारा वैसे अर्थका ऊह करना या तो स्वयंके व्याकरणशास्त्रीय निरतिशय अज्ञानका द्योतन है अथवा मूलकारपर अशुद्ध प्रयोग करनेके आक्षेपमें ही फलित होगा. अतएव स्वयं विमर्शकारको (पृ.९२–९३) इतना तो स्वीकारना ही पडा है कि केवल तनुजा अथवा केवल वित्तजा मानसीकी साधन नहीं है. उदाहरणतया खीर बनानेके लिये चावल, घी, दूध, चीनी, अग्नि, पात्र, रसोई बनानेवाला–इन सबकी आवश्यकता होती है; इनमेंसे एक भी सामग्री कम होगी तो खीर नहीं बन सकती. ऐसी स्थितिमें मानसीकी साक्षात्साधनता तो विमर्शकारके भी मतमें तनुवित्तजार्थ ही गलेपतित है. रही बात परम्परया साधन होनेकी – अर्थात् 'तनुवित्तजा'को कारणसामग्री मानकर तनुजा एवं वित्तजा को कारणसामग्रीघटक पदार्थ माननेकी– तो निरुपधिभक्तिभाववश विचार्यविषयविमर्शार्थ यदि विमर्शकारकी प्रवृत्ति होती तो समझनेमें किसी तरहकी कठिनाई न आती कि केवल वित्तसे, अर्थात् स्वकीय या परकीय तनुके साहित्यके बिना. भगवत्सेवाका अनुष्ठान शक्य ही नहीं. इसी तरह जबतक मानसी सिद्ध न हो तब तक केवल तनुसे भी, अर्थात् स्वकीय या परकीय वित्तके साहित्यके बिना, भगवत्सेवाका अनुष्ठान अशक्य न भी हो तो दु:शक तो अवश्य होता है. अत: स्वकीय या परकीय तनु या वित्त के साहित्यपूर्वक ही सेवात्मिका क्रियाका वस्तुस्वभावानुरोधविवश एकत्व तो त्रिकालाबाधित सत्य है. अतएव द्वित्व तो अकाम भी तनुवित्तनिष्ठ ही हो सकता है. तनुवित्तजा क्रियायें दो नहीं कही जा सकती तो द्वित्वाधिकरणीभूत साधनता प्रत्येक दो क्रियाओंमें नही परंतु पर्याप्तिसंबंधसे तनुवित्तमें ही आयेगी. वित्तसाहित्यरहिततनुजा या तनुसाहित्यरहितवित्तजा क्रियाओंमें स्वरूपासिद्धि दोष होनेसे तथा कथंचित् स्वरूपोपपत्ति देनेपर उन क्रियाओंमें द्वित्वाधान तनुवित्तपर्याप्तद्वित्वद्वारा ही सम्पादित होता होनेसे; तथा विमर्शकारद्वारा प्रदत्त चावल, चीनी, दूध आदिके उदाहरणानुसार भी यह

अप्रत्याख्येय होनेसे अकामगलेपतित है. अत: ''यल्लिंगं यद्वचनं या च... विशेषणस्यापि''नियम सार्वत्रिक या क्वाचित्क होनेकी विचारणा अकिंचित्कर है. वैसे 'साधने'का नपुंसकलिंगके द्विवचनमें प्रयुक्त होना नपुंसकलिंगके द्विवचनान्त 'तनुवित्ते'विशेषणके विशेषणतया सुसंगत है. फिर भी उत्थानिकामें तनुजा-वित्तजा सेवाको उद्देश्य बना कर ऐसे साधनत्वका विधान करना कि जिसका अव्यवहितोत्तर तात्पर्यनिरूपणमें निषेध करना है -एक असमंजस विचाररीति लगती है. उदाहरणतया कोई कहे -

मूलवाक्य : खीर बनती है चावल, चीनी, घी, दूध, पात्र, अग्नि, पाचक सामग्रीसे.

व्याख्या : खीर बनाने के साधन इतर सात हैं - यह निरूपित करते हैं ''खीर बनती है...'' वचनसे. कोई चावलके बिना चीनीसे या चीनीके बिना घीसे या घीके बिना दूधसे या दूधके बिना पात्रसे या पात्रके बिना अग्निसे या अग्निके बिना पाचकसे खीर बनाना चाहे तो खीर बनायी नहीं जा सकती. अत: इन कारणसामग्रीके जुटनेपर ही खीर बनती है.

विमर्श : खीरके पूर्वोक्त सात साधनोंके साहित्यका दुराग्रह रखना उचित नहीं है, क्योंकि इनमेंके प्रत्येक भी साधन तो होते ही हैं. फिर किसी एकसे केवल खीर सिद्ध हो जानी चाहिये - ऐसी आपत्ति नहीं देनी चाहिये, क्योंकि वह तो सातोंके मिलनेपर ही होगी. एतावता प्रत्येकको साधन न मानना कैसे सुसंगत हो सकता है?

विशोधनिका : खीरकी कारणतासामग्रीके घटकतया सिद्ध चावल, चीनी, घी, दूध आदिकी परस्पर इतरसापेक्ष साधनतासे अतिरिक्त इतरनिरपेक्ष साधनताके प्रतिपादनका प्रयोजन खीर बनाना तो हो नहीं सकता. अत: अन्य कुछ प्रयोजन स्वीकारना पडेगा. अत: ऐसी साधनता अप्रासंगिक होनेसे अनिरूपणीय ही है.

दार्ष्टान्तमें विमर्शकार भी केवल तनुजा या केवल वित्तजा को मानसीसाधिका न मानकर केवल अबाधिका मनवाना चाहते हैं. वहां यह प्रश्न

उठता है कि 'उक्तसेवासाधने'को उद्देश्य बनाकर द्वित्वविशिष्ट इतरतवका विधान यहां विमर्शकारको अभिलषित है या इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनकी 'उक्तसेवासाधनता' का विधान अभिलषित है. प्रथम कल्पमें प्रभुचरणकृतविवृतिस्थ ''फलात्मकनामोक्त्या... नत्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते'' की व्याख्यामें ''ननु 'मानसी सा परे'त्यनेन मानस्या: फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवाया: सिध्यति अतो न स्वतो पुरुषार्थत्वं किन्त्वन्यशेषत्वमिति चेत्... प्रकृते तस्याएव सेवाया: अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाद्'' (श्रीवल्लभजीकृत टिप्पणी) वचनवशात् इतरता ही अनुपपन्न है तो द्वित्वविशष्ट इतरता भी सुतरां अनुपपन्न सिद्ध होगी. अत: 'इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनके बारेमें 'उक्तसेवासाधनता'का यथोपदिष्ट विधान मानना पडेगा. यहां यह पृष्टव्य होता है कि विधास्यमान तनुवित्तजान्तर्भूत तनुजवित्तजाकी द्वित्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषित है या तदनन्तर्भूत तनुजा एवं वित्तजा की एकैकत्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषितै? प्रथम कल्पमें वदतोव्याघात दोष आ पडेगा. द्वितीय कल्पमें उत्थानिका और अभिप्रयाज्ञापिका अंशोमें ''आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे'' वाली निष्कर्षापर्यवसायिनी उत्थानिका होनेका दोष आ पडेगा.

केवल तनुजा या केवल वित्तजा कोई क्यों करना चाहता है? स्वकीय तनुविनियोग या स्वकीय वित्तविनियोग की अरुचि या असामर्थ्य के कारण उपदिष्ट तनुवित्तजास्वरूपपूर्त्यर्थ अथवा तदितरप्रयोजनपूर्त्यर्थ. यदि सेवेतर किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिके लिये वित्तग्रहण किया जाता है तो वित्तदाता द्वारा किया जाता वित्तदान वित्तजा सेवा नहीं रह जायेगी, क्योंकि वित्त लेनेवाला दम्भ कर रहा है और देनेवाला अपना श्रद्धामौढ्यप्रदर्शन. यदि वह वित्त तनुवित्तजासेवाके स्वरूपनिर्वाहार्थ दिया-लिया जा रहा है ऐसा स्वीकारते हैं तो इस लेने-देनके लौकिक-अलौकिक, विहित-निषिद्ध एवं उत्सर्ग-अपवाद रूपोंके विवेकके बिना 'गोमय पायस' नहीं कर देना चाहिये.

एतदर्थ सर्वप्रथम एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :-

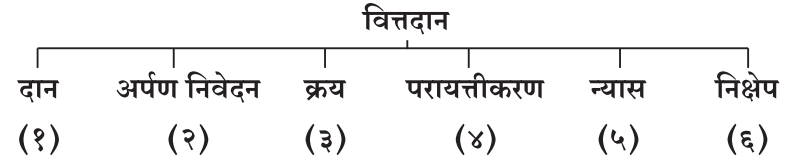

सहज सम्भव है कि इनके अलावा अन्य भी कुछ प्रकार वित्तदानके हो सकते होंगे परन्तु इन प्रभेदोंके लक्षण तथा उपभेदों को जाननेपर ही वास्तविकताका पता चला पायेगा.

(१) दान :

शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम् ।
निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम् ।।
दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः ।
अर्पण स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम् ।।

(सि.र.श्रीपुरु.वि.श्लो.४में उद्धृत)

इन कारिकाओंमें निवेदन तथा अर्पणसे भिन्न ''दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः'' कहकर जो 'दान'की परिभाषा दी गई उस संदर्भमें यह अवधेय है कि–

दान

(स्वत्वपरित्यागपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनानुकूल 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम'इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः)

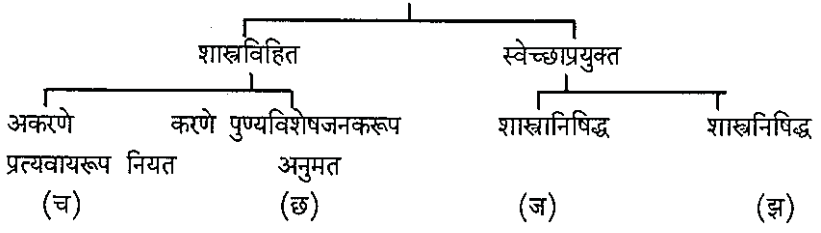

(च) कर्मदक्षिणा, गुरुदक्षिणा, प्रायश्चित्तार्थ गोदानादि, कन्यादान, राज्यको करदान आदि अनेक रूपोंमें शास्त्रविहित वित्तदान होता है.

(छ) तत्तद् देश-काल-कर्मादि निमित्तवशात् शास्त्रोंमें वित्तादि दानोंका वर्णन उपलब्ध होता है.

(ज) 'प्राभृत'=देवता-गुरु, राजा-मित्रादिको स्वेच्छया दिया जाता उपहार अर्थात् उपायन, 'यौतक'=यज्ञोपवीत, विवाहादि अवसरपर सगे संबंधि बटुक, वरवधू आदिको दिये जाते उपहार, 'सुदाय'=दहेज, 'दाय=अपन संपत्तिपर अपनी जीवितावस्था या मरणोत्तरता में अंशतया या पूर्णतया स्वत्वत्यागपूर्वक अपने पुत्रादिके स्वत्वका स्थापन, 'भिक्षा=दीन-दरिद्रोंपर दयाविवश दिया जानेवाला द्रव्यादि.

(झ) ज्येष्ठपुत्रदान, परद्रव्यदान आदि.

शास्त्रनिषिद्ध (स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रितम् -याज्ञ.व्यव.११।१७९) प्रकारको छोडकर दानके अन्य सभी प्रकारोंमें दाताद्वारा शास्त्राविरुद्धतया स्वत्वपरित्यागपूर्वक परस्वत्वोत्पादन किया गया होनेसे प्राप्त वित्त विंत्तग्रहीताका ही होता है. सो ऐसे वित्तसे स्वयं की जाती सेवाके तनुवित्तजा सेवा होनेमें कोई विसंगति नहीं है.

वैसे वित्तदान सेवाकर्ताको अथवा उसके सेव्यस्वरूपको - यों दोनोंमेंसे किसी भी एकको सम्भव है. सेवाकर्ताको कोई कुछ देता है तो देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेवाकर्ताका स्वत्व पैदा करता है और अन्यके सेव्यस्वरूपको देनेपर देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेव्यस्वरूपका स्वत्व पैदा करता है. प्रथम कल्पमें तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध नहीं होता जबकि दूसरेमें न केवल तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित हो रहा है अपितु देवस्वापहरणदोष भी शक्य हो जाता है, देवस्वत्व पैदा हुआ होनेसे इसे स्वीकार न करनेपर गोस्वामी महाराजोंको धरी भेट भेटकर्ता स्वयं भले ही न ले सके परन्तु इतर वैष्णव या महाराजश्रीका समाधानी या खवास क्यों नहीं ले सकते - यह खुलासा देना पडेगा. पूछनेकी आवश्यकता जैसे देवस्वापहारी महाराजोंको नहीं वैसे महाराजस्वापहारी वैष्णव या खवास को भी नहीं होनी चाहिये! जैसे महाराजोंका स्वत्व अपने प्रभुपर है ऐसे ही वैष्णव या समाधानी का महाराजोंपर होता. ठाकुरजी बोलते नहीं पर महाराज तो बोल सकते हैं

अत: आज्ञाके बिना नहीं लेनेका नियम हो तो जो छोटे-छोटे बावा-बेटीजी बोल न पातें हो उनका तो कमसे कम लिया जा सकता है - ऐसे स्वीकारना चाहिये.

(२) निवेदनार्पण :

''निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वक स्वत्वाभिमानत्यागानुकूल: 'तुभ्यं समर्पयामि निवेदयामि' इत्यादिशब्दाभिव्यंग्य: तद्विलक्षणो मनोव्यापार:'' (श्रीपुरु.नव.विवृ.प्रका.१). अर्थात् जैसे देहादिविषयिणी आविद्यकी अहंता-ममताके त्याग करनेपर भी पांचभौतिक देह या उसपर स्वामित्व छूट नहीं जाता वैसे ही निवेदन और/अथवा समर्पण की प्रक्रियामें स्वस्वत्वके परित्याग बिना निवेदित और/अथवा समर्पित वस्तु या वित्त का अन्यार्थक विनियोग सम्भव है. इसमें विशेषतया अवधारणीय यही है कि-

अर्पण

तनुजसेवाकर्तृपुरुषार्थक	**परसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक**	**स्वसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक**
(च)	**(छ)**	**(ज)**

(च) इस कल्पमें वित्तदाताका स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे ऐसे वित्तके विनियोगपूर्वक स्वतनुद्वारा की गई भगवत्सेवा तनुवित्तजा नहीं कही जा सकती. परन्तु जिन संबंधोंमें वित्तराशिपर किन्हीं दो जनोंका अविभक्त स्वत्व हो-यथा मातापिता-सन्तति, पति-पत्नी, भ्रातृत्रयी, मित्रद्वयी या अन्य भी यथायथका सम्भूय समुत्थान हो (द्रष्ट. ''वाणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्'' नारदस्मृतिवचन -व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.-''बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नर: करणं कारयेद् वापि सर्वैरेव कृतं भवेत्'' बृहस्पतिवचन-व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.) तो किसी एकतरद्वारा अत्यतरको सेवार्थ द्रव्य देनेपर न तो देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है न ही लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अधिक कोई स्वत्व पैदा ही होता है. अत: इन अपवादनके उदाहरणोंके छलसे विभक्त स्वत्ववाले किसी एक व्यक्तिद्वारा अन्यको सेवार्थ अर्पित किये गये धनसे तनुजासेवा करनेपर तनुवित्तजासेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती; जैसा कि विमर्शकार छल

करना चाहते हैं, गुरुद्वारा शिष्यसे द्रव्य लेनेके संबंधमें. गुरु-शिष्योंकी सम्पत्ति यदि अविभक्त हो तो दोनोमेंसे किसी एकके पिताके दिवंगत होनेपर अन्यको दायभागी भी मानना पडेगा. जैसे गोस्वामि महाराजके नित्यलीलाप्रविष्ट होनेपर बहुजी-बालकोंकी तरह वैष्णवोंको भी उनके हिस्सेकी संपत्ति मिलनी चाहिये. किसी वैष्णवके भी गोलोकवासी होनेपर गोस्वामी महाराजोंको वहां दायभाग मिलना चाहिये. सम्भवत: ऐसी स्थितिमें जिनका दायभाग गोस्वामि महाराजोंको मिलता है उनउनका सांवत्सरिक श्राद्ध भी उनका आवश्यक कर्तव्य हो जायेगा. एवं मृतपुरुषका न चुकाया हुआ ऋण भी चुकाना पडेगा: ''अविभक्तै: कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेद् दद्युस्तद् रिक्थिन: प्रेते'' (याज्ञ.स्मृ.व्यव.२।४८).

(छ) भगवत्स्वरूपार्थक निवेदित-समर्पित द्रव्यपरसे क्योंकि निवेदन-समर्पणकर्ताका स्वत्वव निवृत्त नहीं होता अत: स्वसेव्यप्रभुकी सेवामें ऐसे परद्रव्यके विनियोगपूर्वक स्वयं तनुजासेवा करनेसे तनुवित्तजा सेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती. स्वमार्गानुगामी अधिकांश वैष्णवजनोंको आज यह कह कर ही बरगलाया जा रहा है कि अपने यहां ''भिन्नमार्गपरं मतम्'' अज्ञानुरोधवश दान होता ही नहीं, अत: समर्पित द्रव्य-सामग्रीका प्रसाद लेनेमें दोष नहीं है. परन्तु उस स्थितिमें या तो गोस्वामिओंकी सम्पत्तिपर अनुगामि वैष्णवजनताका अविभक्त स्वत्व या अनुगामि वैष्णवजनताकी सम्पत्तिपर गोस्वामिओंका अविभक्त स्वत्व गलेपतित होगा. अन्यथा तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध दुप्परिहार्य हो जाता है. अर्थात् इस आपत्तिसे बचनेके लिये यदि विभक्तस्वामित्ववाली सम्पत्तियां मानी जाती है तो तनुवित्तजाका स्वरूप ही घटित नहीं होता, जेसैकि किशोरीबाईकी वार्तामें है. और आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके सौभाग्यसे, अपने गुटके अन्य अपठित गोस्वामिओंसे विपरीत, क्योंकि विमर्शकारने वार्तासाहित्यका प्रामाण्य स्वीकारा है अत: किशोरीबाईकी वार्ताके प्रामाण्यपर तो पराई सत्ताके द्रव्य अथवा सामग्री का अंगीकार ही पुष्टिप्रभु नहीं करते सो धरा गया भोग प्रसाद ही नहीं रह जाता है.

विमर्शकार एक गजबका छलावा यहां करना चाहते हैं कि ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''द्वारा प्रतिपिपादयिषित तो केवल मानसीकी साधिका

कौनसी सेवा होती है और कौनसी नहीं होती है–यही है, जबकि पराये (अर्थात् अपारिवारिक या अशिष्य) व्यक्तिसे स्वसेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य–सामग्रीके निषेधार्थ किशोरीबाईकी वार्ता है, अत: दोनोंकी प्रतिपाद्य विषयवस्तुमें अन्तर है. आजकी व्यावसायिक दुकानोंपर जैसे ग्राहककी धर्म–जाति नहीं पूछी जाती वैसे ही मंदिरोंमें भेटसामग्रीसंग्रहलोभविवश समाधानी दर्शनार्थी और मनोरथिओं की धर्म–जाति नहीं पूछते हैं. ऐसी स्थितिमें ऐसी सेवा पुष्टिमार्गीय कैसे हो सकती है? विमर्शकार छलावा करना चाहते हैं कि कोई पति पत्नीको भगवत्सेवार्थ जैसे द्रव्य देता है एतावता पति या पत्नी के द्वारा अनुष्ठित वित्तजा या तनुजा मानसीकी बाधिका नहीं बन जाती. ठीक इसी तरह गोस्वामी महाराजोंको धनिक वणिक् पुरुषोद्वारा गोस्वामी महाराजोंके सेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य या सामग्री देनेपर भी (अकर्मण्य स्त्रैणोपम तनुजैकसेवार्थविवश) महाराजों अथवा वणिकों की मानसीसेवामें कोई प्रतिबन्ध नहीं आता.

द्रव्यसंग्रहैकाभिनिवष्टमति होनेके कारण एक इतनी मोटी बात यहां या तो विमर्शकारको समझमें नहीं आ रही है या फिर जानबूझकर छलावा किया जा रहा है. पति–पत्नीके सेव्यस्वरूप समान है तथा पति–पत्नीका वित्त अविभक्तस्वत्ववाला है अत: पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ प्रदत्त वित्त केवल पतिके ही स्वत्ववाला नहीं अपितु पत्नीके भी स्वत्ववाला है. क्या ऐसा अविभक्तस्वत्व महाराजों और बनियाओं की विभक्त संपत्तिओंपर स्वीकारा जा सकता है? यदि हां तो एकदूसरेके ऋणी पिताके देहत्यागके पश्चात् एकदूसरेका एकदूसरेकी सम्पत्तिमें दायभागी होनेसे ऋण चुकानेका उत्तरदायित्व भी स्वीकारना पडेगा ही! ''रिक्थग्राह: ऋणं दद्याद्'' (याज्ञ.समृ.व्यव.२।४७).

(ज) इससे सिद्ध होता है कि स्वसेव्य–भगवत्स्वरूपार्थ निवेदित–समर्पित द्रव्य या सामग्री परसे क्योंकि निवेदन–समर्पणकर्ताका स्वत्व नष्ट नहीं होता अत: प्रकृतमें इसी एक कल्पमें तनुवित्तजा सेवाका स्वरूप अबाधित रहता है.

(३) क्रय :

क्रयमें विक्रेताके स्वत्ववाली क्रय्य वस्तु क्रेताको क्रेय लगती हो तो वह क्रय्य वस्तुके मूल्यवाले वित्तके विनिमयद्वारा स्ववित्तपर स्वस्वत्व खतम करके विक्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. उसी तरह विक्रेता अपने स्वत्ववाली क्रय्य वस्तुपरसे अपना स्वत्व खतम करके क्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. फलत: द्रव्यका वस्त्वन्तरसे विनिमय होता है. अतएव विक्रीत वस्तुपर क्रेताका स्वत्व अबाधित होनेसे विक्रीत वस्तुका जब वह स्वयं भगवत्सेवामें विनियोग करता है तो तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. ''बह्व्यस्समांशतो देवा दासानामप्ययं विधि: योगक्षेमवतो लाभ: समत्वेन विभज्यते'' (स्मृ.च.व्यव.अवि.प्रकट). पशु-भृत्य-दास-दासीकी भी क्योंकि विभाज्य वित्ततया गणना की जाती है अत: सेवोपयिक वस्तु या भृत्य गृहस्वामीके वित्तरूप होनेसे जैसे घरकी गायका दूध भगवानको भोग धरनेसे अथवा घरकी बैलगाडीमें प्रभुको कहीं पधरानेसे गाय या बैल की तनुजा मानी नहीं जाती तद्वत् गृहस्वामीके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत भृत्य गृहस्वामीके वित्तान्तर्गणित होनेसे उनका भगवत्सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होता. यदि आचार्यवंशज गोस्वामी भी दर्शनार्थी धनिक वणिक जनोंके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास हों तो इनकेद्वारा भगवत्सेवा करानेपर तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंके मंदिरोंकी वास्तविक स्वामी होगी दर्शनार्थी जनता. गोस्वामी बनेंगे वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास. तब तो गोस्वामिओंके सेव्य भगवत्स्वरूपोंके उपर भी महास्वत्व गोस्वामिओंकी मालिक दर्शनार्थी जनताका सिद्ध हो जायेगा. उदाहरणतया तथाकथित षष्ठनिधिपर स्वत्वके दावेके आधारपर तथाख्यापित षष्ठपीठाधीशता भी दर्शनार्थी जनतामें निहित हो जायेगी! उस स्थितिमें चेतनवित्तरूप गोस्वामिओंका भी गोवृषभसदृश भगवतसेवार्थ विनियोग अनुमत हो पायेगा. क्योंकि उस स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा स्वतनुस्वनुष्ठित भी भगवद्वीवषयिणी कृति गोवृषभकृतिन्यायेन न तनुजा और न वित्तजा सेवा ही रह जायेगी. गोस्वामी सभीके सभी बनियोंकी भगवत्सेवोपयिक सम्पत्ति बन जायेंगे!

अन्यथा सेवोपयिक वित्तद्वारा परिक्रीत सवोपयिक सामग्री, चाहे

चेतन हो या अचेतन, का स्वकीय भगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होगा. कर्ममार्गमें, परन्तु, ऋत्विजोंद्वारा अनुष्ठित कर्मका यजमान जैसे दक्षिणा प्रदानद्वारा परिक्रय करता है वैसे भक्तमार्गीय भगवत्सेवारूप कर्मार्थ अन्यका पौरोहित्य स्वमार्गमें अविहित होनेसे अकर्तव्य ही होता है. यही बात श्रीपुरुषोत्तमजीने कही है : ''नच यागो यजमानस्य वित्तदातु: फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादे: भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्.'' (सि.मु.वि.प्र.२) आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके दुर्भाग्यवश विमर्शकार (पृ.१५० पर)ने इसका भावानुवाद देकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान ली! फलितार्थका विचार ही नहीं किया!! उस फलितार्थकी भयंकरता विमर्शकारके विस्मयंकर मौनकी मुखर साक्षी है!!!

इससे सिद्ध होता है कि स्वयंके तनुसे अनुष्ठीयमाना भगवत्सेवामें स्ववित्तक्रीत चेतनाचेतन वस्तुओंपर स्वस्वत्व स्थापित हो जाता होनेसे उनका विनियोग तनुवित्तजा सेवाका बाधक नहीं होता. इस संदर्भमें यह वचन अनुसंधेय है : ''गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागत: अनाकालभृत: तद्वद् आहित: स्वामिना च य: मोक्षितो महतश्चर्णाद् युद्धप्राप्त: पणे जित: तवाहमित्युपगत: प्रवृज्यावसित: कृत: भक्तदासश्च विज्ञेय: तथैव वडवाहृत: विक्रेता चातमन: शास्त्रे पञ्चदश: स्मृता:'' (मिता.२।१८२). इसमें सिद्ध होता है कि परिक्रीत-दायादुपागतादि वित्तभेदसदृश दासोंके भी प्रभेद मान्य होते थे अतएव दास वित्तान्तर्गणित वित्तोपम उनका विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका बाधक नहीं होता.

(४) परायत्तीकरण:

'परायत्तीकरण'का अर्थ न्यायकोशकारने यों दिया है : ''तत्कर्तृकनिर्णेजनेच्छाप्रकाशको व्यापार: यथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यादौ 'ददाति' अर्थ:. 'निर्णेजनं' च मलापकर्ष:'' (न्या.को.दान.२). वैसे यह एक हकीकत है कि प्राय: धर्मवैतंसिक धनिक लोग अपनी कमाईका मलापकर्षण सार्वजनिक मंदिरोंमें प.भ.मनोरथी बनकर करवा लेते हैं. फिर भी

परायत्तीकरणको इतने सीमित अर्थोंमें न लेकर आभूषणनिर्माणार्थ स्वर्णकारके स्वरूपानुरोधवश गुणाधानार्थ भी स्वकीय वस्तु या द्रव्य को परायत्त बनाया जा सकता है. इन सभी उदाहरणोंमें, परन्तु, स्वत्वनिवृत्ति की नहीं जाती अत: परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा प्रदत्त वित्तसे भगवत्सेवा करनेपर तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित होता ही है, वित्तदाताका वित्तके उपरसे स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे. यह वित्तनिष्ठ अनिवेदितत्व-असमर्पितत्वरूप मलके अपकर्षणार्थ रजकोपस गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये अथवा निवेदितत्वअसमर्पितत्वरूप गुणातिशयके आधानार्थ स्वर्णकारोपम गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये, परिस्थितिमें कोई अन्तर नहीं पडता!

वैसे गुरुके मनोभिलषितकी पूर्तिके लिये गुरुके सेव्य भगवत्स्वरूपके सन्मुख दर्शनार्थी जनता अपनी भेट-सामग्री भगवदायत्त करती है -ऐसी क्लिष्टकल्पना करनेपर भी वित्तदाताने क्योंकि अपने वित्तपरसे स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक गुरुस्वत्वापादन नहीं किया है एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके स्ववृत्तिवादस्थ ''तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं चैतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्याया: अयाचितवृत्ते: उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु -एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्ततवसिद्धि:.'' वचनानुरोधवश अगौरवमयी परद्रव्योपजीविनी वृत्तिके अपराधवश ऋणित्वेन बंधप्रसंग तो वज्रलेपायित ही है. स्वयं बद्धतैकरुचि अन्यका उद्धार क्या करेगा! ''आजीवन् स्वेच्छया दण्डयो दाप्यस्तच्चापि सोदयं याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपेप्वप्ययं विधि:'' (याज्ञ.स्मृ.व्यव.३।६९) की व्याख्यामें यहां स्पष्टतया कहा गया है कि 'याचित'=किसी छोटे-मोटे कामके लिये मांगी गई कोई वस्तु. 'अन्वाहित'= किसी आर्थिक कष्टमें फंसे हुए व्यक्तिद्वारा गिरवी रखी हुई वस्तु; अथवा किसी वस्तुके प्रतिग्रहप्रसंगमें केवल प्रतिग्रहीतनयनार्थ ही उपकरणत्वेन प्रदत्त अन्यथा अप्रदत्त वस्तु. 'न्यास'=किसी निर्दिष्ट स्वरूपवाली वस्तु जो केवल रक्षणार्थ सौंपी गई हो. 'निक्षेप'=किसी एक व्यक्तिद्वारा किसी दूसरेको देनेके लिये तीसरेके हाथोंमें सौंपी गई वस्तु. इनसे जो अपनी आजीविका चलाता हो

तो शासकका कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तिको दण्डित करके उसके पाससे द्रव्य या वस्तु खौंसकर सच्चे मालिकको लौटा दे.

इससे सिद्ध होता है कि परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा लब्ध वित्त प्रतिदेय होनेसे तनुवित्तजाका स्वरूपसाधक नहीं है.

अतएव शास्त्रमें कहा गया है–

''वर्तते यस्य यद् हस्ते तस्य स्वामी स एव न ।
अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्याद्यैः किं न वर्तते ? ।।
तस्माच्छास्त्रतएव स्यात् स्वाम्यं नानुभवादपि ।
नच स्वमुच्यते तद्वत् स्वेच्छया विनियुज्यते ।।
विनियोगोपि सर्वस्य शास्त्रेणैव नियम्यते ।''

(स्मृतिचन्द्रिका व्यव.कां.पृ.६००–६०१)

कहां धर्मशास्त्रोंका यह उदात्त आदर्श और कहां विमर्शकारका अधोलिखित कैतव–

(ट) ''गुरुकी आज्ञा प्राप्त होनेपर गुरुघरमें जब वैष्णव गुरुघरके ठाकुरजीका दर्शन करते हैं तब...**उपायनद्रव्यका अर्पण–ये दोनों गुरुकी आज्ञाके पालनके रूपमें होनेसे गुरुसन्तोषजनकक्रियात्मक होनेसे गुरुसेवाके अनतर्गत ही है, गुरुसेवाके बहिर्भूत नहीं.** गुरुघरके ठाकुरजीके लिये वैष्णवोंद्वारा गुरुको अर्पण किये जानेवाले द्रव्यपर स्वत्व नहीं रहता और न तो ठाकुरजीका ही स्वत्व रहता है. इस विषयमें सबसे दृढ प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही न है.'' (विमर्श पृ.१३८)

(ठ) ''गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित होनेपर देवद्रव्यभक्षण किंवा देवद्रव्यग्रहणका प्रसंग नहीं है. जहांपर गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित न होता हो वहांपर मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर महाप्रसादग्रहणमें कोई दोष नहीं. परन्तु यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्य **ठाकुरजीका उपानयनद्रव्य न हो, तथा ठाकुरजीको 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम' कहकर दान किया न हो.**''(विमर्श पृ.१४०)

(ट) वचनमें देवार्थ उपायनपर गुरुका निर्हेतुकस्वतव मान लिया गया है. (ठ) वचनमें उपायन न हो तो देवद्रव्य नहीं होता ऐसा कहा जा रहा है. पृ.१४६पर श्रीमहाप्रभुने क्यों नहीं सोनेकी कटोरी गिरवी धरनेपर प्रसाद लिया उसका श्रुतकारण –''जो कटोरी धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपहीके द्रव्यको आपही आरोगे सो आपहीको भयो. जो श्रीठाकोरजीको द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहि अरु मेरो सेवक भगवदीय (क्योंकि आधुनिक गोस्वामी तो भगवदीय नहीं होते, स्वयं पुरुषोत्तम होते हैं) होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायेगो. जो खायेगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो.''–छोडकर प्रकृतमें सर्वथा अश्रुतकारणकी कल्पना कि ''दाने हि न स्वविनियोग:''नियमवशात् आपने प्रसाद न लिया और श्रीमहाप्रभुके दु:खी होनेसे दु:खित वैष्णवोंने भी नहीं लिया! इसी तरह जहां न्यासप्रलेखद्वारा गुरुने स्वत्व निवृत्त कर दिया हो वहां निवृत्ति अज्ञानकृत एवं बलकृत होनेसे स्वत्व अनिवृत्त ही रहता है. स्पष्ट है कि यह अज्ञान पैसा कैसे कमाना उसका नहीं है क्योंकि उसके तो अनेकानेक उपायोंक आधुनिकगुरु महाविज्ञ होते हैं. अज्ञान केवल सिद्धान्तका होता है और निर्बलता अर्थोपार्जनार्थ मिथ्याप्रलेख कर स्वात्मा, स्वानुगामी तथा स्वदेशशासनको छलनेमें नहीं परन्तु केवल अपनी शुद्ध चरणभेटपर यदृच्छालाभसंतुष्ट होनेकी निर्बलता विवक्षित है. अन्यथा अज्ञानी अस्वधर्मपरायण अर्थैकाभिनिवेशी और गुरु तो तम:प्रकाशवान् होने जैसी विरुद्धधर्माश्रयी पुरुषोत्तमता ही हो सकती. अपना तो भागवतमूलक प्रोज्झितकैतव धर्म (!) है न? अस्तु. भगवदिच्छैव बलीयसी सर्वोद्धारविरोधिनी!

अत: परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा प्राप्तद्रव्यसे न तो तनुवित्तजा संपन्न हो सकती है और न स्वोपभोग और न किसी दूसरे कीर्तनियाजीके सदृशको दान ही.

वैसे यदि गुरुको ही उद्देश्य बना कर दिये जानेवाले वित्तदानको गुरुके सेव्य भगवत्स्वरुपके सन्मुख परायत्त किया जा रहा है –ऐसी अद्ययावत् किसी भी दर्शनार्थी वित्तदाताके मनोव्यापारकी अविपयीभूता कल्पना भी ''तुप्यतु

दुर्जन'' न्यायेन करते हैं, तब भी स्वयं मेरे पास सुरतकी हवेली तथा यहां श्रीयदुनाथजीकी हवेलीकी रसीद एक व्यक्तिने दोनों मंदिरोंके समाधानीके आवाजकी केसेट रेकोर्डके साथ सौंपी है, जिनमें यहां बंबईमें गुरुभेटके अलावा श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्रीकी अलग अलग रसीदें हैं जो इस बातका प्रमाण है कि गुरुसेवान्तर्गत श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्री नहीं ली जा रही. सुरतके समाधानीने केसेटमें यह कहा है कि महाराजश्रीको भेट धरनी हो तो उपर जाओ, यहां तो श्रीठाकुरजीकी ही भेट-सामग्रीके रुपये लिये जाते हैं. पर श्रीठाकुरजीकी किस सेवाके लिये ले रहे हैं -ये लिखके नहीं देंगे क्योंकि कानूनी लफडे हो जाते हैं. अस्तु.

वैसे इस सारे कैतवका घटस्फोट श्रीपुरुषोत्तमजीकी यह पंक्ति कर देती है : ''दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ''तुभ्यमहं संप्रददे न मम'इत्यादिशब्दाभिवयंग्यो (न तु शब्दोच्चारनैयत्यरूपो, अन्यथा समर्पणेपि तादृशशब्दोच्चाराभावे समर्पणाभावप्रसक्तेः दुरुद्धरत्वात् - गो.श्या.म.) मनोव्यापारः (न तु वाग्व्यापारः - गो.श्या.म.) तस्मिन् कृते सति 'हि' निश्चयेन 'न स्वविनियोगः' दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यमहं समर्पयामि निवेदयामि' इत्यादिशब्दाभिव्यंग्य तद्विलक्षणो मनोव्यापारः. तस्मिन् कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय, दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात् तत्र गमकमाहुः 'अन्यथे' त्यादि. यदि स्वत्वत्यागपरस्वोत्पत्यानुकूल्ययोः दाने निवेदने च तु तुल्यतायामपि कश्चिद् विशेषो न स्याद् तदा पुराणेषु अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् निवेदितान्नादेः भोजनं नोकतं स्यात्.'' (नव.विवृ.प्रका.१) इस विमर्शकैतवकी धर्मवत्सलता(!) का यह मुखर प्रमाण है कि दान-निवेदन दोनोंमें ही विमर्शकार भगवद्विनियोगानन्तर उपभोगको प्रशस्त मान रहे हैं. ऐसे ही 'न स्वनियोगः' और 'न विनियोगः'का महान विमर्शाडम्बर भी एकत्र दत्तापहारदोषोत्पत्ति अपरत्र दत्तापहारदोषानुत्पत्ति के वैलक्षण्यसे स्वतः प्रत्याख्यात हो जाता है. क्योंकि यहां स्व-परोपभोगके स्वकृत या परकृत उभयत्र ही समानभावसे प्रवृत्त एवं निवृत्त होता है. शब्दोच्चारके कर्माडंबरनियतिकी हास्यास्पद कल्पना तो केवल बाललीला ही है!

(५) न्यास :

''राजचौरभयाद् दायादानाञ्च वञ्चनात् स्थाप्येतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यास: तत्परिकीर्तितम्'' (द्र.बृहस्पतिवचन-स्मृ.चन्द्रि.निक्षे.स्था.) वचनानुसार यह स्पष्ट है कि न्यासी वित्तदाता अपने स्वत्वकी सुरक्षाके लिये किसी दूसरेको जब वित्त देता है-सौंपता है, तब वित्तपरसे उसका स्वत्व निवृत्त नहीं होता. अत: ऐसे वित्तका भगवत्सेवामें विनियोग मानसीसाधिका तनुवित्तजाके स्वरूपका नाशक होनेसे तथा परद्रव्यापहरणके दोषका भी जनक होनेसे यह कल्प तो प्रकृतविचारोपयोगी नहीं है.

फिर भी धर्मशास्त्रामूलक आधुनिक कराधान कानूनोंसे अपनी सेवोपयोगिसम्पत्तिकी सुरक्षा करनेको बनाये गये सार्वजनिक ट्रस्टडीड कि जिसमें ट्रस्टनिर्माता गोस्वामी स्वयं प्रलेख कर देते हैं कि सेवास्थल उनका निजी गृह नहीं -सार्वजनिक देवालय है -सेवोपयिक वित्त कराधानार्ह नहीं क्योंकि उनका नहीं प्रत्युत जनताका जनताके प्रतिनिधि ट्रस्टिओंके सहयोगसे संचालित भगवत्स्वामिक वित्तसे अनुष्ठीयमाना सेवार्थ है इत्यादि-इत्यादि. ऐसे सब मिथ्या प्रलेख अज्ञानवश या प्रशासनभयवश निर्मित हुए होनेसे उनके वास्तविक स्वरूपके बाधक नहीं होते. इस सन्दर्भमें विमर्शकारके द्वारा किया गया कुशकाशावलम्बन जितना अविचारितरमणीय है वह विमर्शवक्तव्यके समान अन्य वक्तवयको बिम्बप्रतिबिम्बभावसे देखनेपर पता चलेगा.

विमर्शबिम्ब

जो लोग समझते हैं कि बंद कमरेमें भगवत्सेवा करना ही भगवत्सेवा है वे स्वयं भ्रममें हैं. क्योंकि बंद कमरेमें जो भगवत्सेवा होती है वह न्यायालयकी परिभाषामें सदा गृहसेवा ही रहेगी-इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है... मान लीजिये कि कल ऐसा नियम बना कि ''भगवत्सेवा जहां होती हो वह स्थल

विशोधनप्रतिबिम्ब

जो पति समझते हैं कि बंद कमरेमें पत्नीका पुरे रहना. पत्नीके शीलकी सुरक्षा है...वे स्वयं भ्रममें हैं क्योंकि बंद कमरेमें जो पत्नीयां पुरी रहती हैं वहा लंपट बलात्कारी गुंडे कभी पहोंच नही पायेंगे -इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है...मान लीजिये कि कल ऐसे लंपट बलात्कारी गुंडे ऐसी दुर्भावना बांध ले कि बंद कमरोंमें पुरी रहनेवाली किसी भी सुशील पत्नीके

सार्वजनिक होता है.'' फिर भगवत्सेवा बंद कमरेमें हो या बंद कमरेमें न हो, वहां दर्शनार्थ लोग आये या न आये वह सेवा सार्वजनिक ही है. तब क्या करना? (विमर्श पृ.१८२)

...देवदर्शनके लिये लोगोंके आने मात्रसे स्थल सार्वजनिक नहीं हो जाता. सार्वजनिक स्थल एवं गृहकी परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि अधार्मिक न्यायालयीय निर्णयानुसार (परिभाषा) ग्राह्य है. अत: सम्प्रदायमें आज भी तत्तत् स्थलोंमें होनेवाली सेवा गृहसेवा ही है, सार्वजनिक नहीं. जिन स्थलोंमें आपत्तिकालीन व्यवस्थाके रूपमें भगवत्सेवोपयुक्त सम्पत्तिके रक्षणार्थ ट्रस्टका बाह्य स्वरूपमात्र दिया गया तथा मनसे ट्रस्ट न बनाया गया हो वहांकी सेवा गृहसेवा नहीं -ऐसा भी नहीं कहा जा सकता. जिन स्थलोंमें अज्ञानसे या बलजबरीसे ट्रस्ट बनाये गये हों वहांके ट्रस्टका तो कोई अस्तित्व ही नहीं. अत: ऐसे स्थलमें होनेवाली सेवा गृहसेवा नहीं -ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है.

(विमर्श पृ.१८३)

शीलको भ्रष्ट ही करना तो फिर कोई पत्नी बंद कमरेमें पुरी रहती हो या न हो, उसके घरमें वह लंपट बलात्कारी गुंडोको घुसने दे या न दे, उसका शील तो लंपट बलात्कारी भ्रष्ट करेंगे ही. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८२ पर).

...लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपने घरमें आनेमात्र देनेमें किसी सुशील गृहवधूको दु:शीलता की परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि शंकाशील पतिकी कल्पित परिभाषाके अनुसार. अत: पासपडौस में आज भी जिन गृहिणिओं के पास लंपट बलातकारी गुंडोंका आना-जाना बना हुआ है उन सभीको सुशील गृहवधू ही समझना चाहिये, वारवधू नहीं. जहां कहीं आपत्तिकालमें किसी गृहवधूको लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन बाह्यरूपसे मात्र समर्पित करना पडा परन्तु मनसे लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन समर्पित न किया हो उन्हें भी वे सुशील गृहवधू नहीं -ऐसा भी कहा नहीं जा सकता. जिस गृहवधूका पातिव्रत्यधर्मके अज्ञानवश या बलजबरीसे शीलभ्रष्ट किया गया हो वहां तो चरित्रभ्रष्टताका कोई प्रसंग ही नहीं है. अत: ऐसी सभी गृहवधू परमसुशील पातिव्रत्य-धर्मपरायणा नहीं-ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८३ पर)

१. ''**बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद् यच्चापि लेखितम् सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्**'' (मनुस्मृ.८।१६८)

वैसे मयूखकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि ''(दायनिर्णयोपयोगिस्वत्वं) तच्च क्रयप्रतिग्रहादिजन्यशक्तिविशेषः तत्कारणता तु लोकव्यवहारादेव गम्यते, न शास्त्रात्. तदनभिज्ञानामपि तद्दर्शनाद् इति तल्लोकसिद्धकारणानुवादकं स्वामित्वध्वंसमात्रेण यत्स्वस्य भवति तस्मिन् रिक्थमिति प्रयुञ्जते लोकः'' (व्यवहारमयूख.स्वत्वनिरूपणम्).

यदि धर्माचार्य स्वयं न्यासप्रलेख करता है – न्यासप्रलेखानुसार स्वयं आचरण करता है तथा अन्योंको भी वैसा ही उपदेश देता है तो ३–४ पीढीमें उसका शिष्टाचारप्रामाण्य भी सिद्ध हो ही जायेगा, जो विमर्शकारका विचारसर्वस्व है. जबकि धर्मशास्त्रके अनुसार कोई धार्मिक प्रशासक निर्णय भी लेने जायेगा तब ''प्रमाणं [१]लिखितं [२]भुक्तिः [३]साक्षिणश्चेति कीर्तितम्'' (याज्ञ.स्मृ.व्यय.१।२२) वचनानुसार [१]न्यासप्रलेखपत्र तदनुसार [२]जनसाधारण द्वारा उस स्थलका धार्मिक उपभोग और [३]साक्षि –तीनों ही मिल जायेंगे. तब धर्मतः क्या न्याय्य था और क्या अन्याय्य कैसे पता चलेगा? क्योंकि धार्मिक प्रशासक भी धर्मशास्त्रानुसार ही न्याय देगा. यथा–

''**पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।**
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ।।''

तो जहां पचीस–पचीस वर्षोंसे सार्वजनिक अर्थात् सर्वजनस्वामित्वके विरुद्ध अर्थलोलुप–स्त्रैण–कापुरुष भीरु बनकर आवाज न उठाई जाये और बादमें ऐसे अधर्मका समर्थन खुदपर हुए अत्याचारके बहानेके द्वारा किया जाये कि ''सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत'' तो वह धर्मनिर्णय होगा कैसे?

क्यों मनुके–''नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः (मनुस्मृ.४।१५)'' वचनानुसार अपनी चरणभेटसे सन्तुष्ट रह कर अपने सेव्यप्रभुपर अपना कानूनी स्वत्व रखनेकी विशुद्ध भावना नहीं है? क्यों सेवोपयोगि सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिये सेव्यपरसे

कानूनी दावा निरस्त हो जाये इस हद तककी अर्थाभिनिवेशिता रखी जाती है? क्या कोई पति, अपनी स्वाभरणभूषिता पत्नीका अपहरण कोई गुंडे अर्थ-कामवासनापूर्त्यर्थ कर रहे हों तो, ''पत्नीको चाहे ले जाओ परन्तु उसे सुख पहुंचानेवाले आभूषणोंको छोड दोगे तो यह स्त्री मेरी पत्नी नहीं तुम्हारी है'' - ऐसा प्रलेख करेगा? यदि नहीं तो स्वसेव्य प्रभुस्वरूपसे अधिक क्या सेवोपयोगी सम्पत्ति हो सकती है? यह कैसा कैतवजाल फैलाया जा रहा है! इसके दुष्परिणाम क्या होंगे यह कभी स्वार्थान्ध्यको त्याग करके हमें विचारना है कि नहीं?

अत: विमर्शकैतव धर्मार्थ नहीं परन्तु धनार्थ है यह सुस्पष्ट है. अन्यथा पुत्रोपम शिष्योंकी कहीं बहुजीओंपर कुदृष्टि न पडे अत: अपनी बहुजीओंको गोस्वामिगण जनानेमें=परदेमें रखते हैं! अपने ठाकुरजीका गाममें प्रदर्शन वह धर्मानुमोदित है या नहीं -के विचारको भूलकर भी देखें तो कुछ और ही बात समझमें आती है. जनताके लिये जनताके द्रव्यसे चलते मंदिर सार्वजनिक ही होते हैं ऐसे कानूनोंके रहते हुए भी अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी रक्षाके लिये व्यग्र होनेके बजाय जनाताके लिये जनताके द्रव्यसे जनताके स्वत्वका न्यासप्रलेख भी करनेकी वकालत करते आज हम लज्जित नहीं होते - यह आश्चर्यकी बात है! प्रतीत होता है हमारी परम आराध्य जनता है और जनार्दन तो केवल जनाराधनार्थ एक वृत्त्युपाय!

(६) निक्षेप:

निक्षेपकी परिभाषा याज्ञवल्लक्यस्मृतिके व्यवहाराध्यायके उपनिधिप्रकरणमें ६९वें श्लोककी व्याख्यामें, ''निक्षेपो अन्यहस्तएव यद् अन्यस्मै देयत्वेन निक्षिप्तम्'' कहकर दी है. परन्तु व्यवहारमयूखने नारदोक्त ''स्वद्रव्यं यत्र विश्रंभान्निक्षिपत्यविशंकितो निक्षेपं नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधै:, असंख्याततमविज्ञातममुद्रं यन्निधीयते तं जानीयाद् उपनिधिं निक्षेपं गणिकं विदु:'' वचन देकर ''यो निक्षेप नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते तावुभौ चौरवत् शास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्'' मनूक्त वचनद्वारा निक्षेपापहारीको चौरवद् दण्डनीय भी माना है. अत: अन्यार्थनिक्षेप अथवा स्वार्थनिक्षेप - यों

दो प्रभेद भी उनके मान लें तो अन्यार्थ निक्षिप्त तत्स्वामिक बन जाता है; जहां निक्षेपदाता या निक्षेपग्रहीता के स्वामित्वका कोई प्रसंग नहीं. स्वार्थ निक्षेपमें निक्षेपदाताने अपना स्वत्वत्याग नहीं किया होता है. अत: ऐसे निक्षिप्त वित्तका भगवदर्थ विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका तो विघातक होता ही है. अन्तर इसमें केवल यही है कि अपवादरूपेण भगवदर्थ निक्षिप्त वित्तसे भी आपत्तिकालमें अपवादरूपेण भगवत्सेवाका अनुष्ठान संभव है. विमर्शकारद्वारा, परन्तु, 'गोमयपायस'न्यायेन प्रस्तावित ''भगवद्युपभोगात्प्राक् देवद्रव्यत्वेन अनुपभोगार्हता तथा भगवदुपभोगानन्तर भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगार्हता'' व्यवस्था तो शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि उस स्थितिमें निवेदन-समर्पण और दान (अपने समस्त अवान्तर उपभेदों सहित) के बीच कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा. फिर तो श्रीमहाप्रभुद्वारा उसे ''दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरे: न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्'' (सि.र.६) कहना और ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्'' (सि.र.४) कहना सर्वथा निष्प्रयोजन कथन सिद्ध होगा क्योंकि समर्पणानन्तर अर्थात् भगवद्युपभोगानन्तर दत्त निक्षिप्त उपाहृत उपायनीकृतका अन्तर पूजा तथा भक्तिके मार्गभेदवश नहीं परन्तु भगवद्युपभोगवश तथा भगवदनुपभोगवश ही सारी बातोंका समाधान हो जाता है.

भगवदर्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर जो गोस्वामिओंका निरंकुश स्वत्व हो, जैसा कि आभास विमर्शकार पैदा करना चाहते हैं, तो आगामी संसकरणोंमें घरुवार्ताका सोनाकी कटोरीवाला प्रसंग, चौरासी वैष्णववार्ताके अन्तर्गत संतदासकी वार्ता, २५२ वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत किशोरीबाईकी वार्ता, आशकरणदासकी वार्ता प्रसंगोंको मनस्वी संशोधन-परिवर्धन-परिवर्तनके साथ प्रकाशित करवाना पडेगा. जैसे २५२ वैष्णवोंकी वार्ताकी किसी भी प्रतिमें सातस्वरूपान्तर्गत स्वसेव्य श्रीबालकृष्णलालजीका नाम न होनेपर भी कुछ वर्ष पहले संशोधित-परिवर्धित संस्करण प्रकाशित करवा दिया था! (इस षष्ठनिधिप्रयुक्त षष्ठपीठाधीशतावादका विस्तृत विचार ''पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य'' नाम्ना प्रकाशित ग्रंथमें श्रुतिप्रकरणके प्रकाशनके बाद अब स्मृतिप्रकरण-सदाचारप्रकरण का विचार

क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंगके परिशिष्टतया आगामी परिच्छेदोंमें किया जायेगा.)

प्रकृतमें अवधेय यही है कि स्वत्वकी प्रामाणिक परिभाषा क्या होनी चाहिये–इसपर शास्त्रकारोंके प्रस्थानभेद दृष्टिगोचर होते हैं :

स्वत्वम्–(क) यथेष्ट विनियोगयोग्यता –ऐसा प्राचीनोंका कहना है. जेसे ''चैत्रका धन'' कहनेपर धनपर चैत्रनिरूपित स्वत्वका निरूपण हो रहा है. यथेष्ट विनियोगयोग्यता शास्त्रत: अनिषिद्ध विनियोगयोग्यता, जो क्रय प्रतिग्रह आदि हम करते हैं, उसका विषय (अर्थात क्रीत या प्रतिग्रहीत) होना है. यह बहिरिन्द्रियवेद्य गुण नहीं होता क्योंकि प्रतिग्रहादि मानसज्ञानविशेषरूप होते हैं अत: बहिरिन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं होते.

यहां कुछ विविध प्रस्थान दिखलाई देते हैं यथा 'स्वत्व' वस्तुनिष्ठ गुणधर्म है या अलौकिक गुणधर्म? स्वत्व शास्त्रैकसमधिगम्य होनेसे वस्तुनिष्ठ है –ऐसा जीमूतवाहनादिका पक्ष है. लोकप्रसिद्ध होनेके कारण लौकिक गुणधर्म ही है–ऐसा विज्ञानेश्वरमित्र मिश्र आदिका पक्ष मिताक्षरावीरमित्रोदयमें निरूपित हुआ है....

(ख) 'स्वत्व' क्रय–विक्रय क्रियाओंमें किसी भी द्रव्यका यथेष्ट विनियोजक धर्मविशेषरूप होता है. इसे यथेष्टविनियोगयोग्यतारूप केवल नहीं माना जा सकता –ऐसा दीधितिकार आदिका नवीन पक्ष है. यह स्वत्व दानादिसे नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे जन्य होता है. प्रतिग्रहादि क्रियाओंके नाशके बाद भी स्वत्वव्यवहार होता होनेसे दानसे स्वत्व नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे उत्पन्न होता है. अतएव भाविवस्तुपर स्वत्व सम्भव है. अन्यथा प्रतिमास प्रतिवर्ष देयत्वेन प्रतिश्रुत धान्यादि भावि पदार्थ हैं वहां स्वत्व उत्पन्न हो नहीं पायेगा. कुछ लोग ''मैं अपने स्वत्ववाले घरको देख रहा हूं'' अनुव्यवसायके आधारपर इसे प्रत्यक्षगम्य मानते हैं और कुछ लोग अनुमानगम्य. (न्यायकोश : 'स्वत्वम्')

कुल मिलाकर बात इतनी इस विवेचनाके आधारपर समझी जा सकती है–धर्मोपयिक अलौकिक स्वत्व धर्मशास्त्रसिद्ध ही होता है लोकसिद्ध

नहीं तथा शास्त्रत: अनिषिद्ध लौकिक व्यवहारोपयिक स्वत्व लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान या ऐतिह्य आदिसे सिद्ध होता है. यथा धर्मपत्नीत्व धर्मपुत्रत्व धर्मोपयोगिशुद्धि धर्मशास्त्रसिद्ध विवाहसंस्कार दत्तकविधि मार्जनादिशुद्धिविधि द्वारा होती है तथा लौकिकभार्यात्व लौकिकक्रीतपुत्रत्व लौकिकशुद्धि लौकिकप्रमाणोंसे गम्य होती है. शास्त्रत: अनिषिद्ध लोकव्यवहारका औचित्य अथवा अनौचित्य लौकिक प्रमाणोंसे ही सिद्ध होता है. अतएव षष्ठनिधित्वमूलक षष्ठपीठाधीशत्वसिद्धिके लिये लौकिक न्यायालयोंकी शरणमें जानेको अपने अनुयायिओंको प्रेरित करना पडा था, जब बडौदामें गो.श्रीद्वारकेशजीकी षष्ठपीठाधीशतया तिलकविधि हुई थी.

अत: लोकमें अन्यार्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर गोस्वामिओंका अकारण निरंकुश स्वत्व स्वीकार लेना न शास्त्रसिद्ध है और न लोकसिद्ध है. ऐसी स्थितिमें विमर्शकारका यह कथन कि गोस्वामिओंके घरमें उनकी आज्ञासे उनके ठाकुरजीके लिये उपायन गुरुसेवाके अन्तर्भूत होता है -केवल छल है. क्योंकि (१) स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका यह परिग्रह है या (२) भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रह?

(१) यदि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका परिग्रह हो तो जैसे स्वनिमित्तक स्वकन्यासंप्रदानक स्वबन्धुबान्धवकर्तृक उपायनपर स्वयं पिताका नहीं परन्तु कन्याका स्वत्व उत्पन्न होगा जिसका उपभोग करनेपर कन्याद्रव्यापहारी पिता बनता है. वैसे ही गोस्वामीका स्वत्व नहीं परन्तु श्रीठाकुरजीका ही स्वत्व उत्पन्न होगा. गोस्वामीके हाथोंमें वह केवल निक्षिप्त ही माना जायेगा. ऐसी स्थितिमें -

मूल : गुर्वर्थे दारमुज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।
सर्वत: प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं तत: ।।

अनुवाद : गुर्वर्थ, विवाहार्थ, देवतार्चनार्थ, अतिथ्यर्चनार्थ किसीसे भी प्रतिग्रह किया जा सकता है परन्तु उसके उपभोगसे स्वयंको तृप्त नहीं करना चाहिये. (वासिष्ठवचन याज्ञ.स्मृ.बा.क्री.आचार. ९।२१३में उद्धृत).

मूल : य: स्वदत्तां परै: दत्तां हरेत सुरविप्रयो:

वृत्तिं स जायते विडभुग् वर्षाणामयुतायुतम् ।। (भाग.११।२७।५४)

अनुवाद : स्वप्रदत्त या परप्रदत्त सुरवृत्ति (अर्थात् देवताराधनार्थ निक्षेप) का अथवा विप्राजीविकार्थ निक्षेपका जो हरण करता है वह अयुतायुत वर्षोपर्यंत विष्ठा खानेवाला (शूकर) बनता है.

मूल : चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।

विपणेन च जीवन्तो वर्ज्या: स्यु: हव्यकव्ययो: ।।

(मनुस्मृ.३।१५२)

यहां व्याख्या करते हुए (१) मेघातिथि (२) सर्वज्ञनारायण (३) कुल्लुक (४) राघवान्द (५) नन्दन (६) रामचन्द्र (७) मणिराम तथा (८) गोविन्दराज –सभी व्याख्याकार एकमत हैं. यथा क्रमश: (१)...'देवलका:' प्रतिमापरिचारका: आजीवनसम्बन्धेनेतौ प्रतिषिध्येते. (२) 'देवलकान्' धनार्थं देवार्चकान्. (३) 'देवल:' प्रतिमापरिचारक: वर्तनार्थमेवैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो नतु धर्मार्थम्. (४) 'देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेद्' इति देवलेन निर्णीता:. (५) ''देवकोशोपजीवी तु नाम्ना देवलको भवेद्'' इति स्मृत्यन्तरवचनम्. (६) धर्मार्थे तु चिकित्सकदेवलकयो: दोषाभा:. (७) 'देवल:' प्रतिमापरिचारक: 'देवकोशोपभोगी च नाम्ना देवलको भवेद्'' इति देवलवचनात् एतत्ककर्म कुर्वत एवायं निषेधो ज्ञेय:. (८) 'देवलक:', प्रतिषेधो न धर्मार्थं तत्र विहिततवात्.

ये स्वार्थप्रतिष्ठापित देवकी आजीविकार्थ आराधना करनेवाले अर्थात् स्वार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक निक्षेपके उपभोग करनेवालोंको उद्देश्य करके हैं, उत्सर्गतया. अपवादतया परार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक अन्न–वस्त्र–पुष्प निवेदित–समर्पित या मालासदृश भगवद्भुपभुक्त वस्तुओंके भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगकी निंदनीयताका प्रमाण नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त उत्सर्गका अपवाद है. परन्तु परार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिको ही किसी वित्तदाताद्वारा देवमूर्तिस्वत्वो–त्पत्त्यर्थ उपाहृत–उपायनीकृत रजतसुवर्णभूमिकूपक्षेत्रादिका अपहरण देवद्रव्यापहारदोषोत्पादक होता ही है.

अत: या तो गोस्वामिओंको अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको परार्थप्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयमें बिराजमान मानकर स्वयंको पूजारी मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें किसी भी प्रधान द्वितीय या षष्ठ, सप्तम पीठोंकी षष्ठपीठाधीशताका दावा खण्डित हो जायेगा. और स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप स्वीकारनेपर भगवदर्थ निक्षिप्त उपाहृत-उपायनीककृत भेट-सामग्रीको सोनकी कटोरी, संतदास, किशोरीबाई की वार्ताके अनुसार देवद्रव्य मानकर अपने उपभोगमें लानेकी लालसापर काबु पाना पडेगा. अन्यथा देवलकत्व या देवद्रव्यापहार वज्रलेपायित ही होगा.

(२) एतदर्थ भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका प्रतिग्रहका कल्प अंगीकार करनेपर अधोलिखित दोषापत्ति आती है -

मूल : **न तीर्थे प्रतिगृह्णीयात् प्राणै: कण्ठगतैरपि ।**
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम् ।।
तीर्थे प्रतिग्रहो यस्तु तीर्थविक्रयएव स: ।
विक्रीतायां तु गंगायां विक्रीत: स्याज्जनार्दन: ।।
जनार्दने तु विक्रीते विक्रीतं भुवनत्रयम् ।
यस्तु लौल्याद् द्विज: क्षेत्रे प्रतिग्रहरुचि: भवेत् ।
नैव तस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मन: ।।

(प्रायश्चितमयूखोद्धृत पाद्मवचन)

अनुवाद : तीर्थमें प्राण कण्ठमें अटके हो तब भी प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये, कोई कितना भी कामातुर हो परन्तु अपनी मांको तो छोडता ही है. तीर्थमें अर्थात् तीर्थनिमित्तक प्रतिग्रह तीर्थविक्रय ही है. (जेसे आधुनिक गोस्वामी व्रजयात्राद्वारा अर्थोपार्जन करते हैं) गंगाको बेचनेपर तो जनार्दनको ही बेचा समझना चाहिये. जनार्दनको बेचा तो भुवनत्रयको बेच खाया! अत: लोभवश तीर्थक्षेत्रनिमित्तक प्रतिग्रहरुचिवाले दुरात्मा ब्राह्मणका ऐहिक पारलौकिक सब कुछ बिगडा हुआ समझना चाहिये.

अतएव सर्वनिर्णयनिबन्ध तथा भागवतार्थनिबन्ध को

भागवतपुराणनिमित्तक प्रतिग्रहकी निन्दाके ये वचन भी मननीय है –''... ततो भागवतं कृतं, एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् ।।६७।।

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् ।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम–दम्भतः ।।२४२।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वामाचरेत् ।।२५३–४।।

इदं भागवतं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति. (भागवतार्थप्रका.१।२७)

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।। (सि.मु.१६)

'लोकार्थी'ति श्लोकस्तु संसारिमध्येपि ययो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षितः. परं तत्र अयमर्थः–लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वा–दिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी. (सि.मु.वि.प्र.१६)

ऐसी स्थितिमें एकत्र नहीं किन्तु अनेकत्र तीर्थ भागवतादिमें निर्णीततया निन्दित तीर्थादिनिमित्तक भागवतादिनिमित्तक प्रतिग्रह उनका विक्रय ही होता हो तो ''असति बाधके अन्यत्र (सेवायाम्) अपि युज्यते.'' (द्रष्ट.विमर्श.पृ.१५१) क्यों नहीं स्वीकारा जाता? क्योंकि यदि साक्षात् भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको धर्म्य मान लेते हैं तो पुनः ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते''न्यायसे तीर्थ–भागवतादिपर भी लागू होगा. यदि तीर्थ–भागवतादिमें कण्ठोक्त निषेधको बलवान मानते हैं तो यहां भी कण्ठोक्त निषेध तो अनेक उपलब्ध होते ही हैं. फिर अन्तर केसे आयेगा?

अतः स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको भी स्वमार्गमें अत्यन्त गर्ह्य मानना चाहिये –यह सिद्ध होता है.

इस तरह ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिका एका'' वचनांशके विवेचनतया वित्तदानके अनेकविध विहित अनुमत अनिन्द्य तथा कुछ निन्द्य प्रकारोंके भी स्वरूपोंका विचार कर कैसे वे उपदिष्ट तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपघटक हो सकते हैं या नहीं यह हमने देखा. उसके बाद ''एतादृशेन (वित्तग्रहीत्रा). पुंसा कृता च अपरा'' वचनांशके विवेचनतया वित्तग्रहणके कुछ प्रकारोंका भी स्वरूप समझ लेना उपकारक होगा–

वितागम या वित्तपरिग्रहण

दाय	लाभ	क्रय	जय	प्रयोग	कर्मयोग	सत्प्रतिग्रह
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)

यहां व्याख्याकारोंमें प्रस्थानभेद है. तदनुसार कुछ व्याख्याकारोंके मतमें ब्राह्मणके लिये दाय–लाभ–क्रय–सत्प्रतिग्रह –यों वित्तपरिग्रहके चार धर्म्य प्रकार हैं. क्षत्रियके लिये दाय–लाभ–क्रय–जय, वैश्यके लिये दाय–लाभ–क्रय–प्रयोग–कर्मयोग; तथा क्षुद्रके लिये दाय–लाभ–क्रय. अन्य व्याख्याकारोंके अनुसार जय–प्रयाग–कर्मयोग भी क्रमशः वादिजय, अध्यापन, याजनके रूपोंमें ब्राह्मणके ही वित्तागमके धर्म्य प्रकार हैं.

वैसे इन सात विभागोंके धर्म्यत्वनिरूपणका शास्त्रीय तात्पर्य यह तो लेशमात्र भी नहीं है. ब्राह्मण इन धर्म्य उपायोंसे केवल वित्तोपार्जनपरायण ही बन जाये क्योंकि श्रीमद्भागवत तथा मनुस्मृति दोनोंका स्पष्ट आदेश है.

मूल : इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ।।
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक्तयोः ।
ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च ।।
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ।।...

यस्त्वासक्तमतिर्गेहो पुत्रवित्तेषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ।।
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्पस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ।।

(भाग.११।१७।४०-५८)

अनुवाद : यजन शास्त्राध्यायन और दान सभी द्विजोंके कर्तव्य है; याजन शास्त्राध्ययन और प्रतिग्रह ब्राह्मणके ही. जितना अधिक प्रतिग्रहमें रचता पचता है उतने ही ब्राह्मणके तप तेज और यश का नाश होता है. अतएव अध्यापन और याजन द्वारा ही आजीविका चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. अथवा उनमें भी दोषदर्शन होता हो तो शिलोञ्छवृत्तिसे जीना चाहिये. क्योंकि यह ब्राह्मणयोनि क्षुद्र (लाभपूजाकामनाओं जैसी) कामनाओंकी पूर्तिके लिये नहीं मिलती है. यह तो मिलती है भूतलपर कृच्छ्र-तपके लिये तथा देह छूटनेपर अनन्त (पारमात्मिक) सुख पानेके लिये. शिलोञ्छवृत्तिसे परितुष्ट चित्तवाला महान विरज धर्मका सेवन करनेवाला परमात्माको आत्मसमर्पण करनेवाला गृहमें रहनेपर भी गृह्यकृत्योंमें अतिप्रसक्त न होनेवाला ही शान्तिको पाता है... परन्तु घरमें जिसकी मति आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से जो आतुर है ऐसा स्त्रैण कृपणधी मूढ अहन्ता-ममतामें बन्ध जाता है...यह मूढ घर भरनेके चक्करमें कभी तृप्त हो नहीं पाता और घरके लोगोंका ध्यान करते करते मरनेपर अन्धंतमनरकको प्राप्त करता है.

अतएव मनुस्मृतिमें भी यही कहा गया है -

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।।
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। (१०।७५-७६)

''विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः'' का वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये

याज्ञवल्क्यका यह वचन मननीय है–

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।
अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा द्विषः ।। (याज्ञ.आचा.९।२१२)

अतएव मनुस्मृतिमें कहा गया है –

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ।।
यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।।
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।।
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।। (मनुस्मृ.४।२–६)

अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने शिलोञ्छादि ऋतवृत्तिको अपना पानेकी आधुनिक ब्राह्मणोंकी असामर्थ्यको लक्ष्य करके अध्यापनोपदेशपूर्विका अमृताख्या अयाचितवृत्तिद्वारा आगत चरणभेटसे जीवननिर्वाहकी नियमविधि स्ववृत्तिवादमें प्रतिपादित की है. वहां वृत्त्यर्थ भगवदपायनीकृत भेट–सामग्रीका, यद्यपि, स्पष्ट निषेध नहीं किया किन्तु उस वादग्रन्थको तथा ''न च यागो यजमानस्य वित्तदातुः फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' (सि.मु.वि.प्र.२) और ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धधप्रकारेण...'' (सि.मु.वि.प्र.१६) वचनोंके परस्पर समन्वयपूर्वक तात्पर्योन्नयन करनेपर विहित–निषिद्ध प्रकारोंका बोध सर्वथा सुलभ है. फिर भी श्रीपुरुषोत्तमजीके ही घरमें उनके ही उत्तराधिकारियोंका यह कहना कि – ''यहां यह ध्यातव्य है

कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा... **महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध है.** परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है.'' (विमर्श.पृ.५७-५८) एक विलक्षण अकाण्डताण्डव है.

आश्चर्य होता है कि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीका खण्डन विमर्शकारको चिकीर्षित है या श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनाभिप्रायावगममें स्वासामर्थ्य!

यदि खण्डन अभिप्रेत हो तो तब तो ''ततो भागवतं कृतम् एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् परमत्रैको महान् दोषः तदुपजीवनमिति. अतस्तदभावमाह अनुपजीवनादिति. वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः'' (सर्वनि.प्र.६७). ''**पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि** तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्'' (सर्वनि.२५३-४). ''सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा नामात्मकं **भगवतो रूपं,** तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति.'' (भाग.नि.प्रका.१।२७). भागवतके वृत्त्यर्थ उपजीवनमें हेतु श्रीमहाप्रभुने 'भगवतो रूपम्' अर्थात् 'भगवद्रूपत्वात्' दिया है. अतः ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यात्रापि युज्यते'' (विमर्श. पृ.१५१) स्वाभ्यूपेत न्यायानुसार स्वाराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको भगवद्रूप मानते हो तो शीघ्र ही वृत्त्यर्थ उपजीवनका त्याग करना चाहिये अन्यथा स्वाराध्यकी भगवद्रूपता अभिप्रेत न हो तो श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनका खण्डन श्रीमदाचार्यवचनके खण्डनमें पर्यवसित हो रहा है. इस स्वारूढशाखोच्छेदनकी विचित्र अर्थाभिनिवेशितात्मताके बारेमें क्या कहना?

यदि श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनोंके अभिप्रायावगममें खुदके असामर्थ्यका द्योतन विवक्षित हो तो निर्लोभ निर्दम्भ होकर यहां भी ''क्योंकि प्रकृतिमें आनेवाले अंगोंको विकृतिमें लेना या नहीं -इस विषयमें मीमांसाशास्त्रका सिद्धान्त है कि वे अंग प्रधानके उपकारक हो तो उन्हें लेना. (अर्थात् उपकारक न हो तो न लेना) प्रकृतमें यह ध्यातव्य है कि प्रधान भगवत्सेवा है.'' (विमर्श पृ.१७५). अतः देवलकप्रकरणप्रदत्त वे सारे शास्त्रवचन जो वृत्त्यर्थ विष्णुपूजनमें भी देवलकता नहीं आती ऐसा प्रतिपादन करते हें वे

स्वत: अप्रासंगिक हो जायेंगें. क्योंकि ''वचनात्प्रवृत्ति: वचनात् निवृत्ति:''ही एकमात्र शरण होती है. वैसे इन सारे वचनोंके आधारपर किये गये विमर्शका विशोधन आगामी द्वितीयादि परिच्छेदोंमें तो सविस्तर होगा ही.

अत: वित्तागमके दायादिके सातोंके सात धर्म्य प्रकारोंद्वारा स्वस्वत्वापन्न वित्तद्वारा सेवा करनेपर ही तनुवित्तजा स्वरूप अखण्डित रहेगा. अन्यथा स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तके स्वोपभोगपर्यवसायी परिग्रह करनेपर या तो देवस्वापहरण या देवलकता दोष वज्रलेपायित है.

ऐसी स्थितिमें श्रीमत्प्रभुचरणकी विवृत्तिके (७।ख) वचनांश, जो श्रीमहाप्रभुके ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''अंशके अभिप्रायज्ञापनार्थ है, उसमें वित्तदान तथा वित्तपरिग्रहके वर्जितावर्जितप्रकारोंकी व्यवस्था स्पष्ट हो जानेपर तदनुरोधसे निष्कर्षरूप (ग) ''एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिर्वदनपुर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव:'' विधानका आशयोन्नयन करना चाहिये न कि निष्कर्षानुरोधवश मूलवचनाभिप्रयाका अन्यथानयन. व्याप्तिवचनके अनुरोधसे पक्षमें साध्यनिर्णय की प्रतिज्ञा की जाती है न कि प्रतिज्ञानुरोधवश व्याप्तिस्वरूपका उपपादन. न्यायशास्त्रके इस सामान्यनियमका उल्लंघन विमर्शकारद्वारा स्वगृहमें विश्रुत नयायिकोंको संरक्षण देनेकी उपयोगितापर एक प्रश्नचिह्न लगाता है !

(ग) तदनुसार इस प्रभुचरणप्रदत्त निष्कर्षमें कुल कितनी बातें आयी हैं उनका अंकविन्यासपूर्वक परिग्रहण उचित होगा–

***एतेन ''(१) भगवदर्थं (२) निरुपधि: (३) स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं (४) तत्रैव स्वदेहविनियोगे (५) प्रेम्णि जाते (६) सा भवति''* इति भाव:.**

(*''**एतेन इति भाव:**''अंशोंसे प्रस्तुत पंक्ति स्वाव्यवहितपूर्वोक्तिका निष्कर्षरूप है – यह द्योतित करता है.)

(१) '**भगवदर्थं**'पदका अभिप्राय सेवाके प्रयोजनका परिष्कारक है यथा–

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।।

परलोकश्च तेनायं सर्वभावने सर्वथा सेव्यः..। (शिक्षाश्लोकी).
लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।

ननु कश्चिद् जीविकार्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः लोकार्थी इति. लोकपदेन लौकिको अर्थः युज्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलं ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद् इति सर्वथा इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति चेद् इति उक्तम्. (सि.मु.वि.श्रीमत्प्रभुचरणकृत स्वोपज्ञप्रक्षेप श्लो.१६)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।

(श्रीहरिरायजीकृत शि.प.१८।१२-१३)

''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण...'' (सि.मु.वि.प्र.१६)

(२) 'निरुपधि' : 'निरूपधिता'का सुगमतम स्वरुप तो श्रीप्रभुचरणने ''फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते'' कहकर समझा ही दिया है.

यहांपर श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी के वचन भी अनुसंधेय हैं. यथा-

''फलरूपस्य तस्य स्वतःपुरुषार्थत्व (न तु वृत्यर्थत्व-पीठाधीशत्व-प्रतिष्ठार्थत्व-कहाडीभेटप्राप्त्यर्थत्व :गो.श्या.म.) धर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः

...फलसेवनं हि स्वत:पुरुषार्थ: यथा कामिन्या:...कामप्रयत्न्यो: एक (भगवत्प्रवणचित्तत्वरूप) विषयत्वेन इति (अर्थात् एतदितविषयकत्वे निरुपधित्वभंग:) अर्थ:.''(सि.मु.वि.टि.१)

इसी तरह श्रीव्रजनाथजीका स्पष्टीकरण भी नितान्त मननीय है- ''फलसेवनं हि स्वत:पुरुषार्थ: इति. अतएव धर्मार्थयो: काममोक्षद्वारा पुरुषार्थता. काममोक्षयोरेव साक्षात् सुखहेतुत्वात् स्वत:पुरुषार्थत्वम्.'' (सि.मु.वि.टि.१)

(३) 'स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकम्'के अवलोकनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम तो वित्तका स्वप्रभुसंप्रादनक दान-निक्षेप-न्यास-परायत्तीकरण नहीं किन्तु निवेदन-समर्पण ही इतिकर्तव्यतया अभीष्ट है. ताकि स्वयंका 'स्वत्व' उसपरसे निवृत्त न हो जाये. अत: 'स्व-स्व(वित्त)निवेदन' किया जाता है. दूसरे कुछ अपनी स्वनिमित्तक-स्वसंप्रदानक चरणभेटका स्वार्थोपयोग तथा भगवन्निमित्तक-स्वसंप्रदानक अथवा स्वनिमित्तक-भगवत्संप्रदानक वित्तका भगवत्सेवार्थ उपयोग करना, इसी तरह एवं देवलकतारूपनिषिद्धवृत्तिलब्ध अथवा देवस्वका ही भगवत्सेवार्थ उपयोग करना -इस तरह अंशत: नहीं किन्तु 'स्व'=स्वत्वविशिष्ट-'सर्व'=सकलचेतनाचेतनरूप 'स्व'= वित्तके निवेदन (तदुपलक्षित समर्पण/विनियोग)पूर्वक भगवत्सेवा कर्तव्य है.

अथवा 'स्व'=देहप्राणेन्द्रियान्त:करणतद्धर्मविशिष्ट आत्मा स्वयं तथा 'सर्वस्व'=दारागारपुत्राप्तवित्तेहापरका निरूपधि निवेदन-अर्थ भी शक्य है. अत: यहां ब्रह्मसंबंधदीक्षाका ही प्रभुचरण परामर्श कर रहे है.

(४) 'तत्रैव स्वदेहविनियोगे' : यहां स्वयं तथा सकलस्वकीय के निरुपधि निवेदनोत्तर अवश्यकर्तव्यताक स्वस्वीयके विनियोगकी बातपर भार दिया जा रहा है, अन्यत्र विनियोगपरिहारार्थ. 'असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् निवेदिभि: समप्यैंव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:'' (सि.रह.४-५) वचनसे वह आगे विवक्षित है ही.

यद्यपि विमर्शकारने इस अंशका दुरुपयोग तनुजा-वित्तजाके पार्थक्य सिद्ध करनेको महापुरुषार्थतया किया है. फिर भी उस वाक्छलमें एक सत्य, जो बहोत सुन्दर रीतिसे उभरकर आया है, वह यह कि 'निरुपधि'=फलाकांक्षा-कापट्य-रहितता को दोनों तनुजा एवं वित्तजा के साथ जोडना चाहिये - यों कहा गया है. (विमर्श पृ.५) यद्यपि शब्दमर्यादया यह शक्य नहीं फिर भी तात्पर्यानुरोधवश सर्वथा उचित ही है. ऐसी स्थितिमें वृत्त्यर्थ सेवाको धर्म्य मानना साथ ही साथ फलाकांक्षाकापट्यरहित तनुजा और वित्तजा का भी समर्थन करना ''मम माता वन्ध्या''सदृश वदतोव्याघात है!

(५) 'प्रेम्णि जाते' : 'प्रेम्णि'की सप्तमी वैषयिकी, नैमित्तिकी अथवा सतीसप्तमी भी हो सकती है. वैषयिकी लेनेपर प्रेमविषयक स्वदेहविनियोग-ऐसा अर्थ होगा. नैमित्तिकी लेनेपर भगवत्प्रेमोपलब्धिनिमित्तवशात् भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग-ऐसा अर्थ होगा. अथवा सतीसप्तमी लेनेपर भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग होनेपर प्रेम प्रकट होता है. प्रेम होनेपर चित्त भगवत्प्रवण होकर मानसीसेवाके हेतु समर्थ बनता है. वृत्यर्थ प्रेम तथा प्रेमार्थ वृत्ति के बीच महान अन्तर होता है. पतिव्रता गृहवधू स्वपतिस्नेहार्थ पोष्य बन कर पतिवित्तोपजीविनी होती है. जबकि दुश्चरित्रा वारवधू आजीविकार्थ वित्तदाताको प्रेम करती है. स्पष्ट है कि फलाकांक्षा-कापट्य-रहित जब तनुजा या वित्तजा नहीं होती तब तो अभिलषित भेट-सामग्रीरुप फललाभार्थ अथवा पीठाधीशतारूप प्रतिष्ठार्थ ही चित्त तत्प्रवण बनेगा; वह भगवत्प्रवण नहीं बन पायेगा. इसका स्पष्ट उदाहरण विमर्शकारके इस विधानसे मिलता है -''निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं सन्दिग्ध है. परन्तु उस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है'' (पृ.५७-५८) इस स्वीकारोक्तिके बावजूद न केवल सुरतकी हवेलीमें स्वनिर्वाहार्थ दर्शनार्थिओंकी भेट-सामग्री स्वीकारी जा रही है प्रत्युत आलोच्य विमर्शग्रन्थमें उसका निर्लज्ज समर्थन और किया गया है. जबकि श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है-''विधर्मः परधर्मश्च आभासः उपमा छलः, अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्, सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य

यत्सुखं-, कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः।।'' (भाग.७।१५। १२,१६)

परधर्मानुष्ठानका अनुमोदन यदि धर्मस्थानोंसे शुरु हुआ तो कल वैष्णव अन्याश्रय भी करनेकी छूट लेंगे; ''शिवदुर्गागणपतिभजन उपधर्म नहीं है'' कहकर. जसे गोस्वामिसजातीयभट्टवर्ग गोस्वामिओंके बेटीजीका पाणिग्रहण करते हैं तो वह भी उपधर्म कहा हैं? सो उसमें दोषबुद्धि खतम हो जायेगी. वैष्णव भी पाणिग्रहणका प्रस्ताव लेकर आने लगेंगे ! इतना अविचारित विधान कैसे कोई धर्माचार्य कर सकता है-यह विस्मयका विषय है!

(६) 'सा भवति' : 'सा'का अर्थ मानसी सेवा या भगवत्प्रवणता यथेष्टतया लिया जा सकता है. इस तरह अत्यधिक विवादास्पद ७वे अंशकी विवेचनाके बाद श्रीप्रभुचणोत्तरकालीन सभी मान्य व्याख्याकारोंद्वारा विशेषोल्लेखनीय अंशोंके मननार्थ अब प्रवृत्त होना चाहिये.

(III) प्रभुचरणोत्तरकालीन व्याख्याएं

(१) स्वसिद्धानतविनिश्चयः यहां श्रीगोकुलनाथजीने 'विनिश्चय'के 'वि'उपसर्गका तात्पर्य साक्षात् श्रुतिनिरूपित अर्थका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करना चाहते हैं -इस अर्थमें लिया है. इसी रह 'स्वसिद्धान्त'पदगत 'स्व'का तात्पर्य स्वमत श्रुत्यर्थ ही है ऐसे प्रयोजनवश स्वीकारा है. यही बात श्रीकल्याणरायजीने भी स्वीकारी है. श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार 'शास्त्र'=काण्डद्वयात्मक वेद अथवा तदर्थनिश्चायक वेदान्त है. '(तद्-)अर्थ'= प्रयोजन या तात्पर्य के बारेमें संशयनिरासार्थ प्रकृत उपदेश श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं. तत्पश्चात् द्वितीयस्कन्ध-एकादशस्कन्धोक्त भक्तिके संदर्भमें यह सारा निरूपित हुआ है ऐसा विधान करते हैं. स्पष्ट है कि यह आजीविकार्थ उपदेश हो नहीं सकता. श्रीवल्लभजीने 'शास्त्रार्थ'तया गीताभागवतार्थका परिग्रहण किया है. श्रीलालुभट्टजीने श्रुतिगीतासूत्रसमाधिभाषारूप शास्त्रोंसे सिद्ध स्वकीय सिद्धान्त निरूपणार्थ प्रकृत उपदेशारंभ मान्य किया है. श्रीलालमणिसुत श्रीविठ्ठलरायजीकी तथा श्रीनरसिंहलालजीकी टीकाएं क्रमशः

गुजरातीभाषा तथा व्रजभाषामें श्रीपुरुषोत्तमजीके प्रकाशका ही अनुवाद हैं या सार हैं सो यथापेक्षित सन्देहनिरसनार्थ ही उनका उद्धरण दिया जायेगा.

(२) कृष्णसेवा : श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां स्पष्टीकरण दिया है कि कृष्ण परब्रह्म, भूमविद्योक्तनित्यनिरवधिसुखरूप होनेसे परमफलरूप है. ऐसे फलात्मक भगवान कृष्णकी सेवाको फलबुद्धिसे करना सिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकोपार्जनके साधनतया नहीं –यह पृष्ठलग्नायात है) साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमजीने यह खुलासा भी दिया है कि मोक्षपर्यंत पुरुषार्थमें उपेक्ष्यबुद्धि जगानेवाली भक्तिलक्षणा सेवा है. (अर्थात् वित्तप्रतिष्ठादि क्षुद्र लाभोंके हेतु उसका प्रयोग स्वरूपविघातक ही होगा). श्रीवल्लभजी कहते हैं–फलरूप श्रीकृष्णकी स्वत:पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृति स्वसिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकार्थ वृत्त्यर्थ तनुजा सेवा स्वत:पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नकृति ही नहीं– यह समझ लेना चाहिये). श्रीव्रजनाथजीने अतीव महत्वपूर्ण स्पष्टता ''कामप्रयलयो: एकविषयत्व''के रूपमें स्वत:पुरुषार्थताको परिभाषित किया है. ऐसी स्थितिमें पेंफलेट छापकर दर्शनार्थिओंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न वित्तविषयक हो और कामना भगवत्सेवाविषयिणी हो अथवा प्रयत्न भगवत्सेवा करनेके हों और विमर्शकारोक्तरीतिसे कामना वृत्ति कमानेकी हो. अर्थात् प्रयत्न सेवाविषयक हो और कामना वित्तविषयिणी हो तो उसकी स्वत:पुरुषार्थता स्वत: ही खण्डित हो जाती है. श्रीलालुभट्टजी भी मोक्षावधि पुरुषार्थको तुच्छ मानकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी बात कर रहे हैं. श्रीद्वारकेशजीने यहां फलात्मक श्रीकृष्ण और फलात्मिका कृष्णसेवाके बीच कार्यकारणभाव अर्थात् जन्यजनकभाव संबंध भी निरूपित किया है. स्पष्ट है कि दोनोमें भेद दिखलानेके लिये यह निरूपण नहीं प्रत्युत अभेदनिरूपणार्थ ही है. जैसे सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभुने ''अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमास:...क्रमात् पञ्चविधो हरि: तत्साधनं च स हरि: प्रयाजादिस्रुगादि यत्'' (सर्वनि.२।३) द्वारा कर्मकी ब्रह्मात्मकता समझाई है. वैसे ही यहां भी कृष्णसेवाकी कृष्णात्मकताका अभिप्राय समझना चाहिये. अत: आजीविकार्थ कृष्णसेवा आजीविकार्थ कृष्णविक्रयोपम ही होता है. ''तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति.'' न्याय यहां भी अनुसन्धेय है.

(३) 'सदा' : श्रीगोकुलनाथजीने सभी जीवोंका सहजदासत्व है इसमें संकुचितवृत्तिसे आसुरजीवातिरिक्त सभी जीव सहजदास हैं यह दिखलाया है. 'सदा'पदकी उत्थानिकामें अंशी परमात्माके अंश होनेसे जीवात्माके आत्स्वरूपविचारवश सेवाकी सहज कर्तव्यताका निरूपण किया है. अर्थात् किसी कालिक निमित्तवशात् नहीं प्रत्युत जीवात्माके साहजिकस्वरूप-विचारवश सेवाकी कतृव्यता है. अतएव जो जीव सेवा नहीं कर पाते उन्हें 'आसुर' इसी अर्थमें कहा जाता है कि उनका सहज स्वभाव अन्य अर्थ-कामादि सम्पादित करनेकी अहंता-ममतासे ग्रस्त हो गया है-ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजीका तात्पर्य है. श्रीवल्लभजीने तथा श्रीव्रजनाथजीने यहां यह स्पष्टीकरण विशेषतया दिया है कि 'सहज'पदमें 'ज'का अर्थ 'जन्य' न लेकर 'सत्ता'लेना चाहिये, क्योंकि नित्य होनेके कारण जीवात्माके जनन-मरण होते नहीं. 'सहज' यानि सहजात नहीं परन्तु सहसत्ताक. अत: जैसे जीवकी सत्ता जीवसे पृथक् नहीं उसी तरह दासत्व भी उससे पृथक् नहीं हो सकता. इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृत्त्यर्थ भगवद्दास्य संभव नहीं; भगवद्दास्यभावार्थ वृत्ति हो सकती है. दास्यधर्म ही सेवा है. शास्त्रीय कर्म देहाधिकारक कालाधिकारक है. एक ही जो कर्म ब्राह्मणदहोपेत होनेपर हम कर सकते हैं वह शूद्रदेहोपेत होनेपर नहीं कर सकते. एक ही ब्राह्मण जो कर्म गृहस्थाश्रममें कर सकता है वह ब्रह्मचर्य या संन्यासाश्रममें नहीं कर सकता. ऐसा देहकालपरिच्छेद भगवत्सेवामें नहीं है. अधिकमासके कालमें रुपये ऐंठनेके लिये अधिकमासका माहात्म्य आज पुष्टिमार्गमें दिखलाया जाता है -वह अन्य कथा है. अन्यथा ''न कालोत्र नियामक:'' वचनका क्या होगा?

(४) 'कार्या' : यहां व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि सेवा करनी आवश्यक है यह 'कार्या' कहकर सूचित किया. वहां आवश्यक वह होता है कि जिसके एक बार किसी भी रूपमें अवगत होते ही बादमें उसके न होनेपर हमारा अनिष्ट हो जायेगा - ऐसा भाव मनमें जगना, अथवा ऐसी कोई बात कर पाना. किसी भी बातके आवश्यक होनेका यह केवल मतलब नहीं होता कि वैसा करनेकी हमें अनुल्लंघनीय आज्ञा मिली है. कृष्णसेवा हमारा आवश्यक कर्तव्य है अत: न करनेपर हम प्रत्यवायी अर्थात्

भक्तिमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं. अत: अपने आपके बारेमें ''मैं भगवद्दास हूं'' ऐसा भान रखते हुए सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थ (अर्थात् धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी भी एकके साधनतया नहीं; आजीविकाके लिये तो नहीं ही) है अत: दास होनेके नाते आवश्यक धर्म मानकर सर्वदा सेवा करनी चाहिये. श्रीवल्लभजी और श्रीव्रजनाथजी ने भी करीब करीब यही बात कही है. श्रीद्वारकेशजीने एक बहोत सुन्दर स्पष्टीकरण दिया है कि वैसे तो मानसी सेवा जीवकृतिसाध्य नहीं, जैसे अलौकिकसामर्थ्य भगवानके द्वारा प्रदान करनेपर ही सिद्ध होता है अन्यथा नहीं वैसे. मूलमें श्रीमहाप्रभुद्वारा 'कार्या' ऐसे विधिवचनका प्रयोग करना तथा नहीं करनेपर जीव प्रत्यवायी बनता है ऐसा विवृत्तिमें प्रभुचरणद्वारा स्पष्टीकरण देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि पिता-पुत्र अपने शरणागत जीवोंको सेवा कर पानेका वरदान दे रहे हैं. (इससे यह सिद्ध होता है कि जो देवलक भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तोपार्जन कर रहे हैं अथवा जो देवद्रव्यादि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक वित्तका उपभोग कर रहे हैं वे दोनों ही ''मेरो होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो अरु खायेगो सो महापतित व्है जायेगो मेरो नाहि कहावेगो'' घोषणाके अनुसार श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्टिमार्गबहिष्कृत ही हैं.)

(५) 'मानसी सा परा मता' : श्रीगोकुलनाथजीने यहां एक स्पष्टीकरण यह दिया है कि व्रजभक्तोंके भजनप्रकारसे अतिरिक्त किसी प्रकारसे मानससेवाकी भी फलरूपता नहीं है. (व्रजभक्तोंने प्रदर्शनार्थ आजीविकार्थ या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठालाभार्थ भगवत्सेवा नहीं की थी अत: मानसी भी किसीको ऐसे विचित्र प्रकारोंसे सिद्ध हो गई हो तो उसे फलरूप नहीं मानना चाहिये.) साथ ही साथ यह भी खुलासा श्रीगोकुलनाथजीने दिया है कि क्योंकि सर्वात्मभाव एक मनोधर्म है अत: सर्वात्मभावपूर्विका सेवाका मानसी होना उचित ही है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां प्रश्न उठाया है कि सेव्यसन्तोषजनिका पूर्वोक्तप्रकारककायादि-व्यापाररूपा क्रिया ही यदि सेवा हो; उदाहरणतया राजसेवा या गुरुसेवा, तो उसका सर्वदा अनुष्ठान शक्य नहीं. इसका समाधान, परन्तु, यह है कि वैसे तो सेवाके, कायिकी वाचिकी और मानसी के रूपमें

त्रिविध होनेपर भी, विचार करनेपर, बाह्य एवं आभ्यन्तर होनेके रूपोंमें दो मुख्य प्रभेद है. यहां आभ्यन्तरी मानसी बाह्य सेवाकी फलरूपा है और बाह्य उसकी साधनरूपा है. यह बाह्या कायिकी-वाचिकी सेवा अवान्तरफलरूपा है सर्वदा अवश्यकर्तव्यताक. अत: साधनरुपा बाह्या सेवाका पुन:पुन: आवर्तन ही उसका सदा कार्या होना है. मानसी तो स्वयमेव भगवानके प्रति अविच्छिन्न मनोगतिका होना है, जो बाह्यावर्तनसे सिद्ध होगा. श्रीव्रजनाथजी कहते हैं कि दास्यधर्मविशिष्टा साधनरूपा सेवा होती है तथा सर्वांशमें कृष्णसंबंधविशिष्टा होनेपर फलरूपा मानसी होती है. उदाहरणतया जैसी सेवा व्रजगोपिकाओंकी थी वही मानसी सेवाका स्वरूप है. प्रभुचरणने भगवद्वचनको उद्धृत करके जो व्रजगोपिकाओंकी सेवाका निरूपण किया है उसमें ''मय्यनुषंगबद्धधिय'' अंशसे साधनरूपा सेवाके अनुवादपूर्वक ''तानाविदन् स्वामात्मानमदस्तथेदम्'' अंशद्वारा उस सेवारूपा सेवाके अन्यानुसंधानरहित होनेपर मानसीत्व संपन्न होनेका विधान किया जा रहा है.

दूसरे शब्दोमें भगवदासक्तिवशात् जब प्रपञ्चविस्मृति हो जाये तब उस भगवदासक्तिको व्यसनदशापन्न मानसी फलरूपा अलौकिक सामर्थ्य समझना चाहिये. इसे ही निरोधके रूपमें भी परिभाषित किया गया है. यहां इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि भगवत्सेवोपधिक अहंता-ममताका तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिमें पर्यवसान हो सकता है परन्तु पीठाधीशत्वरूपप्रतिष्ठैषणाजनिका अहन्ता तथा शिष्य-वितैषणाजनिका ममताकी पोषिका भगवदासक्तिका प्रपञ्चविस्मृतिमें पर्यवसान शक्य नहीं.

(६) 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' : यहां श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि मूलमें मानसीका स्वरूपनिरूपण ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा''द्वारा कहा. यहां 'प्रवण'के कोशार्थविचारवश प्रवणताकी तीन अवस्थाएं दिखलाते हैं कि चित्त पहले कुछ भगवानकी तरफ झुकता है या मुडता है, बादमें भगवानके अधीन हो जाता है; और तब भगवदेकतान वृत्यन्तररहित तल्लीन हो जाता है. भक्तिवर्धिनीमें इन्हीं तीन अवस्थाओंको प्रेम आसक्ति और व्यसन कहा गया है. श्रीलालुभट्टजीने यहां सर्वप्रथम 'तत्प्रवण' में पयुक्त 'तत्'पदको 'कृष्णसेवा'न्तर्गत 'कृष्ण'पदका परामर्शी माननेकी उपपत्ति दी है. अत:

चित्तका कृष्णप्रवण होना ही कृष्णसेवा है. एतदर्थ अनिमित्ता स्वाभाविकी मनोवृत्तिरूपा भागवती भक्तिहोती है. (अत: आजीविका=वृत्तिनिमित्तवशात् अनुष्ठीयमाना कृष्णसेवा अपने स्वरूपलक्षणसे च्युत हो जाती है). श्रीलालुभट्टजीने ऐहिक या पारलौकिक किसी भी फलकी आशा रखे बिना भगवानके साथ मन जोडनेवाला भजन भक्ति है इस आशयकी श्रुति भी उद्धृत की है. तदनुसार वित्तार्थ तनुजा सेवा भक्ति ही नहीं रह जाती तो आगेकी तो बात ही क्या? 'भज'सेवायाम् से 'भक्ति'शब्द बनता है जो भक्ति पुरुषोत्तमके बारेमें अहैतुकी और अव्यवहिता होनी चाहिये–ऐसा उल्लेख किया गया है. अत: 'भक्ति'पदसे मुख्यतया मानसी सेवाका बोध स्वीकारा गया है.

श्रीद्वारकेशजीने यहां उदाहरण दिया है कि जैसे मोती या मणि में धागा पिरोते हैं वैसे भगवदीयका चित्त भगवानमें पिरोया हुआ बन जाता है. भगवानमें अथवा भगवानको प्रसन्न करनेवाले व्यापारमें चित्तका इस तरह प्रवण होना कि भगवान, मुक्तामणि जैसे धागाके अधीन बन जाती है ऐसे, भक्ताधीन बन जाये–यह समझाया है.

(७) 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा' : आधुनिक जीवात्माओंका तो व्रजभक्तों जैसा उत्तमाधिकार नहीं है सो तन्मार्गप्रवर्तक आचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट प्रकारसे की जाती सेवा निरुपयोगी हो जायेगी. इसके समाधानार्थ श्रीप्रभुचरणने 'उक्तसेवासाधने'पदका प्रयोग किया है –ऐसा श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं. अत: वैसा अधिकार न होनेपर भी श्रीमदाचार्योक्तप्रकारसे सेवा करनेपर वह फल मिलता ही है. यहां यह अवधेय है कि 'उक्तसेवासाधने'के द्विवचनका बावेला मचानेवाले 'क्रियमाणसेवाया:' एकवचनके बारेमें कुछ नहीं बोलते. आचार्य–प्रभुचरणोक्तप्रकार तनुवित्तजाका ही होनेसे स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक परवित्तका परिग्रह करके जो तनुजा सेवा करते हैं वह शुद्ध अपसिद्धान्तभरी वञ्चना ही है.

आधुनिक पुष्टिजीवोंमें व्रजभक्तोंके जैसी निरुद्धता यदि न हो तो भगवत्सेवन निरुपयोगी सिद्ध होगा इसी आपत्तिके परिहारार्थ श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदाचार्यचरणकी कृपाको भी एक सहकारी कारणके रूपमें प्रस्तुत कर रहे

हैं. अर्थात् चित्तकी वैसी अवस्थाके बिना भगवत्सेवा अनुपयोगी सिद्ध हो सकती है. आजीविकार्थ की जाती तनुजा अथवा प्रतिष्ठार्थ या प्रायश्चित्तार्थ की जाती वित्तजाकी तो क्षुद्र निन्दनीय कथा है परन्तु यथोक्त तनुवित्तजा भी अनुपयोगी ही रहती यदि श्रीमदाचार्यचरणने कृपा करके ''प्रवाहेण क्रिया रता'' (पु.प्र.म.१५) ''उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं धर्मत्वं वा नतु भक्तिमार्गः'' (निब.प्रका.१।१०२) वचनोंद्वारा पापनाशक केवल क्रियारूप पुष्टिधर्मका उपदेश न दिया होता. अतएव श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं कि व्रजभक्तोंकी तरह हमारा चित्त भगवदैकपरायण न भी हो तब भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त-आत्मनिवेदनपूर्वक (सि.र.) स्वगृहमें (भ.व.) भार्यादि सकल परिचाारकोंके निवेदन-समर्पणपूर्वक (निब.२।२३१) भावप्रदर्शनवृत्तिरहित स्वकीयतनु तथा स्वकीयवित्त से कृष्णसेवात्मिका - क्रियामात्रका अनुष्ठान करेंगे तब ही चित्त उस अवस्थाको प्राप्त हो पायेगा.

फलतः विचारणीय है कि इस क्रियामात्रके अनुष्ठानमें भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त प्रकारसे वैपरीत्य बरतनेपर तो उस क्रियाका स्वरूप भी खण्डित हो जाता है. अतएव तनुवित्तजा सेवाका श्रीगोकुलनाथजीको अभिप्रेत प्रकार तनुजा एवं वित्तजा के पार्थक्यपूर्वक नहीं --यह सिद्ध हो जाता है. श्रीकल्याणरायजीने इस अंशपर यहां कुछ विशेष विवेचन दिया नहीं है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां एक अतिशय महत्वकी बात समझाई है और वह यह कि यहां उपदिश्यमान कर्तव्यका मूल श्रीमद्भागवतके ये श्लोक है:

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ।।
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ।।
आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ।।
मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ।।

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ।
एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ।
यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।।
धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते ।
यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ।
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।।
गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ।

(भाग. ११।१९।१९-२७)

इनमें कहीं भी भक्त्यर्थ पौरोहित्यकी अनुमति दिखलाई नहीं देती.

यद्यपि यहां एक शंका यह अवश्य की जा सकती है कि इन श्लोंकोमें तनुवित्तजाका भी तो कहीं निरूपण नहीं है, प्रत्युत 'तनुजा'='मदर्थेष्वंगचेष्टा'' तथा 'वित्तजा'='मदर्थेऽर्थपरित्यागो'' --इस तरह पृथक्-पृथक् ही प्रतिपादन हुआ है. समानतया, परन्तु, सावधानीपूर्वक यह विचारणीय है कि केवल वित्तजा अर्थात् स्वकीय-तनुसाहित्यके बिना अथवा परकीय तनुसाहित्यके बिना तो कृत्यर्ह ही नहीं. अतः सेवाका तनुवित्तजा होना तो मानसीकी सिद्धिसे पूर्व सर्वथा-सर्वथा-सर्वथा ही दुष्परिहर है --इसमें किसी भी तरहके अन्यथाकल्प, विकल्प या अनुकल्प की संभावनाकी गंध भी नहीं है.

अन्यथाकल्प विकल्प या अनुकल्प शक्य हैं इस पक्षमें कि अनुष्ठीयमाना तनुवित्तजा स्वकीय वित्तसे ही करनी चाहिये, जो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणप्रभृति प्राचीन ग्रंथकारोंके द्वारा उपदिष्ट मत है; अथवा परकीय वित्तसे ही, जिसकी लालसाके विवश गोस्वामिगण दर्शनार्थिओंके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शनको अपना भगवत्सेवासे भी प्रमुख श्रेयस्कर स्वधर्म मानते हैं; अथवा उभयके वित्तसे, अर्थात् दर्शनार्थिओंके भी तथा स्वयंके भी; अथवा

अनुभयके, अर्थात् कराधानसे बचनेके चक्करमें स्वपरायन्तर वित्तके देवस्वीकरणकी ट्रस्टनिर्मितिकी प्रक्रियासे; अथवा इनके विवेक रखनेके आग्रहको भगवत्सेवाविरोध मानकर अन्यतरके वित्तसे भी यथाकथंचित् सेवाप्रदर्शन चालु रहनो चाहिये. क्योंकि आज अधिकांश पुष्टिमार्गिओंकी, विमर्शकारसहित, यह धारणा अतिसुदृढ है कि भगवत्सेवाप्रदर्शनके अभावमें पुष्टिमार्गोच्छेद हो जायेगा. मानो पुष्टिमार्ग पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभक्ति करनेका मार्ग न होकर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजनरूप विश्वधर्म(!)के सार्वजनिक प्रदर्शनका ही मार्ग हो!

परन्तु विमर्शकारप्रमुख सभी पुष्टिमार्गीओंका कर्तव्य है कि उल्लिखित श्लोकोंमें तथाकथित पृथक्-पृथक् तनुजा एवं वित्तजा का वर्णन जैसे उनके द्वारा खोजा जा रहा है, वैसे ही आधुनिक पुष्टिमार्गीओंको प्रभुके ये वचन भी खोज रहे हैं कि ''मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनं, यदात्मन्यर्पितं वित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्, धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते, यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति, रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्.'' अतः मूल बात न मानसी सेवाकी रह जाती है और न तनुवित्तजाकी अथवा तनुजा या वित्तजा की ही! मूल बात है सर्वविध (आर्थिकलाभ-पीठाधीशप्रतिष्ठापूजा आदि-आदिकी) कामनाओंसे विवर्जित चित्तको भगवत्प्रवण बनानेकी. एतदर्थ न केवल ''मदर्थेष्वंगचेष्टा'' अर्थात् अहंतापरित्यागविषयक--''मदर्थेऽर्थपरिग्रहः'' नहीं किन्तु ''मदर्थेऽर्थ-परित्यागः'' अर्थात् ममतापरित्यागविषयक ही केवल उपदेशवचन नहीं है अपितु भगवदर्थक भोग-सुख-परित्यागविषयक भी उपदेशवचन हैं. चित्तको आत्मार्पित=भगवदर्पित रखनेके बजाय जब कोई आत्मविकल्प=भगवद्विकल्पोंमें अर्थात् भगवत्स्वरूपको धर्मोपायतया अर्थोपायतया कामोपायतया या मोक्षोपायतया इष्ट मानकर जब तादृशविकल्पार्थ अर्पित करता है तो भगवद्वचनप्रामाण्यानुरोधवश ऐसे चित्तको रजस्वल असन्निष्ठ विपर्यस्त मानना पडता है. इसी भगवदभिप्रायके विचारवश प्रभुचरणने कहा है--''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.'' और

इसी विवृतिके आशयका अवगाहन करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट कहा है कि सेवार्थ वित्तप्रदान राजसभावोपद्दीपक होता है तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रह अविहित होनेसे निष्फल कर्मार्थ कालक्षेप है. अत: सिद्धान्तमुक्तावलीके उपदेशको भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षणके उपदेशसे समन्वित करके देखना हो तो यों कहा जा सकता है :

(क) प्रपञ्चमाहात्म्यज्ञानरहित भगवन्माहात्म्यज्ञान

(ख) प्रपञ्चव्यसनरहिता भगवद्रुचिपूर्विका तनुवित्तजा

(ग) प्रपञ्चासक्तिरहिता भगवत्प्रेमपूर्विका तनुवित्तजा

(घ) प्रपञ्चप्रेमरहिता भगवदासक्तिपूर्विका तनुवित्तजा

(ड़) प्रपञ्चरुचिरहिता भगवद्व्यसनपूर्विका तनुवित्तजा

इस पांचवी अवस्थाको प्राप्त भगवत्सेवा अंतमें पुष्टिजीवको कृतार्थ बनानेवाली सर्वात्मभाव, मानसी सेवा या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-भगवद्व्यसनभावापन्न चित्तकी तल्लीनतामें पर्यवसित होती है. यहां हम स्पष्ट देख सकते हैं कि प्रापञ्चिक लाभपूजाके व्यसनोंमें ग्रस्त चित्त लेशत: भगवानमें रुचि भी लेता है तो या तो पीठाधीशत्वोपयिक प्रतिष्ठा अर्थात् राजस अहंताके पोषणार्थ ही अथवा अर्थोपार्जनोपयिक लाभ अर्थात् निष्फल ममताके पोषणार्थ ही. ऐसी प्रापञ्चिकव्यसनवती अहंता-ममता न हो तो 'तनुवित्तजा'के अनुष्ठानमें विग्रहकी आवश्यकता ही नहीं. व्युत्पत्तिबोधमें विग्रह तो निर्दोष हो ही सकता है.

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीने तो स्पष्टतया यहां श्रीमत्प्रभुचरणविवृतिके द्वारा प्रयुक्त 'उक्तसेवासाधने' द्विवचनका पुन: श्रीमत्प्रभुचरणाभिप्रायके अन्यथानयनकी संभावनाकी भीतिके वश तथा श्रीगीताभागवतादि शास्त्रीय संदर्भानुरोधवश भी पुन: एकवचनमें विभक्तिविपरिणाम किया है : ''यद्यपि एकादशस्कन्धे 'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्ते: कारणं परम्' इति उपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् मयि सञ्जायते भक्ति:' इत्यन्तोक्तरीत्या क्रियमाणं साधनं (नतु साधने) तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् (नतु साधने). तत् (साधनं नतु साधने) चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती

चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति.''

यहां सर्वत्र एकवचनसे साधनाभिधान हो रहा है, द्विचनसे नहीं.

वैसे यह कोई बहोत बडी बात नहीं है क्योंकि एकवचन द्विवचन या बहुवचन वस्तुस्वरूपानुरोधवश नहीं प्रयुक्त होते किन्तु वक्तुर्विवक्षानुरोधवश ही. (द्रष्ट. '' 'द्वयेक्योः द्विवचनैकवचने बहुषु बहुवचनम्'सूत्रयोः.... द्वित्वविवक्षायां द्विवचनस्य बहुत्वविवक्षायां बहुवचनस्य विधायकं सूत्रमिति निरर्थकेभ्योऽसंख्येभ्य एकत्वसंख्याविरहेप्येकवचनं सिद्धयति इति'' टिप्पणी म.म.शिवदत्तविरचिता.) परन्तु यह तो 'उक्तसेवासाधने'में प्रयुक्त द्विवचनका बावेला मचानेवालेको केवल प्रतिबन्दी उत्तर है.

महत्वपूर्ण तो यहां यही है --सेवार्थ वित्तप्रदानसे अनिष्ट राजसत्वाभिवृद्धिप्रसक्ति तथा सेवार्थ वित्तप्रतिग्रहसे निष्फलत्वप्रसक्ति ही सर्वविध कुविमर्शोपशमनी है. विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४-६ तथा १०४-१३२ पृष्ठोंपर भी विस्तृत विचार इस विषयमें किया गया है जिन सबका उत्तर तो यथायथ क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंगमें तत्तद् अंशोकी वशोधनिकामें दिया ही जायेगा. यहां प्रकृतमें केवल दो बातें जान लेनी जरूरी हैं.

(१) विमर्शकार वित्तप्रदानके अनेकविध शास्त्राभिमत प्रकारोंसे या तो सर्वथा अनवगत है या अधीत विषयोंको भूल गये लगते हैं या स्वार्थवश जानबूझ कर वास्तविक्ताको छिपाना चाहते हैं. अन्यथा अविभक्तस्वत्व-वालोंका एकदूसरेको वित्त देना, स्वस्वत्वत्यागरूप या परस्वत्वोत्पादनरूप न होनेसे, 'वेतन'पदके प्रयोगसे पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ दिये जाते वित्तदानके वारण करनेकी आवश्यकता ही क्या थी? तिसपर भी मुखिया-भीतरियाकी बटालियनको पगारके रूपमें दिये जाते वित्तको भावप्रत्ययके कुविमर्शसे ''वेतनबुद्धि रखकर दिया गया वित्त दोषावह होता है; आजीविकार्थ नहीं'' --ऐसा और कहते हैं. इससे अधिक अकाण्डताण्डव और क्या हो सकता है?

यदि सेवार्थ वेतनबुद्धि रखकर वित्त देने-लेनेपर ही दोष होता हो; अन्यथा नहीं तो कोई धनिक वणिक् उसके घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीकी

सेवामें किसी धनहीन या धनलोलुप गोस्वामी महाराजको मुखिया या भीतरिया के रूपमें नियुक्त करना चाहें और कहें कि ''वेतन नहीं, प्रतिमास आपके चरणारविन्दोंमें १००० या २००० भेट धर दी जायेगी'' तो वह आचार्यवंशजोके स्वरूपविचारसे निन्दनीय कथा होगी कि अभिनन्दनीय? क्योंकि बनियाके घरमें भी तो भगवत्सेवा करने ही जाना हे; बनियाकी सेवा करने तो नहीं. और भगवत्सेवा स्वगृहमें ही करनी और परगृहमें नहीं करनी ऐसा भी कोई सैद्धान्तिक बंधन तो विमर्शकारने स्वीकारा नहीं है. इस तरह गोस्वामी महाराजोंको मुखिया-भीतरियाके रूपमें नियुक्त करके दर्शनार्थी जनतासे कोई बनिया उसके सेव्यस्वरूपकी सेवाके नित्यक्रमार्थ मंगलभोग-पलना-राजभोग आदिकी भोग-सामग्री स्वीकारे, हिंडोला-फूलमंडली आदिके मनोरथोंकी भी सेवा ले तो उस अवस्थामें भी, दर्शनार्थी क्योंकि परिवारजन या गुरुशिष्यान्यतर नहीं हैं अत:, स्वयं नहीं ले सकता हो तो न लें परन्तु उसके घरमें बिराजमान प्रभुके लिये क्यों नहीं ले सकता उपायनीकृत भेट-सामग्री? और क्योंकि बनियाके घरमें बनियाकी आज्ञासे बनियाके पुष्टिप्रभुकी सन्तोषजनिका सेवार्थ उपाहृत भेट-सामग्रीपर भी बनियाका भी पूर्ण अबाधित स्वत्व तो, कुविमर्शनीतिवश, होगा ही. अत: उससे, महाराज जैसे कीर्तनियाको देते हैं वैसे ही, वह बनिया गोस्वामी महाराजोंका भी परिपालन क्यों नहीं कर सकता है? वेतनबुद्धिसे न देकर चरणारविन्दमें रखनेकी शर्त तो स्वीकृत है ही! यदि ''कोई महाराज इतने अर्थकाश्चर्यसे पीडित नहीं होता अत: ऐसा प्रस्ताव स्वीकारेगा नहीं ही'' यह सफाई दी जाती है तब तो स्वीकारना पडेगा कि गोस्वामिओंके यहां आते मुखिया-भीतरिया अर्थकार्श्यवश ही भगवत्सेवाकी नौकरी तथा पगार स्वीकारते हैं. तब तो वेतनबुद्धि अकाम गलेपतित है!

(२) रही बात '' 'वेतन' वित्तदानका उपलक्षण या उदाहरण हो नहीं सकता, परन्तु 'वित्तं दत्वा'विधानका प्रभुचरणाभिप्रेत निष्कृष्ट अर्थ या विशेषण है'' --ऐसे कुविमर्शकी. तो वहां यह अवधेय है कि मैने कभी भी इस आशयमें उसे उपलक्षण नहीं कहा कि वेतनदानकी विशेषोक्तिद्वारा वित्तदानकी सामान्योक्ति अभिप्रेत है. अत: विमर्शकार यहां अज्ञान एवं

अनवधान से विजृंभित नितान्त हास्यास्पद विधान कर बैठे हैं : ''पूर्वपक्षियोंका कथन अप्रामाणिक है. श्रीपुरुषोत्तमजीने 'वित्तं वेतनत्वेन दत्वा' इस वाक्यमें उदाहरणबोधक 'तद्यथा' आदि शब्द नहीं लिखा है. अत: उन्होंने उदाहरणके रूपमें 'वित्तं वेतनत्वेन दत्वा' लिखा है --यह बात स्वीकारी नहीं जा सकती. 'वित्तं वेतनत्वेन दत्वा' यह 'वित्तं दत्वा'का उपलक्षण है यह कहना हास्यास्पद है. क्योंकि जब मूलमें 'वित्तं दत्वा' है ही तब कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसके उपलक्षणके रूपमें 'वित्तं वेतनत्वेन दत्वा' यह नहीं लिखेगा.'' (पृष्ठ १३२).

इस परमकाष्ठापन्न हास्यास्पद कुविमर्शके बारेमें क्या कहना समझमें नहीं आता! तृतीया विभक्तिके ११ अर्थ विद्वानोंने स्वीकारे हैं : (१) कर्तृत्व (२) करणत्व (३) वृत्तित्व (४) विशेषण (५) उपलक्षण (६) कारकहेतुत्व या ज्ञापकहेतुत्व (७) फल (८) अभेद (९) अवच्छेदकत्व या अवच्छेद्यत्व (१०) अधिकरणत्व (११) वैशिष्ट्य. इनमें ''रामेण बाणेन हतो बालि:'' की तरह कर्तृत्व-करणत्वकी तो यहां संभावना ही नहीं. इसी तरह ''अक्ष्णा काण:'' की तरह वृत्तित्व अर्थ भी उपपन्न नहीं होगा. ''इत्थंभूतलक्षणे= कंचित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्'' और क्योंकि कोई भी लक्षण या प्रकार विशेषण भी हो सकता है या उपलक्षण भी. यथा ''ज्ञायमानत्वेन लिंगं करणम्'' के उदाहरणमें ज्ञायमानता 'अतद्व्यावर्तक'विशेषण है और लिंग विशेष्य. इसी तरह ''जटाभि: तापस:'' उदाहरणमें जटा तापसका उपलक्षण होती है. उपलक्षण ''अतद्व्यावृत्त्यनवच्छेदकत्वे सति अतद्व्यावृत्तिसमाना-धिकरण'' होता है. क्योंकि वस्तुत: अन्यूनातिरिक्तवृत्ति होनेके कारण तापसके मुख्य लक्षण तो शमदमादि ही किसी व्यक्तिको तापस बनाते हैं. शमदमादि साधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया बढी जटाएं नहीं. जटाओंके अतापसव्यावृत्तिकी अनवच्छेदिका होनेपर भी अतापसका व्यावर्तन तो जटाओंद्वारा होता ही है. अत: जटाएं उपलक्षण बन जाती है.

प्रकृतमें 'वेतनत्व'को वित्तदानका विशेषण मानना या उपलक्षण-इस विषयमें विमर्शकारकी किसी तरहकी विप्रतिपत्ति होनी कोई अनुचित कथा

नहीं. परन्तु अनवधानविजृंभण या अज्ञानविजृंभण की पराकाष्ठा तब होती है कि जब एक और विमर्शकार पृष्ठ ४ पर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक दे रहे हैं : ''वेतनत्वेन यह विशेषण क्यों?'' और पृष्ठ ५वें तक उसकी उपपत्ति दे रहे हैं कि वेतनत्वाविशिष्ट वित्तदानको निषेध्यकोटिमें नहीं गिनना चाहिये कयोंकि वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान ही श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीप्रभुचरण के वचनोंकी एकवाक्यतासे निष्कृष्ट अर्थ है. और देखिये! १०-२० पृष्ठ बाद नहीं; इसी ५वें पृष्ठपर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक है : ''क्रीत एवं विक्रीत सेवाएं मानसीसाधक तनुजाके अन्तर्गत नहीं''(!) ईश्वर-अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान!

क्या ''वेतनत्वेन वित्तदान'' और ''मूल्यत्वेन=क्रयत्वेन वित्तदान'' और ''स्तोमत्वेन वित्तदान'' और ''सेवकीत्वेन वित्तदान'' और ''चरणभेट-पधरावनीभेटत्वेन'' और ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीत्वेन वित्तदान'' आदि सभीमें ''सर्वं सर्वमयम्'' का शुद्धाद्वैत है? यदि नहीं तो भृत्यको वेतन दिया जाता है, विक्रेताको मूल्य या क्रयोपयिक वित्त, भूमि या गृहके वास्तविक स्वामीको खेती-कारखाना-दुकान-ओफिस-मकान-घर आदिका स्तोम=भाडा दिया जाता है, किसीकी सेवाभक्तिसे प्रसन्न होकर सेवकीत्वेन वित्तोपहार या वस्तूपहार सेवकको दिया जाता है. गोस्वामी भी क्या भगवत्सेवा नहीं करते? यदि करते हैं तो उन्हें सेवकी क्यों नहीं दी जाती? यदि कहा जाये कि वैष्णव धनपति स्वयं अन्तमें महाराजश्रीओंके सेवक हैं अत: महाराजश्रीओंको अपना सेवक तो मान नहीं सकते. तब भी महाराजश्रीको भगवत्सेवामें परायण होनेके कारण भगवत्सेवक तो मान ही सकते हैं. अत: जैसे मंदिरके मुखिया-भीतरियाको देते हैं, वे भी धनपतिके सेवक तो नहीं होते, तो ऐसे भगवत्सेवकोंमें पू.पा.महाराजश्रीके प्रसादनार्थ उन्हें भी निरपक्ष सेवकी क्यों नहीं दे सकते? यदि कहा जाये कि महाराजश्री गुरुकल्प होते हैं अत: उनकेद्वारा स्वधर्मतया अनष्ठित भगवत्सेवापर प्रसन्न या अप्रसन्न होनेका अधिकार भगवानका ही होता है, सेवकोपम शिष्योंका नहीं तो फिर गुरुत्वोपाधिसे दैनिक चरणभेट-बहुधा पधरावनीभेट-प्रदेशभेट-जन्मदिनभेट-

उपनयनभेट-विवाहप्रस्तावभेट-उनके खवास जलघरिया आदिओंको खवासी-सेवकीकी भेट आदि अनेकानेक प्रकारोंमें सेवककल्प अनुगामिनी जनता स्ववित्तदानद्वारा गुरुकल्प महाराजश्रीओंका प्रसादन तो कर ही रही है. तो ''अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्'' न्यायसे केवल स्वाराध्य भगवत्स्वरूपार्थक अत: परवित्तैषणा न रखें तो बहोत हानि नहीं होनी चाहिये. क्योंकि ''परद्रव्याण्यभिध्यायन् तथानिष्टानि चिन्तयन् वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु... अदत्तदाननिरत: परदारोपसेवक: हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.४।१२४-१२६). यदि कहा जाये कि अन्य अनेक विधाओंसे वित्तदान करनेपर भी जब तक गोस्वामी महाराजश्रीओंके आराध्यको देवनिमित्तक या देवसंप्रदानक वित्तदान शिष्यगण नहीं करते तब तक महाराजश्रीओंका उतना प्रसादन नहीं हो पायेगा. क्योंकि सेव्यसन्तोषजनिका महावैभवशालिनी सेवा किये बिना महाराजश्रीओंका मन भरता ही नहीं है. तदुपयोगि वित्त पूर्वोल्लिखित चरणभेट आदिके अनेकानेक वित्तोपार्जनके प्रकारोंके बावजूद उस खर्चेका बोझा महाराजश्री उठा नहीं पाते हैं.

तो भी कुछ अधिक चरणभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक पधरावनीभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक प्रदेशभेटसंग्रहार्थ स्वत: अथवा स्वाश्रित समाधानिओं जैसे एजेंटोके द्वारा वैष्णवोंको प्रेरित करनेपर अधिक वित्तसंग्रह भी अवश्य शक्य हे ही. परन्तु यदि कहा जाये कि उसमें वैसी निस्पृहता अथवा सरलता नहीं निभेगी जैसी सरलतासे अपने ठाकुरजीके नामपर नित्य-नैमित्तिक सेवामनोरथोंकी भेट-सामग्रीके रूपमें परवित्तग्रहण करनेपर पू.पा.महाराजश्रीओंका प्रसादन हो पाता है. तब तो फिर यह निश्चित हो गया कि ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीत्वेन वित्तदान'' भी एक पृथक ही प्रकार है!

अत: ''सर्वं सर्वमयम्''न्याय तो स्वयं विमर्शकार को भी मान्य नहीं तब ''भृत्यसंप्रदानक वेतनत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' और ''सेवारूपकर्मविक्रेतृसम्प्रदानक मूल्यत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' एक ही

प्रकारकी सेवा नहीं होती. क्योंकि भृत्य होना और विक्रेता होना एक ही बात नहीं है. ऐसी स्थितिमें मुखिया भीतरिया आदि भृत्योंको दिये जाते वेतन तथा स्वाराध्य भगवत्स्वरूपको सेवाके विक्रेता पू.पा.महाराजश्रीओंको दिये जाते सेवामूल्य तथा सेवकोंको दी जाती एतन्निरपेक्ष सेवकी में एकवद्भाव कैसे किया जा सकता है? क्योंकि स्वयं विमर्शकारको 'वेतनत्व' वित्तदानरूप विशेष्यके विशेषणतया अभिमत है, उसे मूल्यप्रदानपूर्वक सेवाक्रय तो नहीं माना जा सकता. शमदमादिसाधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया अभिवृद्ध जटाओंकी तरह सेवा कर्ममूल्यत्वेन दीयमान वित्तमें यदृच्छया अभिवृद्ध वेतनत्वबुद्धि या क्रयबुद्धि के निवारणार्थ ही यहां 'वेतनत्वेन' पदप्रययोग श्रीपुरुषोत्तमजीने किया है ऐसा स्वीकार लेते हैं तब तो घट्टकुटीमें प्रभात हो गया! क्योंकि स्वयं विमर्शकार 'वेतनत्व'को विशेषण नहीं प्रत्युत उपलक्षण ही मान रहे हैं, और बावजूद इसके उसका प्रत्याख्यान भी करते हैं! तो जो स्वविक्षिताथर्थावबोधक्षम न हो उससे अन्यविवक्षितार्थावबोधक्षमता की अपेक्षा क्या रखनी!! और ऐसी स्थितिमें शास्त्रविवक्षित गंभीरार्थावबोधकी अपेक्षा तो केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होगी!!!

इससे सिद्ध होता है कि 'वेतनत्व'पद वित्तदानका उपलक्षण ही है. अत: जटाएं जैसे प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदक शमदमादि साधनसे भिन्न होनेपर भी कहीं विद्यमानतया और कहीं अविद्यमानतया भी व्यावर्तक बन जाती हैं, ऐसे ही 'वेतनत्व'रूप उपलक्षणसे सामान्य वित्तदान नहीं किन्तु अन्य भी वेतनसदृश; अर्थात् स्तोमत्वेन, मूल्यत्वेन, दक्षिणात्वेन, सन्मुखभेटत्वेन, सामग्रीभेटत्वेन, मनोरथभेटत्वेन आदि अनेकानेक वित्तदानके, प्रकार भी यहां विवक्षित हैं ही. ऐसी स्थितिमें तृतीया विभक्तिका अर्थ विशेषण लेनेपर 'वेतनत्वेन वित्तदान'का अर्थ वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान होगा. ऐसे ही उपलक्षण अर्थ लेनेपर 'वेतनत्वोपलक्षित वित्तदान' भी अकथित ही सिद्ध होता है. उन अनेक प्रकारोंसे वित्तदान करनेपर वित्तग्रहण करनेपर ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'' द्वारा विवक्षित निषेध्यता आती है --यह तो स्पष्ट ही है. सेवाकर्ताको सेवाकर्तृत्वोपाधिसे न देकर पत्नीत्वोपाधि-पुत्रत्वोपाधि-गुरुत्वोपाधि-भृत्यत्वोपाधिसे जब भी कुछ भी दिया जाता है तो वह कथान्तर है. उन

उपाधिओंको सेवाकर्तृत्वोपाधिके साथ 'गोमयं पायसं''करनेपर तो गोस्वामी महाराजश्रीओंकी प्रसन्नताके लिये दी जाती चरणभेटको भी 'सेवकी' ही कहना उचित होगा! यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि तब तो गुरुपदाधिष्ठित गोस्वामी महाराजश्रीओंके खवास-जलघडियाओंको दी जाती सेवकी भी 'गुरुभेट' ही कहलायेगी गुरुओंके पूर्ण स्वत्ववाली. इसी तरह क्योंकि अन्तमें गोस्वामी महाराजश्री भी बंह्मसंबंधदीक्षान्तर्गत भगवद्दास्यको अंगीकार कर चुके हैं, अत: ''दासेनोढा त्वदासी या सापि दासीत्वमाप्नुयाद् यस्माद् भर्ता प्रभुस्तस्या: स्वाम्यधीन: प्रभुर्यत: दासस्य तु धनं यत् स्यात् स्वामी तस्य प्रभुर्मत:'' (व्यवहारमयूख : अभ्यूप्येत्य शुश्रूषाप्रकरणस्थ कात्यायनवचन). अत: गोस्वामिओंको चरणभेटके रूपमें या गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूपकी सन्मुखभेटके रूपमें या मेहताखाना-पेढीओंमें भेट-सामग्रीके रूपमें या अन्य किसी भी रूपमें वित्त दिया जाये, सबके स्वामी गोस्वामीके प्रभु ही होंगें, स्वयं गोस्वामी नहीं; जैसीकि विमर्शकारको भ्रान्ति है.

रही बात वेतनत्व'के उदाहरणार्थ होनेकी, तो उसमें भी यह अवधेय है कि परार्थानुमित्यर्थ प्रयुक्त दृष्टान्त या उदाहरण एवं काव्यात्मकवर्णनार्थ प्रयुक्त दृष्टान्त उदाहरण या उपमामें 'इव' 'यथा' 'वत्' आदिका प्रयोग आवश्यक होता है. परन्तु एतावता ''अपनी ममतास्पदीभूत सकल वस्तुओंका भगवानको समर्पण करना चाहिये'' विधानकी व्याख्या करते हुए ममतास्पदीभूत वस्तुओंके निदर्शनार्थ यदि कोई व्याख्याकार ''पुत्रत्वेन ममतास्पदीभूत'' अर्थ करता हो तो वहां भी 'तद्यथा'को खोजना तो अतद्यथार्थकी ही खोज है! इतनी इतनी छोटीसी बातें तो समझाते हुवे भी लज्जा आती है परन्तु कहते-लिखते विमर्शकारको नहीं आती! किमाश्चर्यमत: परम्!! ''दण्डकी दण्डत्वेन घटकारणता होती है, पार्थिवद्रव्यत्वेन नहीं'' विधानमें अथवा ''शर्कराकी शर्करात्वेन खीरकारणता है, इक्षुजन्यत्वेन नहीं'' इन वचनोंमें दण्डत्व-शर्करात्व कारणतासामग्रीघटकके उदाहरणार्थक हैं या कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक? यदि उदाहरणार्थक तो 'तद्यथा'शब्द यहां क्यों नहीं है? यदि कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक तो केवल दण्ड या शर्करासे भी घट या खीर उत्पन्न हो जानी चाहिये. प्रतीत होता है परम्परया

अधीत शास्त्रोंमें कहीं उदाहरणतया निदर्शनका प्रभेद विमर्शकोंके पढनेमें शायद आया नहीं होगा! अस्तु.

श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीने 'उक्तसेवासाधने इतरे' की व्याख्यामें '' 'उक्तसेवा' मानसीसेवा, 'इतरे' तनुवित्तजे''कहकर विमर्शकार और उनके सहयोगिओंको अत्यन्त क्षुद्र कुशकाशावलम्बनका अवसर तो अवश्य दिया है, इसमें सन्देह नहीं. फिर भी विमर्शकार उसपर अवलम्बित हो नहीं पाते! इसका मुख्य रहस्य तो इसीमें निहित है कि टिप्पणीकारके द्वारा प्रदत्त प्रचलित पाठ '' 'इतरे'=तनुवित्तजे'' के बारेमें पाठशुद्धि विमर्शकारने प्रस्तावित की है. वैसे यदि यह अशुद्ध पाठ ही हो तो संभवत: '' 'इतरे'=तनुवित्ते'' ही अधिक सुसंगत पाठशुद्धि स्वीकारनी चाहिये, पूर्वोक्त अनेकानेक हेतुओंके कारण. फिर भी विमर्शकारद्वारा प्रस्तावित पाठशुद्धि तो स्वयं विमर्शकारको भी विवक्षितार्थानवबोधविजृंभित ही है.

विमर्शकारके शब्दोंमें : ''यहांपर 'इतरे तनुजवित्तजे' यह शुद्धपाठ है. 'इतरे तनुवित्तजे' यह प्रकाशित पाठ अशुद्ध है. क्योंकि 'तनुवित्तजे'पदका विग्रह इस प्रकार होगा: (१) तनुश्च वितं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा, तनुवित्तजा तनुवित्तजा च तनुवित्तजे अथवा (२) तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाते तनुवित्तजे. एवं च 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार 'तनुवित्तजे'पदसे दो-दो तनुजा वित्तजा सेवाओंका बोध होगा.' (पृष्ठ ११८).

यहां इस विमर्शग्रन्थकी सबसे बडी एक कॉमॅडी उभरी है! विमर्शकार स्वयं यह तो कह नहीं रहे हैं कि सेवात्रैविध्यवादी सभी गोस्वामी स्वयंके वित्तका विनियोग अथवा स्वयंके तनका विनियोग अपने आराध्यकी सेवामें करते ही नहीं है. फलत: सेवात्रैविध्यवादी गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित स्वतनु-स्ववित्तजन्य भगवत्सेवा एक तनुवित्तजा. इसी तरह विमर्शकारद्वारा सिद्धान्ततया अभिमत दर्शनार्थिओंके द्वारा उपाहृत सन्मुखभेट तथा महेताखाना (पेढीमें) जमा होती मंगलभोग*-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी

भेट–सामग्रीरूपा वित्तजा सेवा तथा मुखिया–भीतरियाकी बटालियनोंद्वारा अनुष्ठित तनुजासेवा––यों दूसरी तनुवित्तजा. अत: ''तनुवित्तजा च तनुवित्तजा तनुवित्तजे सेवे'' तो अभीष्टतम है ही फिर भी क्यों अभीष्ट नहीं माना है? अत: ''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता''रूप मिथ्यात्व विमर्शाभिमत निरूपणका सिद्ध होता है!

(*मेरे पास इसकी रसीदें सुरतकी मोटी हवेलीकी तथा यहां मुंबईके यदुनाथभुवन मंदिरकी क्रमश: स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखरहित नं.३२९८ तथा स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखसहित नं.२४४० हैं. वैसे समाधानीने केसेटमें स्वीकृत किया है कि श्रीबालकृष्णलालजीके मंगलभोगके लिये यह राशि स्वीकारी गई है.)

इसके अलावा भी एककर्तृका मानसीसाधिका तनुवित्तजासेवा तथा मानसी–अबाधिका अनेककर्तृका तनुवित्तजा सेवा––यों दो तरहकी तनुवित्तजा तो स्वयं विमर्शकार डिंडिमघोषसे कह रहे हैं. फिर भय, ऐसा लगता है कि, केवल त्रैविध्यप्रतिज्ञाहानिका ही होना चाहिये! तो परम्परयाधीत ग्रन्थोंके पुनरभ्यासद्वारा आगामी संस्करणोंमें त्रैविध्यकी जगह ''याश्च ह्यनन्तस्य सेवा: ह्यनन्ता:''पक्ष प्रस्तावित कर देना चाहिये! हानि क्या है; वैसी भी अध्ययनपरम्परा स्तोत्रादिनिर्माणद्वारा भी प्रचारित तो हो ही जायेगी!

इसी तरह प्रभुचरणकृतविवृतिके ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' अंशकी श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी की टिप्पणीके आशयोंके साथ विमर्शकारने जो बाललीला प्रदर्शित की है उसका भी आनंद लेने लायक है :

''एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' इस श्रीप्रभुचरणोंके वाक्यमें 'तत्साधिके' यह पद आया है उसका अर्थ 'फलरूपसेवासाधिके' किया है और आगे स्पष्टीकरण किया है कि ''तथा चैककर्तृकएव ते तत्साधिके इति फलितार्थ:'' ''एककर्तृके एव ते तत्साधिके'' इस वाक्यमें 'ते'शब्दसे मानसीसाधन तनुजा वित्तजा सेवाएं ग्राह्य हैं. 'तनुवित्तजा' इस समस्तपदसे दोनों (तनुजा और वित्तजा) सेवाएं एककर्तृक होनी चाहिये, अर्थात् तनुजा और वित्तजा सेवाओंको करनेवाला एक हो–– यह सूचित किया गया है. ऐसी स्थितिमें ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'' इस

वाक्यमें 'ते'शब्दसे वे ही सेवाएं ली जायेगी जो मानसीसाधिका न होती हों. अब जो व्यक्ति अपने शरीरसे भगवत्सेवा करता है और अपने धनका भी भगवत्सेवामें विनियोग (वैसे आधुनिक श्रीवल्लभवंशज तो प्राय: करते नहीं; उन्हें तो दर्शनार्थिओंके ही वित्तसे भगवत्सेवा करनी सुहाती है: गो.श्या.म.) करता है उसने सेवाक्रम विस्तृत होनेसे नौकर-चाकरोंको रखा और उन्हें मजुरी देकर उनसे सेवा कराई. वहांपर मजूरी देकर करायी गयी सवा मजूरी देनेवालेकी वित्तजा है वह मानसीसाधन वित्तजाके अन्तर्गत हो सकती है. उसे मानसीसाधन वित्तजाके बहिर्भूत करनेमें कोई प्रमाण नहीं है. तो वह सेवा भी ''एतादृश्यौ ते'' इन दो सेवाओंमेंसे प्रथमसेवामें आ जाती है. अर्थात् ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका'' कहकर आयी उसमें मानसीसाधकता नहीं यह कहना बाधित है. तब श्रीप्रभुचरणोंने किस आशयसे ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'' कहा यह प्रश्न उठता है. उसका उत्तर यह है कि 'ते'पदका अर्थ 'तनुजे' कर उसे 'एतादृश्यौ' और 'तत्साधिके' इन दोनोंमें अन्वित करनेसे समाधान हो जाता है...तदनुसार निष्कर्ष निकला कि खरीदी हुई तनुजा और बेची हुई तनुजा मानसीसेवासाधन तनुजा नहीं इस अभिप्रायका ज्ञापक 'तनुवित्तजा' यह समस्त पद है.'' (विमर्श पृष्ठ : १२१-१२२).

यहां सर्वप्रथम तो यह विचारणीय है कि ''उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहु: तदिति'' अंशकी कुविमर्शसंशोधित टिप्पणीके अनुसार भी शुद्ध पाठ होगा ''इतरे=तनुवित्तजे इति आहु: तत् (सिद्ध्यै तनुवित्तजा) इति.'' अत: प्रक्रान्त सेवा तनुजा वित्तजा हुई. उन वित्तजा और तनुजाके अन्तर्गत किसी दूसरे पुरुषको वित्त देकर करायी गयी सेवा, सेवाका एक प्रकार है, जिसे श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी एक स्वरमें 'वित्तजा' कह रहे हैं. इसी तरह दूसरे किसीसे वित्त लेकर की गयी सेवा, सेवाका अपर प्रकार है, जिसे श्रीव्रल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी एक स्वरसे 'तनुजा' कह रहे है इस तरह पूर्वक्रान्त तनुजा और वित्तजा को उद्देश्य बनाकर उनके मानसीकी असाधिका होनेका विधान ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न''द्वारा हो रहा है. इसका प्रमाण श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी दोंनोके द्वारा समानतया प्रदत्त निष्कर्षनिरूपक वचन है ''तथा च एककर्तृके ए ते तत्साधिके'' बावजूद इसके पूर्वप्रक्रान्त

तनुजा एवं वित्तजा मेंसे वितैकचित्त होकर वित्तजाको अनिषिद्ध बनाना हो तो समानन्यायसे तनुजाको भी अनिषिद्ध मानना पडेगा. क्योंकि सेवाके विस्तृत प्रकारके निर्वाहार्थ मुखिया भीतरिया बालभोगिया दूधघरिया जलघडिया कीर्तनिया पखावजिया हारमोनिया झापटिया फूलघरिया पानघरिया समाधानी भेटिया की बटालियनको मजूरी महाराजोंको देनी पडती है. इसी तरह दर्शनार्थिओंको भी अपने गाममें पू.पा.(देवलक) महाराजश्रीको भगवत्सेवार्थ सन्मुखभेट मनोरथभेट महेताखानामें भेट-सामग्री आदि अनेक रूपोंमें वित्त देना ही पडता है. जैसे मुखियाओंसे तनुजासेवा करवानेको महाराजोंद्वारा की गई वित्तजा सेवा दोषावह नहीं, ऐसे ही पू.पा.महाराजश्रीओंसे तनुजासेवा करवानेको बनियाओंद्वारा की गई वित्तजासेवा भी दोषावह तो नहीं है. फिर जैसे मुखिया आदि सेवाका विक्रय नहीं करते क्योंकि वे वेतनबुद्धिसे वित्त नहीं ले रहे हैं, किन्तु सेव्यसुखार्थ ही, वैसे ही वैष्णव बनिया भी (देवलक) गुरुबुद्धिसे ही देते हैं तथा पू.पा.गुरु भी उसे छलकपटके बिना केवल स्वसेव्यप्रभुसन्तोषजननबुद्ध्या ही लेते हैं. ऐसी स्थितिमें यह क्यों नहीं कहा जाता कि वेतनबुद्ध्या प्रदत्त वित्तप्रदाताकी वित्तजा तथा वेतनबुद्धया ग्रहीत वित्तग्रहीताकी तनुजा --यों वित्तजा और तनुजा दोनों ही सेवाओंका यहां निषेध हो रहा है. एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके साथ श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी की एकवाक्यता भी सिद्ध हो जायेगी. फिर व्यर्थ ऐसे द्राविडप्राणायामके कुविमर्शकी आवश्यकता क्या है? जहांतक श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीद्वारा प्रदत्त फलितार्थ कि ''एककर्तृके एव ते फलरूपमानससेवासाधिके'' की भी उपपत्ति विमर्शकारने पृष्ठ १२२-१२३ पर दे ही दी है कि छलकपटरहित होकर सेवा करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त है. अन्यथा इतने वैभवविस्तारसे सेवा हो ही नहीं पायेगी!

यदि वेतनत्वबुद्धिसे वेतनदान या वेतनग्रहण दोषावह है और स्वयं वेतनदानग्रहण नहीं; तब तो मद्यबुद्ध्या मद्यपान दोषावह होगा, ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' श्रुत्युक्त ब्रह्मबुद्ध्या नहीं. सगोत्रकन्योद्वाह भी सगोत्रबुद्ध्या दोषावह होगा, कन्यबुद्धया नहीं. इसी तरह अन्याश्रय भी कृष्णेतर देवोंमें द्वैतबुद्ध्या ही अन्याश्रय होगा, शुद्धाद्वैतबुद्ध्या नहीं. तब इतरसंप्रदाय भी द्वैतबुद्ध्या ही

अननुसरणीय होंगें, सर्वबुद्धिप्रेरककृष्णप्रेरित धर्मबुद्ध्या नहीं. और तब तो -- ''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा''की अनुभूति हो ही जायेगी!

प्रतीत होता है कि ८४ तथा २५२ वैष्णवोंमें जो अकिंचन होनेपर भी तनुवित्तजा कर रहे थे उनमें अपने सेव्यको सन्तुष्ट करनेकी छलकपटरहित भावना ही नहीं थी! अन्यथा वे भी इस तरह व्यावसायिक मंदिर स्वसेव्यसन्तोषार्थ चलाकर उनमें दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरियाओंकी फौज रखकर स्वसेव्यसन्तोषजनिका वैभवपूर्ण सेवा क्यों नहीं करते! विमर्शकारोक्त सारेके सारे स्पष्टीकरणद्वारा कि शिष्टाचारप्राप्त महद्विमृग्य भक्तिप्रकार तो उसे भी कहा ही जा सकता! इससे सिद्ध होता है कि ८४-२५२के अन्तर्गत जितने भी निष्किंचन भगवदीय तनुवित्तजा सेवा करनेवाले थे वे उत्तमाधिकारी नहीं रहे होंगें!! कमसे कम श्रीवल्लभवंशज आधुनिक पू.पा.गोस्वामिओंकी तुलनामें तो अवश्य ही हीनाधिकारी पुष्टिजीव होंगें!!!

इसके बाद श्रीलालुभट्टजीने, यद्यपि, ''भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन मनःकल्पनम्''-''अहैतुकक्यवयवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे''-''गृहशुश्रुषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया''-''सर्वलाभोपहरणम्'' वचनोंके सन्दर्भमें शब्दतः तनुजा एवं वित्तजा सेवाओंका पृथक्-पृथक् निरूपण किया है, परन्तु ''एककर्तृका (तनुजा+वित्तजा) =तनुवित्तजा''सूत्रको हृद्गत रखकर ही किया है. यह उनके आगामी अंशगत '' 'ततः'=तनुवित्तजसेवातएव''व्याख्यानसे सुस्पष्ट है.

श्रीद्वारकेशजीकी व्याख्या या तो विमर्शकारने देखी ही नहीं है या देखकर भी अनजान बने रहना चाहते हैं. अन्यथा विमर्शकारके पक्षका इससे अधिक सक्षम प्रत्याख्यान तो श्रीपुरुषोत्तमजीकी टीकाके आधारपर भी शक्य नहीं है. यहां उल्लेखनीय है ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' इस व्याकरणनियमका 'तनुवित्तजा'पदके व्याख्यानार्थ प्रयोग करनेवाले मूलतः श्रीद्वारकेशजी हैं.

श्रीद्वारकेशजीके अनुसार चित्तकी भगवत्प्रवणतासिद्धिके लिये तनुवित्तजा ही करणीय है. वे कहते हैं :

''टीकायां समस्तपदमिति 'तनुवित्तजा' इति समस्तम्. तनुश्च वित्तं च 'तनुवित्ते' ताभ्यां 'जा'ता=कृता स्वत: प्रादुर्भूता वा='तनुवित्तजा'. द्वन्द्वन्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च.''

इससे सर्वथा करतलामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि श्रीद्वारकेशजी तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपगत ऐक्यको खण्डित करनेको तनुजा और वित्तजा का द्वन्द्वान्त नहीं सुना रहे हैं, जैसा कि विमर्शकारने कुविमर्शपूर्वक करना चाहा है. अपितु 'तनुवित्तजा'में 'जा' द्वन्द्वान्तमें श्रुत होनेके कारण तनुजा और वित्तजा का तनुवित्तजाके साथ अनवाचय कर रहे हैं, ''भिक्षाम् अट गां च आनय''न्यायसे. विमर्शकारने जबकि स्वार्थमूलक अनवधानवश इस अन्वाचयार्थ प्रस्तुत गौण तनुजा और वित्तजा के कल्पसे प्रधान तनुवित्तजाकी प्रधानताको खतम करनेकी अभक्तिमयी अज्ञानमयी तथा क्षुद्रस्वार्थैकपरायणा अपनी मनोवृत्ति उजागर कर दी है! न केवल इतना अपि तु श्रीद्वारकेशजी जहां मानसीसेवाकी सिद्धिके लिये प्रधान तनुवित्तजा तथा तदानुषंगिक तनुजा और वित्तजा को मानसी सेवाके अवान्तरफल ब्रह्मबोधकी तथा संसारनिवृत्तिकी सिद्धिदायिनीके रूपमें ही प्रस्तावित करना चाहते हैं. इसका आगे खुलासा करेंगें. बिचारे श्रीद्वारकेशजीको इसकी लेशमात्र कल्पना भी नहीं होगी कि उनके इस ''व्याख्याविन्यासवैचित्र्य''के कारण आगामी पुष्टिमार्गियोंमें ऐसी कुमति प्रकट हो जायेगी कि अंगानुष्ठानार्थ प्रधान अंगीके विलोपनकारी विमर्शकारसदृश पक्षधर (मिश्र) प्रकट हो जायेंगें!

इसके बाद श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्याका गुजरातीमें अनुवाद तथा सारांश देनेवाले श्रीविठ्ठलरायजी तथा श्रीनरसिंहलालजी यहां क्या कहना चाहते हैं वह भी देख लेना चाहिये. श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीकी टिप्पणी में हम देख चुके हैं कि ''एककर्तृके तनुजवित्तजे सेवे'' = ''तनुवित्तजा'' और ''तनुवित्तजा''=''एककर्तृत्वे सेवे'' मान्य समीकरण है. तदनुसार एककर्तृक तनुवित्तजसेवाद्वय अथवा एक तनुवित्तजा सेवा ही

मानसीरूप परमफलकी साधिका होती है इस अंशमें किसी भी संस्कृतभाषामें व्याख्या लिखनेवालोंको मतभेद नहीं है. वैसे ही यथारुचि व्याख्यानशैलीका भेद इन गुर्जरभाषामें तथा व्रजभाषामें व्याख्यानकर्ताओंका भी स्पष्ट दिखलाई देता है. व्याख्येय अनुष्ठाके प्रकारमें तो मतभेदका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है. तदनुसार सर्वप्रथम श्रीविठ्ठलरायजीने यद्यपि ''चित्त भगवानमां प्रवण थवुं तेनुं नाम सेवा. ते थवासारु तनुजा अने वित्तजा करवी.'' कहकर ''तेथी साध्यरूपी मानसीनो सार कहीने साधनरूपी सेवानी वात करे छे. एम श्रीगुसांईजी जाणीने आगला पदनुं वर्णन करे छे के कहेली जे मानसी सेवा तेना साधनो बे बीजा छे. वळी मूलमां श्रीआचार्यजीए आज्ञा करी छे के चित्तनुं प्रवण थवुं ते मानसी अने मानसी सिद्ध थवासारु तनुजा अने वित्तजा छे.'' यहां तनुजा एवं वित्तजा का पार्थक्य कण्ठतः निरूपित किया है परन्तु यह पार्थक्य व्याख्यानोपयिक है या अनुष्ठानोपयिक इसका खुलासा उनके अगले अनुवादसे हो जाता है : ''ए कहेली रीते कराय छे जे साधन तनुजा वित्तजा: अने ए परिपाकदशामां स्नेहथी कर्या करे त्यारे ए साधन छे -- ते जो रोजगार*पणाए पैसो आपीने करावे ते चित्तने रजोगुण पेदा करीने आपणा चित्तने भगवानमां प्रवणपणुं करती नथी. त्यारे जो पैसो आपनारने सेवा थई तेणे रजोगुण पेदा कर्यो तेणे करीने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. तेमज पैसो रोजगारपणाथी (विमर्शकाराभिमत केवल वेतनत्वेन नहीं अपितु वृत्त्यर्थः भी) लईने शरीरथी सेवा करे तो जेम ऋत्विजो एटले होम करनारा ब्राह्मणो करे तेने यज्ञनुं फल मळे नहीं. तेम ए रोजगार लईने सेवा करनारने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. वादी शंका करे छे के जेम ऋत्विजो पैसो लईने होम करे छे ते होम करनारने फले छे तेम आंई पैसो आपनारने फलशे! एवी शंका न करवी केमके त्यांहा ऋत्विजोने दान (भृतकको वेतनत्वेन नहीं अपितु अभृतक ऋत्विजोंको शास्त्रविहित कर्मदक्षिणारूप एक विलक्षण दानप्रकारत्वेन) आपवुं अने वरण करवुं, एम भक्तिमार्गमां भगवाने नथी कह्युं तेथी न करवुं. भक्तिमार्गमां तो जेम भगवाने रीत कही छे तेम करवी. त्यारे ज साधनरूपी तनुजा वित्तजा पोते फलने पेदा करती पोते फलरूप थई जाय. हवे श्रीपुरुषोत्तमजीए जेनी टीका करी ते श्रीगुसांईजीना वाक्य छे जे पैसा आपीने सेवा करावववी ते एक अने

पैसो लईने सेवा करवी ते बीजी ए बे सेवा ते मानसीसेवा सिद्ध करती नथी (अर्थात् क्रीत-विक्रीत यों दो तनुजा नहीं प्रत्युत तनुजा और वित्तजा) ए बतावावासारु समासवाळुं पद छे. एणे करीने निरउपाधीनी रीते पोतानुं सर्वस्व भगवानमां निवेदन करीने पोतानो देह पण भगवानमां लगाडवो. एम करवाथी एना मनमां एम आवे जे हवे म्हारूं कोण छे? म्हारा भगवान छे अने एम थाय जे आ देह अने पैसो (अर्थात् तनु और वित्त ही तत्साधन हैं; तनुजा-वित्तजा नहीं. : गो.श्या.म.)

(*केवल 'वेतनत्वेन' ही नहीं अपितु द्रष्टव्य :''रोजगार''-गुजरानमाटे करवानो धंधो, नोकरी के उद्यम : गुजरातविद्यापीठप्रकाशित जोडणीकोश)

भगवानमां लगाडवा. ते ज्यारे थाय त्यारे एने प्रेम थयो तेथी मानसी सिद्ध थाय.'' (संवत् १९४८ में ठ.दयालमूलजीद्वारा बोम्बे सीटीप्रेसमें मुद्रित कराकर प्रकाशित की गई प्रतिमें पृष्ठ: १९,२२ तथा २३-२५)

बडोंने मानसीसेवारूप फलकी सिद्धिमें निजतन-निजधनका केवल कारणसामग्रीघटक होना ही नहीं निरूपित किया है परन्तु वृत्त्यर्थ भगवत्सेवन उपधर्म है यह भी निरूपित किया है. कमसे कम सौ वर्षपूर्व हुए श्रीविठ्ठलरायजीको तो परम्पराप्राप्त अध्ययनकी दुहाई देने वाले विमर्शकारकी तरह इस विषयमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है. अतएव वे कहते हैं : ''सेवा कथा विगेरे करतो होय ते लाभसारु अने म्होटाई (पीठाधीशत्व) करतो होय ते उपधर्म छे...उपधर्म ते पाखंड त्यारे उपधर्मथी देवलकपणा विगेरे दोष पेदा थाय.'' (पृ.८५-८६)

इसी तरह श्रीनरसिंहलालजी भी कहते हैं --''श्रीकृष्णमें चित्त प्रथम कछूक मग्न होय, पीछे श्रीकृष्णके अधीन होय और ता पीछे श्रीकृष्णमें एकतानरूपकूं प्राप्त होय सो सेवा कही है. ऐसी सेवा सिद्ध होयवे के लिये तनुवित्तजा सेवा है. अर्थात् श्रीकृष्णमें चित्तकी एकतानता होयवेके तनुजा (शरीरसूं) तथा वित्तजा (धनसूं) सेवा है. यहां तनुजा तथा वित्तजा ऐसे भिन्न-भिन्न पद नहीं कहेते तनुवित्तजा ऐसे समस्तपद कह्यो है ताको अभिप्राय ऐसो है जो अन्यकूं मूल्य ('वेतनत्वेन' अथवा केवल वेतनबुद्धया ही नहीं :

गो.श्या.म.) रूप धन देके सेवा करावे सो वित्तजा सेवा भई; परन्तु ताकरिके राजस आय जाय तासूं मानसीसेवा सिद्ध न होय और मूल्य (वेतनबुद्ध्या ही केवल नहीं अपितु जैसे मनोरथोंके निर्धारित मूल्य लेकर पलना-फूलमंडली-छप्पनभोगके नाटक किये जा रहे हैं : गो.श्या.म.) रूप धन लेके शरीरसूं सेवा करे सो तनुजा सेवा भई. परन्तु सोहू मानसीसेवाकूं सिद्ध नहीं करे हैं. जैसे यज्ञमें जितने ब्राह्मणको वरण होय तिनकों यज्ञको फल नहीं होय है तैसे ही मूल्य लेके सेवा करे तनुजासेवाको फल (मानसी सिद्ध न होय. तासूं भगवानमें निष्काम (अर्थात् वृत्त्यर्थ नहीं तथा पीठाधीशपदप्राप्त्यर्थ नहीं : गो.श्या.म.) स्नेह होय और शरीरसू तथा धनसूं संग ही जो सेवा करे ताकूं मानसी सिद्ध होय.'' (पृ.१३३-३४). पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके तथाकथित परम्पराधीत तत्त्वोंके कुविमर्शमें जैसे विमर्शकारका कहना है उससे सर्वथा विपरीत श्रीनरसिंहलालजी महाराज भी कहते हैं --''लौकिक अर्थ इच्छा राखिकें जो भगवद्जनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हैं. इतने कछु लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो तो पाखंडी और देवलक कह्यो जाय है.'' (पृ. ४४-४५) इन दोनों अंशोकी एकवाक्यता साधकर देखनेपर तनुवित्तजा जैसे मानसीकी साधिका वैसे ही तनुजा, अर्थात् सेवार्थ दूसरेका वित्त लेकर अपने देहसे की जाती सेवा, मानसीकी केवल असाधिका ही नहीं अपितु पाखंडकी मनोवृत्ति तथा शास्त्रत: निन्दित देवलकत्ववृत्ति भी है यह सौ वर्ष पूर्वतक तो पुष्टिमार्गकी विद्वत्परम्परामें मान्य था--इतना निश्चित है. इसके बाद ८वां अंश हमें देखना है.

(८) 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्' : इस अंशपर श्रीकल्याणरायजीने एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि तनुवित्तजा सेवाके कारण सेवाकर्ताके अहंताममतात्मक संसारसंबंधी दु:खकी निवृत्ति होती है अर्थात् भगवद्भजनोपयोगी अहंताममतात्मक संसार तो उपादेय ही होता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके लिये सर्वदा अवधेय बात यह कही है कि व्रजभक्तों जैसा अधिकार न होनेपर भी मार्गप्रवर्तकाचार्यचरणोक्त प्रकारसे (अर्थात् तनुजा-वित्तजा भिन्नकर्तृक भी हो सकती है ऐसा स्वार्थवश मनघडंत अर्थ निकालकर नहीं.) अर्थात् सदुपदिष्ट

प्रकारसे शास्त्रार्थको समझकर आचरणोंमें उतारना चाहिये. (स्वार्थी असज्जनोंके अपने उदरभरणार्थ निकाले गये मनघडंत अर्थको सुनकर नहीं). अत: न केवल बाह्या तनुवित्तजा अपितु आभ्यन्तरी मानसी सेवा भी यथोक्त रूपोंमें संपन्न होनेपर ही फलसाधिका होती है.

श्रीवल्लभजीका कहना है कि सेवाके ऐसे स्वरूपके निरूपणद्वारा यह सिद्ध होता है कि किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना अपने (नहीं कि दर्शनार्थी जनताके) यच्च यावत् द्रव्यादिका निवेदन करके कार्यान्तरमें अपने देहको विनियुक्त किये बिना जब भगवदर्थ विनियोग हम कर पाते हैं, तब क्रमश: प्रेम प्रकट होता है; और बादमें मानसी सेवा हो पाती है. अतएव श्रीप्रभुचरण ''एतादृश्य अवान्तरं फलं भवति इति आहु: तत इति'' अंशकी व्याख्यामें ''निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवद्विनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य तत: इति साधनरूपसेवाद्वयत:'' जो कहते हैं, यहां भी क्योंकि एककर्तृक भगवदपेक्षित यावत्द्रव्यसमर्पणरूपा सेवा तथा शरीरजभगवद्यावत्सेवा का सन्दर्भ निर्दिष्ट है, अत: भगवदपेक्षित द्रव्य न होनेपर या वैसी शारीरिक सामर्थ्य न होनेपर निभ नहीं पायेगी, इस आशंकाके समानार्थ यह पंक्ति है--ऐसा भी निरूपित करते हैं, तनुवित्तजाको केवल निरुपाधितया करनेके उपदेशार्थ नहीं जैसा कि विमर्शकारद्वारा अभिप्रया प्रस्तावित किया गया है.

यही बात श्रीव्रजनाथजी भी कहते हैं. अन्तर केवल इतना ही है कि उनके अनुसार क्योंकि एककर्तृका ही सेवा मानसीकी साधिका होती है अत: भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावद्द्रव्यसमर्पणार्थ तथा भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावत्तनुव्यापारार्थ किसीके असमर्थ होनेपर यह अशक्योपदेश हो जायेगा परन्तु यह उपदेश अशक्योपदेश नहीं है, क्योंकि सेवाको तनुवित्तजा कहा गया है अत: किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना जितनी स्वयंकी वित्तसामर्थ्य हो --जितनी स्वयंकी तनुसामर्थ्य हो तदनुसार सेवा करनेपर यह मानसीकी साधिका बनती है. अतएव 'एतादृश'पदकी व्याख्यामें 'निवेदितस्वीयसर्वस्व' तथा 'भगवत्सेवाविनियुक्त'पर भार दिया गया होनेसे अग्रिमांश ''तत:'की व्याख्याके रूपमें जो साधनसेवाद्वय कहा है वहां भी एककर्तृक सेवाद्वय ही विवक्षित है--यह सभी निष्काम भक्तिमार्गियोंको समझनेमें तकलीफ नहीं

होगी. सकाम तो देवलकवृत्तिका समर्थन करनेमें भी लज्जा अनुभव नहीं करता तो अधिक क्या कहना?

अतएव श्रीलालुभट्टजीने तो '' 'तत:'=तनुवित्तजसेवातएव संसारदु:खस्य...'' स्पष्टतया निरूपित किया है. श्रीद्वारकेशजीने यहीं श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीका इंगित पाकर अंगी तनुवित्तजात्वरूप अवच्छेदकसे बाह्यसेवावृत्ति मानसीसेवासाधकत्वको अवच्छिन्न माना है. इसी तरह अंगभूत तनुजात्व-वित्तजात्व अवच्छेदकोंसे ब्रह्मबोधनसाधकताको तथा संसारनिवृत्तिसाधकताको अवच्छिन्न माना है. हेतु अतीव मजेदार दिया है कि तनु पांचभौतिक होनेसे ब्रह्मात्मक है अत: ब्रह्मविनियुक्त होनेपर ''गंगात्वं... तद्वदत्रापि'' न्यायसे ब्रह्मात्मक होकर वैसा बोध पैदा कर देता है. इसी तरह ममतास्पदीभूत वित्त व्यामोहिकामायाका कार्य होनेसे आसुरी होता है. अत: ब्रह्मविनियुक्त होते ही ममता निवृत्त हो जाती है. ये दोनों ही मानसीसेवाके लिये हैं फिर भी तनुजा कारकहेतु बनती है ओर वित्तजा ज्ञापक. अत: स्वीय वित्तका अविनियोग चित्तकी अभगवत्प्रवणताका ही ज्ञापक है.

(III) उपसंहार

वैसे तो ८ वर्षपूर्व श्रीवल्लभस्मृति (ग्रन्थमाला)में प्रकाशित ''पुष्टिने शीतल छांयडे'' में विमर्शाधिकारिचतुष्टयीमेंके एक श्रीबालुराजाने भी स्वीकारा ही था कि ''प्रभुनी सान्निध्यमां जे द्रव्य अथवा चीजवस्तु भेट धरवामां आवे ते देवद्रव्य कहेवाय छे. कारण के ते प्रभुने उद्देशीने ज भेट धरवामां आवतुं होय छे. आ रीते आवेलुं द्रव्य अथवा कोईपण वस्तु होय तेमां सीधुं देवलकत्व आवे छे. तेथी अग्राह्य छे. श्रीनी सन्मुख भेट धरायेलुं द्रव्य अमारी पेढीमां (महेताखानामां) जमा थतुं नथी. तेने स्पष्ट देवद्रव्य कही शकाय अने ते द्रव्यथी सिद्ध थती सामग्रीमां भगवत्प्रसादी थया पछी महाप्रसादपणुं तो आवे छे परन्तु तेनी साथे तेमां देवद्रव्यपणुं रहे ज छे. तेथी वैष्णवोए ए महाप्रसादने देवद्रव्य समजीने ज व्यवहार करवो जोईए. ते महाप्रसाद लेवामां देवद्रव्यनो बाध तो रहेलो ज छे.'' (पृ.१८६-१८७). इसी तरह ''आवी तत्प्रवणरूपा सेवासिद्धिमां तनुजा अने वित्तजा सेवाना साहचर्यनी पण तेटली ज जरुर छे.

तनुवित्तजाना ययोगथी ज मुख्य जे मानसी सधाय...'' (पृ.२१४) इन दोनों विधानोंकी भी एकवाक्यता करनेपर स्वयं श्रीबालुराजाद्वारा श्रीवल्लभस्मृति(ग्रन्थमाला) में लिखे गये उस ग्रन्थ तथा षष्ठपीठाधीशपदा-लाभार्थ प्रकाशित महाप्रभु श्रीयदुनाथ (स्मृतिवश प्रकाशित) ग्रन्थप्रकाशनके इस नवम 'विमर्श'ग्रन्थमें विभिन्न परम्पराएं दृष्टिगोचर हो रही हैं! यह वदतोव्याघात भी इस सन्दर्भमें कम उल्लेखनीय नहीं है.

ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि 'निरुपधि:'विशेषणका जो सोपाधिक उपयोग तनुवित्तजाके अनुष्ठानोपयिक स्वरूपैक्यके खण्डनार्थ किया है वह देवलकोंका केवल अविचारितरमणीय कुशकाशावलम्बन ही है. दूसरे शब्दोंमें प्राचीन ग्रन्थोंके अभिप्रायोंका स्वार्थानुकूल्येन लुण्ठन करनेका महासाहस है !

देवलकवृत्ति शास्त्रत: कहीं निन्दित तो कहीं अनिन्दित भी हो सकती है. जैसे सौत्रामणिमें सुराका विधान है, अन्यत्र सुराका स्पर्श भी निषिद्ध है. ऐसे है नियोगपद्धतिसे देवरसे गर्भधारण करनेकी विधवाको छूट भी थी और कलियुगमें निषेध भी. ऐसे गवालंभन भी कहीं-कभी विहित था तो कहीं-कभी निषिद्ध. इसी तरह पुष्टिमार्गीयेतर वैष्णव या शैव उपासनामें कभी कहीं देवलकताको दोष न माना हो एतावता पुष्टिमार्गमें वह दोष नहीं--यह कहना उल्लिखित कण्ठोक्त निन्दाओंके रहते कितना बडा वाक्छल है! यह असन्मार्गसे वित्तोपार्जन करनेका कैसा अधर्माग्रह है? यदि पू.पा.गोस्वामी महाराजोंको उनके सेव्य भगवत्स्वरूपके निमित्त या उद्देश्य करके जो कुछ दर्शनार्थिओंके द्वारा भेट-सामग्री दी जाती हो उसपर दर्शनार्थी (मैं शिष्य नहीं लिखता क्योंकि दुकानोंकी तरह भक्तिके व्यापारार्थ चलनेवाले इन आधुनिक मंदिरोंमें शिष्य ही आते हैं इसकी कोई गैरन्टी नहीं है : गो.श्या.म.) जनताद्वारा दिये जाते वित्तपर जनताका स्वत्व रखना या नहीं यह गुरुकी इच्छापर अधीन हो और ऐसे सारेके सारे द्रव्यपर गुरुका पूर्ण स्वत्व हो जाता हो तो किशोरीबाईके ठाकुरजीके लिये दी गई सामग्रीपर किशोरीबाईका स्वत्व होना चाहिये था. यदि कहा जाये कि देनेवाला वैष्णव न तो किशोरीबाईके परिवारका था और न उनका शिष्य तो क्या हुआ? एक वैष्णव दूसरे

वैष्णवको कुछ उपहार नहीं दे सकता क्या? यदि नहीं तो पू.पा.महाराजोंकी मुखियादिकी फौजको सेवकी भी न दे पायेगा! इसका उत्तर अब खुलकर देना पडेगा. यदि एक वैष्णव दूसरेको उपहार दे सकता है परन्तु भगवदर्थ देनेसे वह देवद्रव्य बना जाता हो तो गोस्वामिओंके यहां भी वही व्यवस्था होनी चाहिये. या फिर आधुनिक गोस्वामी असन्मार्गवर्ती देवलक हैं--यह स्वीकारना चाहिये. और इस दोषको दूर करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम मनसे, पश्चात् वाणीसे तथा अन्ततः कृति=आचरणसे भी करना ही चाहिये.

आजकल कुछ लोग कह रहे हैं कि अन्य भी ऐसे अनेक स्खलन हैं उन्हें सुधारनेकी बात न करके क्यों मंदिरोंपर ही महमद गजनवीकी तरह हमला किया जा रहा है? उत्तर सीधा है, कि अन्य स्खलन व्यक्तिगत है जिन्हें न तो वैष्णव धर्मबुद्ध्या देखते हैं और न पू.पा.महाराजश्री उन्हें खुलेआम धर्मबुद्ध्या अनुसरणीय घोषित करते हैं. अतः वह व्यक्तिगत समस्या है. साम्प्रदायिक नहीं.

अतएव मुझे भी इस परिच्छेदको समाप्त करनेसे पहले जहां-जहां वैयक्तिक सन्दर्भोमें. सिद्धान्तापसिद्धान्तका विशोधन करना पडा है, अर्थात् विमर्शकारके जैसी शुद्ध निर्वैयक्तिक भाषामें सिद्धान्त मैं लिख नहीं पाया हूं, मुझे तो अपनी इस असामर्थ्यका भी न केवल पूर्ण भान है अपितु कुछ अपराधबोध भी है. परन्तु क्योंकि साथ ही साथ मुझे यह भी अच्छी तरह अवगत है कि स्वयं विमर्शकारने भी अपने शुद्ध सिद्धान्तबोधके आधारपर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकट नहीं किया है, अपितु अर्थलोलुपतावश तथा पदप्रतिष्ठामोहवश ही यह अकाण्डताण्डव किया है. अतः उस खीजमें मैंने भी यह प्रतिअकाण्डताण्डव कर दिया है! और इसके लिये हृदयसे क्षमायाचनाके अलावा मेरे पास अन्य कोई उपाय भी नहीं है. विमर्शकार मुझे क्षमा करके मेरी आपत्तिओंपर अपना कोई ठोस निराकरण प्रस्तुत करते हैं तो मैं उस ऋणसे कभी उऋण नहीं हो पाउंगा. यदि क्षमा नहीं करते और मौन धारण कर लेते हैं; जैसे 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश : स्वरूप और कर्तव्य'के बारेमें धारण कर लिया था, तो भगवदिच्छा!

अन्तमें --

युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो दृढान्दोषान् ।
वल्लभरायोपि विमर्शग्रन्थव्याजेन दूषणं वक्ति ।।

इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहरविरचित सेवा-देदद्रव्यादिविमर्श तथा सेवादेवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रसहितकी विशोधनिका में प्रथम सिद्धान्तमुक्तावल्युक्त-सेवास्वरूपविषयकसिद्धान्त-निरूपणार्थ सेवाप्रकरणनामक प्रथम प्रकरण यहां समाप्त होता है.*

(*इसके बाद (२) शास्त्रीय सन्दर्भमें पुष्टिमार्गीयसेवार्थ आजीविकासस्वरूप-विशोधनिका (३) वार्ताविमर्शविशोधनिका (४) ट्रस्टप्रकरणविमर्शविशोधनिका (५) भावसंगोपनविमर्शविशोधनिका तथा (६) क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य' अन्तर्गत स्मृति-सदाचारप्रकरणरूप परिशिष्टोपेतका प्रकाशन क्रमशः होगा.)

।। सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

***

मेरे किसी भी गोस्वामिबन्धुद्वारा देवद्रव्यके उपभोग या देवलकतावृत्ति को करनेपर न तो मुझे एक रुपया कम मिल रहा है और न इस असद्वृत्ति कोई छोड देगा तो मुझे एक भी रुपया ज्यादा मिलने लग जायेगा. श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्तोंको घोषित करनेपर लोग कटुसत्यभाषी या हितभाषी कहकर मेरी प्रशंसा करें या पुष्टिमार्गी जनताको बरगलानेवाला कहकर मेरी निन्दा करें; इससे भी मुझे कोई अन्तर नहीं पडता!

मुझे जो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त जिस रूपमें समझमें आये हैं वह मेरी समझ सच है या गलत यह तो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरण-समात्मज-पौत्र-प्रपौत्रादिके प्राचीन ग्रन्थ ही निर्णय कर सकते हैं!

उन दिव्य सिद्धान्तोंको मेरे गोस्वामिबन्धु माने-कहें-अनुसरें या न मानें–न कहें–न अनुसरें; मुझे उनसे क्या लेना-देना है — ऐसी "जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः"की उपेक्षामयी अहंता मेरे भीतर है नहीं. पुष्टिमार्गपर चलनेवाले प्रत्येक सहपथिकके प्रति उन्हें सहयात्री मानेकी अपेक्षामयी वत्सलता ही मुझे अधिक सुहाती है!

इसलिये कहता रहूंगा, कहता रहूंगा और कहता ही रहूंगा; श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्त जैसे इस वर्ष कहता रहा वैसे ही आगामी वर्षोंमें भी, जैसे इस जन्ममें कह रहा हूं वैसे ही आगामी जन्मोंमें भी!

भूल जिन जाय मन अनत मेरो!

—गोस्वामी श्यामकठोहर



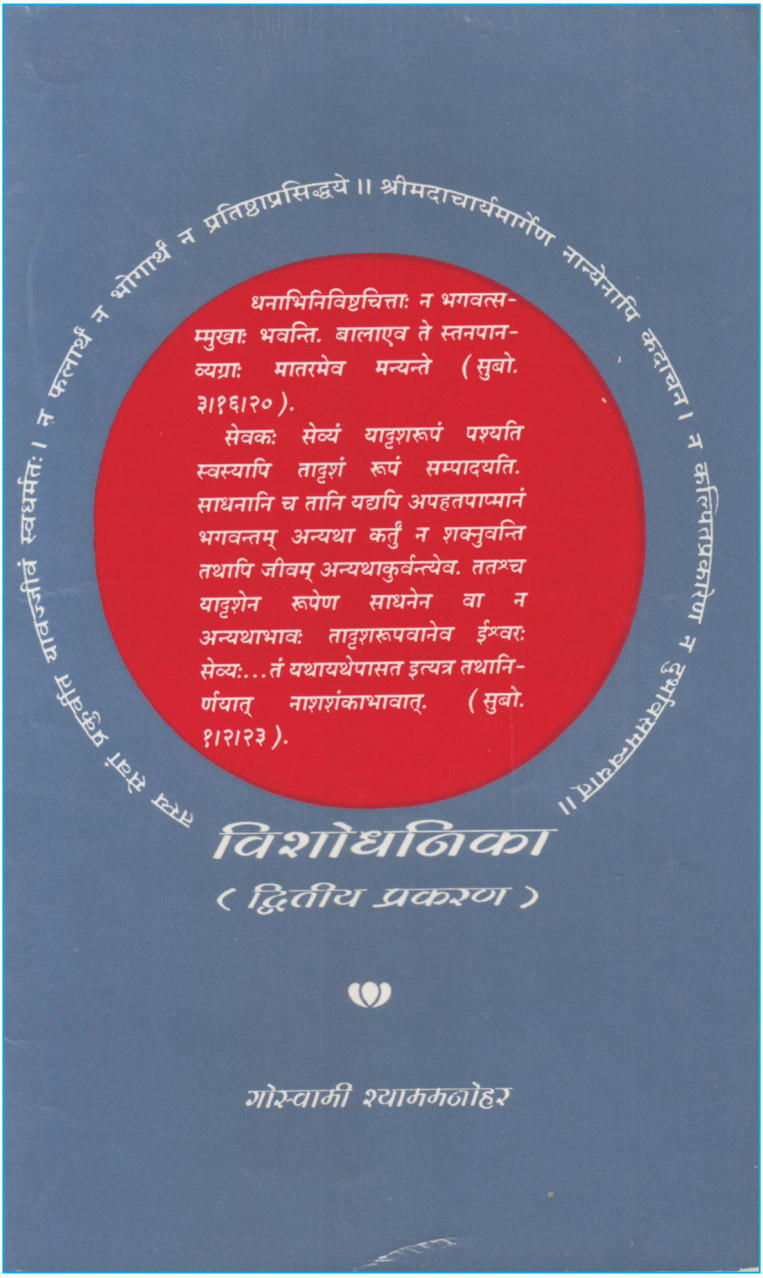
तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः । न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ॥ श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन । न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ॥
धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखाः भवन्ति. बालाएव ते स्तनपानव्यग्राः मातरमेव मन्यन्ते (सुबो. ३।१६।२०).
सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति स्वस्यापि तादृशं रूपं सम्पादयति. साधनानि च तानि यद्यपि अपहतपाप्मानं भगवन्तम् अन्यथा कर्तुं न शक्नुवन्ति तथापि जीवम् अन्यथाकुर्वन्त्येव. ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा न अन्यथाभावः तादृशरूपवानेव ईश्वरः सेव्यः...तं यथायथेपासत इत्यत्र तथानिर्णयात् नाशशंकाभावात्. (सुबो. १।२।२३).
विशोधनिका
(द्वितीय प्रकरण)
गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशक-प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई-४०००५६.

'अडैल', महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
नया शहर, किशनगढ़, जि. अजमेर,
राजस्थान-३०५८०२.

प्रति : १०००

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९

मुद्रक :
प्रॉस्पॅक्ट प्रिन्टींग प्रेस
पोर्टुगीझ चर्च, दादर,
मुम्बई-४०००२८.

नि:शुल्कवितरणार्थ

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें मुद्रणकार्यमें सहयोगी : श्रीअसित शाह, श्रीमनीष बाराई, श्रीरसिक शाह, श्रीविपुल बाराई
तथा
प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगी : अनेक वैष्णव भगवदीयोंका
हम हृदयसे आभार माने हैं.

समर्पण

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके वचन उनके दोनों आत्मजोंके वचन तथा
इनके उपजीव्य शास्त्रोंके भी वचनोंके आभारपर ही पुष्टिमार्गियोंके
वास्तविक स्वधर्मका स्वरूप निर्धारित हो सकता है.
सार्वजनिक मन्दिरोंमें धन फेंककर दर्शन-प्रसादको खरीदनेकी शोखीन
निष्ठाविहीन जनतासे प्रीति रखनेवाले स्वार्थलिप्त पू.पा.गो.म.श्रीओंके
वचन या व्यवहार प्रमाण नहीं होते. न आधुनिक धर्मनिरपेक्ष
कानूनकी भीति रखकर अपनी लक्ष्मीकी रक्षाके मोहमें नारायणको
त्यागनेवालोंके वचन या व्यवहार को ही पुष्टिमार्गियोंके स्वधर्मके
स्वरूपनिर्धारणार्थ प्रमाण माना जा सकता है.
पुष्टिमार्गियोंके धर्मका वास्तविक स्वरूप आचार्यवचनोंद्वारा ही निर्धारित
किया जा सकता है. स्वमार्गमें उभरी इन विसंगतिओंके बीच
स्वसिद्धान्तसंरक्षणके प्रयासको-''अति धन्यवादार्ह है कि
आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तकूं कोर्टमें समझाये''
(दि.२६-१०-८६को मुझे भेजे गये पत्रमें) तथा ''हमारा इसमें
पूरा सहयोग होगा, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक इस कार्यमें
सहयोग करनेको तैयार हैं'' (दि.७-११-८६को मुझे भेजे गये पत्रमें)
इन वचनोंसे प्रोत्साहित करनेवाले **नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी** काकाजीके
प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञताको अभिव्यक्त करने
यह द्वितीय प्रकरण उन्हें समर्पित करता हूं.
मेरा दृढ विश्वास है कि नि.ली.काकाजीकी ही अन्तःप्रेरणा थी कि
उनके आत्मज चि. हरिरायजी पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी बनकर आनेके
बावजूद पक्षग्रहणप्रसंगमें:
पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवास्थल स्वगृह ही होता है तथा
ट्रस्टएक्टके अनुसार भगवत्सेवार्थ धन मांग कर आजीविका
चलानेवाला जघन्य कोटिका देवलक होता है
--इन दो मुख्य मुद्दोंको कबूल कर बैठे थे.

अत्र शास्त्रं प्रमाणं स्यात् नैव वित्तस्य लालसा ।
नच संख्याक्रमो (A/317 जामनगर) दुष्टः पब्लिक्ट्रस्टरजिस्टरे ।।

*

गोस्वामी श्याममनोहर

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आमुख

विशोधनिकाके इस द्वितीय परिच्छेदमें आलोचनाक्रमसे उपक्रम, ब्राह्मणत्व, वैदिक गुरुत्व, तान्त्रिक गुरुत्व, साम्प्रदायिक गुरुत्व तथा उपसंहार के विभागशः विषयनिरूपण हुआ है. आलोच्य विषय, वैसे, दो ही हैं कि देवद्रव्यका स्वरूप क्या और देवलकवृत्ति क्या और कैसे होती है ?

विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदके आमुखमें मैंने जिन आशंकाओंको प्रकट किया था उनका निराकरण इस आमुख लिखनेकी क्षण तक तो विमर्शकारने व्यक्तिशः मुझे अथवा 'वैष्णववाणी'मासिकमें भी दिया नहीं है, जबकि उसमें उक्त विमर्श ग्रन्थका संशोधित-परिवर्धित गुर्जरभाषानुवाद प्रकाशित करवाया जा रहा है. लगता है - या तो लंबी प्रतीक्षा करनी पडेगी या फिर अप्रतिषिद्धम् अनुमतम् भी कदाचित् हो सकता है ! अस्तु.

देवद्रव्य

वैसे 'देवद्रव्य'का अर्थ होता है ऐसा द्रव्य कि जिसपर लौकिक स्वामित्व किसी देवमूर्तिका हो. देवमूर्तिका स्वामित्व उत्पन्न होता है जब कोई श्रद्धालु अपने किसी द्रव्य-वस्त्र-सुवर्ण-रत्न-प्राणी-भूमि-गृह-क्षेत्र-कूप-व्यापारादि परसे अपना स्वामित्व निवृत्त करके किसी देवमूर्तिके स्वामित्वका संकल्प करे. लौकिक उदाहरणोंमें किसी दाताके द्वारा कुछ प्रदान किये जानेपर यदि प्रतिग्रहीता उसे स्वीकारता है तभी स्वत्वान्तरण (मालिकाना हकमें परिवर्तन) होता है. अर्थात् अपने स्वामित्वकी कोई वस्तु देनेवाला देना चाहे और लेनेवाला उसे लेना न चाहे या लेनेवाला लेना चाहता हो परन्तु देनेवाला उसे देना न चाहता हो तो नूतन स्वत्व उत्पन्न नहीं होता. श्रद्धाभाववश प्रदत्त वैध स्वामित्ववाली किसी वस्तु या धन को देवगण अपनी दिव्य सामर्थ्यसे देवमूर्तिरूपेण भी स्वीकारते ही हैं. अतः इकतरफा मनोवृत्ति भी यहां नियामिका बन जाती है. परिस्थिति जटिल,

किन्तु, तब बनती है कि जब किसी देवमूर्तिपर किसी एक व्यक्तिका स्वत्व हो और दूसरा ऐसा व्यक्ति कि जिसका देवमूर्तिपर स्वत्व न हो फिर भी वह अपनी स्वत्ववाली धनभूमिपात्रवस्त्ररत्नअन्नादि वस्तुपरसे उस देवमूर्तिको उद्देश्य बनाकर अपने स्वत्वको छोड़कर देवके स्वत्वका संकल्प करता हो. ऐसी स्थितिमें उन धन या वस्तुओं पर देवमूर्तिका स्वत्व उत्पन्न होता है या उसका कि जिसके स्वत्वकी स्वयं देवमूर्ति हो ?

यदि हम कन्यादान या स्त्रीधन के उदाहरणद्वारा इसे समझना चाहें तो बात सुबोध बन जाती है. कन्याविवाहप्रसंगमें कन्याके पिताको कहीं-कहीं 'चांदला' उपहार देनेकी रीति है. वह कन्याके ही विवाहनिमित्त दिया जाता होनेपर भी उसपर कन्याका स्वत्व उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत कन्याके पिताका ही होता है. कन्यादानके समय, किन्तु, जो कन्याके हाथमें दिया जाता है वह अपनी कन्यापर पिताके स्वत्वके बावजूद पिताका नहीं प्रत्युत कन्याका ही होता है. इसी तरह दाक्षिणात्य पद्धतिवाली वरदक्षिणा या दहेज पर वधूनिमित्तवशात् मिलनेके बावजूद वधूका स्वत्व नहीं होता. कन्यादानके बाद परन्तु वधूपर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न होनेके बावजूद कन्यादानमें कन्याके हाथमें दिये गये द्रव्य या वस्तु पर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न नहीं होता, स्त्रीधन होनेसे. जिस द्रव्यपर किसी स्त्रीका स्वामित्व हो एतावता उस स्त्रीके स्वामीका उस स्त्रीके स्वामित्ववाले द्रव्यपर भी स्वामित्व हो जाना चाहिये - ऐसा तर्क चल नहीं सकता. क्योंकि यदि स्वामित्व होगा भी तो वह रक्षणोपयोगी स्वामित्व ही होगा, भोगोपयोगी स्वामित्व नहीं.

यही बात देवद्रव्यपर भी लागू होती है.

लौकिक उदाहरणोंमें दाताद्वारा दित्सित वस्तुको लेनेवाला अपनी रुचि या अधिकार के अनुसार प्रतिग्रह अथवा अप्रतिग्रह द्वारा ग्राह्य अथवा अग्राह्य बनाता है. जैसे किसी ब्राह्मणको कोई मदिरा-मांस जैसी वस्तु उपहारतया देना चाहता हो, तब भी सच्चा ब्राह्मण उसे स्वीकारेगा ही नहीं. अत: केवल देनेवालेकी इच्छा या संकल्प नियामक नहीं रह जाते. ऐसे ही देवमूर्तिको भी क्या दिया जा सकता है और क्या नहीं, वह देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठाके मूलमें रहे शास्त्रीय

विधानोंका ही विषय है, केवल दाताका नहीं. अतः देवार्थ प्रदत्त वस्तुके पूजनमें सकृद् विनियोगवशात् पुनः विनियोगानर्ह वस्तुओंपर यथाशास्त्रविधि कभी देवमूर्तिका स्वत्व रहता है और कभी नहीं. जैसे हमारे सिरके बालोंको कटवानेके बाद नाई उन बालोंका क्या करता है –इसकी हम चिन्ता नहीं करते, स्वत्वत्यागवशात्. ऐसे पत्र–पुष्प–जल–नैवेद्यादिके बारेमें उनकी देवपूजनमें पुनः उपयोगिताके अभावको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रोंने उनपरसे देवस्वत्वको निवृत्त भी किया है और दायनियमकी तरह यथायथ किसी दूसरेके स्वत्वका विधान भी और किसी तीसरेके स्वत्वका निषेध भी द्योतित किया है. तदनुसार ही पत्र–पुष्प–जल–नैवेद्यादिके उपभोगके बारेमें शास्त्रमर्यादा ही नियामक होती है, स्वच्छन्द उपभोगरुचि या स्वत्वप्रयुक्त अधिकार नहीं. जैसे परिवारके किसी अपुत्र वृद्धके दिवंगत होनेपर छीन–झपट कर उत्तराधिकारी नहीं बना जा सकता है.शास्त्र कानून या कुलरीति के अनुसार ही उत्तराधिकार मान्य किया जाता है.

दानमें स्वस्वत्वका त्याग तथा परस्वत्वका उत्पादन होता है. अतः देवस्वत्वके उत्पादनके बाद शास्त्रमें जहां देवोपभोग(अर्थात् देवपूजनमें विनियोग)के द्वारा देवस्वत्व निवृत्त हुआ माना है वहीं देवस्वत्व नहीं होता, अन्यत्र तो रहता ही है. जैसे लौकिक व्यक्ति, अपने स्वत्वनिर्वाह अथवा स्वत्वनिवृत्ति की इच्छा अपने मन वाणी या व्यवहार से प्रकट करता है, वैसे देवमूर्ति स्वपूजनविधायक शास्त्रोंद्वारा.

अतएव समर्पण या निवेदन के उदाहरणमें, जहां समर्पण–निवेदनकर्ताद्वारा न तो स्वस्वत्व निवृत्त किया जाता हो और न देवस्वत्वका उत्पादन ही, वहां भक्तद्वारा निज–स्वत्वकी वस्तुका देवमूर्तिकृत उपभोग ही केवल अभिलषित होता है. अत: निवेदन–समर्पणकी ऐसी प्रक्रियाद्वारा जब देवपूजनमें विनियोगार्थ कोई वस्तु दी जाती है तो देवस्वत्वके उत्पन्न होनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता.

पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा उत्सर्गतया निवेदनकी प्रक्रियापर अवलंबित होती है, दानकी प्रक्रियापर नहीं. अतएव असमर्पित वस्तुके त्यागपर भार दिया गया है. साथ ही साथ, अपवादतया, कभी दानकी प्रक्रियासे भगवत्सेवार्थ कुछ

प्रदत्त हो तो उसके देवद्रव्य होनेसे उसका उपभोग वर्जित भी कर दिया गया है, पुष्टिभजनप्रकारनिरूपक ग्रन्थोंमें.

अतएव श्रीहरिरायचरणने सेवापराधनिरूपण ग्रन्थमें ३६वें अपराधतया भगवानके नामसे कुछ भी पराये जनसे मांगकर भगवत्सेवा करनेपर सेवा निष्फल जाती है –ऐसा स्पष्ट कहा है. क्योंकि भगवानके नामसे कुछ भी मांगनेपर देनेवाला जो कुछ देगा वह स्वस्वत्व निवृत्त कर भगवानका स्वत्व उत्पन्न करेगा. अतः ऐसी सेवारीतिसे बचना चाहिये. क्योंकि असमर्पितत्यागके नियममें यह बाधक बनती है. अतः पुष्टिप्रभु उसे स्वीकारते ही नहीं है. दानकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प जैसे मानसिक वाचिक अथवा व्यावहारिक भी हो सकता है, ऐसे ही निवेदन–समर्पणकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प भी मानसिक वाचिक या व्यावहारिक भी हो सकता है. अतएव अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन, जहां दान या समर्पण का भेद ही निभ न पाता हो, पुष्टिमार्गमें प्रतिबन्धित किया गया है. सेवा केवल क्रिया तो है नहीं, वह तो भक्त्यंग अथवा भक्त्यर्थ ही करनी होती है. अतः भक्तिके रसभावके विचारवश भाष्यकारने उसे गुप्त रखनेको समझाया है. इसी तरह श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने स्वीय भक्तोंको ही दर्शन करानेका विधान किया है. श्रीहरिरायचरणने भी, अतएव, अवैष्णवके समक्ष सेवा ही नहीं, स्वसेव्यके भी प्रदर्शनको अपराध मानकर वार्षिकसेवाकी निष्फलता तथा सेव्यस्वरूपको पंचामृतद्वारा पुनः शुद्ध करनेका विधान किया है. इन तीन वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें निन्दनीय ठहरता ही है.

स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके लिये स्व अथवा स्वकीय ही समर्पणके अधिकारी होते हैं, परकीय नहीं. परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयस्थ भगवत्स्वरूपके लिये सभीको समर्पणाधिकार होता है. जैसे अपने परिवारजन या इष्टमित्र को अपनी कोई वस्तु उपभोगार्थ प्रस्तुत करना परोपकार या दान नहीं कहलाता. जैसे एक गृहस्थके घरमें अपारिवारिक जनका 'आतिथ्य' किया जाता है परन्तु परिवारजनका 'आतिथ्य' नहीं कहलाता. धर्मशालामें सभी यात्रिओंको रहनेका अधिकार होता है. घर एक स्वार्थनिर्मिति है तो धर्मशाला परार्थनिर्मिति.

अपने घरकी मरम्मतके लिये गामसे रुपिया मांगना 'भीख' कहलायेगी, 'समाजसेवा' नहीं. किन्तु सार्वजनिक धर्मशालाकी मरम्मतके लिये गामसे धनराशि मांगना 'भीख' नहीं कही जा सकती, वह 'समाजसेवा' है.

संक्षेपमें ये सारी बातें देवमूर्तिके स्वत्वको समझनेके स्थूलाधार हैं.हमारी यह धारणा बद्धमूल है कि विमर्शकार भी यदि इन्हें हृदृत करते तो निरर्थक विवादमें उन्हें उलझनेकी इच्छा ही नहीं होती.

देवलकता

'देवलक' उसे कहते हैं जो देवस्वके उपभोगसे अपना जीवननिर्वाह चलाता हो अथवा देवपूजनको ही जिसने अपनी आजीविका बना ली हो. देवपूजन निजार्थ धर्माचरण है, इसे आजीविकाके रूपमें करना देवपूजनका दम्भ है. इसी तरह देवपूजन करवाना ब्राह्मणकी शास्त्रविहित आजीविका है, उसे पूजा करवानेवाला अपना धर्म मानता हो तो वह केवल अज्ञान है. इस देवलकवृत्तिकी निन्दामें शास्त्रका हेतु स्पष्ट है कि अपनी आजीविकाका प्रदर्शन धर्मतया नहीं करना चाहिये और धर्मको आजीविकाका साधन नहीं बनाना चाहिये.

वृत्त्यर्थ भगवदाराधनकी यह वकालत कि ''सर्वथा श्रद्धाविरहित केवल वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता है परन्तु श्रद्धासहित वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता नहीं है'', शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि फिर तो चोरी करनेका शास्त्रीय निषेध भी केवल चोरी करनेकी बुद्धिसे ही चोरी करनेमें पाप मानता है परन्तु किसी धनवानको धनमदके दोषसे छुटकारा दिलानेके सदाशयके साथ चोरी करनेमें गुनाह नहीं है – ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. व्यभिचार भी किसीमें केवल परस्त्री या केवल परपुरुष की बुद्धि रखनेपर दोष होगा परन्तु परस्त्री या परपुरुष की कष्टप्रद कामपीड़ाको निवृत्त करनेके परोपकारकी भावनाके साथ करनेपर वह व्यभिचार भी दोष नहीं रह जायेगा. मांसभक्षण भी केवल मांसबुद्ध्या भक्षण करनेपर दोषजनक होगा, प्राणाग्निहोम करनेके उदात्तभावके साथ मांसभक्षण भी दोषपूर्ण नहीं रह जायेगा. फिर तो देवद्रव्योपभोगकी निन्दा या देवलकवृत्तिकी निन्दा का भी बुरा तब ही मानना चाहिये, जब केवल निन्दाबुद्धिसे वह की जाती हो. जब

वह निन्दा आचार्यवंशज अपने माथे बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवामें स्वयं अपने ही द्रव्यका विनियोग करें –ऐसी सद्भावनाके साथ की जाती हो तो ऐसी निन्दाका भी बुरा नहीं मानना चाहिये !

कहा जाता है कि ''देवतागुरुपूजार्थं यत्नतोप्यर्जयेद् धनम्'', अतः देवपूजनार्थ परायोंका वित्त मांगना–वापरना देवलकता नहीं. इस वचनमें स्पष्टतया यह कहा जा रहा है कि देवता तथा गुरु के पूजनके लिये प्रयत्नपूर्वक धन अर्जित करना चाहिये परन्तु ऐसे तो नहीं कहा कि देवगुरुपूजनको ही धनोपार्जनका उपाय बना लेना चाहिये !

इसी तरह जो ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन मिलता है, उसमें यदि ''येन केन प्रकारेण''से मिलती छुटके इर्दगिर्द कोई लक्ष्मणरेखा ही न स्वीकारनी हो तो ठगी–चोरी–डकैती–धनिकोंकी हत्याके प्रकारोंसे भी अर्जित धनसे विष्णुके आराधनको धर्मानुमोदित मानना पड़ेगा. यदि कहीं लक्ष्मणरेखा खींचनी हो तब उस वृत्तके बाहर धनोपार्जनके उपायतया स्वयं विष्णुकी आराधनाको तो रखना ही पड़ेगा. क्योंकि इस वचनमें भी विष्णुकी आराधनाकी साध्यता ही निर्दिष्ट हो रही है, साधनता नहीं. इसी तरह अनिर्दिष्ट प्रकारोंकी साधनता भी तृतीया विभक्तिद्वारा द्योतित हो रही है. ऐसी स्थितिमें ''अनिषिद्धेन येन केन प्रकारेण'' अर्थ अकाम गलेपतित होगा. अन्यथा चण्डीयागके अनुष्ठानार्थ या भैरवजीके मन्दिरनिर्माणार्थ या शिरडीसांईबाबाको साठ हजार रुपयोंकी कीमती चद्दर चढानेके लिये यदि कोई विष्णुकी आराधना धनोपार्जनके उपायरूपेण करता हो तो उसे भी पुष्टिभक्तिकी प्रधानकाष्ठाके रूपमें मान्य करना पड़ेगा ! स्पष्ट है – इस प्रकारमें यदि भक्तिमार्गकी दृष्टिसे, महाप्रभुके विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें निषिद्ध अन्याश्रयका दोष लगता हो तो, अपने संसारको चलानेके लिये कृष्णसेवाके अनुष्ठान करनेपर शिक्षाश्लोकी ग्रन्थमें निषिद्ध बहिर्मुखता दोष लगता है, यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

कुछ आधुनिक अपठित आचार्यवंशज इधर प्रचार कर रहे हैं कि षोडशग्रन्थ तो वैष्णवोंके लिये ही महाप्रभुद्वारा उपदिष्ट हैं अतः षोडशग्रन्थकी आज्ञायें स्वयं महाप्रभुके वंशजोंपर लागू नहीं होती. तब तो स्पष्ट हो जाता है कि

शिक्षाश्लोकीको, जिसे महाप्रभुने अपने वंशजोंको संबोधित करके ही उपदेश दिया है, उसे महाप्रभुके वंशजोंको अपने उपर बन्धनकारी मानना ही पड़ेगा ! एतदर्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट शिक्षाश्लोकीद्वारा ही इस आमुखका उपसंहार हम करना चाहेंगें :

मूल : यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन ।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत ।।
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम ।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ।।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा ।।
सेव्यः सएव गोपीशः विधास्यत्यखिलं हि नः ।

भावानुवाद : जब तुम ''येन केन प्रकारेण'' बहिर्मुख हो जाओगे तब कलिकालके या विषयावेशके आवेगके प्रवाहमें बहते तुम्हारे देह (जिसके पोषणार्थ नित्य भगवत्सेवा आजीविकाके रूपमें की जाती है) और चित्त (जिसमें रहे पीठाधीशत्वादिके प्रतिष्ठामोहके पोषणार्थ छप्पनभोगादि मनोरथोंके सार्वजनिक प्रदर्शन किये जाते हैं) आदि ही तुम्हें सभी तरहसे निगल जायेंगें ! – ऐसी बिलकुल साफसाफ मेरी समझ है. क्योंकि श्रीकृष्ण हमारे लौकिक स्वामी नहीं है, अतः हमारे ऐसे मनो(रथ)भावोंको वे बिलकुल पसन्द नहीं करेंगें. अपना ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ श्रीकृष्णको मानकर (अर्थात् अपने लौकिक ऐश्वर्य, रक्षापोषण, धन–पद–प्रतिष्ठा को अपना प्रयोजन मानकर नहीं) सर्वभावसे श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मानकर भजन करो. अपने सेवकके हितमें जो कुछ भी उचित होगा वह सभी कुछ स्वयं श्रीकृष्ण करेंगें ही.

हम आचार्यवंशज यदि इस शिक्षाश्लोकीको हृदयंगम करते तो न विमर्श ग्रन्थकी आवश्यकता रह जाती और न ही इस विशोधनिकाकी. पांच सौ वर्षोंसे चले आ रहे इस सम्प्रदायके लिये इस विमर्श ग्रन्थ तथा विशोधनिका का प्रकट होना सचमुचमें एक सामुदायिक लज्जाका विषय है. फिर भी

''सिद्धान्तवचनावलीका अनुवाद मूंहमें भर कर तो लाया हूं पर बोलूं कैसे ? शास्त्रार्थ तो करने न्याय-व्याकरण-काव्यादिमें पारंगत होनेसे सभी तरह सक्षम हूं पर तटस्थ मध्यस्थके अभावमें अपनी युक्ति प्रकट कैसे करूं ? चूंकि कि चर्चा तो अधूरी ही रही थी पर बड़ोंने पूर्वसूचनाके बिना मुझे अभिनन्दित करना चाहा तो उसे इन्कारूं कैसे ?'' - ऐसी शाखामृगैक-शोभनीय निरन्तर शाखाचंक्रमणकी नितान्त बचकानी हरकतें करनेके बजाय जो भी अपना मत हो उसे विद्वज्जनोचित साहस तथा शिष्टजनोचित शान्त स्पष्ट और पर्याप्तप्रमाणोपन्यासयुक्त भाषामें प्रकट करना एक अच्छी बात है. विमर्शकारकी प्रस्तुत कृति, कमसे कम इस हेतुवश,निश्चय ही नितान्त अभिनन्दनीय है - इसे स्वीकार करनेमें मुझे तनिक भी संकोच नहीं है. मुझसे इन प्रशंसनीय गुणोंका निर्वाह भलीभांति हो नहीं पाया है अपनी इस न्यूनताका मुझे अपने इस लेखनमें भान तो है परन्तु इस अक्षमताको दूर नहीं कर पा रहा हूं तदर्थ सभी सहृदय पाठकोंसे क्षमायाचना करते हुए...

वि.सं. २०४९ *गोस्वामी श्याममनोहर*

चैत्र कृष्णा अष्टमी

विशोधनिका – द्वितीयप्रकरणसूचि

१ **उपक्रम** ३७३–३८०

१. पुष्टिभक्तिमें अनिषिद्धवृत्तिकी उपयोगिता

२. आवश्यक कर्तव्योंकी कसौटी

३. पुष्टिभक्ति – वर्णाश्रमधर्म

४. प्रस्तुत प्रकरणका स्वरूप

२ **ब्राह्मणत्व** ३८१–४०३

१. विषयवाक्योंके सन्दर्भमें स्वमार्गीय गुरुत्व

२. ब्राह्मण्यनिर्वाहक षट्कर्मोंका स्वरूप

३. चार आश्रमोंकी अनापद्वृत्तियां

४. आपद्वृत्तिओंका स्वरूप

५. निष्कपट भगवदाराधनमें कपटके प्रकार

६. परिच्छेदोपसंहार

३ **वैदिक गुरुत्व** ४०४–४१९

१. विषयवाक्यके सन्दर्भमें स्वमार्गीय गुरुत्व

२. आर्त्विज्य

३. जनकपितृतारूप गुरुत्व

४. उपाध्यायरूप तथा आचार्यरूप गुरुत्वके अन्तर्गत वृत्त्यर्थ भगवदाराधनकी अशक्यता

५. सम्बद्ध भागवतवचन

४ **तान्त्रिक गुरुत्व** ४२०–४६८

१. विषयवाक्यका सुबोधिनीवर्णित अभिप्राय

२. पुष्टिमार्गमें कौण्डिन्य–गोपिकाओंके गुरुत्वका स्वरूप

३. अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम् तथा शिष्टाचारप्रामाण्य

४. शास्त्रोंमें तन्त्रोंका स्थान तथा उनका सामान्य परिचय

५. स्वार्थ–परार्थ प्रतिष्ठा तथा अर्चनका स्वरूप
६. द्रव्यदाता तथा दानके प्रकारोंका स्वरूप
७. कर्मीभूत देयद्रव्यका स्वरूप
८. सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप
९. बालकबुद्धिप्रसूततर्कनिरसन

५ **साम्प्रदायिक गुरुत्व** ४६९–५००

१. विषयवाक्य
२. श्रीविठ्ठलनाथ–प्रभुचरण–वचनविवेचन
३. श्रीगोपीनाथ–प्रभुचरण–वचनविवेचन
४. श्रीहरिरायचरण–वचनविवेचन
५. श्रीपुरुषोत्तमचरण–वचनविवेचन
६. स्वमार्गीयसत्संगस्वरूपनिर्णय

६ **उपसंहार** ५०१–५०५

१. देवद्रव्यभक्षणाभक्षणयुक्तिविवेचन
२. पांचसौ वर्षबाद कपटसे मार्गविलोपनकी भविष्यवाणी

७ **परिशिष्ट** ५०६–५१०

१. वचनामृत–३० (शिष्टाचार और पूर्वजाचारका तारतम्य)



।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

शास्त्रीय सन्दर्भमें :

पुष्टिमार्गीय – सेवार्थ आजीविकास्वरूप विशोधनिका

उपक्रम

जयति जगति वाणी कापि दोषप्रहाणी
विमतिदुरुदितस्य स्वाध्वसंक्षोभकस्य
निरसितुमिह दोषं देहि तां भावशुद्धिं
व्रजपतिरतिमार्गाद् भ्रंसतां नैव कोपि ।।

मूल : याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्, ''अचौराणामपापानाम्'' (भाग. ७।११।३०) इतिवचनात् (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २३२).

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणम् उदाहृतम् इति प्रमाणम्. आत्यन्तिकभक्तेः लक्षणम् आह'अहैतुकी'इति सार्धाभ्याम्. या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः सएव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत इति सम्बन्धः. पुरुषोत्तम एव भक्तिः नतु पुरुषेषु अवतारेषु वा. 'भक्ति'श्च प्रेमपूर्विका सेवा.हेतुः=फलानुसन्धानं,तद्रहिता'अहैतुकी'= अनिमित्ता. अनेन सगुणा निवारिता.'अव्यवहिता'=कालेन कर्मणा वा यत्र सेवायां व्यवधानं नास्ति, नतु निद्राभोजनादिना, तस्य सेवाहेतुत्वात्.'या भक्तिः'इति लोकवेदप्रसिद्धा नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम् (सुबो. ३।२९।१२).

भावानुवाद : अधिक शक्य न हो तो एक यामभर भी भगवत्सेवा करनी चाहिये और भगवत्सेवा कर लेनेके बाद शास्त्रतः अनिषिद्ध उपायसे आजीविका अर्जित करनी चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ रही आजीविका भी यदि

शास्त्रनिषिद्ध हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये, ''अचौराणामपापानाम्'' वचनमें यही बात कही गई है.

निर्गुण भक्तियोगका लक्षण जो निरूपित किया है वही उसे जाननेका प्रमाण है. आत्यन्तिक भक्तिका लक्षण यह है: पुरुषोत्तममें जो अहैतुकी भक्ति होती है उसे ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहते हैं, भक्तिका पुरुषोत्तममें होना आवश्यक है, पुरुषोंमें या पुरुषोत्तमके अवतारोंमें नहीं. 'भक्ति'का अर्थ होता है प्रेमपूर्विका सेवा. किसी फल (आजीविका-धन-ऐश्वर्य-प्रतिष्ठादि) के आशय अर्थात् हेतुसे रहित भक्ति 'अहैतुकी = अनिमित्त भक्ति' कहलाती है. अर्थात् वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है. वह नहीं करनी चाहिये. वह भक्ति काल या कर्म से अव्यवहित भी होनी चाहिये, अर्थात् हमारे काल और कर्म सेवामें व्यवधान नहीं बनने चाहिये. जैसे कि निद्रा या भोजनादि भक्तिमें व्यवधान बन जाते हैं जब इन्हें भक्त्यर्थ हम नहीं करते. भक्ति वही जो लोकवेदमें प्रसिद्ध उपायों या सामग्री से की जाये. अर्थात् चोरी डकैती आदि शास्त्रनिषिद्ध-लोकनिषिद्ध उपायोंसे सामग्री जुटाकर भगवत्सेवा नहीं करनी चाहिये(अर्थात् भक्त्यर्थ वृत्ति-प्रतिष्ठा-ऐश्वर्य बाधक नहीं होते परन्तु वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है).

इसमेंसे प्रथम वचनके आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने जो समझाया है उसका सार कुछ इस तरह है: श्रीमद्भागवतके ''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकाः यवनाः खसादयः येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः'' वचनके बलपर भगवानके भजन-कीर्तनादि करनेका अधिकार सभीको है. फिर भी ''शुद्ध आहार लेनेपर सत्त्वशुद्धि'' (छान्दोग्योपनिषद्) होती है अतः आहारशुद्धिके लिये शास्त्रतः जो विहित आजीविकायें हैं उन्हीं वृत्तिओंके द्वारा सम्पादित अन्न शुद्ध होता है. अतः इस आवश्यकताको दृष्टिगत रखते हुए कभी-कभी शास्त्रविहित वृत्तिका भी संकोच करना आवश्यक हो जाता है.क्योंकि''अकारण प्रदत्त धनका प्रतिग्रह करनेसे ब्राह्म तप तेज तथा यश तीनों ही क्षीण होते हैं.अतः प्रतिग्रहवृत्तिके शास्त्रविहित होनेपर भी याजन और अध्यापन की वृत्तिद्वारा ही निर्वाह चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता

है''(भाग. ११।१७।४१)वचनमें भी यही बात समझाई गई है. भागवत(७।११।३०)में भी ब्राह्मणादि चार वर्णोंकी वृत्तिके निरूपणके बाद नारदजीने वर्णसंकरों, शूद्रों, तथा अवशिष्ट वर्णबाह्य लोगोंकी वृत्तिके बारेमें यह स्पष्ट विधान किया है कि उनकी जो भी वृत्ति, चोरी या ऐसे अन्य पापोंवाली न हो तो,कुलक्रमागत ही हो सकती है. अतः शुद्ध वृत्तिका अवलम्बन करनेपर ही तामस-राजस-सात्त्विक ऐसी सगुण अवस्थाओंके बाद निर्गुणावस्था क्रमशः प्राप्त हो सकती है. इसका सुविशद विचार श्रीपुरुषोत्तमजीने स्ववृत्तिवादमें भी किया है.(आवरणभंग २३२का सारांश).

भगवत्सेवा, जिसका 'तनुवित्तजा' प्रमुख स्वरूप है, उसे निभाना प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अपरिहार्य कर्तव्य है. सभी वर्णी, वर्णसंकर, शूद्र तथा वर्णबाह्यों को भी अपने-अपने घरोमें अपने-अपने पारिवारिक जनोंके सहयोगसे अपने-अपने तनु-वित्तके विनियोगपूर्वक भगवत्सेवा करनेके अधिकार और कर्तव्य दोनों ही हैं.

इस अधिकार तथा कर्तव्य के निर्वाहार्थ गृह-परिवार-चित्त-तनु-वित्त सभीको अव्याकुल रखना भी आवश्यक माना गया है. तदर्थ कुछ शुद्धिनियमोंको भी आवश्यक माना गया है. ये वेही शुद्धिनियम हैं जिन्हें आज हम 'अपरस' कहते हैं. ये शुद्धिनियम सभी वर्णी या वर्णेतरोंके लिये एकसमान नहीं हो सकते. उदाहरणतया पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंकेलिये किन्हीं ब्राह्मणोंके हाथसे पक्वान्नग्रहणकी छूट थी, अन्यसे नहीं. इस नियमका गोस्वामीतर पुष्टिमार्गीयोंसे कुछ भी लेना-देना नहीं था. स्नानाशनपानादिके कुछ न्यूनतम सामान्य आचारनियम अवश्य ही पाये जाते हैं.

साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि शास्त्रतः निषिद्ध अनेक अनाचार भी देश-कालके प्रभाववशात् आज इतने व्यापकरूपमें समाजके भीतर पैठ गये हैं कि कोई व्यक्ति बचना चाहे तब भी उन अनाचारोंसे अपने आपको बचा नहीं सकता है. ऐसी स्थितिमें शास्त्रकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले विहित-निषिद्ध आचारानाचार भी बहुधा कृत्यर्हता अर्थात् कर पानेकी अपनी सामर्थ्यकी कसौटीपर विफल हो जाते हैं. अतएव किसी भी कर्मके आवश्यक कर्तव्य होनेकी

कसौटी तीन मानी गई हैं :

(१) वह शास्त्रद्वारा विहित होना चाहिये या निषिद्ध न होना चाहिये.

(२) वह स्वाधिकारानुरूप अभिलषित फलका साधक होना चाहिये.

(३) वह हमारे सामर्थ्यके अनुरूप शक्य होना चाहिये.

कुछ कार्य करनेको हम समर्थ हो सकते हैं, उदाहरणतया ब्राह्मण मदिरापान करने समर्थ भी हो; एतावता मदिरापान कर लेना धर्म नहीं हो सकता. मदिरापान ब्राह्मणके लिये शास्त्रनिषिद्ध होनेके कारण वह कभी धर्म नहीं हो सकता है.

कुछ कार्योंको करने हम समर्थ हों और शास्त्रमें उसकी विधि भी मिल सकती है. शास्त्र, परन्तु, उसका जिस फलके साधनतया विधान करता है, वह फल ही यदि हमें अभीष्ट न हो तो, या उसे पानेका हमारा अधिकार ही न हो तो, वह कार्य हमारे लिये धर्म नहीं रह जाता है. उदाहरणतया ऐकान्तिक विष्णुभक्तको या ऐकान्तिक शिवभक्तको अपने-अपने इष्टदेवसे इतर देवका पूजन धर्मरूप नहीं होता, तज्जन्य फलके अनभीष्ट होनेके कारण.

इसी तरह शास्त्रविहित होने तथा इष्टसाधन होनेकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले किसी कर्मके भी कृत्यर्ह न होनेपर, अर्थात् हमारे लिये उसे कर पाना शक्य न होनेपर, वह हमारे लिये धर्मरूप नहीं रह जाता. उदाहरणतया अधर्मबहुल प्रदेशका त्याग करके धर्मबहुल प्रदेशमें निवास करना चाहिये - इस बारेमें शास्त्राज्ञा स्पष्ट होनेपर भी तथा हमें अभीष्ट होनेपर भी कहां बसना ? क्योंकि सर्वत्र एक जैसा ही प्रकार सम्प्रति चल रहा है.

स्नान-अशन-पान आदिके शारीरिक व्यवहारमें जो आचारव्यवस्था अनुसरणीय है वही आजीविकाके उपार्जनके आर्थिक व्यवहारमें भी अनुसरणीय है. वैसे यह एक अटल शास्त्रीय तथ्य है कि सभी तरहकी शुद्धिओंसे उत्कृष्ट धनशुद्धि होती है. क्योंकि शुद्ध धनसे अपरस पालनेवाला शुद्ध होता है परन्तु अशुद्ध धनसे अपना निर्वाह चलानेवाला कितनी भी बड़ी अपरस कुआके जलकी

और मिट्टीकी क्यों न वापरे, शुद्ध हो नहीं सकता. (''सर्वेषामपि शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतं योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः'' – मनुस्मृ. ५।१०६). आज कुएके जलके बिना ठाकुरजीकी झारीमें जल भरा नहीं जा सकता – कहनेवाले स्वयं देवलकवृत्तिसे नहीं छूते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् !

अतएव विष्णुस्मृतिमें गृहस्थाश्रमिओंके बारेमें तीन तरहके धनका निरूपण किया गया है :

(१) शुक्ल धन
(२) शबल धन
(३) कृष्ण धन

''शुक्ल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह दैविक = अभिनन्दनीय माना गया है. शबल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह मानुष्य = अनिन्दनीय होता है. कृष्ण धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह तिर्यक्त्व = निन्दनीय होता है. शास्त्रतः जिसे जो वृत्ति विहित हो उस वृत्तिसे उपार्जित धन उसके लिये शुक्ल धन होता है. अनन्तरित वृत्ति, अर्थात् ब्राह्मणको क्षात्रवृत्ति या क्षत्रियको वैश्यवृत्ति या वैश्यको शूद्रवृत्ति से अथवा शूद्रको वर्णबाह्योंकी वृत्तिसे प्राप्त धन शबलधन होता है. इसी तरह अन्तरित; यथा ब्राह्मणकेलिये वैश्य-शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति, क्षत्रियके लिये शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति या वैश्यके लिये वर्णबाह्यवृत्ति द्वारा उपार्जित धन कृष्णधन होता है. पितृक्रमागत प्रीतिवश भेंटमें मिला या भार्याके साथ मिला धन सभीकेलिये शुक्ल ही होता है. इसी तरह घूंस खाकर, अविक्रेय वस्तुके विक्रयद्वारा, प्रत्युपकारार्थ प्राप्त धन शबलधन होता है. सूदखोरी, चोरी, जुआ, डकैती द्वारा मिला धन कृष्णधन होता है. पुरुष जो कुछ जैसे द्रव्यसे करता है वैसा ही फल उसे इस लोकमें तथा परलोकमें मिलता है'' (विष्णुस्मृ. अध्याय ५८).

इन शास्त्रीय सन्दर्भोंको दृष्टिगत रखकर अन्य किसी भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवकी सेवोपयोगी आजीविकाके स्वरूपका विचार अप्रासंगिक तथा अनावश्यक होनेसे केवल पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओंकी आजीविकाके शास्त्रशुद्ध रूपका विचार हमारे इस लेखनका प्रयोजन है. मूलतः यह किसी वैयक्तिक

सन्दर्भमें हमें निर्धारित नहीं करना है, क्योंकि किस व्यक्तिकी क्या–कैसी सामर्थ्य है या नहीं है – इसे निर्धारित करनेका न तो हमारा अधिकार ही हम स्वीकारते हैं और न उससे अभीष्ट प्रयोजन ही सिद्ध हो पायेगा. अतः कृत्यर्हताका विचार तो आत्मालोचनद्वारा ही सम्भव है. फिर भी धर्मतया शास्त्रविहित कोई कृत्य हमसे शक्य हो या अशक्य हो, किसी भी सूरतमें एक व्यक्तिकी वैयक्तिक सामर्थ्य या असामर्थ्य किसी दूसरे व्यक्तिकेलिये अनुकरणीय आदर्शतया स्वीकारी नहीं जा सकती, वह व्यक्ति चाहे कितनी भी उच्च पदवीपर समारूढ़ क्यों न हो ! अतः धर्मनिर्धारक तीन घटकोंमेंसे कृत्यर्हताको नितान्त वैयक्तिक मानते हुए अवशिष्ट शास्त्रविहितता तथा इष्टसाधनता रूप घटकोंका ही विचार हमें करना है.

वैसे तो कहा जा सकता है कि किसे क्या अभीष्ट है या क्या अनभीष्ट – यह भी वैयक्तिक प्रश्न ही है, फिर भी यदि किसी व्यक्तिको धर्मगुरुत्वके अधिकार या उत्तरदायित्व का वहन करना हो तो कैसी अभिलाषा उसकी धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं – यह निर्धारण शास्त्रतः शक्य होनेसे उसकी वैचारिक संगति है ही. कहा तो कृत्यके लिये भी जा सकता है कि एक धर्मगुरुके लिये कैसी कृति धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं – यह निर्धारण भी शास्त्रतः शक्य होनेसे वह विचार भी कर लेना चाहिये. यहां यह अवधेय है कि निर्वैयक्तिक सन्दर्भमें, अर्थात् धर्मगुरु होनेके स्वरूपमें तो वह इष्टसाधनता तथा शास्त्रविहितता से गतार्थ है; और सर्वथा वैयक्तिक सन्दर्भमें शास्त्रतः निर्धारित होनेपर भी जो अशक्य है वह शक्य हो नहीं पाता. अतः विचार कर भी लें तो वह विशेष लाभदायक नहीं हो सकता.

पुष्टिभक्ति शास्त्रविहित अनुष्ठेय कर्म नहीं है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट पुष्टिप्रभुकी आराधना है. फिर भी उस पुष्टिभक्तिका बहाना बनाकर किसी भी शास्त्रीय विधि–निषेधोंके उल्लंघन करनेकी कोई छूट महाप्रभुने दी नहीं है. महाप्रभुकी उपदेशनीति ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' की है, जिसकी विवेचना आगे की जायेगी. अतः किसी भी बातकी शास्त्रविहितता अथवा शास्त्रनिषिद्धता के विचारमें श्रुति–स्मृति–पुराण–तन्त्रादि शास्त्रोंके वचन तथा महाप्रभुप्रभृति पुष्टिमार्गीय पूर्वाचार्योंके वचनों के

परस्पर समन्वयद्वारा ही धर्मरूप कर्तव्यका अथवा अधर्मरूप अकर्तव्यका स्वरूप निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुके ये विषयसंग्राहक वचन मननीय हैं: ''आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनं, तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः, गुरुसेवा कर्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात्, स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः, अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत् पृथक् पृथक्, श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्, स्वधर्मेनिधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः, उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायामधिकं फलं, तस्य चेत् परमा भक्तिः तिरोधानं भविष्यति ... भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा, तथाभूता भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत् ... स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. १९३-१९६). अर्थात् ब्रह्मचारीकी वृत्ति भिक्षा है तथा धर्म गुरुसेवा और स्वाध्याय. गृहस्थकी वृत्ति शिलोञ्छादि और धर्म यज्ञादि कर्मोंका शरीरसे अनुष्ठान. वानप्रस्थकी वृत्ति वन्य फलोंपर निर्भर रहनेकी तथा धर्म तपस्या. संन्यासीकी वृत्ति भिक्षा तथा धर्म पर्यटन और मानसयज्ञ. यों इन चारों आश्रमोंके वृत्ति और धर्म अलगअलग होते हैं. परधर्मके भलीभांति अनुष्ठानके बजाय अपने धर्मका विगुण अनुष्ठान भी अधिक श्रेयस्कर होता है. भयावह परधर्मको अपनाकर बचनेके मोहके बजाय स्वधर्मको निभाते हुए मर जाना बेहतर होता है. उत्तरोत्तर धर्मोंमें निष्ठाके बढ़ते जानेपर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल मिलता है. साथ ही साथ भगवानमें परम भक्ति हो तो भगवत्प्राकट्य अवश्य होता है. अपने आश्रमधर्मोंके साथ माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहरूपा भक्ति होनी चाहिये. भक्ति यदि भगवत्सेवाके साथ हो तो वह 'परमा भक्ति' कहलाती है. स्वतःपुरुषार्थतया भगवत्सेवा करना 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहलाती है.

श्रुत्यादि शास्त्रविहित कर्तव्य किसी वर्ण या आश्रम अथवा केवल मनुष्यता को लक्ष्यमें रखकर दिये गये हो सकते हैं. अतः वे उन-उन दृष्टिकोणोंसे यावद्देहाभिमान हमारे लिये नियत कर्तव्य ही होते हैं. उल्लिखित स्वतन्त्रभक्तिरूप पुष्टिधर्मका उपदेश देहाभिमानको लक्ष्यमें रखकर नहीं किया गया है, प्रत्युत जीवात्मा-परमात्माके बीच प्रकट हुए अंशांशिभाव, अर्थात्

आत्मधर्मको लक्ष्यमें रखकर किया गया है. पुष्टिमार्गीय भी जैसे देहवान होते हैं वैसे ही आत्मवान भी होते ही हैं.अतः उनके वर्णाश्रमधर्मरूप या वर्णाश्रमेतर–धर्मरूप कर्तव्य या अधर्मरूप अकर्तव्य का विचार सामान्य शास्त्र तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके परस्पर समन्वित वचनोंसे ही निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

यही कारण था कि प्रथम प्रकरणमें हमने पुष्टिभक्तिरूप सेवाके तनुवित्तजारूप नियत कर्तव्यके निर्धारणमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचन तथा वित्तजा कृतिमें आवश्यक स्वस्वामिक वित्तके स्वरूपके निर्धारणार्थ वित्तदान और वित्तागम के धर्म्य प्रकारोंकी विवेचना सामान्य शास्त्रोंके आधारपर देनेकी चेष्टा की थी. क्योंकि ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' महाप्रभूपदिष्ट वचनकी व्याख्यामें प्रभुचरणने ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा – एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' वचनमें वित्तदान और वित्तग्रहण के प्रसंगमें तनुवित्तजा सेवाको परिभाषित किया है. उल्लेखनीय यहां यही है कि विमर्शकाराभिनन्दित वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा अपनी स्वतःपुरुषार्थरूपता खो देती है. अतः वह भक्ति न रहकर केवल अर्थपुरुषार्थरूपा आजीविका बन जाती है, निषिद्ध होनेसे निन्दिताचरण भी.

इसी तरह सामान्य शास्त्रवचनों तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके समन्वित अभिप्रायकी पूर्वप्रकरणवत् विवेचना करना भी इस प्रकरणका भी प्रयोजन है. वैसे ही 'सेवा–देवद्रव्यादि विमर्श' ग्रन्थके असमंजस विधानोंका विशोधन करना भी अभिप्रेत है ही, यथापूर्व.

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति. – सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थवश भगवत्सेवा करता हो उसे अधम समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

ब्राह्मणत्व

मूल : विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ।।१५५ ।।
न हायनैः न पलितैः न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयः चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।१५४ ।।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालम् इत्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ।।१५३ ।।
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया ।।१४९ ।।
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७ ।।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि निष्फला ।
यथा चाज्ञे फलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८ ।।
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।१६८ ।।

(मनुस्मृ. अध्याय २).

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ।।
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ।।
इष्टं पूर्तं प्रकर्तव्यं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ।
इष्टेन लभते स्वर्गः पूर्तेन मोक्षमाप्नुयात् ।।
इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्तेधर्मेन वैदिके ।।

(अत्रिसंहिता)

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत् कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ।।
यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां तु शतं समाः ।।
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परलोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ।। (मनुस्मृ. ११ ।२४-२६)

अनुवाद : शूद्रवर्णमें जन्मना ज्येष्ठत्व होता है, वैश्यवर्णमें धनधान्यके प्राचुर्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है, क्षत्रियवर्णमें शक्तिके आधिक्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है जबकि ब्राह्मणवर्णमें ज्ञानाधिक्यवशात् ही ज्येष्ठत्व होता है. न तो व्यतीत वर्षोंके कारण, न केशोंकी सफेदीके कारण, न वित्तके कारण; और न कुलबन्धुवर्गकी बहुलताके कारण ही कोई ब्राह्मण महान हो सकता है. ऋषिओंने तो इसे ही धर्मतया मान्य किया है कि जो भी हममेंसे वेद वेदांगादि शास्त्रोंको भलीभांति समझा सकता हो वही हमारे बीचमें महान माना जायेगा. बालक अज्ञानी होता है जिसे मन्त्रदाता पिता ज्ञान देता है. इसलिये जो अज्ञानी है उसे बालकतुल्य ही समझना चाहिये और जो मन्त्रदाता हो उसे पिताके तुल्य समझना चाहिये. अल्प या अधिक जितने भी वेदादि शास्त्रका जो उपदेश करनेवाला कोई हो, उसके उस सुनानेके उपकारका कृतज्ञ होकर उसे अपना गुरु मानना चाहिये. जैसे काठका हाथी या चमड़ेके बने मृग होते हैं, वैसे ही अनपढ़ ब्राह्मण भी नाममात्रका ही ब्राह्मण होता है. जैसे स्त्रियोंके लिये नपुंसक पुरुष किसी कामका नहीं होता, जैसे गायोंके बीच गाय किसी कामकी नहीं होती, जैसे मूर्खको दिया गया दान किसी कामका नहीं होता, ऐसे ही वेदज्ञानरहित ब्राह्मण भी किसी कामका नहीं होता. वेद पढ़े बिना जो द्विज अन्य किसी विषयमें परिश्रम करता है वह, मरकर नहीं परन्तु जीते जी ही,अपने वंशसहित अपने आपको शूद्र बना लेता है. (मनुस्मृ.)

(लड्डु पूड़ी सीरा खीर दहीभात मठड़ी के मनोरथोंके धंधोंमें उलझकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री माननेवाले हम गोस्वामिओंके सामने आज ये वचन आरसीकी तरह रखनेपर कैसा प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है - यह कहने-सुनने-

सोचने–समझनेकी हिम्मत कहांसे कोई स्वमार्गी जुटा पायेगा !)

अग्निहोत्र तप सत्य तथा वेदोंका परिपालन आतिथ्य तथा वैश्वदेव को 'इष्टकर्म' कहा जाता है. वापी–कूप–तड़ाग–देवालय–अन्नक्षेत्र–उपवनादि सार्वजनिक हितके कार्य करना 'पूर्तकर्म' कहा जाता है. ब्राह्मणको इष्टकर्म तथा पूर्तकर्म दोंनो ही प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये. इष्टकर्मसे स्वर्गप्राप्ति होती है, पूर्तकर्मसे (लाभ–पूजा नहीं, अर्थात् लाभपूजार्थ नहीं प्रत्युत) मोक्षप्राप्ति होती है. ये सभी द्विजोंके सामान्य कर्तव्य हैं, शूद्रोंका इष्टकर्ममें अधिकार नहीं परन्तु पूर्तकर्ममें अधिकार है. (अत्रिसंहिता).

ब्राह्मणको यज्ञकेलिये अद्विजोंसे कभी धन मांगना नहीं चाहिये. (जैसे भगवानके मनोरथोंके लिये हम पुष्टिमार्गी गामसे धन मांगते हैं !) क्योंकि अद्विजोंसे देवयजनार्थ धन मांगनेपर मरनेके बाद ब्राह्मण चाण्डाल बनता है. जो देवयजनार्थ धन मांगकर साराका सारा धन दान नहीं कर देता वह ब्राह्मण मरकर काकयोनिको प्राप्त होता है. देवस्व या ब्राह्मणस्व का जो लोभवश अपहरण या अपव्यय करता है वह पापी मरकर गीधोंके उच्छिष्ट शवमांस खानेवाला बनता है. (मनुस्मृति).

शास्त्रोपदेशाधिकार, धर्माचरणार्थ मन्त्रदीक्षाधिकार, अध्यापनवृत्ति अर्थात् गुरुभेंट और सत्प्रतिग्रह –ये यद्यपि ब्राह्मणोंके लिये तो शास्त्रनियत आजीविकारूप कर्तव्यतया विहित हुए हैं परन्तु अब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म आपद्वृत्तिके रूपमें ही विहित हुए हैं. तदनुसार अपने पुष्टिमार्गमें भी ब्राह्मणत्वमूलक सामान्य गुरुत्व तथा ''आचार्यवंशजत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरत्वम्'' साम्प्रदायिक गुरुत्वके आदर्शतया मान्य है. आधुनिक कालमें इस लक्षणके पूर्वदलमें भी जब तुमुल विवाद उठ रहे हैं तब उत्तरदलमें निरूपित योग्यताके बारेमें– जैसा कि श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रतिपादित किया है:''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्' ''(त.दी.नि. सर्वनि. आवरण.२२८) तदनुसार– क्या गुर्वभावकाल प्राप्त हो गया है कि नहीं ? यह गम्भीर विचारकी

अपेक्षा रख रहा है.

क्योंकि शास्त्रोंमें सामान्यतया गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर वर्णोंको भी आपद्धर्मतया गुरुत्वके अधिकारसे मण्डित किया गया है.यद्यपि कुछ व्यवहार स्वयं गुरु न होनेपर (अर्थात् जैसे हमारे यहां हम गुरुभूत महाप्रभुके केवल वंशज ही हों और कुछ नहीं तो) अथवा ब्राह्मण्यके विलोपन हो जानेपर शास्त्रवर्जित माने गये हैं. उदाहरणतया– पादावनति–पादसंवाहन–उच्छिष्टभोजन–प्रतिग्रह आदि, गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर गुरुओंके लिये वर्जित माने गये हैं. (द्रष्टव्य : मनुस्मृ. २।२०९–२४२). इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणवर्णमें भी गुरुके लिये कुछ विहित होनेपर भी गुरुपुत्रके लिये कई बातें वर्जित घोषित की गई है. आधुनिक गोस्वामिवर्ग यदि गुरुपदोचित अधिकारोंका उपभोग करना चाहते हों तो गुरुपदोचित कर्तव्योंका उत्तरदायित्व भी उनके गलेपतित होगा ही. वह यदि ब्राह्मणत्वमूलक हो तो ब्राह्मणत्वसे विरुद्ध जानेवाली अनेक बातोंपर अंकुशकी बात भी विचारनी ही पड़ेगी. अन्यथा ब्राह्मणेतर कोई अमॅरिकावासी पुष्टिमार्गी भी गुरुत्वका दावा करने लगेगा, तब शास्त्रीय निकष कोई रह नहीं जायेगा. तब विचार ''तू–तू–मैं–मैं'' में ही पर्यवसित हो जायेगा. अतः सर्वप्रथम ब्राह्मणत्वमूलक अधिकार–कर्तव्योंका स्वरूप शास्त्रतः सुनिर्धारित कर लेना आवश्यक है.

पूर्वप्रकरणमें पृष्ठ २७–३० तक ब्राह्मणवृत्तिके वास्तविक स्वरूपकी सुविशद विवेचना प्रस्तुत की ही गई थी. पिष्टपेषण, अतएव, अनावश्यक होनेपर भी एक प्रमुख तथ्यपर पुनः ध्यानाकर्षण प्रासंगिक बन जाता है. वह यह कि ब्राह्मणके लिये नित्यकर्मतया शास्त्रविहित छह कर्तव्योंमेंसे तीन उसके धर्मरूप कर्तव्य होते हैं और तीन आजीविकारूप. यथा –

(१) यजन (२) अध्ययन (३) दान = धर्मरूप कर्तव्य हैं.

(४) याजन (५) अध्यापन (६) प्रतिग्रह = आजीविकारूप कर्तव्य हैं.

आज तो इसका विपर्यास ही दुर्दैवविपाकवश सर्वत्र उपलब्ध होता है. अर्थात् यजन–अध्ययन–दान आजीविकार्थ अनुष्ठित होते दिखलाई देते हैं; तथा

परमधर्मबुद्ध्या कहीं याजन-अध्यापन-प्रतिग्रह तीनोंका ही अथवा तीनोंमेंसे किसी एकपर ही भारपूर्वक टिके रहनेका दुराग्रह रखा जा रहा है. यदि याजनकी तरह यजन भी एक आजीविकाका उपाय होता तो उसके धर्मतया पृथक् उल्लेखकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी. इनका पृथक् पृथक् उल्लेख स्वयंमें उस तथ्यका, विमर्शकारके लिये नितान्त भीषक, घण्टाघोष है कि प्रत्येक ब्राह्मणको सामान्यतया अपनी शास्त्रविहित अथवा शास्त्रानिषिद्ध आजीविकासे ही उपार्जित शुक्लवृत्तिसे यजन करना चाहिये. आपद्वृत्तितया भी अन्तरित या अनन्तरित वृत्तिओंके बारेमें किसी भी तरहके प्रयास किये बिना,सहसा अपने धर्मका विक्रय अर्थात् वृत्त्यर्थ यजनका कल्प अपना लेना, एक अक्षम्यतम महासाहस है. यजन=धर्मरूप कर्तव्यके आजीविकातया अनुष्ठान किये जानेपर वह कपटरहित धर्म नहीं रह जाता. यह तो एक ऐसी बात हुई कि शास्त्रमें जो दानको ब्राह्मणका 'नित्यकर्मरूप धर्म' कहा, तदर्थ गामसे चंदा उगाहना और बादमें सौ रुपयोमेंसे २५-५० रुपयोंका दान कर देना, सो भी सार्वजनिक प्रदर्शनद्वारा ! अध्यापनको जो आजीविका कहा तदर्थ स्वयं शास्त्र पढ़ने नहीं पर शास्त्रिओंको नौकरीपर रखकर कॉचिंग क्लासिस चलानेका व्यापार करने लग जाना !

इसी अर्थाभिनिवेशितासे बचनेके लिये शास्त्रने विहित होनेपर भी प्रतिग्रहके बारेमें अतिशय सावधानी बरतनेकी बात समझाई है :

मूल : **प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा तथैवाध्ययनादपि ।**
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ।।
याजनाध्यापने नित्यं क्रियते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्तजन्मनः ।
जपैर्होमैरपेत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ।
शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन् यतस्ततः ।।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोप्युञ्छः प्रशस्यते ।

व्याख्या : गर्हितानामपि अध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणां मध्याद् ब्राह्मणस्य

असत्प्रतिग्रहो निष्कृष्टः परलोके नरकहेतुः. ततश्च आपदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसम्भवे तु असत्प्रतिग्रहे – इति एवंपरम् एतत्. याजनाध्यापने आपदि अनापदि च उपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव क्रियते. प्रतिग्रहः पुनः निकृष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते. तस्माद् असौ ताभ्यां गर्हितः, एनोः ग्रहणाद्. असत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैः यद् उपपन्नं पापं प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैः नश्यति. असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिग्रहीतद्रव्यत्यागेन ''मासं गोष्ठे पयः पीत्वा'' इत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसा अपगच्छति. ब्राह्मणः स्ववृत्त्या अजीवन् यतस्ततोपि शिलोञ्छं गृह्णीयात् नतु तत्सम्भवे असत्प्रतिग्रहं कुर्यात्. यस्माद् असत्प्रतिग्रहाद् शिलः प्रशस्तः. मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलः ततोपि उञ्छः श्रेष्ठः. एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनम् उञ्छः (मन्वर्थमुक्तावली १०।१०९–११२).

अर्थात् अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे भी अधिक निन्दनीय है – असत्प्रतिग्रह, नरकप्रापक होनेके कारण. अतः आपद्वृत्तिके रूपमें भी असत्प्रतिग्रह करनेके बजाय तो अनधिकारीको भी याजन–अध्यापन कराकर जीवननिर्वाह कर लेना अनुचित नहीं है. क्योंकि याजन–अध्यापनके द्वारा आजीविकाके उपार्जनमें, कमसे कम, इतना नियम तो निभ ही जायेगा कि जिनके उपनयनादि संस्कार हो चुके हों उनसे कर्मदक्षिणा या गुरुदक्षिणा मिलेगी. प्रतिग्रहमें तो यह अंकुश भी बच नहीं सकता. अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे जो पाप लगता है उसका परिहार स्वयंकृत जपहोमसे शक्य है. प्रतिग्रह करनेके कारण, परन्तु, लगे पापसे छुटकारा तो त्यागतपसे ही शक्य हो पाता है. अपनी याजन–अध्यापनकी वृत्तिसे निर्वाह न चल पाता हो तो मार्गमें गिरे हुए धान्यके दानोंको बीन–चूनकर पेट भर लेना चाहिये परन्तु असत्प्रतिग्रह तो करना ही नहीं चाहिये.

अतएव कहा गया है कि ''पावका इव दीप्यन्ते जपैर्होमैः द्विजोत्तमाः प्रतिग्रहेण नश्यन्ति वारिणा इव पावकाः'' (अत्रिस्मृ. पृ.१९) अर्थात् जप तथा होमके कारण अग्निकी तरह दीप्तिमान होते द्विजोत्तम भी प्रतिग्रहकी बरसातसे बिलकुल बुझसे जाते हैं.

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि याजनका बहाना बनाकर किसी भी तरहके सदसद्के विवेकके बिना जिस-किसी दातासे धनादिका प्रतिग्रह कर लेना शास्त्रकी कल्पनामें भी न आनेवाला ब्राह्मणत्वका अधःपात है. तो जहां शास्त्रानुमत होनेपर भी केवल प्रतिग्रहकी ही इतनी कठोर निन्दा की गई हो वहां यजनको निमित्त बनाकर निषिद्ध प्रतिग्रह करनेकी निन्दनीयताके बारेमें तो कहना ही क्या !

अतएव मनुस्मृति स्पष्ट शब्दोंमें विधान करती है कि ब्राह्मणके लिये यह आवश्यक है कि वह शठता या कुटिलता को अपनाये बिना अपनी शुद्ध ब्राह्मण आजीविकाद्वारा ही देहयात्रा चलाये –

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ।।

(मनुस्मृ. ४।११).

साथ ही साथ मनुने यह भी स्पष्ट किया है कि धन होनेपर भी यथाकथञ्चिद् अविहित-निषिद्ध सभी तरहके उपायोंसे केवल धन ही बटोरते रहनेकी वृत्तिपर ब्राह्मणको काबू पाना चाहिये –

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।।

(मनुस्मृ. ४।१५).

आज वैसे द्विजवरके वंशज होनेके दावेके साथ साथ हम जितने उपायोंसे केवल अर्थसंग्रह ही कर रहे हैं उसका थोड़ा-बहुत खयाल कितने तरहकी भेंट हमारी हवेलिओंमें भगवद्दर्शनार्थ आती जनतासे हम उगाहते हैं इससे मिल सकता है :

मोटे तौरपर कुछ भेंट हम (क) अपने ही किसी न किसी निमित्तके वश स्वयं अपनेलिये लेते हैं. (ख) बहुत सारी भेंट अपने ठाकुरजीके कुछ न कुछ निमित्त बनाकर ठाकुरजीकेलिये लेते हैं;अन्ततःजिनका पर्यवसान हमारे ही

उपभोगार्थ होता है. (ग) कुछ भेंट हम सीधे नहीं लेते परन्तु व्यवस्था ऐसी खड़ी कर रखते हैं कि हमारे नौकरोंका तामझाम उन-उन भेंटोंसे बना रहे ताकि कम पगारपर भी हमारे यहां काम करने नौकर लालायित रहें. (घ) इन भेंटोंके अलावा तीर्थ-गाय-कीर्तनादिकी भेंटके प्रकार भी अनेक हैं ही.

(क) इस प्रथम प्रकारके अन्तर्गत ही देखें तो चरणभेंट, तपेलीभेंट, जन्मदिनकी भेंट, यज्ञोपवितप्रस्तावकी भेंट, विवाहप्रस्तावकी भेंट, किसी वैष्णवके दिवंगत होनेपर कहाड़ीभेंट, किसी गो.बालकके नित्यलीलामें प्रविष्ट होनेपर कड़वाभेंट, पधरामणीभेंट, केशरस्नानभेंट, प्रदेशभेंट, दानके दिनोंमें दान, मनोरथकी आज्ञा देनेकी भेंट, अष्टाक्षर-ब्रह्मसम्बन्धकी कंठी देनेकी भेंट, ठाकुरजी पुष्ट कर देनेकी भेंट आदि आदि.

(ख) फूलघर-शाकघरमें फूलपानफलशाककी भेंट, भण्डारमें घी-तेल-आटा-दाल-चावल-चीनी आदि सामग्रीकी भेंट, मंगला-पलना-राजभोग-फूलमण्डली-हिंडोला-कुण्डवारा, छप्पनभोगादि अनेकानेक मनोरथोंकी भेंट, सन्मुखभेंट, ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय वैष्णवोंको करनी पड़ती ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, प्रसाद लेते समय वैष्णवोंको हमें देनी पड़ती प्रसादकी न्योछावरभेंट, वैष्णवके माथे बिराजते ठाकुरजीके हमारे घर लौटनेपर उन्हें पुनः हवेलीकी ग्वालमण्डलीमें पधराने हो तो उनके चांदी-सोना-शृंगाराभूषणकी भेंट, जिन बैठक हवेलिओंको हम स्वयं नहीं चला सकते उन्हें ठेकेपर उठानेके कारण मिलती धनराशि आदि.

(ग) ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके स्नान कराते समय जलघड़ियाकी सेवकीभेंट, ठाकुरजीके दर्शनके लिये झापटियाको मिलती सेवकीकी भेंट, ठाकुरजीके प्रसादको वैष्णवके घर पहुंचानेको समाधानीको या भीतरियाको मिलती समाधान या सेवकी की भेंट, गोस्वामिओंके उच्छिष्ट (अधरामृत) पहुंचानेवाले खवास या जलघड़ियाको मिलती सेवकीकी भेंट आदि.

(घ) सोमयाग, सर्वोत्तमयाग, यमुनायाग, श्रीनाथजीकी ध्वजा पधराना, व्रजयात्रा, ढाढीलीला, मालापहरामणी, बैठकोंमे तपेली, गौशालामें घास-

लापसीकी भेंट आदि.

इतने सारे प्रकारोंसे मिलती भेंटोंको देखनेके बाद लगता है कि लघुशंका या शौच जानेकी भेंट नहीं लेते हैं यह हमारा साधारण नहीं बल्कि असाधारण वैराग्य है. अन्यथा क्या छूटता है ! कहां ''नेहेतार्थान् प्रसंगेन''का ब्राह्मणत्वका आदर्श और कहां हमारेद्वारा घड़े गये अनेकानेक भेंट-सामग्रीके प्रकार ! माना कि इनमेंके सभी प्रकार अनुचित ही हैं ऐसा नहीं परन्तु फिर भी इतने सारे प्रकारोंके विद्यमान रहते कमसे कम अपनी भगवत्सेवाको यदि धन कमानेका साधन न बनायें तो कोई खास आर्थिक नुकसान तो नहीं होना चाहिये था. और यदि होता भी हो तो ''नेहेतार्थान् विरुद्धेन कर्मणा''की शास्त्राज्ञाको शिरोधार्य करके वह नुकसानी सहन कर लेनी चाहिये थी. परन्तु . . .

स्वयं विद्यातपोनिरतताके कारण प्रतिग्रहार्थ समर्थ होनेपर भी वैसे तो प्रतिग्रह न करना ब्राह्मणके लिये एक आदर्श बात है. क्योंकि केवल प्रतिग्रहसे ब्रह्मतेज क्षीण होने लग जाता है. किसी भी सूरतमें प्रतिग्रह करनेकी जो धर्म्य विधि है उसे समझे बिना तो भूखे होनेपर भी धन न लेना ही ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. क्योंकि सोना-भूमि गाय-घोड़े-अन्न-वस्त्र घृत-धान्य आदिका प्रतिग्रह करनेवाला यदि अपठित ब्राह्मण हो तो वह सूखी लकड़ीकी तरह भस्म हो जाता है. (द्र. मनुस्मृ. ४।१८६-१८८). जबकि शास्त्राध्ययन तथा शास्त्रीय विषयके निरूपण को अधिकांश गोस्वामी आजकल ''ज्ञानका अजीर्ण'' समझते हैं, भेंट बटोरनेकी कुत्सितवृत्तिको भिखारीपनका अजीर्ण नहीं !

प्रतिग्रहनिन्दाके सन्दर्भमें एक यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि क्षुधापीड़ित गुरु (माता-पिता-उपाध्यायादि गुरुजन) तथा भृत्य (पत्नी-सन्तति-पशु आदि पोष्यजन) जनकी भूख मिटानेको अथवा देवपूजनार्थ या अतिथिसत्कारार्थ पतितोंको छोड़कर किसीसे भी ब्राह्मण प्रतिग्रह कर सकता है - यह शास्त्रानुमत है. उस प्रतिग्रहीत अन्न-वस्त्रादिको परन्तु स्वयंके उपभोगमें लाना नहीं चाहिये :

गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ननु तृप्येत् स्वयं ततः ।।

इस विशद विवरणसे इतना तो सर्वथा स्पष्ट हो ही जाता है कि याजन या अध्यापन में भी पात्रापात्रके विवेक रखे बिना भी धनोपार्जनकी शास्त्र छूट देता है परन्तु अकारण प्रतिग्रहकी छूट तो नहीं देता. ऐसी स्थितिमें या तो हमें स्वीकारना चाहिये – हमारी भगवत्सेवा धर्म न होकर केवल आजीविका ही है. अर्थात् हम देवलक ही हैं. यदि हमारी भगवत्सेवा हमारा धर्म है, हमारी आजीविका नहीं, तो भगवत्सेवाको निमित्त बनाकर जो भी प्रतिग्रह हम करते हैं, नित्य–आपद्–वृत्ति(!)तया, उसमेंसे स्वोपभोग हमें करना नहीं चाहिये. क्योंकि वह निन्द्यतम प्रतिग्रह है. अर्थात् आपद्वृत्तितया भी कमसे कम अपने यजन–पूजनरूप धर्मको तो आजीविकाके निम्नतम स्तरपर तो कथमपि धकेलना नहीं चाहिये.

भागवतके तृतीय स्कन्धके १२वें अध्यायके– ''आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत् सह वृत्तिभिः...न्यासः कुटीचकः पूर्वब्रह्मोदो हंसनिष्क्रियौ'' (४१–४३) श्लोकोंमें चारों आश्रमोंकी चार–चार वृत्तिओंका निरूपण किया गया है. इनकी विस्तृत व्याख्या भी सुबोधिनीजीमें दी गई है. विशेष जिज्ञासुओंके लिये उस विषयका अवगाहन वहींसे कर लेना उचित है. फिर भी स्वगृहमें स्वतनुवित्तपरिजनोंके विनियोगपूर्वक की जाती भगवत्सेवाके लिये महाप्रभुने जो नीति अपनायी है वह यों है – **''एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् अन्येषां सम्भवेत् तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्. गृहस्थस्य एतत् मुख्यम्... ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः कर्तव्यः...संन्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयापि अग्रिमएव उत्तम एवम् इति आहः यतेः पर्यटनं वरम्''** (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २४६). **अनुवाद :** सेवा आदिका यह सारा प्रकार गृहस्थकेलिये समझाया गया है. अन्य ब्रह्मचारी या वानप्रस्थी आदिकेलिये भी यदि शक्य हो तो उन्हें अपना लेना चाहिये. संन्यासीके लिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ होता है. अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको भी, सेवक साधनोंसे सम्पन्न होनेपर, गृहस्थकी तरह ही अपने माथे बिराजते स्वरूपकी सेवामें परायण हो जाना चाहिये. यदि सेवक–साधनोंसे ब्रह्मचारी आदि सम्पन्न न हों तो अन्य उपाय

अपनाने चाहिये. संन्यासीकेलिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ उपाय होता है.

यहां यह अवधेय है कि ब्रह्मचारीके दो प्रकार होते हैं: साधारण ओर नैष्ठिक. साधारण ब्रह्मचारी गुरुके पास निवास करता है. अध्ययनकालमें उसकी गुरुके द्वारा अभ्यनुज्ञात(=छूट देनेपर) सायं-प्रातः भिक्षाकी आजीविका मान्य की गई है:

गुरुवर्जं गुणवत्सु भैक्ष्याचरणम्. (विष्णुस्मृ. २८)

सायं प्रातः चरेद् भैक्षं भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः. (लघु हारीतस्मृ. ३ ।७).

नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुरुके ही समीप आजीवन रहनेका, अर्थात् विवाहार्थ अपने घर जानेके बजाय आजीवन ब्रह्मचर्यका, व्रत लेकर आजीवन भिक्षावृत्तिसे निर्वाहका भी व्रत ग्रहण करता है. गुरुके न रहनेपर गुणान्वित गुरुपुत्र गुरुपत्नी अथवा गुरुके अन्य निकट सम्बन्धिओंके समीप उनके द्वारा अभ्यनुज्ञात भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह करता है. इनमेंसे कोई भी उपलब्ध न हो तब स्वतन्त्रतया भी भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह कर सकता है. ऐसी स्थितिमें अपनी भिक्षावृत्ति इतनी पर्याप्त हो कि सेवकादि साधनको निभा सके तो महाप्रभु उसे भगवत्सेवाकी छूट देना चाहेंगे, अन्यथा नहीं.

इसी तरह वानप्रस्थाश्रममें वन्य फल-मूलके आहारद्वारा जीवननिर्वाहका नियम है, भिक्षाद्वारा नहीं. वैसे सत्प्रतिग्रहकी अनुमति अवश्य है. अतः यहां भी ब्रह्मचारीकी तरह ही शक्य होनेपर भगवत्सेवाकी अनुमति महाप्रभुने प्रदान की है.

संन्यासीके लिये तो प्रायः पर्यटन ही श्रेष्ठ होनेसे भगवत्सेवा अप्रासंगिक मानी गई है. वैसे आजीविका संन्यासीकी भी भिक्षा ही मान्य है. यह भिक्षा वह अपने ही परिवार अथवा कुल अथवा किसी भी द्विजकुल अथवा अन्तमें अवधूतचर्यामें यदृच्छया जहांसे भी उपलब्ध हो वहांसे ग्रहण कर सकता है - ऐसा कल्प शास्त्रानुमत है. किसी भी सूरतमें इन तीनों आश्रमवालोंको भी देवद्रव्योपभोगद्वारा या देवलकताद्वारा जीवननिर्वाहकी कोई शास्त्रानुमति नहीं है.

इन अनापद्वृत्तिओंके अलावा आपद्वृत्तिओंका भी शास्त्रमें निरूपण

मिलता है. यथा आपद्वृत्तिके रूपमें ब्राह्मण क्षात्रवृत्ति अथवा वैश्यवृत्ति द्वारा भी जीवननिर्वाह चला सकता है.

मूल :

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ।।
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्याद् इति चेद् भवेद् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम् ।।
वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।।
इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम् ।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ।।
सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैस्सहः ।
अश्मनो लवणं चैवं पशवो ये च मानुषाः ।।
सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधी ।।
अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुणं कुशान् ।।
आरण्यांश्च पशून्सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।
मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ।।
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ।।

(मनुस्मृ. १०।८१-९२).

अनुवाद : ब्राह्मणार्थ विहित आजीविकामें यदि किसी ब्राह्मणका निर्वाह असम्भव हो जाय तो क्षत्रियवृत्तिद्वारा उसे अपना निर्वाह चलानेकी छूट है. यदि ब्राह्मणवृत्ति अथवा क्षत्रियवृत्ति दोनोंमे ही किसी न किसी तरहकी कठिनाई आती हो तो कृषिगोरक्षव्यापारकी वैश्यवृत्तिको भी अपनाया जा सकता है (स्वयमेव

कृषक बन जाना ब्राह्मणकी आपद्कालीन कृष्णवृत्ति है तथा अन्य कृषकोंसे कृषिकर्म करवा लेना अनापद्कालीन मृतवृत्तितया अनुमत है). वैश्यवृत्तिसे निर्वाह चलानेवाले ब्राह्मणको भी हिंसाप्राय पराधीन कृषिकर्मसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये. इसी तरह वाणिज्यमें भी रसोंके या पक्वान्न (आधुनिक पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें बेचे जाते पूड़ी मठड़ी लड्डु मोहनथाल दालभात रोटीशाक जैसों)के या तिलधान्यके, पत्थर नमक पशु मनुष्य (दास-दासी) के व्यापार करनेसे भी बचना चाहिये. सूती-रेशमी-ऊनी वस्त्रोंके फल-मूल-औषधि जल शस्त्र विष मांस सोम गन्ध क्षीर शहद् दही घी तैल मोम गुड़ कुशा - इनके व्यापारसे भी ब्राह्मणको बचना चाहिये. मांसविक्रय लाखविक्रय लवणविक्रय करनेपर विक्रय करनेके साथ ही ब्राह्मणका अधःपात हो जाता है. क्षीरविक्रय करनेपर (जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें बेचा जाता है) तीन दिनके भीतर ब्राह्मण शूद्र बन जाता है.

स्पष्ट है कि इन आपद्वृत्तिओंके अपनानेके बावजूद अपने यजन-अध्ययन-दानरूप धार्मिक कर्तव्योंके निर्वाहसे चूकना नहीं चाहिये. शास्त्रमें आपद्वृत्तिको भी केवल तीन पीढ़ी तक अपनानेकी छूट दी गई है. पश्चात् वृत्तिके अनुसार वर्णान्तरका नियम भी दिखलाया गया है.

किसी भी स्थितिमें यजन-अध्ययन-दानरूप धर्मोंके आजीविकार्थ उपयोगकी, अर्थात् इनके कपटपूर्ण अनुष्ठानकी, बात शास्त्रमें उपलब्ध होती ही नहीं है.

पुष्टिमार्गमें भी यजनके स्थानपर भगवत्सेवाको ही आत्मधर्मदृष्ट्या मुख्यतया मान्य किया गया है. वैसे कलिकालके प्रभाववश वर्णाश्रमधर्मोंका यथोचित अनुष्ठान अशक्यप्राय हो गया है - इस गौण हेतुके वश भी भगवत्सेवाको ही प्रमुख कर्तव्य माना गया है. इसी तरह द्विजमात्राधिकारक वेद-वेदान्त-पुराण-इतिहास आदि शास्त्रोंके अध्ययनके स्थानपर सर्वाधिकारक पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनको भी यदि ले लिया जाय, तब भी इनका आजीविकार्थ अनुष्ठान वर्जित ही मानना पड़ेगा. आपद्वृत्तिके अनुकल्पोंके रहते अविहित

कल्पका अंगीकार श्रौतदृष्टिसे ब्राह्मण्यलोपको वज्रलेपायित करनेवाला ही होगा, पूर्वोक्त ''न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन, अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्'' (मनुस्मृ. ४।११) वचनके आधारपर. अतः पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंको या तो अपने ब्राह्मण्यका विलोपन अथवा भगवत्सेवाका आजीविकातया अनुष्ठान – इन दोनोंमेंसे एकतरका चयन करना ही पड़ेगा. दोनों एकसाथ नहीं चल पायेंगें.

यह यजन किसी देवताविशेषको उद्देश्य करके अग्निमें दी गई आहुति ''देवतायै इदं न मम''तक ही केवल सीमिततया लिया नहीं जा सकता है. क्योंकि व्याकरणके अनुसार '' 'यज' = देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' अर्थ मान्य किया गया है. अतः देवतोद्देश्यक–देवसम्प्रदानक दान या त्याग की तरह देवताकर्मक अर्चन भी 'यज'का अर्थ हो सकता है. अतएव ''अर्चिष्यन् देवतातिथीन्'' शब्दप्रयोग स्मृतिकारने किया है.

कुछ अपठित महोदय आजकल एक विचित्र बात जनतामें प्रचारित कर रहे हैं कि न तो श्रीकृष्ण देवता हैं और न उनकी सेवाके लिये प्रतिग्रहीत **''हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्''** (मनुस्मृ. ४।१८८) *देवद्रव्य ही हो सकते हैं. ऐसी स्थितिमें खुदके लिये नहीं परन्तु कृष्णसुखजनिका सेवाकेलिये यदि हम याचित या अयाचित जैसे भी हो, परद्रव्य लेकर बादमें स्वयं भी प्रसादतया उपभोग करते हों तो इससे आचार्यवंशज देवद्रव्योपभोगी या देवलक ही बन जाते हैं – ऐसे नहीं कहा जा सकता है.

(*सोना भूमि घोडा गाय अन्न वस्त्र तिल घृत का दान–भेंट लेनेवाला यदि विद्वान न हो तो सूखी लकडीकी तरह भस्मसात् हो जाता है.)

इन्हें **''वन्दे श्रीकृष्णदेवं''** (सुबो. १।१।१) **''एको देवो देवकीपुत्रएव...कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा''** (त.दी.नि.शा.प्र. ४) **''भक्तिस्वरूपमाह...स्नेहो=भक्तिः, रतिः देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधियते, रतिः = स्नेहो, देवत्वं = माहात्म्यम्. तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते.''** (त.दी.नि. शा.प्र. ४२) – इन

मूलवचनोंका ज्ञान ही नहीं है.*

(*''श्रीकृष्णदेवको मेरे नमस्कार.'' ''देवकीपुत्र श्रीकृष्ण ही मुख्यदेव हैं...उन श्रीकृष्णदेवकी सेवा ही मुख्य कर्म हैं.'' ''भक्तिका स्वरूप कहते हैं...भक्ति स्नेह है. देवादिके बारेमें जो रति होती है उसे 'भाव' कहा जाता है. रति = स्नेह. देव होना माहात्म्य है. वह अपनी आत्माके रूपमें जाननेपर होता है, अतः भजनार्थ ही उसका माहात्म्य कहा जाता है तथा आत्माके रूपमें निरूपण किया जाता है.'')

यदि द्रव्य या धन के सन्दर्भमें श्रीकृष्णका देवत्व अविवक्षित माना जाता है तो भक्तिके सन्दर्भमें भी देवत्व अविवक्षित मानना पड़ेगा. तो तब जो कुछ हम सेवाके नामपर कर रहे हैं वह 'भक्ति' नहीं रह जायेगी. क्योंकि देवविषयिणी रतिको ही 'भक्ति' कहा जाता है.

वैसे तो इन अपठितोंके विधानोंका विचार करना भी अपनी लेखनीकी स्याहीका दुरुपयोग है. फिर भी क्योंकि ये अपठित महाप्रभुके वंशज हैं अत: इनकी बातको जनता पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके रूपमें मान्य करती है सो लिखना पड़ता है.

ये अपठित अपना बचाव कभी-कभी यह भी देते हैं - ''श्रीकृष्णको 'देव' कहनेका तात्पर्य उनके देवाधिदेव होनेमें है.'' तब तो सिद्ध हो जाता है कि देवपूजनको आजीविका बनानेवाला यदि चाण्डालोपम पतित देवलक होता है तो देवाधिदेव श्रीकृष्णकी सेवाको आजीविका बनानेवाला चाण्डालसे भी अधिक अपवित्र महापतित देवलकाधम देवलक अर्थात् जघन्यतम देवलक सिद्ध हो जायेगा ! जैसे अपुरुष पुरुषोत्तम नहीं हो सकता या जैसे अविद्वान विद्वदुत्तम नहीं हो सकता ऐसे ही अदेव देवोत्तम = देवाधिदेव हो नहीं सकता !!

इस सन्दर्भमें सैद्धान्तिकी स्पष्टताके हेतु भक्तिहंसगत प्रभुचरणके ये वचन नितान्त मननीय हैं :

मूल : नवविधभक्तौ अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं पूजायाः तथात्वमिति चेत्. अत्र वदामः - श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि - श्रीभागवत-

सहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोपि अर्था उच्यन्ते. तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थार्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि. एतेन विहितजातीयं कर्म यथाकथञ्चित् कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम्'' (भक्तिहंस).

अनुवादः नवविध भक्तिमें पूजादि गिनाई गई हैं अतः पूजाको भी भक्तिके रूपमें मान्य करना चाहिये – ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य आत्मनिवेदन रूप नवक भी अधिकारिभेदवश कर्मरूप ज्ञानोपासनारूप अथवा भक्तिरूप यों अनेकविध हो सकते हैं. स्वयं श्रीभागवत–विष्णुसहस्रनामादिके श्रवण–कीर्तन करनेसे फलरूपेण धर्मार्थकामकी सिद्धि होती है ऐसा कहा गया है. ये श्रवणादि, परन्तु, कर्ममार्गीय ही होते हैं. वहां भी द्रव्यकामना जैसी क्षुद्र विषय–कामनाओंको पूरी करने या कीर्तिप्राप्तिके लिये किये गये श्रवणादि, यदि विधिके अनुसार किये जाते हों, तभी कर्ममार्गीय कहे जा सकते हैं. अन्यथा वृत्त्यर्थ श्रवणादि तो खेतीवाड़ीकी तरह सर्वथा लौकिक कर्म ही होते हैं; और शौचार्थी मलनिवृत्तिके लिये जैसे गंगाजलका उपयोग करता हो, ऐसी गंदी बात बन जाते हैं. ऐसे हीन काममें पवित्र गंगाजलका प्रयोग मलप्रक्षालनके अलावा और क्या फल दे पायेगा ? वास्तविकता तो यही है कि निषिद्धाचरण करनेके कारण पाप ही इन्हें लगता है. विहितकर्मको यथाकथञ्चित् करनेमात्रसे विहितफल होता है – इस धारणाका इससे निरास हो जाता है.

यहांपर व्याख्या करते हुए श्रीरघुनाथजीने यह खुलासा दिया है कि अर्थार्थी शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान यथाविधि करता है जबकि वृत्त्यर्थी जो कर्म वृत्त्यर्थ विहित नहीं है, प्रत्युत निषिद्ध ही है, उसे वृत्त्यर्थ अर्थात् आजीविकाके रूपमें करता है. अतः वह धर्मरूप होनेके बजाय निषिद्ध लौकिक कर्म बन जाता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां व्याख्यामें 'अर्थादि'में 'आदि'पदके अर्थतया क्षुद्र कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छा अथवा कीर्ति पानेकी इच्छा को लिया है. इसी तरह 'वृत्त्यर्थं'पदमें 'वृत्ति'का अर्थ भी अविहित रीतिसे कामनापूर्ति और गाममें पुजनेकी वृत्तिके उपलक्षणतया स्वीकारना चाहिये – यह कहा है.

वैसे यही बात दिनांक १०–१३ जनवरीको पार्लामें आयोजित पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें मेरे तथा चि.हरिरायजी (जामनगर) के बीच सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशपर योजित पूरकांशके बारेमें हुई थी. तब चि.हरिरायजीने ''**नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं**'' का कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थीको देवलक नहीं माना. वित्तार्थीको देवलक तथा वृत्त्यर्थीको अनिषिद्ध लोकार्थी माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ. २२७). जहां तक चि.हरिरायजीके विधानोंका सवाल है, वह तो उनके स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थोंके नहींवत् अभ्यास तथा निरंकुश कल्पना करनेवाले कविजनोचित सामर्थ्यके अनुरूप ही था ! चि. हरिरायजीको, परन्तु, ''पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'' की पदवीसे विभूषित करनेवाले विमर्श(पृ. १५–५९)कारने तथाकथित 'सिद्धान्तसंरक्षण'के उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी वृत्तिको अब उजागर किया है !

वैसे यह एक हकीकत है कि तब (पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, पार्ले१०–१३ जनवरी'९२में) भी श्रीवल्लभरायजी (सुरत)ने अतीव सावधानीसे चुने हुए शब्दोंमें कहा था – ''लेकिन मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है कि जो यहां भावानुवादके सन्दर्भमें भावानुवादमें जहां जहां भी विचार्यविषय था वहां असहमत होते हुए जो कुछ सिद्धान्तपक्ष प्रतिपादित करना था वो सिद्धान्तपक्ष अपनी दृष्टिसे हमारे सम्प्रदायके विद्वद्वर्य आचार्य श्रीहरिरायजी महाराजने अपनी और अपनी तरफसे; और बड़ा ही उन्होंने प्रशस्त अपनी दृष्टिसे जो कुछ उन्होंने सम्प्रदायके सिद्धान्तको समझा था उसको प्रस्थापित यहां किया.'' (विस्तृत विवरण पृ. २९०).

इस शब्दावलीसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं श्रीवल्लभरायजी भी तब चि.हरिरायजीके पक्षको उनकी, अर्थात् चि.हरिरायजीकी ही, समझसे ठीक मान रहे थे, स्वयं अपनी (श्रीवल्लभरायजीकी) समझसे नहीं. फिर भी यथाश्रुत

वृत्तान्तके अनुसार ''पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'' पदवीपत्रपाठनमें श्रीवल्लभरायजी ही मुखरित हुए थे !

अतएव पूरकांश – **''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः इत्यत्र आहुः 'लोकार्थी' इति. 'लोक' पदेन लौकिको अर्थः उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवदर्थेसिद्धे तस्यापि, अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद्–इति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति 'चेद्' इति उक्तम्''*** (सि.मु. पृ.४८) – को चि.हरिरायजीने अपनी बालकबुद्धिके अनुरूप अविचारणीय माना था वह इतनी विचारणीय कथा नहीं है परन्तु विमर्शकारने अपने ४५ पृष्ठोंके सुविशद देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण में परस्पर प्रतिरूपक इन भक्तिहंस तथा सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाश के इस पूरकांशपर कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं समझा – यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है !

(* यदि कोई जीविका आदिके हेतुवश भजन करता है तो उसकी क्या–कैसी गति होती है – इस प्रश्नका उत्तर 'लोकार्थी' पदद्वारा देते हैं. 'लोक' पदका अर्थ होता है : लौकिक विषय. इसकी कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता है तो व्यापारकी तरह सफल होनेपर उसके अनर्थरूप ही होनेके कारण ऐसे व्यक्तिद्वारा किया गया भजन भक्तिरूप नहीं होता. अतः ऐसे व्यक्तिद्वारा किया–धरा सब कुछ क्लेशरूप ही होता है. अतः ऐसे भजन करनेवालेको क्लेश ही मिलता है. न केवल ऐहिक क्लेश अपितु निषिद्धाचरणके कारण ऐसोंका परलोक भी बिगड़ता है. इसीलिये 'सर्वथा' कहा. जिसे अल्प भी ज्ञान होगा वह ऐसे नहीं कर सकता. सर्वथा ज्ञानरहित व्यक्ति ही ऐसा भजन कर सकता है इसलिये 'चेद्' कहा)

विमर्शकार प्रभुचरणके वचनोंको क्या सिद्धान्तनिरूपणार्थ उपजीव्य नहीं मानते ? ''वित्तं दत्वा ...ज्ञापकं समस्तं पदम्'' के विशद विमर्शको देखते हुए यह भी स्वीकारा तो नहीं जा सकता. ऐसी स्थितिमें श्रीयामुनेयाचार्यके आगमप्रामाण्य तथा अन्य भी अनेक तन्त्रवचनोंके अवगाहन–परिश्रम करनेसे पूर्व निजाचार्यकृतग्रन्थस्थ वचनोंके अवगाहनका परिश्रम लेना क्या उचित नहीं

होता ? उस स्थितिमें यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि जब प्रस्तुत 'विमर्श'ग्रन्थ सम्प्रदायके विद्वान वयोवृद्ध आचार्यके नामसे प्रकाशित करवाया गया है !

भूलना नहीं चाहिये कि प्रभुचरणने भक्तिहंसके प्रारम्भमें ही स्पष्टीकरण दे दिया है –

मूल : **वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः ।**
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तुसर्वस्वम् ।।

अनुवाद : जो भगवान् निजभक्तोंके बीच, वैदिक–तान्त्रिक दीक्षा अर्चनादि के विधिविधानोंके बन्धनमें बंधे बिना रमण करते हैं, वही मेरे सर्वस्व हैं.

यहां यह उल्लेखनीय है कि तान्त्रिक पूजनविधिमें भी वृत्त्यर्थपूजन (करना नहीं प्रत्युत) करवाना यदि दोषरूप न भी माना गया हो, जैसे वैदिक कर्मोंमें यजनको धर्मार्थ तथा याजनको वृत्त्यर्थ माना गया है वैसे ही, वह तन्त्रोक्त पद्धतिसे प्रतिष्ठापित देवमूर्तिके परार्थ–स्वरूपके अनुरूप है. एतावता पुष्टिमार्गके प्रवर्तक आचार्योंके वचनोंकी अवहेलना करके वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको धर्म्य मानना क्या साक्षात् आत्मघातरूप विद्रोह नहीं है ?

साथ ही साथ यह भी खुलासा दे देना हमारा कर्तव्य बन जाता है कि पुष्टिप्रभु पुष्टिभक्तोंके बीच तन्त्रादिविधिके बन्धनोंमें बंधे बिना रमण करते हैं, एतावता देहाभिमानके निवृत्त होनेसे पूर्व, वैदिक तान्त्रिक पौराणिक स्मार्त विधि–निषेधोंके बन्धनोंसे कोई भी पुष्टिभक्त अपने–आपको मुक्त नहीं मान सकता. अतः श्रौत यजन जैसे वृत्त्यर्थ निषिद्ध है इसी तरह तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन भी वृत्त्यर्थ निषिद्ध ही होता है. श्रौत याजन जैसे वृत्त्यर्थ विहित है वैसे ही तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन करवाना भी तन्त्र–पुराण–स्मृतिविहित होनेपर दोषावह नहीं हो सकता है.

पुष्टिमार्गीय आचार्यवंशज गोस्वामिओंके घरोंमें बिराजमान

भगवत्स्वरूप स्वगृहमें स्वधर्माचरणरूप भगवत्सेवार्थ स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप होता है या सार्वजनिक देवालयमें परार्थ प्रतिष्ठापित ? तथाभिनन्दित पु.शि.सं.शि.ने पक्षग्रहण किया था (द्र. विस्तृत विवरण पृ. १५९) – वैष्णवोंके घरोंमें स्वार्थ प्रतिष्ठापित तथा गोस्वामिओंके घरोंमें स्वार्थ–परार्थ उभयार्थ ! वह तो शुद्ध बालबुद्धिवाले कविकी बाललीला ही थी !! परन्तु विमर्शकारने अपना पक्ष इस विषयमें प्रकट किये बिना ही देवद्रव्यप्रकरण–देवलकप्रकरण कैसे लिख मारा है !!!

इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि गोस्वामिओंके साथ प्रतिस्पर्धा कर सके ऐसे सार्वजनिक देवालय यदि वैष्णवजन चलाते हैं तो गोस्वामिओंकी आजीविकापर कुठाराघातका भय सता रहा है. अतः वैष्णवोंके सेव्यस्वरूप केवल स्वार्थ ही होते हैं – ऐसा स्वीकार लिया. गोस्वामिओंको सार्वजनिक देवालयमें पूजारि बननेमें भी शर्म आती है, साथ ही साथ भगवत्सेवाको आजीविकार्थ करनेके लोभका संवरण करनेमें भी आज हम अक्षम हो गये हैं, अतः गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ–परार्थ उभयार्थ होते हैं ! धन्य, धन्य, धन्य !

हमें प्रतीत होता है कि व्यक्तिशः किसी गोस्वामी महानुभावको अपने सेव्यस्वरूपको धर्मार्थ (= स्वार्थ) तथा आजीविकार्थ (= परार्थ) यों उभयार्थ ही मानने हो तो वह मान लें परन्तु क्या यह वाल्लभ सिद्धान्त हो सकता है ? उत्तर है : ब्राह्मण्यविलोपन तथा पुष्टिभक्तिविलोपन के महासाहसके प्रदर्शनार्थ अवश्य हो सकता है, अन्यथा नहीं.

अतएव इस प्रसंगके उपसंहारमें महाप्रभुके इन वचनोंका अनुसन्धान अतिआवश्यक लगता है :

मूल :

वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः ।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता ।।
आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्धं फलति नाखिलम् ।

अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लंघनात् ।।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत् ।।
तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम् ।

'वर्णाश्रमवताम्' इति. उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यं न तु अनुकल्पैः. तथा सति प्रत्यवायपरिहारएव भवति न तु फलम् इत्यर्थः. तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवता सर्वं साध्यम्. ननु तावन्मात्रएव वैगुण्यम् अस्तु, किं सर्वांशेन इत्यत आह 'आचार' इति. वस्तुतस्तु न फलति इत्याह 'अनभ्यासेन' इति. तर्हि कथं फलति इति आकांक्षायाम् आह 'शिलोञ्छवृत्त्या' इति. असन्तोषे तदपि व्यर्थम् (त.दी.नि. सर्वनि. १८५-१८७).

वृत्त्यन्नावश्यकत्वे किञ्चिद् आशङ्कते 'ननु' इत्यादि.'सर्वनाशेन' इति सर्वधर्मवैगुण्यकृत-सर्वफलनाशेन.'आचार' इति. आचारो वर्णाश्रमयोः स्वाभाविको धर्मः. वृत्तिश्च तेषां स्वाभाविकी तत्तद्धर्मपोषकत्वेन तदंगभूता च. अन्यथा तस्य-तस्य सा न उक्ता स्यात्. एवञ्च वृत्त्यभावे स्वाभाविकधर्मव्यंगतायां तस्य कौण्ठ्ये वर्णाश्रमलक्षणहान्या वर्णादिव्यपायेन अधिकारस्य कौण्ठ्याद् अर्धं फलतीति तदभावार्थं सा आवश्यकी इत्यर्थः. 'वस्तुत' इत्यादि. तथाच स्ववृत्त्यन्नाभावे अनभ्यासादिदोषचतुष्टयात् मृत्युः उपैति. स च अत्यन्तविस्मरणरूप इति शरीरं पातयन् स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिं नाशयति. बुद्धिं नाशयन् न आचारं फलितुं ददाति...(आव.भंग.).

भावानुवादः श्रुत्यादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट प्रकारोंके अनुसार वर्णाश्रमवालोंको, अपनी वृत्तिसे उपार्जित अन्नका ग्रहण करते हुए, यथाविधि अपना धर्म निभाना चाहिये. मुख्य कल्पको छोड़कर अनुकल्पोंका सहारा लेनेपर केवल प्रत्यवायका परिहार हो सकता है परन्तु मुख्यफल नहीं. अतः जिस वर्णाश्रमीकी जो शास्त्रानुमोदित वृत्ति हो उसके द्वारा ही कमाये अन्नसे जीवननिर्वाह करना चाहिये. यदि कोई अपनी नियतवृत्तिको नहीं निभा पाता और सारे आचारनियम (कुएके जलकी खासा-सेवकीवाली अपरस) निभाता है तब

भी ऐसे आचारको अधूरा ही समझना चाहिये. वैसे तो 'अधूरा' कहनेके बजाय इसे 'निरर्थक' कहना ही अधिक उचित है. क्योंकि (१) वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न करना (२) आचारका उल्लंघन (३) आलस्य (४) अस्ववृत्तिद्वारा उपार्जित दुष्ट अन्नका भोजन – ये विप्रको खतम कर देते हैं. अतः शिलोञ्छादि विहित वृत्तिओं द्वारा उपार्जित अन्नका आग्रह आवश्यक है. उस स्ववृत्तिद्वारा अन्नके उपार्जनमें भी यदि सन्तोष नहीं रखा जाता तो सारा किया–धरा व्यर्थ ही होता है (त.दी.नि. सर्वनि. १८५–१८७).

स्ववृत्तिद्वारा उपार्जित अन्नका भक्षण आवश्यक है. क्योंकि नहीं तो किया–धरा सब चौपट हो जाता है. वर्णाश्रममें आचारकी तरह वृत्ति भी स्वाभाविक होती है, जो तत्तद् वर्णधर्म और तत्तद् आश्रमधर्मों की पोषक तथा अंग होती है. अतः इस वृत्तिके नियमको न निभानेपर वर्ण या आश्रम के धर्म बिगड़ कर वर्ण या आश्रम का स्वरूप ही खण्डित कर देते हैं. अर्थात् (यजनको आजीविकाका साधन बनानेपर) ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जाता या (ब्रह्मचारी–संन्यासीकी तरह भिक्षा मांगनेपर) गृहस्थ गृहस्थ ही नहीं रह जाता. इसलिये अपनी वृत्तिको छोड़ कर उल्लिखित चार दोषोंके कारण ब्राह्मण खतम हो जाता है; इस अर्थमें कि उसे अपने धर्मका भान नहीं रह जाता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है (खासा–सेवकीकी कुएके जलकी अपरसवाला) सारा आचार बेकार हो जाता है (आवरणभंग).

वैसे व्यक्तिशः ब्राह्मण्यविलोपनके अनेकानेक हेतु आज गिनाये जा सकते हैं. उनकी चर्चा, परन्तु, यहां अप्रासंगिक ही होगी. ब्राह्मण्यविलोपक उन हेतुओंका समर्थन, क्योंकि, जनताके समक्ष खुलकर कोई आचार्यवंशज करता नहीं है. अतः उसे वैयक्तिक स्खलन ही हम भी स्वीकारते हैं. पुष्टिमार्गके ५०० वर्षोंके इतिहासमें, इदंप्रथमतया, विमर्शकारने ही वृत्त्यर्थ भगवद्भजनके धर्म्य होनेकी घोषणा अब निःसंकोच कर दी है ! अतः यह विशोधन भी आवश्यक हो गया है.

अतः ब्राह्मणत्वके सन्दर्भमें इस विशोधनके बाद वैदिक गुरुत्वके

सन्दर्भमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा धर्म्य हो सकती है या नहीं – इस प्रश्नका उत्तर खोजने अब हमें अग्रसर होना है.

***

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति. – सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (ब्राह्मण) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

वैदिक गुरुत्व

मूल : **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।**
वेदमध्यापयेत् पश्चाद् शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ।।
स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।
आनीय आददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः ।।
एकदेशमुपाध्यायः ऋत्विग् यज्ञकृदुच्यते ।

(याज्ञ. स्मृ. आचाराध्याय २।१५-३४)

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यः प्रचक्षते ।।१४० ।।
एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।
योध्यापयति वृत्त्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते ।।१४१ ।।
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।।१४२ ।।
अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ।।१४३ ।।
य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कथञ्चन ।।१४४ ।।
श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेद् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुसु ।।२०७ ।।

(मनुस्मृ. अध्याय २)

अनुवाद : गुरु शिष्यको उपनयन संस्कारसे संस्कृत करके महाव्याहृतिपूर्वक वेदका अध्यापन करे. पश्चाद् शौचाचारोंका भी प्रशिक्षण दे. जो पिता निषेकादि क्रियाओंको करके वेदाध्यापन करता हो उसे 'गुरु' कहते हैं और पितासे भिन्न कोई उपनयन संस्कारसे दीक्षित करके वेदाध्ययन कराता हो तो उसे 'आचार्य' कहते हैं. वेदके किसी एक देश = हिस्सेको पढ़ानेवालेको

'उपाध्याय' कहा जाता है. उसी तरह जो द्विजको यज्ञादि कर्म कराता है उसे 'ऋत्विक्' कहा जाता है. (याज्ञ.स्मृ.)

जो द्विज शिष्यका उपनयन संस्कार करके सकल्प सरहस्य वेदको पढ़ाता है उसे 'आचार्य' कहते हैं. वेदके किसी एक हिस्से या वेदांगोंको वृत्त्यर्थ पढ़ानेवालेको 'उपाध्याय' कहा जाता है.विधिवत् गर्भाधान आदि संस्कारोंको करनेके बाद अन्नद्वारा पालन-पोषण करनेवाले पिताको 'गुरु' कहा जाता है. अग्न्याधान, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको करानेके लिये जिस विप्रका हम वरण करते हों वह 'ऋत्विक्' कहलाता है. जो हमारे दोनों कर्णोंको अवितथ वेदोपदेशसे भरपूर बनाता हो वही हमारी माता है वही हमारा पिता है; उसके साथ कभी द्रोह नहीं करना चाहिये. विद्यातपसे समृद्ध अपनेसे बडे गुरुपुत्र अथवा गुरुके बन्धु-बान्धवोंको भी अपने गुरुके रूपमें ही मान्य करना चाहिये. (मनुस्मृ.)

इस धर्मोपदेशकी प्रक्रियापर दृष्टिपात करनेसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुरुत्वके सोपान समझमें आते हैं. यथा - (१) ऋत्विक् (२) जनकपिता = गुरु (३) उपाध्याय (४) आचार्य

(१) आर्त्विज्य

स्पष्ट है कि ऋत्विक् वह होता है जिसका केवल कर्मानुष्ठानकालमात्रके लिये वरण होता है. अर्थात् हमें कर्मोपदेशद्वारा हमसे कर्मानुष्ठानको सम्पन्न करवानेके लिये जिसका हम वरण करते हैं. एतदर्थ कर्मदक्षिणा प्रदान करनेकी विधि होती है. अतः जैसे न्यायालयमें हमारी बात कहनेको न्यायविद वकीलोंका वृत्त्यर्थ गुरुत्व एवं अभिभाषकत्व होता है, वैसे ही यह वृत्त्यर्थ गुरुत्व भी कर्मानुष्ठानकालमात्रमें सीमित होता है.

यह तो स्पष्ट है कि यह ऋत्विक्पद वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानके सन्दर्भमें ही प्रयुक्त हुआ है. फिर भी तत्स्थानीय अपने मार्गमें भगवत्सेवा है. अतः जैसे श्रौतकर्मोंका अनुष्ठापन कर्मदक्षिणाकी वृत्ति अपनाकर किया जाता है, वैसे ही पुष्टिमार्गीय कर्म भगवत्सेवाका अनुष्ठापन सेवाकी भेंट-न्योछावर लेकर किया जा

सकता है या नहीं – यह विचारणीय है. श्रीप्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजीने इसी विषयका स्पष्टीकरण इन शब्दोंमें दिया है –

मूल : वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा – एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. (सि.मु.वि.२).

व्याख्या : तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. नच यागो यजमानस्य इव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गेभगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्. तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चाद् फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति इति (सि.मु.वि.प्र. २).

अनुवाद : किसी दूसरे व्यक्तिको वित्त देकर कराई गई सेवा यह एक प्रकार है और इसी तरह दूसरेका वित्त लेकर की गई सेवा यह दूसरा प्रकार है. इन दोनों प्रकारोंसे की गई सेवा चित्तको भगवत्प्रवण बनानेमें साधिका नहीं बनती – यह अभिप्राय 'तनुवित्तजा' समस्त पदके प्रयोगद्वारा ज्ञापित होता है. इससे सिद्ध होता है कि किसी भी फलाकांक्षा या कपट के बिना जब भगवानके लिये हम अपना सर्वस्व निवेदन करके भगवानके ही लिये अपने देहका भी विनियोग करते हैं तब प्रेम होनेपर चित्तकी भगवत्प्रवणता सिद्ध होती है. (सि.मु.वि.).

वह वित्त यदि वेतनके रूपमें देकर सेवा कराई जाती है तो चित्तमें ऐसी राजसता = अहंकारको बढा देनेवाली बन जायेगी कि चित्त भगवत्प्रवण हो नहीं पायेगा. यदि वेतनके रूपमें वित्त लेकर सेवा की जाती है तो जैसे ऋत्विक्को यागका फल नहीं मिलता, इसी तरह दूसरेका वित्त लेनेके कारण स्वयंके चित्तके भगवत्प्रवण हो पानेका फल सिद्ध नहीं होगा. यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि वित्तदान करनेवाले यजमानको जैसे यागफल मिलता है उसी तरह वित्तदान

करके दूसरेसे भगत्सेवा करवा लेनेवालेको भी चित्तकी भगवत्प्रवणतारूप सेवाका फल मिलना ही चाहिये. क्योंकि यज्ञयागके लिये ऋत्विजोंका वरण, उन्हें दक्षिणा देने, आदिका प्रकार शास्त्रविहित है. भक्तिमार्गमें उस तरह अन्यका वरण करके सेवा करवा लेनेका और तदर्थ दक्षिणा दे देनेका प्रकार भगवानने कहा नहीं है. अतः यज्ञयागकी तरह वित्तदक्षिणा देकर सेवा दूसरेसे नहीं करवा लेनी चाहिये किन्तु भगवानने जैसी कही है वैसी ही रीतिसे सेवा करनी चाहिये. तभी साधनरूपा तनुवित्तजा साध्यरूपा मानसी सेवाको सिद्ध करती हुई स्वयं भी फलरूपा बनकर व्रजस्थ भक्तोंकी तरह पर्यवसित हो जायेगी. (सि.मु.वि.प्र.).

मूल : ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' (सि.मु.वि.प्र. १६).

अनुवाद : धनलाभ अथवा गाममें अपनी ख्याति बढ़ानेके प्रयोजनवश की जाती सेवा उपधर्म = पाषण्ड, देवलकता, आदि दोष पैदा करनेवाली होती है. अतः सेवाके वैसे प्रकारसे भिन्न (अर्थात् निषिद्ध जो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार है वैसे नहीं किन्तु धर्मार्थ भगवत्सेवाके ही) प्रकारसे की जाती सेवा करते समय हृदयके भीतर कोई ऐसी कामना रखे कि इससे मेरा ऐहिक भी कुछ सुधर जाये – ऐसे अनुसन्धानके साथ भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालेको लोकार्थी समझना चाहिये. इसे, महाप्रभुके अनुसार, भक्तिसिद्धिकी जगह क्लेशप्राप्ति ही होती है (सि.मु.वि.प्र. १६).

इस विधानपर विमर्शकारने अपना मत यों दिया है :

''प्रकृतमें श्रीपुरुषोत्तमजीके कहनेका आशय यह है कि लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा उपधर्म है. अर्थात् सेवाका दम्भ है. लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्व आदिकी सम्पादिका है. यहां यह ध्यातव्य है कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा (प्रारम्भमें वर्णित वृत्त्यर्थ सेवा) महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं – यह सन्दिग्ध है. परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है. वैसी सेवा धर्मशास्त्रानुसार न उपधर्म है और न तो परधर्म है.

क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है. द्रव्य कमाने हेतु...परन्तु वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वकी सम्पादिका नहीं हो सकती.'' (विमर्श पृ. ५७-५८).

इससे अधिक हास्यास्पद अकाण्डताण्डवकी कल्पना करनी कठिन है !

यहां सर्वप्रथम लोकार्थी अथवा वृत्त्यर्थी द्वारा की जाती सेवाओंके भेदको समझना नितान्त आवश्यक है. तदनुसार एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

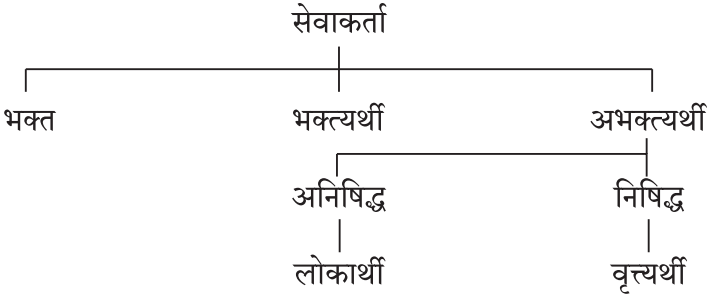

पहले परिच्छेदमें 'निरुपधि'विशेषणके अभिप्रायकी मीमांसा करते हुए पृष्ठ ७-११ तक जो विमर्शकारने विचाराडम्बर किया है वह तथा इस देवलकतापर किये गये विचारसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि विमर्शकारको लोकार्थी और वृत्त्यर्थी के भेदका लेशमात्र भी भान नहीं है. इसलिये तनुवित्तजाके अखण्डितैक्यनियमसे छटकनेको वहां 'निरुपधि' तिलका ताड बनाया गया है. इसी तरह यहां ''अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध है'' विधानद्वारा ताडको तिल जितना माननेकी बाललीला प्रकट की है. इस विचाररीतिमें कितने दोष हैं ? गिनिये -

(१) भक्तिहंसगत ''**तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा (कर्ममार्गीयः) वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणाद् पापमपि**'' (द्र. इसी ग्रन्थका पृ. ३९०-३९१) वचनानुसार अर्थाद्यर्थीद्वारा विहितत्वेन कृत श्रवणादि भक्तिमार्गीय न होनेपर भी कर्ममार्गीय तो हो सकते हैं.वृत्त्यर्थ किये श्रवणादि तो कृषिवत् लौकिक कर्म ही नहीं प्रत्युत निषिद्ध पापाचरणरूप ही होते

हैं. यह भेद भी लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का ही है. अतएव लोकार्थीके लिये श्रीपुरुषोत्तमजीने ''**तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धेन प्रकारेण**'' कहा है. इसी तरह वृत्त्यर्थीको यहां 'पाखण्डी' 'देवलक' जैसे कह रहे हैं ऐसे ही भक्तिहंसमें ''निषिद्धाचरणकर्ता पापी'' कहा गया है.

इतने सुस्पष्टभेदके बावजूद विमर्शकारको अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म है कि नहीं – यह सन्दिग्ध लग रहा है तो लगता है कि न केवल श्रीपुरुषोत्तमजीके विधानके ही अपितु प्रभुचरणके विधानके प्रामाण्यमें भी विमर्शकारने अपनी संशयात्मता प्रकट कर दी है, आत्मविनाशकी परवाह किये बिना ! क्योंकि विमर्शकार कह रहे हैं कि वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वादिसम्पादिका नहीं हो सकती जबकि प्रभुचरण स्पष्ट गंगाके पवित्र जलको पायुप्रक्षालनार्थ प्रयोग करनेके पापसे वृत्त्यर्थ भक्तिकी तुलना कर रहे हैं.

(२) शास्त्रमें यजन धर्मार्थ तथा याजन वृत्त्यर्थ होता है – इतना स्थूल भेद भी विमर्शकार समझ नहीं पाये ! किमाश्चर्यमतः परम् !

(३) श्रीयामुनेयाचार्यजीके सारे वचन वृत्त्यर्थ याजनपरक हैं, यजनपरक नहीं – यह भी करतलामलकवत् तथ्य विमर्शकार समझ नहीं पाये हैं.

(४) प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमचरणद्वारा अभ्युपगत पक्षसे पृथक् महद्विमृग्य भक्तियोगका उल्लेख कर उन्हें पुष्टिमार्गमें महद्विमृग्य भक्तियोगके या तो अनधिकारी अथवा अज्ञानी होनेका छद्म आरोप और लगा दिया है !

(५) ''वृत्त्यर्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्वसम्पादिका होती है उसमें कोई प्रमाण नहीं है'' कहना तो विमर्शकारका अपने शास्त्रश्रद्धाराहित्यका ही शुद्ध प्रदर्शन है. क्योंकि देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण के अन्तर्गत तन्त्रादि शास्त्रोंके जितने वचन विमर्शकारने उद्धृत किये हैं उनमेंसे प्रायः अनेकानेक कोटिओंमें आधुनिक पुष्टिमार्गीय गोस्वामी देवलक ही सिद्ध होते हैं. यह हम आगे चलकर दिखायेंगें.

(६) 'वित्तं दत्वा'में श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा व्याख्यात 'वेतनत्वेन' का इतना बावेला मचानेवाले विमर्शकार यदि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये विधानका प्रामाण्य सन्दिग्ध मानते हों तो वहां भी वह सन्दिग्ध बन जायेगा कि नहीं ?

(७) आर्त्विज्यार्थ गृहीत दक्षिणाद्रव्यकी निर्दोषताके आधारपर भगवत्सेवार्थ गृहीत भेंट–सामग्रीकी निर्दोषता सिद्ध करनी हो तो फिर पुष्टिमार्गीय गोस्वामी कर्मपुरोहित या देवालयपुरोहित ही सिद्ध होंगें, आचार्य या गुरु नहीं. क्योंकि उपदेशकको दी जाती गुरुदक्षिणा तथा ऋत्विक् = पुरोहितोंको दी जाती कर्मदक्षिणा एक कोटिकी हो नहीं सकती. क्योंकि यदि एक कोटिकी हो सकती हो तो जो आचार्यको गुरुदक्षिणा या स्वसम्प्रदायकी परिभाषाके अनुसार 'गुरुकी चरणभेंट' कही जाती है वह वेतन बन जायेगी. इससे सेवा करना स्वयं विमर्शकारद्वारा निषिद्ध माना गया है. अतएव यदि भिन्न मानते हैं तो आर्त्विज्यके लिये वृत ब्राह्मणको दी जाती कर्मदक्षिणाकी तुलनामें आधुनिक वल्लभवंशज गोस्वामिओंको दी जाती भगवत्सेवार्थ भेंट–सामग्रीका कोई बादरायणसम्बन्ध भी खोजना कठिन काम हो जाता है.

(८) आर्त्विज्यमें वंशवाद नहीं चलता है परन्तु कर्मविधिकी जानकारी ही अभिलषित होती है. अतः गोस्वामिओंकी आनुवंशिक गुरुपदवी खतम हो जायेगी !

(९) पुष्टिमार्गीय गोस्वामिओंके द्वारा यदि आर्त्विज्य किया जाता हो तो सेव्यस्वरूपके बारेमें तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि. चि.हरिरायजीद्वारा गृहीतपक्ष – कि गोस्वामिओंके स्वार्थ–परार्थ उभयार्थ होते हैं – अकाम गलेपतित होगा. ऐसी स्थितिमें निजाराध्य सेव्यस्वरूप भी गोस्वामी तथा वित्तदाता दर्शनार्थी वैष्णवोंकी साझेदारीका होगा. तब भगवत्स्वरूपमूलक पीठाधीशतावादिओंको वित्तदाता दर्शनार्थिओंकी भी पीठाधीशतामें भी साझेदारी स्वीकारनी पड़ेगी.

(१०) आर्त्विज्यमें कर्मफल ऋत्विजको नहीं परन्तु वित्तदाता यजमानको प्राप्त होता है. ऐसे ही चित्तका भगवत्प्रवण बनना रूप फल भी वित्तदाता दर्शनार्थी जनताको मिलेगा, पू.पा.गो.महाराजश्रीको नहीं. इससे

अधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति और क्या हो सकती है कि गुरु मुख्यफलसे वंचित और शिष्य मुख्यफलाधिकारी सिद्ध हो रहे हैं !

(११) विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीयामुनेयाचार्यके वचनोंमें – ''नहि भागवतैः सर्वैः वृत्तयेऽभ्यर्चितो हरिः. दृष्टा हि बहवः स्वार्थं पूजयन्तोपि सात्त्वताः. केचिद् परं सन्तः शाश्वता(ऽ)वृत्तिकर्शिता याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्. न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति. यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासाद्गुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते प्रतिगृह्णते. अर्चनान्ते हिरण्यं च तस्मै देयं स्वशक्तितः, अन्यथा पूजकस्यैव तत्र पूजाफलं भवेत्, 'हक्त्यल्पदक्षिणो यज्ञः' इत्यादिस्मृतिदर्शनात्. ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरं, यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदेव हि निषिध्यते.''* (विमर्श. पृ. ४५-४६).

(*वृत्त्यर्थ देवतापूजा नैवेद्यभक्षण आदि हेतुओंके कारण दौर्ब्राह्मण्यके आरोपका खुलासा यह है : सभी भागवत वृत्त्यर्थ ही हरिपूजन करते हों ऐसा नहीं है. अधिकांश सात्त्वत (वैष्णव) स्वार्थ ही भगवत्पूजन करते दिखलाई देते हैं. कुछ (अ)वृत्तिकर्शित यदि महाभाग वैष्णवोंद्वारा वृत्त्यर्थ याजन (यजन नहीं) करते भी हों एतावता उनमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता – यह कहा नहीं जा सकता है. उदाहरणतया ज्योतिष्टोममें आध्वर्यव = आर्त्विज्य करनेवालेका पतन होता है ऐसा माना नहीं जाता. यदि वे पूजाको सफल बनानेके लिये कुछ दक्षिणा वृत्त्यर्थ स्वनिर्वाहार्थ न स्वीकारते हों तो पूजा ही विफल हो जायेगी (पूजाविधिमें दक्षिणादानके विहित होनेके कारण). अतः यजमानको अपनी शक्तिके अनुरूप उन्हें हिरण्य दक्षिणाके रूपमें देना चाहिये. अन्यथा पूजाका फल यजमानोंको मिलनेके बजाय पूजाकर्ता ऋत्विक्को मिल जायेगा. ''अल्पदक्षिणाक यज्ञ घातक होता है'' जैसे वचनोंके कारण जो ऋत्विक् धनलोभसे स्वयं अधिक दक्षिणा मांगने लगता है वैसा आर्त्विज्य तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्मकी तरह हरिपूजनरूप कर्ममें भी निषिद्ध ही है.)

स्पष्ट है कि परार्थयाजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनकी वैधता यहां विवक्षित है, स्वार्थयजन को वृत्त्यर्थ करनेकी अनुमति नहीं. अतएव हिरण्यदक्षिणा न देनेपर पूजाफल यजमानके बजाय पूजाकर्ता ऋत्विक्को मिल जायेगा इसकी विभीषिका यहां दिखलाई गई है. प्रकृत सन्दर्भमें विमर्शकार भी क्या भयभीत है कि गोस्वामिओंका चित्त कहीं भगवत्प्रवण न हो जाय ! क्या एतदर्थ ही वे दर्शनार्थी

वैष्णवजनताको प्रेरित करना चाहते हैं कि पू.पा.गो.म.श्रीओंके सेव्यस्वरूपकी नित्यसेवा और मनोरथसेवामें भेंट-सामग्री प्रदान कर पू.पा.म.श्रीओंके चित्तोंको भगवत्प्रवण होनेसे कथमपि बचा लेना दर्शनार्थी वैष्णवजनताका कर्तव्य है ?

स्वयं श्रीयामुनेयाचार्य भी स्वयंयाचनाका तो निषेध कर ही रहे हैं. मनोरथोंकी भेंट-सामग्रीकी स्वयंयाचनाके पॅम्फलॅट तथा मासिक पत्रिकाओंमें सार्वजनिक याचनाओंकी फॉटॉ प्रतिलिपि प्रकाशित करवानी हो तो एक दलदार पन्नोंका स्वतन्त्र ग्रन्थ ही छप सकता है. कहाड़ीभेंटकी स्वयंयाचनाकी पुस्तिकाके आद्यन्त पृष्ठोंकी फॉटॉकॉपी तो हमने प्रथम भागमें प्रकाशित करवायी ही थी !

इन दोषोंको देखते हुए आर्त्विज्यमें दक्षिणादानके समर्थक वचनोंका हम गोस्वामिओंको लाभ मिल सकता हो - ऐसा मुझे नहीं लगता.

(२) जनकपितृतारूप गुरुत्व

वित्तदाता दर्शनार्थी जन तथा वित्तगृहीता पू.पा.गो.म.श्रीओं के बीच निषेकादि संस्कार अन्नवस्त्रादिद्वारा पालन-पोषणरूप गुरुत्वकी चर्चा तो सर्वथा अकल्पनीय अप्रासंगिक होनेसे उपेक्षणीय ही होनी चाहिये. पुत्रकल्प वैष्णवजनतासे

असमर्थ पितृकल्प गुरुओंके पालन-पोषणकी बात तो कथमपि सोची भी जा सकती है जबकि पूर्ववर्णित अनेकानेक भेंटके प्रकारोंको देखते हुए तो हम गोस्वामिओंका ही पालन-पोषण वैष्णवजनता कर रही है. सो भी हमारे गुरुजनोचित कर्तव्योंसे हमारे विमुख विरत तथा असमर्थ होनेपर भी ! सो इस विषयमें प्राचीन वार्ताओंकी उपसंहारशैलीका अनुसरण करते हुए ''इनकी वार्ता कहां तांई कहीये !'' कहकर हम भी उपसंहार करना चाहेंगे .

(३-४) उपाध्यायरूप तथा आचार्यरूप गुरुत्व

इस उपाध्याय तथा आचार्य के एकैकांशोंको लेकर व्याख्याकार

मेधातिथिने उपाध्यायसे ऊपर आचार्यसे नीचे एक और कोटि सामान्य गुरुत्वकी स्वीकारी है. वे कहते हैं : ''उपाध्यायकी तरह उपनयन-दीक्षा प्रदान किये बिना ही आचार्यकी तरह जो वेदोंका अध्यापन करायें उसे क्या कहना ? उत्तर है - 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया' वचनके आधारपर उसे आचार्यसे न्यून परन्तु उपाध्यायसे उच्च गुरुतया मान्य करना चाहिये.''

इन उपाध्याय गुरु तथा आचार्य को अध्यापनकालमें तथा अध्यापनोत्तरकालमें गुरुदक्षिणाका विधान उपलब्ध होता है. कुल्लुक कहते हैं कि आपस्तम्ब सूत्रके अनुसार समावर्तनसे पहले भी नियत न होनेपर भी ब्रह्मचारीको भिक्षामें यदि कुछ गो-वस्त्र-धन-धान्यादि मिलता हो और उसे वह गुरुको देना चाहे तो उसे भी गुरुदक्षिणा ही समझनी चाहिये. समावर्तनके समय गुरुसे आज्ञा मिलनेपर यथाशक्ति अथवा कहींसे याचनापूर्वक भी गुरुदक्षिणा देनेमें दोष नहीं है. इसी अनियमका निरूपण मनुस्मृतिमें, अतएव, इन शब्दोंमें किया गया है :

न पूर्वं गुरवे किञ्चिद् उपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ।। (मनुस्मृ. २ ।२४४).

स्पष्ट है कि वैदिक उपाध्याय गुरु या आचार्य के धर्मभूत यजनमें यागार्थ वस्तु या वित्त प्रदान करनेकी विचारणा न केवल अप्रासंगिक ही है अपितु अकल्पनीय भी. ऐसी स्थितिमें यदि उपाध्याय गुरु या आचार्य मेंसे कोई एक आधुनिक गोस्वामिओंको माना जाय तब भी इनके द्वारा अनुष्ठित यजनस्थानीय भगवत्सेवाकेलिये वित्त या अन्नादि वस्तु का प्रदान आवश्यक नहीं रह जाता है. क्योंकि ऐसे दानका प्रतिग्रह न तो 'उपाध्यायवृत्ति' न 'गुरुवृत्ति' और न 'आचार्यवृत्ति' ही कहलायेगी. गुरुदक्षिणांगभूत उपायन या सत्प्रतिग्रह की बात यहां सोचनेपर प्रासंगिक हो सकती है. इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि दीक्षाप्रदानपूर्वक समग्र शास्त्र या शास्त्रैकदेश का अध्यापन किया हो तभी वह धर्म्य हो पायेगा अन्यथा नहीं. आज लड्डु पूड़ी मठड़ी के विक्रयार्थ किये जाते मनोरथोंके आयोजक हम गोस्वामिओंमें वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनार्थ उत्सुक

कितने हैं और अधीत कितने हैं तथा अध्यापनका परिश्रम लेने समुद्यत कितने हैं ! यदि शुद्ध शुद्ध गुरुभाव हमारे भीतर होते तो देवद्रव्योपजीवनकी या देवलकताकी वृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ! और न उसकी वकालतमें विमर्श जैसे अपसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थोंको प्रकट करनेकी आवश्यकता ही !

स्पष्ट है कि अध्यापनके कर्तव्यको निभाये बिना अध्यापककी हैसियतमें उपायन स्वीकारना गुरुदक्षिणारूप उपायन न रहकर ब्राह्मणकी हैसियतमें केवल प्रतिग्रह ही रह जाता है. ''तपस्तेजोयशोनुदम्'' शब्दोंमें इसे ही सर्वथा निन्दित माना गया है. यह तो ठीक ही है कि निन्दित होनेपर भी यह सर्वथा निषिद्ध नहीं है. अतः जब ब्राह्मणकी हैसियतमें हम प्रतिग्रह करते हैं तब उसके सत्प्रतिग्रह होनेकी सावधानी हमें रखनी ही पड़ेगी, सत्प्रतिग्रहनियमविधायक वचनोंके बलपर. तदन्तर्गत पुनः दाताके बारेमें तथा प्रतिग्राह्य धन या वस्तु के बारेमें सदसद्विवेक अनिवार्य हो जाता है. यथा –

प्रतिग्रहस्तु वृत्त्यर्थं ब्राह्मणस्तु समाचरेद् ।
असदेवासतां प्रोक्तं निषिद्धं तद् विवर्जयेत् ।।

यहां वृद्धहारीतने पाषण्डी–पतित–कुलटादि असद्दाताओंद्वारा दिये जाते दानके प्रतिग्रहकी कड़ी निन्दा की है. इसी तरह सद्दाताओंसे भी मांस–दिरा–घृत–लवणादि द्रव्योंको अप्रतिग्राह्य असद्द्रव्यतया निरूपित किया है.

इस सन्दर्भमें यह नितान्त विचारणीय हो जाता है कि आज पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मन्दिरों या हवेलिओं में बिना शिष्याशिष्यके विवेकके, बल्कि पुष्टिमार्गीय या अपुष्टिमार्गीय के भी सदसद्विवेक रखे बिना, सभी दर्शनार्थिओंसे जो सन्मुख भेंट या असन्मुख (!)भेंट अर्थात् भण्डार पेढ़िओंमें घृतलवणतिलादि तथा गौशालामें घास आदि भी, जो वर्जित द्रव्य माने गये हैं, उनका प्रतिग्रह करना कहां तक उचित है ? यदि देवार्थ प्रतिग्रह होनेसे अनुचित न मानते हों तो देवद्रव्यके उपभोगके कारण देवलकता दोष गलेपतित होगा. गोस्वामी महाराजकेलिये प्रतिग्रह मानते हैं; अर्थात् वह गुरुकी हैसियतमें शिष्योंसे गुरुदक्षिणांगभूत उपायनतया लेना स्वीकारते हैं, तो अशिष्योंका कुछ लेनेमें न आ जाय इसकी सावधानी कहां रखी जाती है ? यदि ब्राह्मणकी हैसियतमें लेते हैं तो

पुनः सत्प्रतिग्रहका नियम अनिवार्य हो जाता है. वह कहां निभाया जा रहा है ? यथा –

पाषण्डाः पतिताः पापाः तथैव प्रतिलोमजाः ।
कुलटाश्च विकर्मस्था असतः परिकीर्तिताः ।।

लवणं तिलकार्पासं चर्म्म च त्रपुसीसकम् ।
आयसं मधुमांसं च विषमन्नं घृतं रुजम् ।।

. . . . . .

तृणकाष्ठं च कूष्माण्डं शिंशपाश्च विवर्जयेद् ।

(वृद्ध हारीतस्मृ. चतुर्थाध्याय).

वैसे एक दुःखद हकीकत तो यही है कि अधिकांश आचार्यवंशज गोस्वामी महानुभाव महाप्रभु-प्रभुचरणादि विरचित पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनाध्यापनसे भी बहुधा विरत-विमुख रहते हैं और साथ ही साथ केवल आचार्यवंशज होनेके नाते दीक्षाप्रदान करनेका अपना एकाधिकार भी मानकर गुरुपदोचित गौरवके दावेदार भी बने रहना चाहते हैं. ऐसी स्थितिमें वेदवेदांगादि शास्त्रोंके अध्ययनाध्यापनकी अपेक्षा इस मार्गके अनुयायिओंकी केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होती है. स्वयं विमर्श ग्रन्थ धर्मार्थ यजन और वृत्त्यर्थ याजनके शास्त्रीय दृष्टिमें स्थूलतम प्रभेदका भी विवेक कर पानेमें अपनी अक्षमता प्रकट कर रहा है तो अन्योंकी तो कथा ही क्या ! पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ला)में गोस्वामी श्रीवल्लभरायजीने ''न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'' वचन उद्धृत कर कर वेदवेदांगन्यायमीमांसा आदि शास्त्रोंमें निष्णात निरपेक्ष विरक्त शान्त वृद्धोंकी अनुपस्थितिमें लिये गये धर्मनिर्णयको अनिर्णायक माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ.२८८-२९३). क्या विमर्शकार उक्त लक्षणसे युक्त किसी 'गोस्वामी'का निर्देश शृंगग्राहिकावृत्तिसे कर पायेंगे ?

ऐसी स्थितिमें उपायनीभूत गुरुभेंट या सत्प्रतिग्रह दोनोंमेंसे एकके भी सिद्ध न होनेपर –

मूल : अव्रतश्चानधीयानाः यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा.....

(अत्रिसंहिता श्लो. २२).

अनुवाद : व्रतहीन अनधीत ब्राह्मणोंको जिस गाममें मांगनेपर भीख मिल जाती हो (जैसे मनोरथोंकेलिये मांगनेपर अपने मार्गमें हम गोस्वामिओंको मिल जाती है) उस पूरे गांवको (चोरको प्रश्रय देनेवाले गांवकी तरह) दण्डित करना चाहिये – यह राजाका कर्तव्य है.

इससे सिद्ध होता है कि गुरुत्वके अधिकारसे दर्शनार्थी जनतासे धनादि हम लेते हों तो उस दाताके शिष्य होनेकी शर्त निभानी चाहिये. जैसे महाप्रभु कड़ाईसे इस नियमका पालन करते थे – अशिष्यसे कभी प्रतिग्रह करते नहीं थे. अन्यथा ब्राह्मणत्वके अधिकारसे सत्प्रतिग्रहका नियम सर्वथा अनुल्लंघनीय होता है.

तैत्तिरीय उपनिषद्में आचार्य और अन्तेवासी के सम्बन्धका निरूपण करते हुए कहा गया है कि विद्यादान तथा विद्याग्रहण रूप सम्बन्धका सन्धान प्रवचनात्मना ही होता है; आचार्याराध्य देव या उसके पूजन के वृत्त्यर्थ प्रदर्शनात्मना नहीं.

मूल : अथाधिविद्यम्. आचार्यः पूर्वरूपम्. अन्तेवासी उत्तररूपम्. विद्या सन्धिः. प्रवचनं सन्धानम्. इत्यधिविद्यम्.

अनुवाद : विद्याके प्रसंगमें आचार्य पूर्वरूप होता है और अन्तेवासी उत्तररूप. इनकी सन्धि विद्या है और विद्याके प्रसंगमें ये दोनों जुड़ते हैं उस विद्या–प्रवचनके उपदेश और श्रवण द्वारा. विद्याके प्रसंगकी यह कथा है.

आज तो यह स्थिति हो गई है कि ''अथाधिपुष्टिम्. आचार्यवंशजः पूर्वरूपम्. दर्शनार्थिमनोरथिजनः उत्तररूपम्. दर्शनभेंटसामग्रीसमाधानं सन्धिः. मठड़ी सन्धानम्. इत्यधिपुष्टिम् !''

यही कारण है कि स्ववृत्तिवादमें श्रीपुरुषोत्तमजीने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है– ''तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु – एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.''

'गुरुत्व'के साथ 'एव'कार जोड़नेसे गुरुत्वके अलावा अन्य वृत्तिओंका व्यावर्तन तो स्वीकारना ही पड़ेगा. उन अन्य वृत्तिओंमें कण्ठोक्ततया निषिद्ध वृत्ति जो भी हो उसे व्यावर्त्य न मानना तो सर्वथा विसंगतिपूर्ण व्याख्यान ही होगा. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ऋत्विग्वृत्ति देवद्रव्योपजीवन या देवलकवृत्ति का कण्ठोक्त निषेध उपलब्ध होता ही है. अतः कमसे कम इन्हें तो व्यावर्तनीय मानना ही पड़ेगा.

शास्त्रतः परार्थ यजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनको ब्राह्मणवृत्तितया मान्य किया गया है. भक्तिमार्गके स्वरूपके विचारसे तथा भगवानके द्वारा पुष्टिभक्तिनिरूपणके प्रसंगमें उसके विहित न किये जानेके कारण शास्त्रतः प्रसक्त होनेपर भी आर्त्विज्यवृत्तिका प्रतिषेध किया गया है, ''प्रसक्तस्य प्रतिषेधो'' न्यायेन. अतः सच्चे भक्तकेलिये तो स्वभावतः ही अप्रसक्त होनेसे इसे अनावश्यक भी माना जा सकता था. फिर भी भक्तिसम्प्रदायमें, जैसे अपने ही मार्गमें, कामलोभपूजादिकी दुर्बल मनोवृत्तिके कारण उसे प्रसक्त भी स्वीकारना ही पड़ता है. अतः देवद्रव्योपजीवनकी वृत्तिका तथा देवलकत्वकी वृत्तिका व्यावर्तन 'एव'कारसे किया गया है – यों स्वीकारना ही पड़ेगा. स्वार्थ यजनको वृत्तितया करनेकी बात वैसे तो सिद्धान्तमुक्तावलीकी विवृतिमें प्रभुचरणने अप्रसक्त ही मानी थी. अतएव ''लोकार्थी...''के व्याख्यानमें निषिद्धतया भी उसका उल्लेख उचित नहीं समझा गया. परन्तु निजवंशजोंके इस भवितव्यको दिव्य दृष्टिसे निहारकर ही आपने पूरकांशमें ''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते...अन्यथा तदसम्भवाद्'' जोड़ा होगा. भक्तिहंसगत ''तत्राप्यर्थाद्यर्थिभिः...निरस्तम्''अंश भी इसी भवितव्यको दृष्टिमें रखकर लिखा होगा.

इसका अधिक विवेचन आगे किया ही जायेगा.

कुल मिलाकर श्रीमद्भागवतके इस दिव्य उपदेशको, वह हमसे निभ पाये या नहीं, हमारे लिये आदर्शभूत कर्तव्यके स्वरूपनिर्धारणार्थ कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये –

मूल : **इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।**
प्रतिग्रहोध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ।।
प्रतिग्रहं मन्यमानः तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत् शिलैर्वा दोषदृक्तयोः ।।
ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च ।।
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ।।
यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैव हरेत् क्रतुन् ।।

(श्रीमद्भाग. ११ ।१७ ।४० –५१).

अनुवाद : इज्या (= यजन–अर्चन–पूजन–सेवन–भजन) अध्ययन और दान ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनोंके कर्तव्य हैं. याजन अध्यापन और प्रतिग्रह केवल ब्राह्मण ही कर सकता है. प्रतिग्रह करनेपर तप तेज और यश जब क्षीण होता लगता हो तब याजन अध्यापनद्वारा ही जीवननिर्वाह करना उचित हो जाता है. अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे भी जीवननिर्वाह कर लेना चाहिये. क्योंकि ब्राह्मणकी देह किन्हीं क्षुद्र ऐहिक कामनाओंकी पूर्तिकेलिये नहीं होती. यह तो कठोर तप तथा पारलौकिक सुखकेलिये ही होती है. शिलोञ्छवृत्तिसे चित्तको परितुष्ट रखते हुए वैराग्यपूर्ण महान धर्मका सेवन करते हुए जो संसारमें अति अनुरक्त हुए बिना भगवानकेलिये आत्मार्पण करता है वह घरहीमें रहनेपर भी दिव्यशान्तिको पा सकता है...अनायास उपलब्ध होनेवाले धनसे अथवा स्वोपार्जित शुक्लधनसे ही अपने पोष्यवर्गको पीड़ा

पहुंचाये बिना न्यायपूर्वक ही क्रतु(अथवा तत्स्थानीय भगवत्सेवा)का अनुष्ठान करना चाहिये.

इस धर्मनिर्णयको प्राप्त करनेकेलिये रागद्वेषविहीन त्रैविद्य हैतुक तर्की नैरुक्त धर्मपाठक त्र्याश्रमी वृद्धोंकी संमति विमर्शग्रन्थलेखनसे पूर्व लेनी क्यों विमर्शकारने आवश्यक नहीं मानी ?

तो आईए, तन्त्रशास्त्रोंकी तान्त्रिक गुरुत्वके बारेमें क्या अभिमति है यह जाननेको आगे बढ़ें !

***

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

– सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (ऋत्विक् / गुरु / उपाध्याय / आचार्य) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

***

तान्त्रिक गुरुत्व

राजोवाच

मूल : **कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।**
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ।।

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ।।
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।।
लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेद् मूर्त्याभिमतयात्मनः ।।

(श्रीमद्भाग. ११।३।४१-४८).

सुबोधिन्यनुसारि भावानुवादः राजाने कहा- हमें वह कर्मयोग समझाईये कि जिसके द्वारा शीघ्र ही कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परम नैष्कर्म्यको पाया जा सकता हो.

आविर्होत्रने कहा- विहितकर्म, निषिद्धकर्म तथा विहितकर्म के अकरणका स्वरूप वेदैकगम्य है, लोकगम्य नहीं है. वेद स्वयं ईश्वररूप है अतः ज्ञानी भी वहां मोहित हो जाते हैं. बच्चोंको कोई बात समझानी हो तो उनकी समझ पानेकी शक्तिके अनुसार ही समझानी पड़ती है. वैसे

ही वेदमें भी परोक्षवादका सहारा लेकर कई बातें समझाई गई हैं. अतएव कर्मबन्धनसे छुड़ानेको वेदमें कर्मविधान किये गये हैं. उदाहरणतया रोगनिवारक औषधिओंका विधान, रोग तथा औषधि दोनोंसे छुटकारा दिलानेको आयुर्वेदमें किया गया है. अतएव अज्ञानी अजितेन्द्रिय व्यक्ति जब स्वच्छन्दतया वेदोक्तरीतिसे आचरण नहीं करता वह विकर्म या अधर्म के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है. जो निःसंगतया वेदोक्त कर्मोंको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है उसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है. बाकी तत्तद् कर्मोंके अनुष्ठानसे जो तत्तत् फल मिलनेकी बात वेदमें कही गई है वह फल किसीको अवश्य मिलना ही चाहिये – ऐसा प्रयोजन या अभिप्राय वेदका नहीं है. वैसे अपनी हृद्गत कामग्रन्थिओंसे शीघ्र ही छुटकारा चाहनेवालोंके लिये विभूतिओंका तो नहीं प्रत्युत परमात्मविधिद्वारा ही श्रीकृष्णदेवका भजन पुष्टिमार्ग अथवा तन्त्रोक्त विधानोंसे करना चाहिये. आचार्यका अनुग्रह पाकर महापुरुष = पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सहस्रावधि मूर्तिओंमेंसे जो मूर्ति यथास्वभाव प्रिय लगती हो उस मूर्तिका भजन करना चाहिये.

यहां सुबोधिनीमें महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है जिसका अनुवाद भी देख लेना अच्छी बात होगी :

''इस तरह वैदिक कर्मयोगके स्वरूपको निर्धारित करके अब सुगम सार्वजनीन तान्त्रिक कर्मके स्वरूपको निर्धारित करना यहां अभीष्ट है. लौकिक अनर्थोंकी निवृत्ति लौकिक उपायोंसे ही करनेकेलिये सांख्यादि सिद्धान्त प्रवृत्त हुए हैं. उन सभीमें शीघ्र हृदयग्रन्थिविभेदक वैष्णवतन्त्र हैं. 'परमात्मविधि' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवानकी विभूतिओंके भजनके बजाय केवल पुष्टिमार्गका अनुसरण करते हुए भगवद्भजन करना चाहिये. यदि यह शक्य न हो तो तन्त्रोक्त प्रणालीसे भी श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिये. मर्यादानिर्वाहार्थ पुष्टिमार्ग और तन्त्रमार्गका समुच्चय भी किया जा सकता है. जैसे भी हो, श्रीकृष्णका ही, भजन करना चाहिये. मार्गान्तरसे विरोध होनेकी शंकाको यहां कोई अवकाश नहीं है. क्योंकि जो जिस दीक्षामें दीक्षित हो जाता है वह उस दीक्षानुविहित कर्मोंसे

अतिरिक्त कर्तव्योंको निभानेके उत्तरदायित्वसे मुक्त ही हो जाता है. स्वतः नहीं किन्तु एकतः अनुग्रहीत होनेके कारण देवतान्तरविरोधकी भी शंका रह नहीं जाती है. उपनयनादि (वैदिक गायत्रीमन्त्रदीक्षाकी तरह तान्त्रिक गोपालमन्त्रदीक्षा, गीतोपदिष्ट शरणमार्गीय अष्टाक्षरमन्त्रदीक्षा, भागवतोपदिष्ट भक्तिमार्गीय सगद्यपंचाक्षरमन्त्रदीक्षा)* दीक्षाप्रदाता आचार्य ही होता है. अतः वेदमार्गके विरोधकी भी शंका निरस्त हो जाती है. एक कर्ममें विनियुक्त पुरुषकेलिये अन्य कर्म स्वतः ही विकर्म हो जाते हैं. स्वतः कुछ करनेपर दोष हो भी सकता है परन्तु यहां तो भगवन्मार्गस्थ आचार्यकी आज्ञासे ही जो भी करना है सो करना है. (तुलनीय: ''सेवाकृतेः गुरोराज्ञा'' – नवरत्न)*. प्रत्येक कर्मकेलिये उस कर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलके अभिलाषीको उस कर्मका अधिकारी माना जाता है. जैसे स्वर्गप्राप्तिकेलिये विहित कर्मको करनेका अधिकारी स्वर्गाभिलाषी ही होता है. अतः भक्तिरूप फलकी प्राप्तिके साक्षात्हेतुतया जो कर्म उपदिष्ट नहीं हैं उन कर्मोंकी अभिलषित भक्तिकी प्राप्तिमें साक्षात्साधनता नहीं होती. जहांतक कर्ताके शास्त्रीय संस्कारोंसे असंस्कृत रह जानेके भयका सवाल है वह अन्यथा** भी सम्भव है. आचार्यका भी कर्तव्य है कि वह मनघड़ंत उपदेश देनेके बजाय तन्त्रगीताभागवतादि शास्त्रोंके अभिप्रायके आधारपर शिष्यको उसके कर्तव्यका उपदेश दें. इस तरह अहंताममताके निवर्तक प्रकारको अपनानेपर पारलौकिक बाधाओंकी कोई भी शंका रह नहीं जाती है.''

(*कोष्ठकान्तर्गत लेखकीय हैं)

(**यावद् देहाभिमान वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है जबकि भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म. तथा देहादिके संघातसे व्यतिरिक्त आत्मभावनाके दृढ़ होनेपर भगवद्धर्म ही स्वधर्म रह जाता है; अन्य सभी धर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान अपाषण्डिताकेलिये. इस नीतिके अनुसार यह है.)

इस विस्तृत विवरणको भलीभांति हृदयंगत करनेपर यह समझना कठिन नहीं रहेगा कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्वधर्म तान्त्रिक गुरुत्वका अवान्तर धर्म है. जैसे तान्त्रिक गुरुत्वधर्म वैदिक गुरुत्वका अवान्तरधर्म है या स्वयं वैदिक गुरुत्वधर्म भी ब्राह्मणत्वरूप धर्मका अवान्तरधर्म है. ऐसी स्थितिमें तान्त्रिक गुरुत्वरूप धर्म

स्वव्यापकीभूत धर्म ऐसे वैदिक गुरुत्वरूप धर्मसे या तद्व्यापकीभूत ब्राह्मणत्वरूप धर्मसे विरुद्ध हो ही नहीं सकता.

वैसे ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्'' (संन्यासनिर्णय) वचनमें पुष्टिमार्गमें कौण्डिन्य ऋषिको एवं गोपिकाओंको गुरुतया मान्य किया गया है तथा उनके द्वारा अपनाये गये साधनोंको अपनानेकी बात कही गई है. परन्तु वह साम्प्रदायिक दीक्षाप्रदायक गुरु या आचार्यके रूपमें नहीं है; अनुसरणीय आदर्शके रूपमें ही इनके गुरु होनेका उल्लेख है – ऐसा स्वीकारना पड़ता है. यह गोपिकाओंके साथ-साथ महाप्रभुद्वारा कौण्डिन्यऋषिका भी नाम लेनेसे स्पष्ट हो जाता है. क्योंकि न तो कौण्डिन्यऋषिने और न गोपिकाओंने ही दीक्षादिविधिवाले सम्प्रदायके प्रवर्तनपूर्वक किसी भक्तिसाधनाका उपदेश प्रदान करके किसीको शिष्य बनाया था और न ऐसी किसी शिष्यपरम्परामें श्रीमदाचार्यचरणने जन्मग्रहण या विद्याग्रहण ही किया था. जिस पुष्टिभक्तिकी साधनाका मार्गदर्शन करते हुए ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः...'' आज्ञा की है उस भक्तिमार्गकी दीक्षाका मन्त्रोपदेश श्रीमदाचार्यचरणको साक्षात् पुष्टिप्रभुने ही किया था – यह सिद्धान्तरहस्य है. अतएव पुष्टिमार्गीय शरणागतिका दीक्षामन्त्र एवं पुष्टिमार्गीय भक्तिका दीक्षामन्त्र श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रप्रमाणक होनेपर भी शास्त्रविहित नहीं है. अतएव पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली भी श्रुत्यादिशास्त्रप्रमाणक होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रद्वारा विहित नहीं है. निष्कर्षरूपेण इस साधनाप्रणालीके प्रमेयरूप भजनीय भगवत्स्वरूप एवं उनकी फलानुभूति भी श्रुत्यादिशास्त्रविहित नहीं है.

इस मार्गका सम्पूर्ण सौन्दर्य इसीमें निहित है कि यह मार्ग श्रुत्यादिशास्त्रविहित न होनेपर भी श्रुति-गीता-भागवत-तन्त्रादि शास्त्रोंसे विरुद्ध नहीं है. अतएव इस मार्गमें आश्रयणीय या भजनीय पुष्टिप्रभुको ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु सः मेऽस्तु सर्वस्वम्'' कहकर प्रभुचरणने श्रुत्यादिशास्त्रोंकी विधिमें न बंधनेवाला कहा. परन्तु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ऐसे पुष्टिप्रभुका आश्रय या भजन करनेवाले अपनी प्रारंभिक अवस्थामें भी शास्त्रके विधि-निषेधोंके बन्धनसे मुक्त

हो जाते हैं. ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यम् अस्पृष्टाः रमयन्ति स मेस्तु सर्वस्वम्'' नहीं कहा है.

अतएव इस मार्गके आचार्य और अनुयायी दोनोंकेलिये महाप्रभु आज्ञा करते हैं: ''उपनयनादिकर्ता आचार्यः तदनुग्रहात् न वेदविरोधः...आचार्येणापि आगमएव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते'' (सुबो. ११।३।४८) तथा ''यावद् देहोयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं मन्यते तदा दास्यं स्वधर्मः'' (सुबो. ३।२८।२) एवं ''वेदोक्तादणुमात्रेपि विपरीतं तु यद् भवेत् तादृशं वा स्वतन्त्रं चेद् उभयं मूलतो मृषा''(अणुभा.२।२।३६).

अतः सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्व वेदगीतापुराणादिसे विरुद्ध होनेपर अप्रामाणिक ही होते हैं. अतः ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' इनके प्रामाणिक होनेकी कसौटी है. विमर्शकारने यत्रतत्र शिष्टाचार तथा महद्विमृग्य भक्तियोगका कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको प्रामाणिक सिद्ध करनेका जो केसरिया किया है वह स्वयं महाप्रभुकी ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की पुष्टिनीतिसे नितान्त अपरिचयका द्योतन है !

उत्सवप्रतानके अन्तर्गत भी अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने जन्माष्टमीनिर्णयमें जहां कलियुगमें सम्प्रदायरीति-शिष्टाचार-सदाचारका प्रामाण्य स्मृतिकी अपेक्षया उत्कृष्ट घोषित किया है वहां भी ''प्राचीन शिष्ट वैष्णवोंका'' ऐसे विशेषणका प्रयोग किया है तथा ''अवतारकालिकशिष्टानाम् अत्र विवक्षितत्वात्'' स्पष्टीकरण भी दिया ही है. अतः न तो शिष्टाचारका बहाना बनाकर शास्त्रविरुद्ध आचरणोंका समर्थन किया जा सकता है न अर्वाचीन शिष्टोंके आचरणको वेदोक्तकी तरह प्रमाण ही माना जा सकता है. स्वयं तन्त्रागमोंमें भी जहां वेदादिशास्त्रसे विरुद्धता प्रकट होती है वहां अपवादतया उनका अप्रामाण्य भी स्वीकारा गया है (द्र. अणुभा. २।२।४२-४५). जबकि उत्सर्गतया तन्त्रोंको 'एकायनश्रुति'के रूपमें माना जाता है. अतः ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्''* वचन अतिदेशद्वारा ही केवल स्मृतिकी

अपेक्षया शिष्टाचारको प्रबल मानता है. सो भी कलिवर्ज्यप्रकरणान्तर्गत विलुप्तपरम्पराक धर्मके स्वरूपनिर्णयार्थ व्यवस्थानिरूपक यह केवल स्मार्तवचन है. जबकि मनुस्मृति तथा तन्त्रोंके प्रमाण्यकी स्वीकृतिके वचन तो स्वयं श्रुतिवचन हैं.

(*साधुपुरुषोंके आचरण या वचन भी वेदकी तरह प्रमाण होते हैं.)

ऐसी स्थितिमें पुष्टिसम्प्रदायमें श्रुतिकल्पवचनोंमें हमें महाप्रभु तथा उनके दोंनों आत्मजोंके वचन मान्य रखने चाहिये. स्मृतिकल्पवचनोंमें तदुत्तरकालीन व्याख्याकारोंके वचन तथा शिष्टाचारमें महाप्रभु-प्रभुचरणकालीन शिष्टोंके आचरणानुसारी अद्ययावत् प्रचलित आचरणको ही शिष्टाचारकी कोटिमें मान्य करना चाहिये. ऐसा कोई भी शिष्टाचार जो श्रौतस्मार्तकल्प वचनोंसे विरुद्ध हो उसका पक्ष लेते हुए कण्ठोक्त वचनोंकी अवहेलना बाललीला तो हो सकती है परन्तु विवेकपूर्ण कृत्य तो नहीं. क्योंकि जिस तरहके आचरणके बारेमें उसे जिन शिष्टोंसे चली आ रही किसी परम्परा होनेका अनुमान करके हम उसे शिष्टाचार मान रहे हैं उन्हीं शिष्टोंके वचनोंसे वह आचरण यदि विरुद्ध हो तो विरोधपरिहारार्थ घटक वचन ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्'' न रहकर ''ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिद् आचरितं तथा नैतत् समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोब्धिजं विषम्''* (श्रीमद्भाग. १०।३३।३२) वचन ही विरोधपरिहारघटकवचन माना जा सकता है. अन्यथा ''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'' (तैत्ति. उप. शिक्षा.) वचन निरवकाश ही हो जायेगा. इसका सुविशद विवेचन आगामी प्रकरण वार्ताविमर्शविशोधनिकामें किया ही जायेगा. अभी तो यहां केवल दिशानिर्देश ही किया जा रहा है. अस्तु.

(* जो समर्थ हैं उनके आचरणके बजाय वचनका प्रामाण्य अधिक होता है. उनका अनुकरण असमर्थोंको सोचे-समझे बिना मनसे भी नहीं करना चाहिये. अन्यथा महेश्वर होनेसे महादेवजीने विषपान किया और उनके अनुकरणार्थ कोई अनीश्वर मूढ़ मानव विषपान करना चाहे तो उसका विनाश ही होता है.)

अतः कण्ठोक्त विधानोंसे निन्द्य देवद्रव्योपभोग तथा देवलकवृत्ति का

पूर्वजाचारवश प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, देवलकोंकी अशिष्टता सकलशिष्टकण्ठोक्ततया सकलसम्मत होनेके कारण ही ! ऐसी स्थितिमें जो शिष्ट ही न हों उनका आचरण शिष्टाचारकी कोटिमें प्रामाण्यका वाहक हो नहीं सकता. केवल पूर्वजताको शिष्टताका पर्याय माना नहीं जा सकता. अन्यथा तपस्वी ऋषिओंके तपस्त्यागपूर्वक अप्सरारमणका भी शिष्टाचारतया प्रामाण्य स्वीकारना पड़ेगा ! (किमधिकम् अविमृष्टकारिषु विमर्शकारेषु वा !).

इससे सिद्ध हुआ कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्वमें भी वामतान्त्रिकता = पाषण्ड न पनपने पाये एतदर्थ ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की सूक्ष्मताका भान अपेक्षित है ही. सो पुष्टिमार्गीय गुरुत्वके विचारसे पूर्व अब हमें तान्त्रिक गुरुत्वके विचारार्थ प्रवृत्त होना है.

अनपेक्षित विस्तार भी न हो जाये और तन्त्रागमोंका प्रमाणकोटिमें स्थान भी समझमें आ जाये एतदर्थ अधोलिखित सारणीपर केवल दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

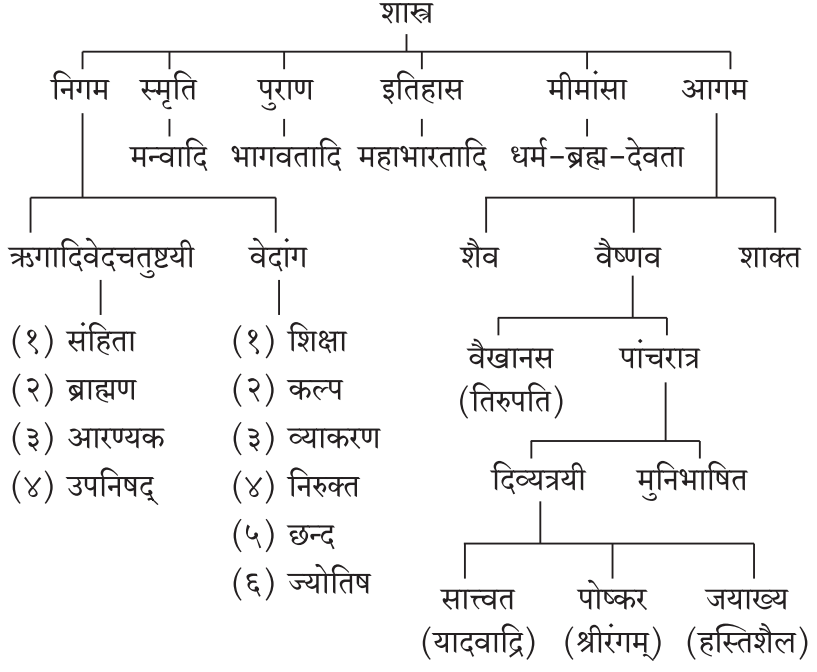

वैसे पांचरात्र शास्त्रके अन्तर्गत २००-२२५ संहिता या तन्त्रागम बताये जाते हैं जिनमेंके बहुत सारे तो प्रकाशित भी नहीं हुए हैं. इन तन्त्रोंका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषदमें भी अनेकविध विद्याओंके परिगणन प्रसंगमें ''ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण, पंचमवेदरूप इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्यं, एकायन, देवविद्या''के अन्तर्गत हुआ है. एकायनश्रुति 'पांचरात्रोपनिषद्' 'पांचरात्रश्रुति' 'पांचरात्रागम' 'पांचरात्रतन्त्र' आदि अनेक नामोंसे इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें भी हुआ है. वैष्णवतन्त्रकी तरह शैव या शाक्त तन्त्र भी एकदेवप्राधान्यमूलक साधनाओंके उपदेश करते होनेके कारण 'एकायनश्रुति' कहे गये हैं - ऐसी विद्वानोंकी धारणा है. इनमें वैष्णवतन्त्रोंके अनुसारी साधकोंकेलिये 'सात्त्वत' 'भागवत' 'एकायन' 'एकान्ती' आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं. वैखानस तन्त्र और पंचरात्र तन्त्र का उपभेद भी अतिसूक्ष्म है. कहीं मिश्रित तो कहीं अमिश्रित रूपमें परस्पर एकदूसरेको कभी मान्य तो कभी अमान्य भी करते हैं.

पंचरात्र आगमोंमें प्रतिपाद्य विषयके निरूपणका एक ही प्रकार नहीं होता. कहीं आगम तन्त्र और तन्त्रान्तरके विभागशः तो कहीं ज्ञानपाद योगपाद क्रियापाद और चर्यापाद के विभागशः प्रतिपाद्य विषयका निरूपण किया जाता है. अहोरात्रमें सम्पन्न होनेवाली साधनाकी पांचकालिकी प्रक्रियातया (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय (५) योग के रूपमें पञ्चविध कर्मोंके रूपमें उपदेश दिया जाता है.

पाञ्चरात्र तन्त्रोंके अनुसार भगवानके चार या पांच रूप वर्णित हुए हैं: (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अवतार (५) अर्चा. तो कहींपर (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अर्चा (५) अन्तर्यामी. या फिर (१) पर (२) व्यूह (३) हार्द (४) विभव (५) अर्चा भेद भी निरूपित हुए हैं.

इन भगवद्रूपोंकी आराधनाके तीन प्रकार दिखलाए गये हैं. यथा: (१) मानसपूजन (२) होमपूजन (३) बेर(प्रतिमा)पूजन. भगवानका अर्चारूप भी यथाक्रम त्रिविध स्वीकारा गया है: (१) आत्मलिंग (२) स्थण्डिल (३)

द्रव्यलिंग (द्र. ''द्रव्यलिंगं शिलाद्यं स्याद् आत्मलिंगं मनोमयम् अथवा स्थण्डिलं चैव विष्णोर्लिंगं प्रकीर्तितम्'' विजयध्वजकृत पदरत्नावलीमें उद्धृत श्रीमद्भाग. ११।३।५१-५२). इसके अलावा शालिग्राम यन्त्र और कहीं पूर्ण कलशमें भी देवपूजनकी विधि वर्णित हुई है.

'बेर' 'लिंग' 'बिम्ब' 'मूर्ति' 'प्रतिमा' 'अर्चा' आदि नामोंसे अभिहित होते भगवद्रूपके चार भेद माने गये हैं. यथा - (१) स्वयं व्यक्त (२) दैव (३) सैद्ध (४) मानुष. भगवानके उन अनेक अर्चारूपोंमेंसे किसी भी तरहके रूपकी आराधना देवालय अथवा गृहमें हो सकती है :

मूल : **सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके।**
जगता क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च।।
संस्थितो वसुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते।
सएव सर्वफलद सर्वेषां मुक्तिदायकम्।
तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः।।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्वस्वसद्मनि।
स्थापितो देवदेवस्तु स्वार्थ इत्यभिधीयते।।
पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः।
तन्मात्रदानाद् तद्देव स्वार्थः सम्परिकीर्तितः।।
परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्।।

(श्रीप्रश्नसंहिता ५३।१५१-१५७).

अनुवाद : सागरतटपर, नदीतटपर, गांवमें या उपवनादि (पत्तनमें या पर्वतपर)में जो स्वयंव्यक्त दैव सैद्ध अथवा मानुष वासुदेवविग्रह जगतके क्षेमार्थ एवं दुष्कर्मोंके विनाशार्थ संस्थित होता है उसे 'परार्थ' कहा जाता है. वही सर्वफलदाता होनेसे सभीको मुक्ति प्रदान करनेवाला होनेसे भी सर्वजनोंसे सेव्य 'परार्थ पुरुषोत्तम' कहलाता है. ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिके अपने-अपने घरोंमें स्थापित देवदेवको 'स्वार्थ' कहा जाता है. गृह आराम क्षेत्र पुत्र पशु आदि स्वार्थ सम्पदा जो होती है केवल

उन्हींके भगवदाराधनामें विनियोग करनेके कारण ऐसे देवस्वरूपको 'स्वार्थ' कहा जाता है. परार्थ भगवद्विग्रह सूर्यकी तरह होते हैं तथा स्वार्थ भगवद्विग्रह गृहदीपकी तरह होते हैं.

अपने मार्गमें भी यदि सेव्यस्वरूपकी स्वार्थ भगवत्प्रतिष्ठा हो तो सेवार्थ परद्रव्य नहीं लेना चाहिये और परार्थ हो तो ऐसे परार्थ देवालयमें आराधनार्थ प्रदत्त वित्त या वस्तुपर न तो गुरुका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है न भगवद्विग्रहपर ही और न सेवोपयोगी स्थलपर ही कभी.

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका गांवमें महोत्सव करना भी निषिद्ध माना गया है. (द्र. नारद. संहि. २५।१४७).

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका वृत्त्यर्थ विनियोग करनेवालेको सात्त्वतसंहिता (२१।१९-२०) में 'देवलक' कहा गया है :

मूल : गृहीत्वा भगवद्बिम्बं वृत्त्यर्थमटतीह यः ।
नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च ।।
दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् संभाषणं तथा ।

अनुवाद : स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्तिको लेकर जो नगरमें बजारमें गलिओंमे वृत्त्यर्थ भटकता रहता है (पुष्टिमार्गमें इससे भी निम्नकक्षापर जाकर हमने साधारण नागरिकोंको बजारु बनियोंको तथा गलिओंमें रखड़नेवाले लुच्चे लफंगोंको भी स्वगृहमें स्थापित भगवत्स्वरूपकी दर्शन-प्रसाद-भेंट-सामग्री-समाधानात्मिका पंचधा भगति करवानेके लिये अपने घरोंमें रखड़ते बना दिये हैं, वृत्त्यर्थ और केवल वृत्त्यर्थ ही) ऐसे देवलकका दर्शन स्पर्शन या उसके साथ सम्भाषण भी नहीं करना चाहिये.

इस श्लोंकोंपर भाष्य करते हुए अलशिंग भट्टने मज़ेदार खुलासा दिया है- ''स्वगृहे समाराध्यं भगवद्बिम्बम् आदाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु सञ्चरमाणस्य देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यम् इति आह 'गृहीत्वा' इति

सार्धेन. ननु एतद् मन्दिरस्थभगवद्बिम्बविषयमपि स्याद् इति चेत् न, तस्य राजाधीनतया बहिर्द्रव्यार्जनार्थम् आनेतुम् अशक्यत्वात्, तत्र तादृशशंकायाएव अनवकाशात्''. अर्थात् द्रव्योपार्जनार्थ स्वगृहमें समाराध्य भगवत्स्वरूपको लेकर जो नगरादिमें रखड़ता है ऐसे देवलकका मूंह भी नहीं देखना चाहिये यह बात 'गृहीत्वा...' डेढ़ श्लोकसे कही जा रही है. यहां शंका होती है कि मन्दिरमें बिराजमान भगवत्स्वरूपके बारेमें भी यही बात क्यों नहीं कही गई ? इस शंकाका समाधान यह है कि परार्थ प्रतिष्ठापित देवालय सरकारी देखभालमें होते हैं, अतः कोई एक व्यक्ति ऐसे मन्दिरोंमें बिराजमान भगवत्स्वरूपको निजी आजीविकाके उपार्जनार्थ मन्दिरसे बाहर ला ही नहीं सकता है.''

इससे सिद्ध होता है कि तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी कविजनोचित कल्पनाचापल्यके विपरीत आंबेडकरस्मृतिके अनुसार ही नहीं अपितु प्राचीन तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी परार्थ देवालयपर सरकारी नियंत्रण रहता ही था ! अविमृष्टकारी विमर्शकारने ट्रस्टप्रकरणके अन्तर्गत ''श्रीनाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त विधानसे उत्सृष्ट नहीं अतः वह सार्वजनिक नहीं है, शास्त्रविरुद्ध कल्पित नियमोंसे सार्वजनिकता नहीं होती''(विमर्श पृ.६४-६५) -ऐसा मनघड़ंत कारण सार्वजनिकताका खोज निकाला है ! वैसे शास्त्रत: यदि परार्थ - परद्रव्यसे भगवदाराधनावाला - हो तो सार्वजनिक मानना पड़ेगा तथा सार्वजनिक न मानना हो तो स्वद्रव्यसे भगवदाराधनावाला स्वार्थ मानना पड़ेगा. श्रीनाथजीके मंदिरकी तरह अन्य भी पू.पा.म.श्रीओंके ठाकुरजीको स्वार्थ-परार्थ माननेके पक्षको स्वयं विमर्शकार 'पु.सि.सं.शि.'पदवीसे विभूषित कर चुके हैं. अत: चोर के भग जानेपर चपरासीके जगनेकी ही कथा यहां भी प्रकट हो रही है.

इसमें स्वयं विमर्शकारकी मानसिक द्विधाग्रस्त हृदयग्रन्थि ही प्रकट होती है. एक ओर वे कहते हैं: ''सार्वजनिक ट्रस्टमें सबको अधिकार (अनपेक्षित अधिकार) प्राप्त होनेसे गुरुभक्ति शिथिल होकर बहिर्मुखता प्राप्त होती है'' (विमर्श पृ.६४). विमर्शकारका भय यहां बोल रहा है. दूसरी ओर सेव्यस्वरूप सेवास्वरूप सेवास्थलस्वरूप सेवार्थ विनियोगार्ह वित्तस्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी सुरक्षाके बजाय ''भगवत्सेवोपयुक्तसम्पत्तिसुरक्षाहेतु केवल ट्रस्टका

बाह्य स्वरूप देनेवालोंपर आक्षेप करना उचित नहीं है'' (विमर्श पृ.६५) विधानद्वारा अपनी निर्दोषतासिद्धिका मोह भी विमर्शकारको सता रहा है; वह ट्रस्ट जिस परद्रव्यांगीकारवश होता है उसके लोभपर काबू न पानेकी विवशताके साथ-साथ !

इसका परिणाम इन्हीं पृष्ठोंपर प्रकट हुआ है: विमर्शकारने ''श्रीनाथजीका मन्दिर वैयक्तिक'' शीर्षकके अन्तर्गत ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे हमारे ठाकुरको मन्दिर शिखरबन्द-धुजा-कलशको नाहीं'' बस इतनेसे अपूर्ण वचनको उद्धृत करके लालजी जीत्याकी झांझ बजा दी है.

वैसे सम्पूर्ण उल्लेख यों है- ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों... नंदराईजीके घरकी नांई करो. तब कारीगरने दूसरी बेर घरकी नांई कियो. तब श्रीआचार्यजीके हस्तमें नकसाको कागद आयो. तब उही सिखरबन्द धुजाकलशसहित ! तब श्रीआचार्यजी कहे- सिखरबन्द क्यों किये ? तब कारीगरने कही - महाराज, हम तो घरकी नांई किये हते; सो अब सिखरबन्द धुजाकलशसहित भयो ताको कारण तो हम जानत नाहीं. तब श्रीआचार्यजी कहें - हम बैठे हैं, हमारे आगे नकसा तैयार करो. तब कारीगरने घरकी नांई जैसे श्रीआचार्यजी कहें ता रीतिसों कियो. तब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबन्द धुजा कलश चक्र व्हे गयो. तब श्रीआचार्यजी जानें जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगतमें पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. (तुलना करिये: ''जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च संस्थितो वासुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते'' श्रीप्रश्न.संहि. ५३।१५१-१५७). सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है.'' (८४ वैष्णवकी वार्ता २४।१).

इस सन्दर्भमें पौष्करसंहिताके अन्तर्गत परार्थ देवालयोंकी सूचिमें यह वचन भी अवलोकनीय है: ''यत्र तत्र भूभागे यो यः सार्वेश्वरं वपुः...गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः संस्थितः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च'' (श्रीपौष्कर.संहि. ३६।२९५-३३४).

तुलनीय: ''सो प्रातःकाल भयो तब १०-१५ वृद्ध ब्रजवासी मिलि उह गायके पीछे गये सो गाय उह छेदमें दूध करि पर्वततें नीचे उतरि. . . तब में पूछ्यो

जो तू कौन है ? तब उन कही – में पर्वतको देवता हुं, देवदमन मेरो नाम है. . . पाछे मंदिर समरायवेकी आज्ञा पूरनमलकों करी. . . तब श्रीआचार्यजी सदु पाण्डेसों कहे – और कोउ बिचारो. तब सदु पाण्डेने कही – राधाकुण्ड कृष्णकुण्ड पर बंगाली हैं; कहो तो बुलाउं. तब श्रीआचार्यजी कहे – बुलाओ.'' (८४वैष्णवकी वार्ता ७३ ।१). अस्तु.

जैसे आराध्य भगवद्विग्रहके स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार होते हैं इसी तरह अर्चनाके भी स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार स्वीकारे गये हैं :

मूल : **वैदिकं ब्राह्मणानां हि राज्ञां वैदिक–तान्त्रिकम् ।**
तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा ।।

(विष्वक्.संहि. ३९ ।३१६).

आत्मार्थं वैदिकेनैव तान्त्रिकेनैव वा मुने ।
परार्थेतान्त्रिकेनैव मिश्रितं वा हरिः परम् ।।
अर्चयेत् पूर्ववद् धीमान् राज्ञो राष्ट्रस्य वर्धनम् ।
परार्थेवैदिकेनैव न कुर्यात् तु कथञ्चन ।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मिश्रितं तान्त्रिकेण तु ।
स्वार्थ आवाहनं कुर्यात्.....
अशक्तोऽनधिकारी वा स्वार्थं यः कारयत्यपि ।
परेण तत्कुलं (तत्कृतं) सर्वं स्वकुलं तारयिष्यति ।।

(विष्वक्.संहि. २० ।३४४–३५०).

अनुवाद : ब्राह्मणोंको वैदिक प्रकारसे, क्षत्रियोंको वैदिक–तान्त्रिक–मिश्रितप्रकारसे, वैश्य–शूद्रोंको केवल तान्त्रिक प्रकारसे; अथवा सभीको केवल तान्त्रिक प्रकारसे भी अर्चन अनुमत है. (विष्वक्.संहि. ३९ ।३१६).

स्वार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार अथवा केवल तान्त्रिक प्रकारमेंसे यथेष्ट प्रयोग अनुमत है. परार्थ अर्चनामें (परके अद्विज होनेपर) केवल तान्त्रिक प्रकार अथवा (द्विज होनेपर) मिश्रित प्रकार

अनुष्ठेय होता है. परार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार कभी भी अपनाना नहीं चाहिये. जो अशक्त अथवा अनधिकारी हो वह किसी अन्य अधिकारीसे अर्चना करवा सकता है. ऐसी स्थितिमें परकुल (परकृत!) भी सब कुछ स्वकुलका तारक हो सकता है. (विष्वक्.संहि. २०।३४४-३५०).

स्पष्ट है कि यह वह अनुमति है जो तन्त्रशास्त्रतः प्रसक्त है कि जिसका प्रतिषेध ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता चापरा - एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' तथा ''तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गेभगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' वचनोंद्वारा प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजी ने किया है.

ऐसी स्थितिमें तन्त्रशास्त्रके अनुसार पुष्टिमार्गीय भगवद्भजनका प्रकार विहित नहीं है - यह स्पष्ट हो जाता है. साथ ही साथ विरुद्ध भी कहीं न हो जाये कि सारेके सारे पुष्टिमार्गीय गुरु शास्त्रतः अदर्शनीय असम्भाषणीय एवं अस्पृश्य कहीं सिद्ध न हो जायें - इसकी सावधानी भी हमें लेनी ही पड़ेगी. एतदर्थ देवद्रव्य तथा देवलकत्व के विचारांगतया सर्वप्रथम चार तत्त्वोंके स्वरूप आवश्यकतया निर्धारणीय हैं: (अ) द्रव्यदाताका स्वरूप (आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप (इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप (ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप.

(अ) द्रव्यदाताका स्वरूप

तदनुसार सर्वप्रथम द्रव्यदाताके स्वरूपविचारके अन्तर्गत प्रथम प्रकरणमें हमने देखा कि द्रव्य देनेवाले तथा द्रव्य लेनेवाले दोनोंका दीयमान द्रव्यपर अविभक्त स्वत्व हो तो ऐसे लेने-देनेके कारण देनेवालेके स्वत्वकी निवृत्ति ही नहीं होती और न लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अतिरिक्त नूतन किसी स्वत्वकी उत्पत्ति ही होती है. यह अविभक्तस्वत्व यथाशास्त्र जैसे एक परिवारके सदस्योंके बीच हो सकता है वैसे ही लोकरीतसे कभी-कभी एक परिवारके सदस्य न हों फिर भी आजीविकार्थ सम्भूय समुत्थान(पार्टनरशिप)वश या सख्यादिभावप्रयुक्त

साहचर्यवश भी हो सकता है. इसका थोड़ा–बहुत विचार प्रथम प्रकरणमें हो ही चुका है. अन्य भी कुछ विवक्षित स्पष्टताएं यथाप्रसंग आगे चलकर की ही जानी हैं.

(आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप

द्रव्यदानके किन प्रकारोंमे स्वत्वनिवृत्ति होती है और किन प्रकारोंमें नहीं – यह प्रथम प्रकरणमें सुविशदतया निरूपित किया जा चुका है. अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है.

(इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप

देय द्रव्यका स्वरूप शास्त्रोंमें अनेकधा निरूपित हुआ है. उसपर दृष्टिपात अब यहां आवश्यक हो जाता है.

इस सम्बन्धमें कुछ तो शुक्ल – शबल – कृष्णधन तथा सत्प्रतिग्रहके सन्दर्भमें उपक्रम, ब्राह्मणत्व तथा वैदिक गुरुत्वके परिच्छेदोंमें देख ही चुके हैं. अतः उससे आगे बढ़कर अब देय द्रव्यके स्वरूपको समझ लेना प्रसंगोपात्त बनता है.

मनुस्मृतिके प्राचीनतम व्याख्याकार मेधातिथिके अनुसार वैसे श्रौत स्मार्त कर्मके सन्दर्भमें तो देवद्रव्य या देवस्व जैसा कुछ भी होता ही नहीं है. वे कहते हैं – ''देवान् उद्दिश्य यागादिक्रियार्थं धनं यद् उत्सृष्टं तद् देवस्वं, मुख्यस्य स्वस्वामिसम्बन्धस्य देवानाम् असम्भवात्. न हि देवता इच्छया धनं नियुञ्जते. न च परिपालनव्यवहारः तासां दृश्यते. स्वं च लोके तादृशम् उच्यते. तस्माद् देवोद्देशेन यद् उक्तं 'न इदं मम; देवताया इदम्' तद् देवस्वम्. तच्च दर्शपूर्णमासयागेषु अग्न्यादिदेवताभ्यः चोदितं शिष्टसमाचारप्रसिद्ध्यैव गौणोपायदुर्गादियागेषु. ननु चतुर्भुजादिप्रतिमासम्बन्धि लोके देवस्वम् उच्यते... मुख्यं चतुर्भुजादिनां देवत्वं 'प्रतिमा' व्यवहारेणैव अपहृतम्'' (मेधातिथि ११।२५). अर्थात् देवताओंको उद्देश्य बनाकर यागादि क्रियाओंके लिये जो धन उत्सृष्ट हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. क्योंकि देवताका मुख्य अर्थमें स्वामित्व

तो किसी द्रव्यपर हो ही नहीं सकता है. क्योंकि न तो देवता अपनी इच्छाके अनुरूप उस धनका कहीं विनियोग कर सकते हैं न अपने धनकी सुरक्षा रखने अर्थात् परिपालनका ही वे देवता कोई काम करते हैं. लोकमें द्रव्यपर स्वामित्व उसे अपने पास संभाले रखने या यथेष्ट खरचने के अधिकारपर ही स्वीकारा जाता है. इससे यह सिद्ध होता है कि देवताको उद्देश्य बनाकर 'यह मेरा नहीं; देवताका है' जिस द्रव्यके बारेमें कहा-सोचा जाता हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. वह जैसे दर्शपूर्णमास आदि यागोंमें अग्नि आदि देवताओंकेलिये कहा जाता है वैसे ही गौणोपासनाओंमें दुर्गा आदिके यागोंमे भी शिष्टाचारवशात् प्रसिद्ध है. यहां शंका होती है कि चतुर्भुजादि-प्रतिमाओंके साथ सम्बन्धवाले द्रव्यको 'देवस्व' कहा जाता है. . . चतुर्भुजादिको जो 'प्रतिमा' कहा जाता है इसीसे सिद्ध हो जाता है कि वे मुख्य अर्थमें देव नहीं हैं.

अतएव यहां व्याख्या लिखते हुए भारुचिने भी यह स्पष्ट किया है कि देवताओंको जब ममता ही नहीं होती तो कोई वस्तु देवस्व कैसे हो सकती है ? अतः शास्त्रोक्त देवस्व तो सम्प्रदानीभूत देवताको सम्प्रदान यजनमात्रकालकेलिये ही क्षणिकमात्र होता है. देवताके उपभोगानन्तर वह देवस्व नहीं रह जाता. इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञार्थ मांगा गया द्रव्य यज्ञार्थ ही उपभोगमें लाना चाहिये. अपने उपभोगमें लानेकेलिये कुछ भी बचाना नहीं चाहिये.

इससे सिद्ध होता है कि श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें देवता कर्मांग होता है, अर्थात् देवतांग कोई कर्म नहीं होता है. (द्र.''यागे तु पुनः स्वर्गः फलत्वेन अभिमत इति केवलं देवतायाः उद्देश्यताभावाद् अवान्तरव्यापारविवक्षार्थम्... अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः ...''- सुबो.२।५।१५. अर्थात् श्रौत यागोंमें फलत्वेन अभिमत स्वर्ग होता है अतः केवल देवता उद्देश्य ही नहीं होते, अतः उन्हें अवान्तरव्यापारके रूपमें उद्देश्य बनाया जाता है. द्रव्याहुतिसे प्रसन्न देवता स्वर्गरूप फलप्राप्तिका व्यापार बनते हैं). अतः तन्त्रोंमें परार्थ देवालयोंमें जहां अर्चा-प्रतिमाका पूजन दिखाया गया है वहां न तो पूजनके बाद देवताका विसर्जन किया जाता है न वह मूर्ति पूजनांग देवमूर्ति होती है. अतः श्रौतकर्मोंमें जैसे यज्ञार्थ भिक्षित यज्ञमात्रोपयोगी होता है स्वोपभोगार्ह नहीं, वैसे ही तन्त्रमें जहां पूजनोत्तर स्वयं देवविसर्जन न हो जाता हो वहां देवार्थ याचित-प्राप्त धन देवैकभोगार्ह हो

सकता है, स्वोपभोगार्ह नहीं.

इसमें भी पुनः कोई वस्तु या सामग्री सकृद् उपभोगके बाद पूर्णतः उपभुक्त हो जानेसे पुनः उपभोगार्थ अनिवेदनीय भी हो जाती है. अन्य कुछ असकृदुपभोगसे भी पूर्ण उपभुक्त न होनेसे पुनः पुनः उपभोगार्थ निवेदनीय भी रह सकती हैं. प्रथम प्रकारके देवद्रव्यकी तुलनामें द्वितीय प्रकारके देवद्रव्यकी भिन्न व्यवस्था दिखलाई गई है. यथा –

प्रश्न : देवद्रव्यं[१] तु किं नाथ देवस्वं[२] च किमुच्यते ।
गणान्नं (देवान्नं)[३] निषिद्धं यद् भक्तानां भक्तवत्सलः ।।
उत्तर : यत्कोशे विद्यते किञ्चित् पत्रा(वस्त्रा)लंकारपूर्वकम् ।
लग्नं च भवमूर्तौ च तत्प्रसादेन ममान्तरे ।।
(लग्नं विभवमूर्तौ च प्रसादे 'न ममा'ऽन्तरे !)
विपणे च तदीये च देवद्रव्यं तु विद्धि तत्[४] ।।
नगरग्रामपर्यन्तविषये गोगजादयः ।
शालिसस्येक्षुपुष्पाद्या दासीदासा कुटुम्बिनः ।।
स(त !)त्सम्बन्धं च वाणिज्यं सपुत्रपशुबान्धवम् ।
देवस्वं च विरुद्धं यत् सिद्धानामपि पापकृत् ।।
स्वदत्तं परदत्तं वै यत्नात् तत्परिवर्जयेत् ।
दोषदं चापि माद्यस्मा(क्स्या !)दक्षय्यनरकप्रदम् ।।
प्राक्प्रवृत्तमतस्तस्मिन् निर्बन्धा देवतागृहे ।
प्रयत्नात् पोषणी(यत्वं याति !)यं च यो नूनं यथायथ(थम् !) ।।
प्रवृत्तकार्याकारणात् वैष्णवायतनेषु च ।
प्राप्नोति सुमहद् दोषं राजा राजपदेषु च[५] ।।
. . . . . .
प्रश्न : दानं सम्प्राशनं प्रोक्तं देवान्नस्य पुरा त्वया ।।
तस्याधुना जगन्नाथ निषेधः कथ्यते कथम् ।
उत्तर : प्राक् साधितं च यागार्थं देवतानां प्रयत्नतः ।।

तत्सन्तर्पणपर्यन्तं यावद् देवान्नमुच्यते ।
अन्यथा भक्षणं तस्य यदि मोहात् कृतं भवेत् ।।
प्रायश्चित्तशतैः चीर्णैः शुद्धिर्भवति मानवः ।
मन्त्रसन्तर्पणादन्ते याजिनां यजतां वर ।।
पावनं शुद्धिदं पुण्यं भूतिभृत्यभिवृद्धिदम् ।
भक्षणं यद्यपि प्राप्तं नैवेद्यस्य स सर्वदा ।।
गुर्वादीनां तथान्येषां भक्तानां तत्त्वतोऽब्जज !
तत्रापि साधकानां च निषिद्धं वन्दनं विना ।।
प्रश्न : हेतुना केन भगवन् निषिद्धं साधकस्य च ।
मन्त्रपूतं तु नैवेद्यमत्र मे संशयो महान् ।।
उत्तर : नाप्रार्थितं गृहीतव्यं पुष्पमात्रं कदाचन ।
स वै मन्त्रेण विभवाद् ग्राह्यं केचिद् दिगाजिना (किञ्चिद् द्विजादिना !) ।।
नैवेद्याद्यखिलानां च भोगानां भावितात्मनाम् ।
गुरुणा प्रार्थना कार्या मन्त्रेशस्य पुनः पुनः ।।
स सर्वतः स्वतन्त्रत्वात् तत्सिद्धत्वात् न दोषभाक् ।
. . . . . .
फलपर्यवसानं च सेवार्थं यः समुद्यतः ।
न तेन प्रार्थना कार्या स्वल्पेप्यर्थेनृपस्य च ।।
सम्प्रयच्छते प्रसन्नश्चेत् स्वयं तुष्टमथो यदि ।
प्रसादमिति वै ब्रूयात् शिरसा चाभिनन्दयन् ।।
. . . . . .
मण्डलावयवेशानां बाह्याधारसशक्तिषु ।।
गुर्वादिकालनाथानां दत्तं यद् विभवे सति ।
दद्यात् तद् ब्रह्मचारीणां भक्तानां भवितात्मनाम् ।।
हृदयादिदिगन्तानामंगानां यत् निवेदितम् ।
श्रियादिमूर्तिकान्तानां तथा व्यूहाख्यमूर्तिषु ।।
विहितं पुत्रकाणां तद्दानकर्मणि सर्वदा ।

चक्राद्यायुधजातस्य मन्त्रोपकरणस्य च ।।

. . . . . .

गणचक्रदिगीशास्त्रद्वास्थानां क्षेत्रियस्य यत् ।।

दत्तं तत् क्षेत्रियादीनां वैष्णवानां विभज्य च ।

एतद्विसर्जनाद् पूर्वं विहितं कमलोद्भव ।।

प्रतिषिद्धं च सर्वेषां मन्त्रचक्रे विसर्जिते ।

यस्मादायान्ति भूतानि कोटिशः समनन्तरम् ।।

विष्णुपार्षदपूर्वाणां तादर्थ्येनाब्जसम्भव ।

. . . . . .

दत्तशिष्टमतस्सर्वं दत्तं वाप्यव्ययाक्षयम् ।

समभृत्य च निष्पिष्य ह्यगाधेम्भसि यत्नतः ।।

अर्चासंरुद्धमन्त्राणां दत्तस्य विहितं सदा ।

दानं तदाश्रितानां वै भूतानां पूर्वरूपिणाम् ।।

तत्सेवकानां च तथा नृत्तगेयरतात्मनाम् ।

. . . . . .

तस्मान्मन्त्रेश दृक्पूतं नैवेद्यं पावनं परम् ।

. . . . . .

यद्यप्येवं महत् तस्य तथापि कमलोद्भव ।

प्रदानाच्चोदनाच्चैव श्रेयांस्त्यागो हि पूर्ववत् ।।

न येन लोभो लोकस्य दोषस्योपरि सम्भवेत् ।

भवेत् तल्लाभमुक्तानामतीव विमला मतिः ।।[३]

(श्रीपौष्क.संहि. २०।८४-१२१).

विस्तारभयसे अनुवादके बजाय इस लंबी श्लोकावलीका सारांश यह ज्ञातव्य है कि (१) देवद्रव्य (२) देवस्व तथा (३) देवान्न -तीनों ही मुख्यकल्पतया तो भक्तोंकेलिये स्वोपभोगार्थ उत्सर्गतः वर्ज्य ही हैं. फिर भी अपवादतः कहीं किन्हीं को जो छूट दी है उसे भी न लेकर अपनी लोभवृत्तिपर काबू रखा जाये तो मति विमल रह पाती है.

(१) देवमूर्तिको साक्षात् धराये जाते अथवा धराने लायक देवालयके कोशमें रखे हुए वस्त्रालंकारादि अथवा जो देवमूर्तिको ''न मम'' कहकर धराया गया हो ऐसा प्रसाद भी अथवा देवमूर्तिके विपणमें अवस्थित हो उसे भी देवद्रव्य समझना चाहिये.

(२) स्वदत्त या परदत्त नगरग्राम आदिमें गाय हाथी आदि पशु खेत खलिहान वाटिका गोचरभूमि आदिमें उगे गन्ना तृण पुष्प वनस्पति आदि दासीदास उनके कुटुम्बी मानव तत्सम्बन्धी वाणिज्य आदि जड़द्रव्य या सामग्री जो देवाराधनामें परम्परया उपभोगमें आनेवाली हों उन्हें 'देवस्व' कहा जाता है. इनको अपने उपभोगमें लाना सिद्धों(महाभागवतों)केलिये भी अक्षय्य नरकप्रद पापका जनक ही होता है. इनकी सुरक्षा रखना राजा या राज्यका उत्तरदायित्व है (यह धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष कानून है !).

(३) देवान्न जब तक देवोपभुक्त न हो जाये तब तक सर्वथा अग्राह्य ही होता है. देवमूर्तिकी आराधनामें उपभोगके बाद उपभुक्त प्रसादको यथाकथञ्चित् लेनेका हर किसीको अधिकार नहीं होता किन्तु विभव-व्यूह-श्री-मण्डलके भीतरी अथवा बाह्य आवरणमें अवस्थित चक्रादि आयुध-द्वार्स्थ पार्षद आदिको निवेदित अन्नको कौन किस विधिसे ले सकता है और कौन नहीं कैसे नहीं या कब नहीं ले सकता है - इस बारेमें स्वच्छन्दता बरती नहीं जा सकती है. अन्यथा उपभुक्त प्रसादके ग्रहणमें भी दोष लगता ही है.

सत्सिद्धान्तमार्तण्ड(प्रश्न ५।८)में श्रीगट्टुलालाजीद्वारा उद्धृत नारदवचनके अनुसार भी (१) देवस्व (२) देवद्रव्य (३) देवनैवेद्य (४) देवनिवेदित का भेद भी विष्णुपूजनके सन्दर्भमें ही दिया गया ही है. जैसाकि यहां श्रीपौष्करसंहितामें वचनमें हम देख चुके हैं.

पूर्वप्रकरणमें निवेदन-समर्पण-दानका प्रभेद समझाया ही गया था. तदनुसार जब सकृदुपभोगके बाद निरसनीय अन्नवस्त्रपुष्पादिपर अथवा असकृदुपभोगार्ह सुवर्ण-रजत-पात्र-रत्नालंकार-वस्त्र-गोगजादिपशु-भूमि-क्षेत्र-पण्यादि वस्तुओंपरसे अपना स्वत्व निवृत्त करके निजगृहस्थित या

देवालयस्थित भगवद्विग्रहका स्वत्व कोई स्थापित करता है तब वह द्रव्य देवद्रव्य बन जाता है.

भारुचिने जैसे कि कहा है कि देवतोपभोगकाल क्षणिक होता है, अतः देवस्वत्व केवल सम्प्रदानकालिक अर्थात् क्षणिक ही होता है शाश्वत नहीं – वह यागहोमार्थ मन्त्राहूत देवताओंको लक्ष्यमें रखकर किया गया विधान है. मेधातिथिका भी '' 'प्रतिमा'शब्दप्रयोगवशात् प्रतिमामें गौण देवत्व होता है'' विधान श्रौतकर्मके सन्दर्भमें है. तान्त्रिक कर्ममें प्रतिमागत देवत्व गौण नहीं माना गया है. अतएव जबतक देवप्रतिमा विद्यमान हो तबतक देवस्वत्व भी विद्यमान रहता ही है. अतएव देवार्चनको आजीविका बनानेसे जैसे देवलकता आती है, वैसे ही देवद्रव्य–देवस्वोपभोगसे भी कथञ्चिद् देवलकता आती ही है. देवस्व या देवद्रव्य के बारेमें स्वदत्त–परदत्तका प्रभेद नहीं है, जैसी कि बाललीला विमर्शकारने प्रदर्शित करनी चाही है.

अतएव श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा है – ''यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्. कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च, कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्'' (श्रीमद्भाग. ११।२७।५४–५५). अर्थात् स्वयंदत्त अथवा परप्रदत्त सुरवृत्ति अथवा विप्रवृत्ति का जो हरण करता है वह हजारों वर्ष विष्ठा खानेवाले सुअरकी अथवा विष्ठामें पैदा होनेवाली कृमिकी योनिमें जन्म लेता है. स्वदत्त परप्रदत्त देववृत्ति अर्थात् देवद्रव्य या देवस्व का जो अपहरण करता है, या उसमें सहयोग देता है अथवा (विमर्शसदृश ग्रन्थके प्रकाशनद्वारा) उनका अनुमोदन करता है उसके कर्ताको जो फल मिलता है सो तो मिलता है और अधिक भी मिलता ही है. यहां व्याख्या करते हुए विजयध्वज कहते हैं: ''देवस्वापहरणे महान् दोषः इति आहः 'यः' इति. न केवलं प्रतिमादिपूजाकर्तुः उक्तं फलं साहाय्यकर्तृणां यथायथं फलं भवति''.

स्पष्ट है कि यह सारा सन्दर्भ काली–भैरव–शिवपूजक धाडीओंके लिये नहीं प्रत्युत वैष्णवोंकेलिये ही है. ''वैष्णवद्वारा देवार्थ प्रदत्त गोस्वामी स्वयं ले सकते हैं'' इस मान्यताकी भी यहां कठोरतम शब्दोंमें निन्द्यता ही सिद्ध होती है. न

केवल इतना अपितु देवद्रव्य न खानेपर भी विमर्शसदृश ग्रन्थलेखनद्वारा अनुमोदनका भी फल अतिशय निन्द्य ही माना गया है. जिस देवान्नके देवोपभोगानन्तर उपभोगमें निर्दोषता निरूपित की गई है,वह भी अन्न यदि देवार्थ उत्सृष्ट न हो तभी(अर्थात् देवोद्देश्यक देवस्वामिक या देवालयकोशीय द्रव्यसे सिद्ध न किया गया हो तभी) देवस्वापहार दोषसे हमें बचाता है. अतएव याज्ञवल्क्यस्मृति(आचाराध्याय ६।१६३)में देवकोशोपजीवीकी भी 'सुधाजीवी'के रूपमें निन्दा की गई है.

'देवनैवेद्य'पदमें 'नैवैद्य'पद स्वयं निवेदनक्रियाके विषय होनेके स्वभावको सूचित करता है. अतः व्युत्पत्तिबलसे ही उत्सर्गतया नैवेद्यमें देवस्वामिकता देवनिवेदनसे पहले रहती ही है. अपवादतया, परन्तु, भोगसामग्रीके स्वयं ही देवद्रव्यसे निष्पन्न होनेपर तो वह देवद्रव्य ही रहती है. अन्यथा समर्पित होनेपर देवोपभोगके बाद देवद्रव्यत्व उसमेंसे निवृत्त हो जाता है. अर्थात् सुवर्ण रजत रत्न भूमि क्षेत्र पण्यादि वृत्तिपरसे जब कोई सुवर्णादिके दाताने स्वस्वत्व निवृत्त करके भगवत्स्वत्व स्थापित किया हो तब वे देवस्व बनते हैं. ऐसे देवस्वद्वारा जब भगवानको धरे नैवैद्यका प्रसाद लेना देवस्वापहरण ही होगा. ''प्रसादे 'न ममा'ऽन्तरे'' वचनद्वारा तथा सोनाकी कटोरीके प्रसंगमें तथा संतदास-किशोरीबाई-आशकरणदासजीकी वार्ताओंका भी रहस्य यही था. अतएव श्रीगट्टुलालाजीने ''अथ भगवतः उपायनत्वेन निवेदितं सुवर्णरजतपात्राभरणाश्वभूम्यादिकं तु स्वार्पितं परार्पितं नैव ग्राह्यं, देवस्वत्वात्'' (सत्सि.मार्त. ५।७) कहकर परार्पितकी भी अग्राह्यता स्पष्टतम शब्दोंमे स्वीकारी ही थी परन्तु, अतएव, विमर्शकारको सम्भवतः श्रीगट्टुलालाजी शिष्टत्वेन मान्य नहीं लगते हैं !

मजेदार बात तो यह है: तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी तरह स्वच्छन्द कविकल्पना करते हुए विमर्शकार भी पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपको देव ही न मानते होते, और अतएव भगवत्स्वरूपको उद्देश्य करके प्रदत्त सुवर्णादिको भी देवस्व न मानते होते तो कुछ बात भी बन जाती. उक्त अभिनन्दनपत्र प्रदान करनेके बाद भी तथा स्वयं विमर्शकारको ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही

पूर्णस्वत्व होता है अतः उन्हें उपायनकर्ता (उपायनकर्ता ही केवल क्यों? यदि देवस्व होता है तो किसीको भी नहीं लेना चाहिये : गो. श्या.म.) पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते. (वैसे हकीकत यह है कि आधुनिक पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें सन्मुख भेंटसे ही सारी मन्दिरव्यवस्था चलाई जा रही है) गुरुघरमें देवदर्शनार्थी वैष्णवोंद्वारा ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायन करनेपर गुरु भी उसे ग्रहण नहीं करते'' (विमर्श पृ. १८). इस स्वीकृतिसे फिर गुलांट भी खानी चाही है. वह यों कि ''यहां यह ध्यातव्य है कि ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तु स्वार्पित होनेपर उसे ग्रहण करनेका प्रश्न ही नहीं आता. परार्पित उस द्रव्यको अर्चकके द्वारा ब्राह्मणको दिये जानेपर उसे ब्राह्मण ग्रहण कर ही सकता है'' (विमर्श पृ.१८). क्या खूब नीति अपनाई है !

एक ओर कहा जा रहा है कि देवका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है अतः उपायनकर्ता ले नहीं सकते और गुरुघरमें ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायनको गुरु भी ग्रहण नहीं करते. तब वहां सवाल पैदा होता है – क्यों नहीं करते ? परार्पितका भी ग्रहण तो किया ही जा सकता है. फिर सोनेकी कटोरीकी वार्तामें श्रुत हेतु ''वह देवद्रव्य थी''का त्याग करके सर्वथा अश्रुत हेतु – ''तब प्रश्न आता है कि उस सामग्रीसे सम्पन्न महाप्रसादको श्रीमहाप्रभुजीने वैष्णवोंको क्यों नहीं दिया ? आज हमने अपनी ओरसे श्रीठाकुरजीको आरोगाया नहीं. उत्तम शिष्य गुरुकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नताका तथा गुरुके दुःखमें अपने दुःखका अनुभव करते हैं. . . अतएव श्रीमहाप्रभुद्वारा उन्हें उस प्रसादको ग्रहण करानेका प्रसंग ही नहीं आता'' (विमर्श पृ.२१) – द्वारा सरकसी करतब जैसे समाधान देनेकी क्या आवश्यकता ? कहीं ऐसा तो नहीं कि विमर्शकार सन्मुखभेंटमें ठाकुरजीका 'पूर्ण स्वत्व' और असन्मुख(महेताखाना)भेंटमें 'अपूर्ण स्वत्व' ध्वनित करना चाह रहे हों ? यदि यह हकीकत हो तो पूर्णता और अपूर्णता की परिभाषा देनी चाहिये थी. अन्यथा देवके पूर्ण स्वत्व स्थापित होनेके बावजूद परार्पित द्रव्यको स्वयं उपयोगमें लाना या कीर्तनिया आदिको देनेका अधिकार मान लेना पुनः देवके अपूर्ण स्वत्वमें पर्यवसित होगा.

लगता है कि विमर्शकार अपनी मानसिक असमंजसताके कारण देवद्रव्यकी सुसमंजस व्याख्या करनेसे कतराना चाहते हैं. अतएव ''ब्राह्मण उसे

ले सकता है''की भूमिगत सुरंगसे भाग जानेका उपाय घड़ रहे हैं. विमर्शकारद्वारा एतदर्थ उद्धृत वचनोंका विशोधन करना, अतएव, आवश्यक हो जाता है. यथा –

(क) ''देवे दत्वा च दानानि देवे दत्वा च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्.'' यह वचन तो सन्दर्भोल्लेखरहित होनेके कारण विमर्शकारका मनघड़ंत भी हो सकता है. अतः विचारणीय नहीं है.

(ख) ''तन्माल्यं चैव तद् द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' (विष्वक्. संहि. २०।३५३). यह वचन उपायनीकृत पूजोपयुक्त द्रव्यके ही बारेमें है और पूजार्थ समर्पित द्रव्यके बारेमें नहीं – इसमें प्रमाण क्या ? यदि मात्र पूजोपयुक्त द्रव्यको उपायनीकृत द्रव्य ही माना जाता हो तब तो सन्मुख भेंटकी तरह सारी असन्मुख भेंट भी उपायनीकृत होनेसे ठाकुरजीके पूर्णस्वत्ववाली सिद्ध हो जायेगी, जिनके उपभोगसे देवलकता सिद्ध होगी.

(ग) ''त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः'' (पद्म. पुरा. पाता.खं. ८०।६५). यहां तो विमर्शकारने अकाण्डताण्डवकी पराकाष्ठा प्रदर्शित की है ! सम्पूर्ण वचन यों है: ''दत्वा नैवेद्यवस्त्रादि नाददीत कथञ्चन त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः.'' स्पष्ट है कि यह वचन स्वदत्त परदत्त नैवेद्यवस्त्रादिके पुनर्ग्रहणके निषेधार्थ ही प्रवृत्त हुआ है, न कि ग्रहणार्थ. अर्थात् विष्णुके भक्तकेलिये तो कमसे कम पुनर्ग्रहण कथमपि करना नहीं चाहिये. जो अग्राह्यताका प्रतिपादक वचन है उससे ग्राह्यताका झांसा देना अकाण्डताण्डव नहीं तो और क्या ?

(घ) ''देवे देयानि दानानि देवे देया च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्...'' (ब्रह्मवै. पुरा. श्रीकृष्णजन्म. १२२।२०). यह ''मुखादग्निश्च'' (पुरुषसूक्त)की तरह ''ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्'' (पुरुषसूक्त) कल्पका अवलम्बन कर अग्निकी तरह ब्राह्मणको भी 'देवमुख' माननेके सन्दर्भमें किया गया विधान है. जिसके चलते साक्षात् ठाकुरजीको भोग धरनेके बजाय ब्राह्मणको भोग लगाया जा सकता है. परन्तु क्या पुष्टिमार्गमें ? विमर्शकार जवाब दें ! वैसे ही यहां भी जो दान या दक्षिणा है वह देवसम्प्रदानक या देवपूजानिमित्तक – यों

इनमेंसे किस अर्थमें लेनी इसका विवेक रखना विमर्शकार भूल गये हैं. ऐसी स्थितिमें ''यद् यद् देवे देयं तद् तद् देवस्वमेव भवति'' व्याप्तिनियम स्वीकारते हों तो छप्पनभोग-पलना-गलभोगादि निमित्तवश दर्शनार्थी जनताद्वारा देय द्रव्यसामग्री भी देवस्व होगी. तब तो उसके अपहारसे पू.पा.गो.म.श्रीओंको देवस्वापहारी देवलक स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा देवपूजार्थ प्रदत्त दान देवस्वामिक होनेकी तरह पूजाकर्तृस्वामिक भी हो ही सकता है. अन्यथा पूजाकर्ताका दानकर्ममें भी कर्तृतया अधिकार सिद्ध ही नहीं होगा. अतः पूजाकर्ता अपने स्वामित्वकी जिन सामग्रीओंसे पूजा कर रहा है वह स्वयंके उपभोगमें न लाये और ब्राह्मणको दे दे - यही अर्थ यहां निकलता है. तो सिद्ध हुआ कि जो ब्राह्मणको देय दान एवं दक्षिणा है वह देवनिमित्तक पूजाकर्ताके स्वामित्वकी है.

(ङ) ''पूजोपयुक्तं यद् द्रव्यं हेमरत्नाद्यनुत्तमं तत्सर्वं गुरवे दद्यात्...'' (शिव. पुरा. उत्त.वा.सं. ३२।६९). पुनश्च पूजोपयुक्त सर्वविध द्रव्य देवद्रव्य ही होते हों ऐसा न होनेसे तथा दाताका संकल्प ही उसे देवद्रव्य बनाता होनेसे विमर्श भ्रान्तिपूर्ण है.

इन (घ-ङ) दोनों वचनोंके बारेमें यह और अवधेय है कि पूजित देवके विसर्जनके बाद स्वयं देवकी ही पूजास्थलपर सन्निधि रह नहीं जाती तो तत्स्वामित्वनिरूपित देवद्रव्य भी कहांसे रह जायेगा? पुष्टिमार्गमें तो देवविसर्जनकी प्रक्रिया ही नहीं अतः देवार्थ याचित परद्रव्यसे देवस्वामित्व भी निवृत्त नहीं हो पायेगा. उदाहरणार्थ कुछ ब्राह्मणवृत्तियां प्राचीन कालमें किसी ब्राह्मणको आजीवन दी जाती थी तो कुछ वृत्तियां आनुवंशिक भी. आजीवन प्रदत्त वृत्ति सम्प्रदानीभूत ब्राह्मणके मरणके बाद उसके वंशजोंके स्वामित्वकी नहीं रहती थी; जैसे आज पॅन्शन. जबकि आनुवंशिक वृत्तियां सम्प्रदानीभूत व्यक्तिके मरणके बाद उसके वंशजोंको भी अनुप्रदेय हो जाती थी; जैसे एन्यूईटी. वंशके ही समाप्त होनेकी तो कथा और हो सकती है. जैसे श्रीनाथजीके रथके रुकनेपर सिंहाड़ गाम तत्कालीन गोस्वामी तिलकायित महाराजश्रीको जबतक श्रीनाथजी वहां बिराजते हैं तब तक निजस्वामिकतया उपभोगार्थ सशर्त भेंट किया गया था. घसियाड़ गाम जबकि श्रीनाथजीको भेंट किया गया होनेसे वहां रहकर श्रीनाथजीकी सेवा करनेपर तत्कालीन बहुजीको वंशोच्छेदकी भीति हुई थी सो

पुनः सिंहाड़ पधराये थे. यह ऐतिहासिक तथ्य है.

(च) ''रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां...'' (मे. तं. १०।६५५). इस नियमको बन्धनकारी माननेपर स्वयं विमर्शकार अपने ठाकुरजीको प्रतिदिन भेंट धरते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वैष्णवसे यह अपेक्षा क्यों रखी जाती है; यदि देवद्रव्यलालसा न हो तो !

कितने शिथिल वाचनिक आधारपर कितने वज्रलेपायित दोषोंका निराकरण विमर्शकारने करना चाहा है – यह विस्मयजनक बात है !

वैसे देवस्व हो या देवद्रव्य, देवनैवेद्य हो या देवनिवेदित, किसी तरहके निर्धारण करनेकेलिये ''दाताद्वारा देवार्थ स्वत्वपरित्यागपूर्वक देवस्वत्व-स्थापनानुकूल संकल्पका विषय होना ही'' देवद्रव्यका सामान्य लक्षण है. नैवेद्य जो इस तरहके द्रव्यसे धरा गया न हो तो देवार्थ विनियोगके बाद उसमेंसे देवस्वत्व निवृत्त हो जाता है. उपभोगजन्य स्वत्वनिवृत्तिके कारण वह भक्तके लिये उपभोगार्ह भी बन जाता है. परार्पित होनेपर अर्पणकर्ताकी अनुमति आवश्यक होती है (गुरुकी नहीं) यह सत्सिद्धान्तमार्तण्ड(प्रश्न ५।१७)के ''यत्र प्रतिमादौ बहवः स्वस्वसत्ताकवस्तुनिवेदकाः भवेयुः तत्र स्वयमर्पितमेव स्वेन उपभोक्तव्यं नतु निवेदकानभ्यनुज्ञातं परार्पितमपि'' (अर्थात् जहां बहुत सारे निवेदनकर्ताओंने अपने-अपने स्वत्ववाली वस्तुओंका प्रतिमादिको निवेदन किया हो वहां अपनेद्वारा निवेदित वस्तु ही स्वयं प्रसादत्वेन उपभोगार्ह होती है; परनिवेदित वस्तु पराई अनुमतिके बिना उपभोगार्ह हो नहीं सकती, परस्व होनेसे) वचनसे सिद्ध है.

सर्वप्रथम इस विवेकका पालन पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें आज कहां होता है ? दूसरे विमर्शकार कहते हैं – गुरुघरमें गुरुके ठाकुरजीको कुछ भी सन्मुख भेंट या असन्मुखभेंट-सामग्री पराये दर्शनार्थीओंद्वारा धरते ही गुरुका उसपर अपूर्ण या पूर्ण स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, सो गुरु चाहे जो कर सकता है. जबकि दर्शनार्थी निवेदकोंकी अनुमतिकी कथा तो दूर, अनेक बार नाराजगी प्रकट होनेपर भी आधुनिक पू.पा.गो.म.श्री अपने कामकाज या शोख-मौजको पूरा करते हैं. निवेदक दर्शनार्थी कहते हैं – उनके निवेदितद्रव्यसे चलती हवेलिओंको शॉपिंग

कॉम्प्लॅक्स नहीं बनाना चाहिये था. और पू.पा.गो.म.श्री कहते हैं – हमारी अनुपस्थितिमें मन्दिर पुनर्निर्माण समितिके सदस्योंने शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स बना दिया है, हम क्या करें ! जैसे शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स कोई अल्लाउद्दीनके जादुई चिरागसे पलभरमें बन न गया हो !

मूलमें श्रीगट्टुलालाजीका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि देवालयमें अनेक निवेदकोंके द्वारा प्रदत्त या अर्पित नैवेद्यादि अर्पणीय पदार्थके बारेमें प्रत्येक निवेदकका भाव या संकल्प ही प्रमाण होता है. अर्थात् नैवेद्य उसने स्वसत्ता निवृत्त करके भगवन्मूर्तिको निवेदित किया है या स्वसत्ता रखते हुए. अतः उसकी अनुमतिके बिना लेनेसे देवस्वापहार या परस्वापहार का महद्विगर्ह्य पातकदोष लग सकता है. इसे विमर्शकार महद्विमृग्य उद्धारकभक्तिके प्रकारमें खपाना चाहतें हो तो वह कथा शास्त्रमूलक नहीं परन्तु स्वार्थमूलक है.

(ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप

सम्प्रदानीभूत देवस्वरूपके विषयमें यह अवधेय है: तान्त्रिक देवार्चन, क्योंकि (१) मानसपूजन (२) होमात्मक पूजन (३) बेर = प्रतिमापूजन (४) मण्डलाद्यर्चन –यों अनेक प्रकारोंसे सम्पन्न किया जा सकता है, अतः पूजनप्रकारके स्वरूपानुरोधवश देवस्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं. फलरूपेण तत्पूजनार्थ प्रयुक्त द्रव्य–सामग्री तथा पूजावशिष्ट नैवेद्य भी अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा –

(१) मानसपूजनमें पूज्य देवकी प्रतिमाकी तरह पूजांगद्रव्य भी मानस ही होंगें. अतः देवद्रव्य बनता ही नहीं; और बनेगा भी तो मानसद्रव्य ही, बाह्यवस्तुरूप द्रव्य नहीं.

(२) होमात्मक पूजनमें पूजनीय देव क्योंकि मन्त्रमय होता है, जिसे देय हविद्रव्यकी आहुति मन्त्रोच्चारपूर्वक देवमुखतया मान्य अग्निकुंडस्थित मन्त्राहित अग्निमें देनी होती है, अतः देवार्थ उत्सृष्ट आहुति तो स्वयं भस्म ही हो जाती होनेसे देवद्रव्यके अन्यके द्वारा उपभोगकी कथा ही अप्रासंगिक बन जाती है. देवार्थ उत्सृष्ट द्रव्यप्रदानके बाद यज्ञोच्छिष्ट द्रव्य यद्यपि देवद्रव्य नहीं होता, फिर

भी उसे ग्रहण करनेका अधिकार द्विजाद्विज सभीका नहीं होता. अतः यथाविधि यज्ञोच्छिष्ट या होमोच्छिष्ट प्रसादका वितरण धर्म्य माना जाता है. यह अधिकारीविशेषकेलिये विहिततया ग्राह्यता तथा अधिकारीविशेषकेलिये निषिद्धतया अग्राह्यता उसके देवस्व होनेका प्रमाण नहीं होती.

(३) प्रतिमापूजनमें: आवाहन-पूजन-विसर्जनकी प्रक्रियाद्वारा जब पूजनीय देवका विसर्जन हो जाता है तब पूजास्थल या पूजनानुष्ठान में स्वयं देवके ही विसर्जित हो जानेके कारण तद्देवनिरूपित स्वामित्व पूजांगभूत द्रव्य-सामग्रीपर रह ही नहीं जाता. ऐसी स्थितिमें देवद्रव्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? और यदि कुछ उत्पन्न हुआ भी तो वह देवविसर्जनके साथ ही विसर्जित भी हो ही जाता है – ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. प्रतिमामेंसे देवत्व यदि विसर्जित नहीं किया गया हो तो, वह पूजाकर्ताके निजगृहमें स्थित हो या परार्थ देवालयमें, उस प्रतिमाके पूजनार्थ समर्पित स्रग्गन्धवस्त्रालंकारस्वर्णरजतनैवेद्यादिका भक्त उपभोग कर सकते हैं. यदि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक प्रतिमास्वत्वस्थापनानुकूल संकल्प किया गया हो तो स्वयं या अन्य भी कोई उसका उपभोग कर नहीं सकते, दत्तापहारदोषका उत्पादक होनेसे. यही नियम ''यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत ... भूयसि तत्फलम्'' (भाग. ११।२७।५४-५५) तथा ''देवस्वं च विरुद्धं यत् ... स्वदत्तं परदत्तं वा यत्नात् तत् परिवर्जयेत्'' (श्रीपौष्क.संहि.) वचनोंमें प्रतिपादित हुआ है.

''देवे देयानि . . . ब्राह्मणे दद्याद्'' – ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' – ''पूजोपयुक्तं यद्द्रव्यं तत्सर्वं गुरवे दद्याद्'' वचनोंमेंसे तीनों ही विधिओंमें 'दद्याद्' और 'दापयेत्' द्वारा सूचित दानविधि या दापनविधि में देय सामग्रीका स्वामी ही दानकर्ममें अधिकारी है, गुरु नहीं. इससे सिद्ध होता है – इन वचनोंद्वारा भी यजमानका ही स्वत्व इन वचनोंमें विवक्षित है,ब्राह्मण गुरु या देवमूर्ति का स्वत्व नहीं. यथा पाणिग्रहणविधिमें कन्याका पिता ही कन्यादानार्थ अधिकारी होता है, वर या पुरोहित नहीं. दानविधिद्वारा स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादनानुकूल संकल्पवशात् पाणिग्रहणार्थ वर ही अधिकारी होता है, अन्य कोई पुरोहित या वरके पिता आदि नहीं. अतः विधिनिर्दिष्ट स्वत्वानुमित

देवद्रव्यता इन वचनोंसे निवृत्त हो गई. इसी तरह क्रमशः ब्राह्मण भक्त तथा गुरुकी स्वत्वोत्पत्तिके अनुकूल संकल्प करनेकी ही ये विधियां स्वयं इस बातका प्रमाण है कि इन पूजांगभूत द्रव्योंके बारेमें यजमानको देवतोद्देश्यक स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक देवस्वत्वोत्पत्तिका संकल्प ही नहीं करना है. अतः स्वप्रदत्त देवद्रव्यके स्वपरोपभोगके निषेधवचनोंका विमर्शकाराभिमत अन्यथानयन इन वचनोंकी दुहाई देकर शक्य ही नहीं है.

तिसपर भी ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेद्'' वचनमें 'एव'कारसे व्यावृत्त्य कौन-कौन हैं यह भी जान लेना एक मज़ेदार बात होगी. क्योंकि ''भक्तोंको ही दिलवाना चाहिये'' कहनेपर ''अन्योंको नहीं'' यह अर्थ निकलता है. और वे अन्य कौन हैं इसका निरूपण इसी प्रसंगमें यों मिलता है –

मूल : **काकश्वानादिजन्तूनां पाषण्डिनां तथैव च ।**
वेदविक्रयकानां च वेदनिन्दकमेव च ।।
शूद्रान्नतत्पराणां च नास्तिकानां विशेषतः ।
एवमादीनिजातीनां भक्षणार्थं न दापयेत् ।। (वहीं ३५४-३५५).

अनुवाद : कौआ कुत्ता आदि जन्तुओंको पाषण्डी (द्र. ''लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्व... सम्पादकत्वात्'') वेदविक्रय करनेवाले, वेदनिन्दकों, शूद्रान्नतत्पर (जैसे बहुधा हम गोस्वामी अपनी हवेलिओंके भण्डारोंमें अद्विजोंसे घी-तैल-दाल-आटा-चावल-गुड़-चीनी स्वीकार लेते हैं) नास्तिकों या ऐसे जातिवालोंको भक्षणार्थ नहीं देना चाहिये.

ऐसी स्थितिमें भक्तोंको प्रसाद दिलवा देनेकी तान्त्रिक आज्ञाका लाभ हम गोस्वामिओंको मिल सकता हो ऐसा लगता नहीं है.

आगे चलकर ३५८-३६०वी कारिकाओंमें कैसे भक्तोंको देना उसके अन्तर्गत भी त्रैवर्णिक द्विजातिओंको ही दिलवानेकी आज्ञा है. तो हमारे मन्दिरोंमें क्या वह नियम पाला जाता है, जब हम प्रसादका विक्रय या समाधान करते हैं ?

जबकि वहां स्पष्ट ये शब्द आये हैं : ''तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वर्जितानां न दापयेत्'' (वहीं ३६०). अर्थात् किसी भी तरह वर्जितोंको नैवेद्य मिल न जाये उसकी अत्यन्त सावधानी रखनेको कहा गया है. वर्जितोंमें हम नहीं है यह तो हम कह ही नहीं पायेंगें. इस तरह विमर्शकारद्वारा प्रदत्त वचन विमर्शकारके मतका कैसे निरसन कर रहा है – यह चमत्कार हमने देखा !

इस प्रसंगमें यह भी देख लेना अनुचित नहीं होगा कि तन्त्रशास्त्रने इस विषयकी सम्पूर्ण व्यवस्था क्या–कैसी निरूपित की है.

नारदीयसंहितामें यह निरूपण मिलता है कि अर्चनार्थ सम्पादित हविर्मेंसे एक (क)भाग अर्चा = मुख्यप्रतिमाको निवेदित करना चाहिये तथा उस नैवेद्यमेंसे एक चतुर्थांश निवेदित प्रसाद विश्वक्सेनको भोग लगाना चाहिये. तीन चतुर्थांश गुरु दीक्षित यति तथा द्विज वैष्णवोंकेलिये (यह नियम पुष्टिमार्गमें पाला नहीं जाता तो भक्तोंको देनेके नियमका लाभ हम पुष्टिमार्गीओंको कैसे मिल पायेगा ?) रखना चाहिये. द्वितीय (ख)भागसे होम करना चाहिये. जिस होमकी आहुतिओंका अवशिष्ट अंश द्विजशिष्योंको देना चाहिये. (यह होमप्रणाली हमारे यहां है ही नहीं) तृतीय (ग)भाग प्रथमावरण देवताओंको भोग लगाना चाहिये. चतुर्थ (घ)भाग यजमानके जो दीक्षित बन्धु–बान्धव हों उनके साथ यजमान स्वयं ग्रहण कर सकता है. (हमारे मन्दिरोंमें दीक्षितोंको ही प्रसाद मिले इसकी भी सावधानी कहां रखी जाती है ? . द्र. नार.संहि. १२।५३–५७).

न केवल इतना अपितु हविःशेषसे ही शरीरयात्रा अनिवार्य बताई गई है. जो जिस मूर्तिकी अर्चना करता है उसे उस मूर्तिके हविःशेषका ही भोजन करना चाहिये. क्योंकि दूसरे किसी व्यक्तिका अन्न खानेपर पूजाफल पूजाकर्ताके बजाय पूजाकर्ताने जिस व्यक्तिका अन्न खाया हो उसे मिल जाता है (नार.संहि. ११।९१–९३).

जो नैवेद्य सामग्री सिद्ध की जाती है उसमेंसे तीनचतुर्थांश देवार्थ होता है, जो पूजनकर्ता यजमानको नहीं मिलता. केवल एकचतुर्थांश अनिवेदित हविःशेष ही यजमान और उसके बन्धु–बान्धव ग्रहण कर सकते हैं. ऐसी स्थितिमें मुखिया–

भीतरिया आदिको हम अर्चक मानतें हों तो उन्हें ठाकुरजीके सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री दे देनी चाहिये. सेवाके यजमान हम गोस्वामिओंको भोग न धरी हुई अवशिष्ट सामग्री ही ग्रहण करनी चाहिये. यदि हम गोस्वामी अपनेआपको पुजारी मानते हों और वैष्णव दर्शनार्थीओंको यजमान, तो कमसे कम उन्हें तो सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री देनी नहीं चाहिये. इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्रागमिक अर्चकको जहां अर्चनासे पूर्व या पश्चात् परान्नभोजन निषिद्ध हो वहां सेव्यसन्तोषजनिका सेवाका बहाना बनाकर नेगभोगके मिथ्या नियमोंका आडम्बर करके द्विजाद्विज स्वमार्गीय-परमार्गीय सभी दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे लड्डु-पूड़ी-मठड़ीका चक्कर चलाना शास्त्रीय नहीं अपितु घोर निन्दनीय कृत्य ही ठहरता है.

यदि पूजोपयुक्त द्रव्योंको इन वचनोंके आधारपर लेना हो तो इन वचनोंमें बंधना पड़ेगा. यदि बंधना न हो तो इन वचनोंसे मिलते लाभके भी अधिकारी हम नहीं रह जायेंगें. और न हमारी सेवाप्रणाली ही और न हमारे अद्विज शिष्य ही.

(४) मण्डलाद्यर्चनमें पूजनीय देवताके पूजनके बाद विसर्जन हो जानेसे तन्निरूपित देवस्वत्व पूजोपयुक्त द्रव्योंमें आता ही नहीं है, जो कि पूजासे पहले हो सकता था.

पूजनीय देवताके स्वरूपविचारके प्रसंगमें अतः स्वार्थप्रतिष्ठा अथवा परार्थप्रतिष्ठा, तथा ऐसे देवका स्वतः अर्चन अथवा परतः आचार्य, गुरु, ऋत्विक् द्वारा अर्चनके भेदोपभेदोंको सरलतासे बुद्धिगत करनेकेलिये इस सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

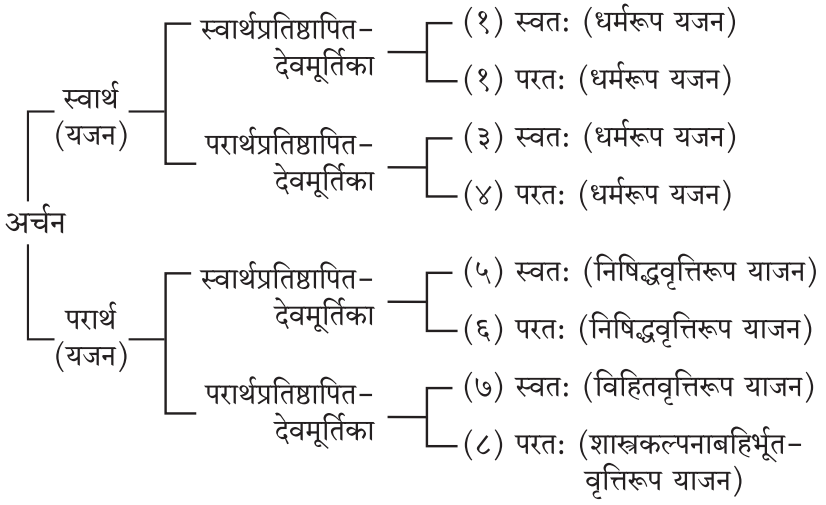

(१) इसमें इस प्रथम कल्पमें भगवदर्चनविधिका जानकार अर्चक स्वगृहमें स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका पूजन स्वार्थ, अर्थात् स्वधर्मतया ही, करता है.

(२) इस कल्पमें यजमान भक्तिमान होनेपर भी भजनविधिका या तो विज्ञ नहीं अथवा रोगादि उपद्रववशात् असमर्थ हो जानेसे स्वतः पूजन करनेमें समर्थ रह नहीं गया हो ऐसा है. अतः उसे परतः पूजन करवाना पड़ता है. एतदर्थ आचार्य गुरु या ऋत्विक् ब्राह्मणका वह वरण करके तदर्थ उन्हें दक्षिणादि प्रदान करता है. विष्वक्सेनसंहितामें अतएव कहा गया हैं: ''कुञ्जरं वा तुरंगं वा ग्रामं दासीगणः तथा गाश्चैव विविधं वस्त्रं हिरण्यं वापि शक्तितः आचार्याणां तु देयं स्यात् यथावित्तानुसारतः (विष्वक्.संहि. २२।१९१-१९२). इसी तरह विमर्शकारद्वारा उद्धृत वचन ''वृत्तिं कृत्वा तु विप्रेण दीक्षितेन विधानतः अन्येन पूजयेद् देवमशक्तः स्वयमर्चने'' (विमर्श पृ.४७) भी अवधेय है. इसी कल्पके सन्दर्भमें यत्र-तत्र तन्त्रशास्त्रमें कहीं वृत्त्यर्थ अर्चनतया तो कहीं याजनतया इसे ब्राह्मणकी वृत्तिके रूपमें मान्य किया है. जो ब्राह्मण आर्त्विज्य या अर्चनविधिमें आचार्यत्व करता है, वह अपना स्वधर्मरूप भगवदर्चन वृत्त्यर्थ नहीं करता,

जैसाकि हम गोस्वामी करते हैं, क्योंकि वह तो कल्पनातीत अधःपात है. यह तो याजन है, अर्थात् वृत्त्यर्थ भगवदर्चन करवाना न तो स्वधर्मरूप यजनका विकल्प है और न अनुकल्प ही, प्रत्युत स्वधर्म भलीभांति निभ पाये एतदर्थ शास्त्रद्वारा नियत ब्राह्मणकी नित्यवृत्ति है.

(३) इस कल्पमें परार्थ प्रतिष्ठापित प्रतिमाकी पूजाका प्रकार है. जैसे जगदीश पंढरपुर श्रीरंग तिरुपति वरदराज बदरीनाथ द्वारकाधीश रणछोड़रायजी आदि परार्थ देवालयोंमें; महाप्रभुके ही शब्दमें, ''जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः'' (त.दी.नि. सर्वनि. २५५), पूजन किया जा सकता है. इसी शास्त्रीय कल्पको लक्ष्यमें रखकर पूर्णमल्ल क्षत्रियको देवालयनिर्माण तथा श्रीनाथजीके श्रीअंगपर चंदन धरानेकी अनुज्ञा श्रीमहाप्रभुने दे दी थी.

(४) इस कल्पमें पूर्वोक्त परार्थप्रतिष्ठापित देवालयोंमें वहां नियुक्त अर्चकोंद्वारा स्वार्थपूजन करवानेका प्रकार है, इन अर्चकोंको दक्षिणादानपूर्वक. यह शास्त्रानुमोदित होनेपर भी मर्यादामार्गीय प्रकार है. पुष्टिमार्गीय था नहीं परन्तु अब अर्थलोलुपतावश हमने अपना तो रखा है !

(५) स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका परार्थपूजन, सो भी आजीविकाके उपार्जनार्थ ! शान्तं पापं !! यही तो वह दुष्कर्म है जिसकी उपमा प्रभुचरणने मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके उपयोगसे दी है !!! विमर्शकारने ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम देवस्वग्राहकोपि च'' जो वचन उद्धृत किया है वह इसी कल्पपर पूर्णतया लागू होता है.

विमर्शकारने ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि-सम्पादकत्वात्'' वचनको पूर्वपक्षांगतया उद्धृत करके उसके समाधानतया ''उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा'' - ''वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वं'' वचनोंका अवलम्बन लेकर सेवाके दम्भको ही केवल दोषरूप मानकर कुशकाशावलम्बन करना चाहा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी, परन्तु, प्रभुचरणद्वारा की गई कठोरतम शब्दोंमें निन्दाके बावजूद वृत्त्यर्थसेवाकी वकालत करना भी एक गर्ह्यतम दम्भ

कहा जा सकता है कि नहीं – यह प्रत्येक निष्ठाशील पुष्टिमार्गीयकेलिये विचारणीय विषय है ही !

इसी तरह देवलकताके स्वरूपका विचार करते हुए विमर्शकारने तीन भेद (पृ. ३९–४७ पर) बताये हैं: (१) कर्मदेवलक (२) कल्पदेवलक तथा (३) शुद्धदेवलक. इनमें ''आगमोक्तविधानज्ञो रुद्रकाल्युपजीवकः शुद्धदेवलको नाम सर्वकर्मविगर्हितः'' (विमर्श पृ.४२). इस वचनको इस बातका प्रमाण माना कि रुद्रपूजक या कालीपूजक ही केवल देवलक होते हैं. वस्तुतः ऐसा नहीं है. क्योंकि तब कर्मदेवलक और कल्पदेवलक से शुद्धदेवलकका भेद ही सिद्ध नहीं होगा. क्योंकि देवलक केवल रुद्र–कालीके पूजक ही ठहरेंगे.

ऐसी स्थितिमें ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः'' जैसे सामान्य वचन भी वृत्त्यर्थ विष्णुपूजा करनेवालोंके बारेमें न होकर वृत्त्यर्थ रुद्र–कालीपूजन करनेवालोंके ही बारेमें ठहरेंगे. अतः यह निर्णय विमर्शकारने कैसे ले लिया यह समझमें नहीं आता ! क्योंकि सामान्य वचन देवलकोंके तीनों प्रकारोंका संग्राहक होना चाहिये था – केवल शुद्धदेवलकोंका नहीं.

अतएव ''शर्वं सूर्यं तथा चन्द्रं दुर्गादी रौद्रदेवता योऽर्चयेत् पणपूर्वं तु स वै देवलको स्मृतः'' (विमर्श पृ.३९) वचन भी इस बातका प्रमाण है कि केवल रुद्र–कालीपूजनको आजीविका बनानेवाले ही नहीं प्रत्युत सूर्य–चन्द्रके पूजनको आजीविका बनानेवाले भी देवलक ही होते हैं. उल्लेखनीय है कि गोस्वामिओंके यहां विवाहमें ग्रहशान्तिकर्ममें चन्द्रसूर्यादिग्रहोंका पूजन गोस्वामिवर्गके उपाध्यायजी करवातें ही हैं, जिसकी दक्षिणा भी लेते ही हैं, पणपूर्वक. एतावता वे यदि देवलक हो जाते होते, अर्थात् हव्य–कव्यमें बहिष्कारार्ह हो जाते होते, तो उन्हें उपाध्याय बनाया ही क्यों जाता ?

स्पष्ट है कि इन देवोंका स्वधर्मरूप यजन या पूजन उपाध्यायजीकी आजीविका नहीं है. परन्तु ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन उपाध्यायजीकी आजीविका है, जो शास्त्रानुमोदित ही है. इसी तरह रुद्र–काली–गणपति–कार्तिकेयादि

देवताओंके भी पूजनकर्ता उनका स्वधर्मतया पूजन करते हों एतावता देवलक नहीं बन जाते. न किसी दूसरे शिवादि देवताओंके भक्तोंको शास्त्रविहित ब्राह्मणवृत्तितया याजन करवानेमात्रसे ही उनमें देवलकता आती है. गोस्वामिओंके विवाहकर्ममें रुद्रको भी आहुति उपाध्यायजी दिलवाते ही हैं; एतावता वे देवलक नहीं बन जाते. देवलकता आती है गोस्वामिओंकी तरह स्वधर्मको आजीविकाका उपाय बनानेपर. क्योंकि इसे ही 'देवपूजनका दम्भ' कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि ''चण्डिकायाश्च दुर्गाया ज्येष्ठाया भैरवस्य च रुद्रस्य पूजकाः ये तु ते वै देवलकाः स्मृताः'' (विमर्श पृ.३९) वचनसे भी न तो चण्डिकादि देवताओंके पूजनको स्वधर्मरूप यजनतया करनेवालोंमें और न ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन करनेवालोंमें ही देवलकत्व दोष आता है. देवलकत्वदोष आता है चण्डिकादि देवताओंके स्वस्वधर्मरूप पूजनको आजीविकार्थ उपाय बनानेवाले दम्भिओंमें ही.

अतएव ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' (विमर्श पृ.३९) वचनमें ''येन केन प्रकारेण''की छूटमें दम्भ या पाषण्ड की छूट दी गई हो – ऐसा तो माना नहीं जा सकता. अतः ''येन केन प्रकारेण''का अर्थ – स्वधर्मतया यजन अथवा स्ववृत्तितया याजन ही लेना चाहिये. अर्थात् यजनको याजन बनाना अथवा याजनमें यजनका सन्तोष मानना ही दम्भ है! इस वचनमें यजनकी विष्णुसमाराधनरूपता तो निर्विवाद है परन्तु याजनको भी जो विष्णुकी आराधनाका दरज्जा दिया जा रहा है वह ''स्व(वर्णाश्रम)कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'' न्यायसे समझना चाहिये. अन्यथा वह दम्भपर्यवसायी होगा ही.

यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वयं शास्त्रतः ही जब यजन स्वधर्मतया तथा याजन स्ववृत्तितया विहित ही है तब कौन ऐसा मूर्ख होगा जो याजनके देवलकत्वापादक होनेकी शंका कर सकता हो! ऐसी स्थितिमें ''तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन अप्रसक्त प्रतिषेध हो जायेगा!

यहां, परन्तु, धैर्ययुक्त चित्तसे विचारणीय यही है कि कोई वैष्णव स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनमें केवल तत्पर हो अथवा कोई वृत्तिकर्शित प्रतिमाके बाह्यपूजनमें असमर्थ हो (त्यागी-संन्यासी-वानप्रस्थ-वैखानस या अकिंचन होनेके कारण) ऐसा भक्त यदि शास्त्रविहित आजीविकारूप याजन = परार्थ विष्णुपूजनमें ही तत्पर हो एतावता उसे विष्णुपूजनका दम्भ करनेवाला नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि ऐसे अकिंचन भक्त स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनके मानसप्रकारका अवलम्बन भी कर सकते हैं, तथा आजीविकार्थ शास्त्रविहित याजन = परार्थ विष्णुपूजन भी कर ही सकते हैं. अतः इस तरह प्रसक्त दम्भकी आशंकाका निरसन यहां किया गया है. हम गोस्वामिओंकी तरह परन्तु सेव्यसन्तोषजनक भजनका बहाना बनाकर स्वधर्मरूप भगवद्भजनको आजीविकाका उपाय बनाना अवश्य ही दम्भ है. मंगला-पलना-राजभोग-फूलमण्डली-हिंडोला-कुंडवारा-छप्पनभोगके सार्वजनिक विज्ञापन छाप छापकर वित्तजासेवाकी सार्वजनिक याचना करना निश्चय ही पूर्ण पाषण्डिता है; ऐसा पाषण्ड जो ''अर्थार्थी कालनिर्देशी यो देवं पूजयेत् सदा कर्मदेवलको नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः'' (विमर्श.पृ.४१) वचनके विषयीभूत कर्मदेवलक हमें सिद्ध करता है. आश्चर्य यह है - विमर्शकारने यहां स्वप्रदत्त वचनका भी तात्पर्यावगाहन समुचिततया किया नहीं है !

श्रीयामुनेयाचार्यजीके द्वारा उद्धृत शाण्डिल्यवचन ''वृत्त्यर्थं याजिनः सर्वेदीक्षाहीनाश्च केवलं कर्मदेवलका एते स्मृता ह्यत्र पुरा मुने तांश्च संवत्सरादूर्ध्वं न स्पृशेत् न च संविशेत्''का विचार करते हुए विमर्शकारने यहां 'कर्मदेवलक'की परिभाषामें: 'श्रद्धाभक्तिविरहितकेवलवृत्त्यर्थ' विशेषण 'देवपूजन'के साथ जोड़कर बच निकलनेका प्रयास किया है. परन्तु 'केवल वृत्त्यर्थ' तथा 'श्रद्धाभक्तिसहितवृत्त्यर्थ' ऐसे दो तरहके वृत्त्यर्थ पूजन यहां यामुनेयाचार्यको विवक्षित हों - ऐसा लगता नहीं है. क्योंकि श्रीप्रश्नसंहितामें ''परार्थयजनं दीक्षाम् आचार्यपदपूर्विकां'' (श्रीप्रश्न. संहि. १६।१४७) (अर्थात् परार्थयजन = याजनके अधिकारी आचार्यतया दीक्षित व्यक्ति ही हो सकते हैं, सभी नहीं) - यह नियम स्थापित किया है.

उस आचार्यकेलिये स्पष्टतम शब्दोंमें यह विधान भी किया गया है कि वह शिष्यको समयी-पुत्रक-साधककी कक्षाओंके क्रमसे आगे बढ़ाते हुए आचार्यपदवीतक ले जा सकता है. इसी तरह आचार्यत्वमें भी श्रोत्रिय, पूर्ण, गुरु, भट्टारक और भट्टाचार्यके क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. कहीं-कहीं समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिषिक्त आचार्य भगवान पदवियां भी वर्णित हुई हैं. तदनुसार समयी और पुत्रक की कक्षाओंतक पहुंचनेवाले साधकको याजन = परार्थयजनका अधिकारी नहीं माना गया है: ''न चास्य विहितो होमो धर्मार्थं पूजनं विना'' (जया.संहि. १७।१४), अर्थात् धर्मार्थपूजनके अलावा वह होम भी नहीं कर सकता है.

इसके बाद क्रमशः आगे बढ़नेपर शास्त्राज्ञा है-''मन्त्रसिद्धिस्तु वै तस्य विज्ञाता गुरुणा यदा, गुरुणा वै सोभिषेच्यः ततः शिष्यः प्रसादतः कृत्वा यागं चतुर्थं तु तद्वित्तेन पूर्ववत् . . . ततोभिषिच्य विधिना स्वाधिकारं निवेदयेत्. गृहीत्वा तेन कर्तव्यं गुरुत्वमितरेषु च, पूजाग्निहवने चैव जपध्यानान्वितं सदा, भक्तानां संशयच्छेदं कुर्याच्छास्त्रं विना तु वै, अनुग्रहं च शापं च मन्त्रारम्भणमर्पणं, न लोभेन न रागेण न स्वार्थेन न नामतः, स्वकल्पोक्तविधानेन कुर्यात् सर्वेष्वनुग्रहमर्थ्यर्थितस्तदा विप्रः यजनं च पवित्रकम्, नातीव संग्रहं कुर्यात् मात्रा वित्तस्य नारद, नित्यमभ्यस्यति त्यागमनित्यं भावयेद् भवम्'' (जया. संहि. १७।४७-६२). अर्थात् जब समयी पुत्रक और साधक क्रमसे शिष्यको मन्त्रसिद्धि हो गई है ऐसा गुरुको लगने लगे तब उसे 'आचार्य'पदके लिये दीक्षित करना चाहिये. एतदर्थ शिष्यके वित्तसे उसे चतुर्थयाग करवाकर आचार्य अपने आचार्यत्वके अधिकारसे शिष्यको अभिषिक्त करें. तब वह शिष्य भी इतरोंको जपध्यानान्वित पूजा अग्निहोम करवा सकता है. शास्त्रोपदेश किये बिना अशिष्य भक्तोंके संशयोंका निरसन भी कर सकता है. आचार्योचित अनुग्रहशापादिदान भी कर सकता है. परन्तु यह सारे कृत्य उसे लोभ-राग-ख्याति-स्वार्थकी वृत्तिसे रहित होकर स्वकल्पोक्तविधिसे ही करने चाहिये. किसीके प्रार्थना करनेपर इन आचार्यकर्तव्योंका अनुग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये (अर्थात् मासिकपत्रोंमें छप्पनभोगका विज्ञापन प्रकाशित करवा कर नहीं). अतीव संग्रह कभी करना नहीं

चाहिये प्रत्युत त्यागका ही अभ्यास करना चाहिये, जीवनकी अनित्यताकी भावना करते हुए.

इससे सिद्ध होता है कि 'केवल'का अर्थ केवल श्रद्धाभक्तिरहित होना नहीं है. आचार्यपदपर दीक्षित न होनेपर भी याजन = परार्थयजन कराना केवल वृत्त्यर्थ ही होता है, स्वकर्तव्यपालनार्थ नहीं. इसकी निन्दा यहां की गई है.

ऐसी अवस्थामें पांचरात्रकी आचार्यपददायिनी दीक्षा हम गोस्वामिओंको होती नहीं. फिर भी मासिकपत्रों तथा पॅम्फ्लॅटों में सार्वजनिक वित्तजसेवायाचनाके विज्ञापनोंके कारण हमारा अर्थार्थितया कालनिर्देशी होना तो सिद्ध होता ही है. यदि गोस्वामिवर्ग वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करता होता, विमर्शग्रन्थके प्रकाशनकी भी आवश्यकता ही न पड़ती. अतः वृत्त्यर्थिता भी सिद्ध होती ही है. अतः ''आचार्यदीक्षाविहीनत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति देवपूजकत्वम्'' कर्मदेवलकका लक्षण हम गोस्वामिओंपर मूसलधार बरसकर देवलकताके गर्तमें हमें डुबो रहा है – यह भी सिद्ध हो ही जाता है !

रही बात कल्पदेवलकताकी, तो अन्य अपठित गोस्वामी तो कथञ्चित् बच भी सकते हैं कि श्रीमहाप्रभुके ही सारे ग्रन्थ वे जब पढ़ नहीं पाये तो पांचरात्रतन्त्रका अध्ययन करके पांचरात्रविधानज्ञ तो कहांसे हो पायेंगें ! परन्तु विमर्शकारसदृश सुपठित तथा तन्त्रवचनोंके आधारपर चर्चा करनेमें समर्थको तो पांचरात्रविधानज्ञ स्वीकारना ही पड़ेगा. वृत्त्यर्थिता भी 'विमर्श'ग्रन्थप्रकाशनसे सिद्ध होती ही है. सार्वजनिक विज्ञापनोंके कारण मासिक पत्र–पॅम्फ्लॅट द्वारा यशोर्थिता भी यदि सिद्ध न भी होती हो तो भी सम्भावित तो है ही. ऐसी स्थितिमें ''पांचरात्रविधानज्ञत्वे सति चतुर्वेदाधिकारित्वे सति तान्त्रिकदीक्षाविरहितत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति यशोर्थित्वे वा सति भगवदाराधकत्वम्'' लक्षण भी देवलकतादोषक्लिन्न हमें करता है या नहीं – यह विचारणीय है !

यदि कहा जाये कि कल्पदेवलकके लक्षणमें जो प्रमुख घटक है, पांचरात्रविधानानुसार पूजन करना = ''ये कल्पोक्तं प्रकुर्वन्ति'', वह छूट गया है, जबकि पुष्टिमार्गमें तो वह है नहीं. तब तो घट्टकुट्टीमें प्रभात हो गया ! क्योंकि

वृत्त्यर्थ पूजन भी फिर उन्हींकेलिये दोषावह नहीं होगा, पुष्टिमार्गिओंके लिये तो होगा ही. कमसे कम पांचरात्रतन्त्रवचनोंके आधारपर तो यही सिद्ध होगा.

शुद्धदेवलक वैसे रुद्र-कालीपूजनकर्ताओंको माना गया है; और पुष्टिमार्गीय पू.पा.गो.म.श्री रुद्र-कालीका पूजन वृत्त्यर्थ नहीं करते (उज्जयिनीमें महाकालका पूजन धर्मार्थतया तथा कभी-कभी निजगृहमें भी फोकटरंजनोंके पौरोहित्यसे चण्डीयाग करवाते हैं. ऐसी कथा कर्णोपकर्ण तो सुनाई देती है. उसे यहां चर्चाका विषय न बनाना ही ठीक है). तब भी इतना तो विचारणीय है ही कि रुद्र-कालीके पूजकोंका देवलक होना रुद्र-कालीआदि देवताओंको इष्टदेव बनानेके अपराधवश नहीं है. क्योंकि शैवशास्त्रोंमें शैवोंकेलिये वह विहित है. बालबोध तथा सर्वनिर्णय निबन्धादि ग्रन्थोंमें भी इनकी ब्रह्मबुद्धिसे आराधनाको निर्दुष्ट कहा ही है. परन्तु पांचरात्रविधानज्ञ वैष्णवोंद्वारा जब वृत्त्यर्थ इनका पूजन किया जाता है तो वह आर्षेयोक्तविधानानुसारी नहीं होता. अतः ऐसी अवैदिकवृत्ति ही उनके पूजनप्रकारमें देवलकत्वापादक दोष पैदा करती है - यह स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली भी, क्योंकि वेदविहित तो है नहीं अतः अवैदिक ही हुई. अतएव ''यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते''(बृहद् हारीतस्मृ.)के अनुसार पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली, जो ब्राह्मणवृत्तितया वेदविहित नहीं है, उसे वृत्त्यर्थ करनेपर हम गोस्वामिओंमें शुद्धदेवलकत्व भी सिद्ध क्यों नहीं हो सकता - यह विमर्शकारको विचारना चाहिये था !

न तो हम गोस्वामी ऋषिप्रोक्त वैदिक विधानसे भगवत्सेवा करते हैं कि स्मृतिमुक्ताफलोक्त ''आर्षेयोक्तविधाने तु देवलत्वं न विद्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत्'' (विमर्श पृ.४२) वचन हमें देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाये.

न ''पञ्चरात्रसिद्धदीक्षासंस्कारविरहितानां ब्राह्मणानां देवकोशोपजीवन-वृत्त्यर्थपूजनादिकम् उपब्राह्मणत्व-देवलकत्वावहम् इति निश्चीयते'' (विमर्श पृ.४७) यह आगमप्रामाण्यवचन ही हम गोस्वामिओंको देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाता है. क्योंकि पांचरात्रदीक्षाविधिके अनुसार हमें आचार्यपद मिला नहीं है. देवकोश तो नाथद्वारामें 'कृष्णभण्डार'नामसे ही सिद्ध हो जाता है. अन्यत्र

ठाकुरजीके नामोंकी रसीद फाड़नेसे सिद्ध होता है. तब ऐसे भण्डारोंमेंसे भोग धरी सामग्रीका प्रसाद लेनेसे देवकोशोपजीवन भी सिद्ध हो ही जाता है. ठाकुरजीके नामकी भेंट-सामग्रीकी रसीद फाड़नेके कारण नित्य तथा मनोरथ की सेवाकेलिये दर्शनार्थीजनसे द्रव्य ऐंठनेके कारण वृत्त्यर्थपूजन भी हम कर रहें ही हैं. (अन्यथा विमर्श प्रकाशित करनेकी भी आवश्यकता नहीं थी). फलतः आगमप्रामाण्यके वचनद्वारा भी हम गोस्वामी उपब्राह्मण देवलक सिद्ध हो रहे हैं.

विमर्श पृ.४९ पर ''मनुष्यस्थापित देवतास्थलमें देवलकता''शीर्षकके अन्तर्गत ''इदं मनुष्यस्थापितदेवताविषयमिति भाति'' धर्मसिन्धुके वचनका ''मज्जतः फेनावलम्बनम्'' किया है. परन्तु 'सन्मनुष्याकृति'में 'श्रीकृष्णास्य-अपरकृष्णावतार' महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये स्वरूपोंको मनुष्यस्थापित न भी मानें तो भी अन्य अनेकानेक स्वरूपोंकी जनतासे भेंट-सामग्री लेकर चलाई जाती हवेलियां हमारी देवलकताका ही कीर्तन गा रही हैं.उन्हें कैसे चुप करना ! यदि हम अपने सभी गोस्वामिओंको पुरुषोत्तमभावसे मण्डित होनेके कारण किसी भी गोस्वामिद्वारा पुष्ट किये स्वरूपको मनुष्यस्थापित नहीं मानते तो रुद्र-कालीपूजक भी अपने-अपने गुरुओंको मनुष्य न मानकर शिवावतारतया मान्य कर अदेवलक सिद्ध हो जायेंगें !

''देवलकसम्बन्धी वृद्धहारीतस्मृतिके वाक्य'' (विमर्श पृ. ५०) शीर्षकके अन्तर्गत तथा तन्मूलक ''वैखानस'शब्दार्थपर पांच प्रकारके सम्भावित पक्ष'' (विमर्श पृ.५१) शीर्षकोंके अन्तर्गत किया गया समूचा प्रतिपादन ''चोरी करके चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जाने'' जैसी बात है. क्योंकि वृद्धहारीतने अपना फैंसला सुना ही रखा है कि रुद्र-कालीके वृत्त्यर्थी पूजक ही नहीं अपितु विष्णुके भी पूजक जब अवैदिकविधिसे विष्णुपूजन करते हों तो उन्हें पाषण्डी नरकगामी मानना चाहिये. इस वृद्धहारीतस्मृतिद्वारा प्रदत्त श्रापसे बचनेका एकमात्र उपाय यही सम्भव था कि यह अवैदिकविधिसे वृत्त्यर्थ विष्णुपूजकोंकेलिये कही गई बात है. अतः पुष्टिमार्गीय पूजाप्रकारपर लागू नहीं होती. सो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी वकालतद्वारा स्वयं विमर्शकारने हम

गोस्वामिओंद्वारा की जाती सेवा वृत्त्यर्थ है इस पापांगीकारके चोरको पुष्टिभावोंकी चोरी करके भाग जानेकी खुली छूट दे ही दी है !

फिर ''यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते'' तथा ''आर्षेयोक्तविधानेन देवलत्वं न विद्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत् वैदिकेनैव विधिना दम्भलोभविवर्जितः पूजयेद् भक्तितो विष्णुं स हि देवलको न वै'' (विमर्श पृ.४०) वचनोंके साथ समन्वय करनेपर ''वैखानसास्तु ये विप्राः हरिपूजनतत्पराः न ते देवलकाः ज्ञेयाः हरिपादाब्जसंश्रयात्'' (विमर्श पृ.५०) वचनगत 'हरिपूजनतत्पराः'में 'वैदिकेनैव विधानेन हरिपूजनतत्पराः' अर्थ विवक्षित है ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. इसे स्वीकारते ही 'वैखानस' शब्दकी पांच या पचीस जितनी भी अर्थसम्भावनायें हों, बनी रहें; वे हमें देवलकतासे बचा नहीं पाती है. अतएव ये सारेके सारे पक्ष भी चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जानेकी वार्ता है ! तासों कहां तांई कहिये !

'वैखानस'शब्दके अर्थोंको समझनेकेलिये जितने पक्ष सम्भावित हैं और जितने करतब दिखाने थे उन्हें दिखानेसे पहले एकबार स्वयं महाप्रभुसे विमर्शकारने पूछ लिया होता कि उन्हें इस 'वैखानस'शब्दसे कौनसा अर्थ विवक्षित है तो इतनी स्याही और समय की व्यर्थ ही बरबादी न होती !

'' 'वैखानसा'इति विखानसा ब्रह्मणा यानि भगवद्भजनादीनि वैखानससूत्रे उपदिष्टानि, वने स्थित्वा तत्कर्मकर्तारो वैखानसाः दैवाद् आगतवृत्तिजीविनः'' (सुबो. ३।१२।४२). अर्थात् विखनस = ब्रह्माजीने भगवद्भजनादिके जिन वैखानससूत्रोंका उपदेश दिया है तदनुसार वनमें रहकर दैवाद् आगतवृत्तिपर अवलम्बित होकर भजनादिकर्म करनेवाले 'वैखानस' कहे जाते हैं. इस सुपरिभाषित एक अर्थमें विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित पांचमेंसे चार पक्ष तो एकवद्भावापन्न हो ही जातें हैं.

पांचवे पक्षमें यह विचारणीय हो जाता है कि वैखानसोंको उद्देश्य बनाकर अदेवलकताका विधान विमर्शकारको अभीष्ट है अथवा अदेवलकोंको उद्देश्य बनाकर वैखानसताका विधान ?

अर्थात् ''जो-जो वैखानस होते हैं वे अदेवलक होते हैं'' ऐसा व्याप्तिनियम है या ''जो जो अदेवलक होते हैं वे सभी वैखानस होते हैं'' ऐसा ? प्रथमकल्पमें कोई वैखानस दम्भ-पाषण्ड-हिंसादि दुर्वृत्तिशील भी वृत्त्यर्थ हरिभजन करता होगा तब भी उसे अदेवलक ही स्वीकारना पड़ेगा. द्वितीय कल्पमें चार्वाक-जैन-बौद्ध-मुसलमान-ईसाई-यहूदी ही नहीं अपितु गोगर्दभगजादि पशुओंको भी वे वैखानस हैं - ऐसे स्वीकारना पड़ेगा.

इस उभयतःपाशसे बचनेकेलिये उक्तविधानोंको व्याप्तिघटित न मानकर अव्याप्तिघटित भी माना जा सकता है. अर्थात् ''कुछ वैखानस देवलक नहीं होते''. (चाहें कुछ अन्य होते भी हों) तब पुनः सभी वैखानस अदेवलक नहीं होंगें. अतः वृत्त्यर्थ हरिभजनमें तत्पर हम गोस्वामी भी चाहे ''ये नखाः ते वैखानसाः'' वचनका 'वैष्णव' अर्थ कथञ्चित् खींच-तानकर निकाल भी लें तब भी बच नहीं पायेंगें. अतः ''वैखानसास्तु ये प्रोक्ता हरिपूजनतत्पराः न ते देवलका ज्ञेया'' (विमर्श पृ.५३) के वृद्धहारीतवचनके साथ समन्वयके सरकसद्वारा गोस्वामिओंकी अदेवलकताके प्रयासकी भ्रूणहत्या तो हो ही जाती है. क्योंकि विधान स्वयं व्याप्तिनियमघटित नहीं है !

(६) जो बात स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाके वृत्त्यर्थ-स्वतः-परार्थ-पूजनके बारेमें कही गई है वह परतः परार्थपूजन करनेपर तो और भी अधिक गर्हणीय बन जायेगी. प्रायः जिन हमारी हवेलिओंमें हम नहीं रहते हैं वहां हमारे माथे बिराजते भगवत्स्वरूपोंकी सेवा उस गामकी दर्शनार्थिजनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरिया-बालभोगियादिकी बटालियनोंसे करवाते हैं. या समाधानीद्वारा अथवा ट्रस्टिओंद्वारा हम परतः करवाते हैं. यह तो बिचारे शास्त्र भी सोच नहीं पाये कि हॅडक्वार्टर जैसे मन्दिरोंकी ब्रान्च जैसे मन्दिरोंद्वारा भी देवलकताकी आजीविकाका व्यापार इतना कभी पनप जायेगा ! अतः ''एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' न्यायसे अधिक विवेचनकी अपेक्षा नहीं है.

(७) परार्थप्रतिष्ठापित देवविग्रहका स्वतो वृत्तिरूप याजन (४)कल्पका

पूरक है. तन्त्रशास्त्रानुमोदित ब्राह्मणवृत्ति है. विमर्शकार इस बारेके वचनोंको ही (५) और (६) कल्पके समर्थनार्थ दुरुपयोग कर रहे हैं. यह विशोधन हमने सुविशदतया कर ही लिया है.

(८) इस कल्पकी भी सूचना, जहांतक मेरी समझका सवाल है, शास्त्रमें मिलती नहीं है. वैसे अगाध अपार शास्त्रविस्तारमें केवल मेरी समझपर ही अवलम्बित होकर उत्प्रेक्षा करनेके बजाय यावद्वचनोपलब्धि धैर्यधारण ही एक उपाय लगता है. वेसे इसका स्वरूप कुछ कुछ हमारे यहां पंड्याजीके द्वारा जैसे उपाध्यायजी कर्म करवाते हैं वैसा है. इसमें ब्राह्मणवृत्तितया दोष दिखलाई नहीं देता परन्तु आधुनिक अनेक पुष्टिमार्गीय हवेलिओं बैठकजी आदिसे आती भेंट और मन्दिरोंमें आती सन्मुखभेंट बटोरनेवाले झापटियाजीकी नियुक्ति भी ठेकेपर की जाती है. ऐसे ठेकेसे आती भेंटके प्रकार भी हैं ही. अतः देवद्रव्यकी साक्षात् लाभहानि उन्हीं ठेकेदारोंको होती है. हम गोस्वामी अपना ठेका लेकर अपना लाभ सुरक्षित कर लेते हैं. यह तो शास्त्रकी कल्पनाके भी बहिर्भूत भगवद्भजनका एक विचित्र आधुनिक प्रकार है. यह अत्यन्त विलक्षण प्रकार है. शास्त्रकारसदृश ''गजाः यत्र मौनावलम्बनेन पलायन्ते तत्र मादृशानां मशकोपमानां तु का कथा !''

इस सारणीके आधारपर आठों कल्पोंके विचारके बाद अब अवशिष्ट रहता है विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४३–४७पर उद्धृत वचनोंका विचार.

तदन्तर्गत सर्वप्रथम पाद्मसंहिता चर्यापादके २१वें अध्यायके १३–२४ श्लोंकोंके अन्तर्गत –

पञ्चकालं यथाशास्त्रं गृहे वा मन्दिरेपि वा ।
भगवत्पूजनं कार्यमद्यप्रभृति नान्यथा ।।
यूयं भागवतास्तेन जाता भगवदर्चनात् ।
भगवद्भक्तिकरणाद् वंशजाताश्चतुर्मुख ।।
आत्मार्थं यजनं विष्णोः कल्पतेऽभ्युदयावहम् ।
तथा परार्थयजनं ग्रामे वा पत्तने पुरे ।।
स्वगृहे वा स्वतन्त्रे वा कार्यं भागवतैः नरैः ।
आत्मनश्च परेषां तन्निःश्रेयसकृद् भवेत् ।।

अभागवतवंशैस्तु दीक्षितैरपि मानवैः ।
आत्मार्थमेव यजनं न परार्थं कदाचन ।।
परार्थयजनं तेषां गर्हितं विप्रसत्तमाः ।
अभागवतवंश्योपि दीक्षितः शास्त्रवर्त्मना ।।
परार्थयजनं कुर्याद् अपि भागवताज्ञया ।

आदि वचनोंमें कहा है कि आत्मार्थ यजन स्वधर्मरूप है तथा परार्थ यजन ब्राह्मणकी आजीविका है. जो बात यहां मोहवशात् कभी भी सोचनी नहीं चाहिये वह यही है कि आत्मार्थ यजनको परार्थ नहीं बनाना अर्थात् धर्मको आजीविका नहीं बनाना चाहिये. इसी तरह परार्थ यजनको आत्मार्थ मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये. अर्थात् आजीविकाको धर्मकी पदवीपर 'सेव्यसुखजनक भजन' जैसे शब्दाडम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं कर देना चाहिये. साथ ही साथ यह भी नितान्त अवधेय है कि 'भागवतवंश' शब्द सामान्य प्रयोग नहीं परन्तु पारिभाषिक प्रयोग ही है. जैसे कि हमने देख लिया है कि समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिक्ति आचार्य और भगवान – ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. इनमें भगवान पदवीधारिओंके पुत्र 'भागवत' कहे जाते हैं और उनके वंशको 'भागवतवंश' कहा जाता है. एतावता हम गोस्वामी अपने-आपको इस पारिभाषिक अर्थमें भागवतवंश मान नहीं सकते. अतः उन्हें मिली किसी भी तरहकी छूटके अधिकारी हम नहीं हो सकते. जैसे अवधूतचर्यामें विचरनेवाले परमहंसको दिगम्बर होनेकी जो छूट है वह हम गृहस्थिओंको मिल नहीं सकती.

अतएव स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत वचन यहां मननीय हैं –

परार्थयजनं कुर्युः विप्रा मुख्यानुकल्पयोः ।
नैवाधिकारिणस्ते च गौणाः संस्कारवर्जिताः ।।
यथैव दीक्षिणीयेभ्यो जायन्ते ब्राह्मणादयः ।
तथैव दीक्षाविधिना जायमाना यथोदिताः ।।
पूजाविधौ भगवतः प्रकल्प्यन्तेऽधिकारिणः ।

(पाद्मसंहि. चर्यापाद अ.१।७-९).

विमर्शकारका कर्तव्य था कि इन श्लोकोंका अनुवाद कमसे कम दे देते ताकि सारा चित्र साफ-साफ उभरकर सामने आ जाता. अनुवाद दिये बिना २१वें अध्यायकी १३-२४वीं कारिकाओंका प्रतिपाद्यविषय निर्भूमिक ही रहता है. विमर्शकारने छोड़ दिया है तो चलो हम इसे यहीं छोडकर आगे चलते हैं.

विमर्शके पृष्ठ ४४-४५ पर तन्त्रशास्त्रके उस पारिभाषिक 'भगवान' 'भागवत' 'भगवद्वंशजात' शब्दोंको सामान्य अर्थमें प्रयुक्त मान करके ''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णव'' अनुवाद करनेकी बाललीलासे और अधिक हास्यास्पद कृत्य प्रकट किया है इन श्लोकोंके व्याख्यानमें. पहले श्लोक देख लें -

मूल : **भगवद्वंशजाता ये ते वै भागवता स्मृता ।**
यद् यद् तैः विष्णवे दत्तं समन्त्रं वाप्यमन्त्रकम् ।।
शुचिभिः सर्वदा दक्षैः सदाप्यशुचिभिस्तु वा ।
तत्सर्वं आत्मसात्कृत्वा प्रीतो भवति केशवः ।।
आलयो हृदयं तेषां परमं परमात्मनः ।
तेनैव सर्वदा.....
तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत् ।
.....ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमाः ।।
न दोषाय भवेत् तेषां भूत्यर्थमपि पूजनम् ।
प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न पूजयेत् ।।
भूतिमूलं यजेद् देवं न रक्षापोषणं विना ।

भावानुवाद : यथोक्तोक्त दीक्षाविधिके अनुसार जो 'भगवान' पदवीधारी हों उनके वंशजोंको भागवत समझना चाहिये. ये भागवत शुद्धिपूर्वक या शुद्धिके बिना ही मन्त्रके साथ या बिना मन्त्रके ही जो भी विष्णुको निवेदित करते हों उसे प्रीतिपूर्वक भगवान स्वीकारते ही हैं. (जैसे गोविन्दस्वामीको श्रीनाथजी जब घोड़ा बनाकर सवारी करते थे तब अशुचिकर मूत्रोत्सर्ग भी उन्होंने कर दिया था, इसी तरह जैसे

बजारकी जलेबी श्रीनाथजीको भोग धरी गई थी. या जैसे गोविन्दस्वामीने श्रीनाथजीको कंकड़ मारे, या जैसे कुम्भनदासजीको सूतकमें दर्शनकी आज्ञा दी गई.) इनके हृदयमें प्रभु बिराजते होनेसे इनका पूजन भगवत्पूजन ही होता है. (जैसे आशकरणदासजी या श्रीचैतन्य महाप्रभुको अनप्रसादी खिलाया गया). इन भागवतवंशजोंका वैभवयुक्त पूजनसे करनेसे भी इनमें कोई विकारदोष नहीं प्रकट होता. इनके द्वारा जब भगवत्पूजन करवाना हो तो इन्हें केवल वेतन देनेकी बुद्धिसे भगवत्पूजन न करे. क्योंकि सारी भूतिओंके (वैभवोंके) मूल भगवानका पूजन, इन भक्तोंके रक्षण-पोषण किये बिना नहीं करना चाहिये.

यही कारण था आशकरणजीको अनप्रसादी खिलानेपर श्रीनवनीतप्रियजीने दोबार राजभोग स्वीकारनेकी बात कही थी! परन्तु देवलकतामोहित विमर्शकार यहां विधान कर रहे हैं- ''यहां 'पूजयेयुः'के स्थानपर 'पूजयेत्' पदप्रयोग आर्ष है . . . यहां रक्षापोषणके बिना देवपूजा करनेका निषेध होनेसे उक्त वाक्य परार्थ पूजनसे ही सम्बन्धित है. इससे सिद्ध हुआ कि पांचरात्रागमज्ञ लोगोंके लिये वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं परन्तु वेतनार्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध है'' (विमर्श पृ.४५).

शान्तं पापं! शान्तं पापं!! कहांकी बात कहां जाकर भिड़ा दी है!!! इसे भी एक आर्षप्रयोग कहना चाहिये!

जब पूर्वपंक्तिमें- ''तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत् सर्वावस्थायुतान् सर्वान् देवमुद्दिश्य पूजयेत्''द्वारा वाचनिक सन्दर्भ भगवत्पूजनका नहीं अपितु वैष्णवोत्तम भागवतोंके पूजनका ही है, तब अकस्मात् ''अनन्यशरणा भक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमा न दोषाय भवेत् तेषां (कर्मणि षष्ठी है, कर्तरि षष्ठी नहीं!) भूत्यर्थमपि पूजनम्'' देवपूजनविधि कैसे सिद्ध हो जायेगी! यहां अन्वय यों है: वैष्णवोत्तमानां भक्तानां वैष्णवेन कृतं भूत्यर्थमपि पूजनं दोषाय न भवेत्. 'पूजयेत्' क्रियापद यहां दो बार प्रयुक्त हुआ है. (१) ''सर्वावस्थायुतान् सर्वान् (तान् भागवतान्) देवमुद्दिश्य पूजयेत्''. (२) ''प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न

पूजयेत्''. यहां दोनों क्रियापदोंमें एकवचन प्रयुक्त हुआ है और इसका कर्ता सामान्य वैष्णव है, उल्लिखित बहुवचननिर्दिष्ट भागवत नहीं. इसी तरह ''तेषां भागवतानां रक्षापोषणं विना भूतिमूलं देवं न यजेत्''में भी एकवचननिर्दिष्ट कर्ता सामान्य वैष्णव ही है, वे भागवत नहीं. परन्तु पित्तविकारवश जब श्वेतशंख भी पितिमायुक्त दिखलाई देता है तो वह रोगस्वभावजन्य विवशता है– ''स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन''!

इसके बाद आगमप्रामाण्यके वचनोंके उद्धरणोंमें भी श्लोकमें कहा है:''केचित् यदि परं सन्तः शाश्वतावृत्तिकर्शिताः याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्, न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति, यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासाद्गुण्यसिद्ध्यर्थम् अतः ते प्रतिगृह्णते.'' इस वचनका भाव यों है: कुछ भागवत याजनरूप आजीविकाके अंगतया पूजनकी दक्षिणाका द्रव्य लेते हैं (न कि स्वधर्मरूप यजनके अंगतया). क्योंकि यदि वे दक्षिणाका प्रतिग्रह न करते हों तो पूजा विफल हो जायेगी. यह विफलता यजनरूप धर्मकी विफलता है क्योंकि पूजार्थ वित्तजासेवा यजमानकी होती है और वाक्तनुजासेवा याजककी. अतः याजकद्वारा अनुष्ठित वाक्तनुजासेवाका दक्षिणाप्रदानद्वारा यजमान परिक्रय करता है ताकि पूजाफल यजमानको मिले. क्या पू.पा.गो.म.श्रीओंको भय सताता है कि उनका चित्त अपने माथे बिराजते ठाकुरजीमें कहीं चोंट न जाये! एतदर्थ उन्हें विवश होकर दर्शनार्थी जनतासे धन लेना पड़ता है? क्या ''यदि न प्रतिगृह्णीयुः सेवैव विफला भवेत् सेवासाद्गुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते (गोस्वामिनः) प्रतिगृह्णते'' श्लोक विमर्शकारकी विवक्षा है? अन्यथा पुष्टिमार्गीय तनुवित्तजा सेवामें तनुजा+वित्तजाको खीरकी कारणसामग्री माननेपर पराये वित्त लेनेकी आवश्यकता क्या है? सेव्यसुखजननकेलिये! तो क्या पद्मनाभदासजीके छोलासे उनके सेव्यको परिश्रम था? सेवकोंके उद्धारकेलिये! तो महाप्रभुने–प्रभुचरणने प्रत्येक ग्रामोंमे, जहां–जहां आप यात्राके अन्तर्गत पधारे, उद्धारार्थ हवेलियां क्यों नहीं खोली? इससे लगता है– उद्धारका यही एकमात्र उपाय तो नहीं होना चाहिये. यदि कहा जाये कि महाप्रभु एवं प्रभुचरण अकेले थे और आचार्यके सेव्यस्वरूपकी वित्तजा सेवाके बिना उद्धार नहीं हो सकता तो इसको प्रमाणित

करनेवाला आचार्यवचन कौनसा है ? यदि कहा जाये कि गुरु अव्यावृत्त होकर सेवा करते हैं अतः उनकी स्वधर्माचरणरूपा सेवा उनके सेव्यको अधिकाधिक सुखजनिका हो जाये एतदर्थ स्वार्थ भगवद्भजनमें परद्रव्य अंगीकारार्ह बनता है तो वह तो अपनी चरणभेंटसे या वैष्णवोंके घर बिराजते ठाकुरजीकी मुखियागिरी भीतरियागिरी बालभोगियागिरी दूधघरियागिरी फूलघरियागिरी शाकघरियागिरी कीर्तनियागिरी या पखावजियागिरी भी पू.पा.गो.म.श्री करते होते तो भी परार्थ यजनकी तरह शास्त्रानुमत होता ही. यदि वैष्णवोंके माथे बिराजते ठाकुरजी वैष्णवके उद्धारार्थ हैं, पू.पा.गो.म.श्रीओंके उद्धारार्थ नहीं, तब पू.पा.गो.म.श्रीके माथे बिराजते ठाकुरजी भी पू.पा.गो.म.श्रीओंके ही उद्धारार्थ होने चाहिये, वैष्णवोंके उद्धारार्थ नहीं. पू.पा.गो.म.श्रीओंके ठाकुरजी स्वयं गुरुके तथा वैष्णवोंके दोनोंके उद्धारार्थ हैं अतः वैष्णवोंसे द्रव्य लेना पड़ता हो तो जिनके स्वयंके माथे सेवा बिराजती हो, कमसे कम, ऐसे वैष्णवोंसे तो द्रव्य नहीं लेना चाहिये !

बालकबुद्धिप्रसूत इन सारी युक्तिओंके मूलमें श्रीयामुनेयाचार्यजीके ''ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरम् यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदैव हि निषिद्ध्यते'' वचनद्वारा प्रतिषिद्ध निषिद्धाचरणकी दुर्वृत्ति ही काम करती दिखलाई देती है.

कुछ अपठित गोस्वामी विधान करते हैं कि निजघरमें ठाकुरजीकी सेवा करनेसे वैष्णवोंको रासस्थ गोपिओंकी तरह सौभाग्यमद पनप सकता है, ऐसा कि जिससे स्वयं भगवानको ही तिरोहित होना पड़े. अतः दैन्यभावके निर्वाहार्थ सार्वजनिक हवेलिओंमें वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीके दर्शन करनेका विप्रयोग तथा दर्शनके समय गोस्वामिओंके भण्डारोमें अधिक वैभवकी अभिवृद्धिकेलिये भेंट-सामग्री जमा कराते रहना चाहिये (ताकि अधिकाधिक वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीका अधिकाधिक विरह होता रहे और दैन्य बढ़ता रहे !). परन्तु इस नियमके सच होनेपर सर्वप्रथम गोस्वामिओंको अपनी हवेलीमें सेवा बन्द करके सर्वाधिक वैभवके साथ बिराजते श्रीनाथजीका विरह करना चाहिये. अन्यथा गोस्वामिओंमें भी सौभाग्यमदके प्रकट होनेपर श्री बढ़ेगी परन्तु

श्रीनाथके तिरोहित होनेकी सम्भावना रहती है! अतः ऐसे अनर्गलप्रलापकी अधिक क्या चर्चा करनी ?

कुल मिलाकर इस तरह तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी गोस्वामिवर्ग आज जिस तरह दर्शनार्थिवर्गसे रुपये ऐंठ रहा है उसे धर्म्य नहीं कहा जा सकता है – यह सिद्ध हुआ.

इसके बाद अब हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोक्त निर्देशोंके विचारपूर्वक क्या साम्प्रदायिक गुरुत्वके अन्तर्गत वृत्त्यर्थ भगवद्भजन धर्म्य हो सकता है ? – इस प्रश्नके समाधानको खोजनेको आगे बढ़ना है.

*

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

– सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (अर्चक) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

***

साम्प्रदायिक गुरुत्व

मूल :

(क)

नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ।
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम् ।।

(ललि. त्रिभं. स्तो. १).

भुवि भक्तिप्रचारैक कृते स्वान्वयकृत्पिता ।
स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः ।।

(सर्वो. स्तो.).

(ख)

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत् ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् ।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(साध. दीपि. ९-११).

(ग)

गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः ।।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः ।
अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि ।।
उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति ।
यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः ।।

(स्व. शर. सम. से. स्वरू. निरू. ४९-५१).

अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः ।
विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ।।
स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ।
प्रयच्छेत् तत्स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ।।

(स्वमा. स्वरू. स्था. प्रका. १६-१७).

(घ)

''एवं धनस्यापि भगवद्भक्तेषु आनत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थम् उपदेशनार्थं वा देयम् अपेक्ष्यते. साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवति'' (सुबो. २।३।३) इति तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः ''भिक्षाशया'' ( ) इतिवाक्यात्. यदि तु तत्त्वविचारार्थम् उदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति तदा तु तीर्थपर्यटितृवत् न दोषः इति बोध्यम् . . . ननु ब्रह्मवैवर्तेश्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः. तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत् सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्..श्रुतावपि...जनकेन ''हस्त्यृषभसहस्रं ददामि'' इति उक्ते याज्ञवल्क्येन ''पिता मे मन्यत नाननुशिष्य (वित्तं) हरेद्'' इति उक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्या उपदिष्टा . . . किञ्च गीतायामेव सहजकर्मात्यागम् उक्त्वा...असक्तबुद्धित्वादिभिः तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारस्य उक्तत्वात् च तथाकरणे दोषाभावाद् इति. एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनामविशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति.

(श्रीपुरु.कृत जलभेदविवृति ३-४).

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतत्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु – एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.

(श्रीपुरु.कृत स्ववृत्तिवाद).

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नान्तरं सेवादिकम् (न तु वृत्त्यर्थं प्रदर्शितव्यं किन्तु) उपदेष्टव्यम् इति.

(त.दी.नि. सर्वनि. आव.भं.२५५–२५६).

(ङ)

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः।
संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः।।
यश्च कृष्णे रतिर्नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्संगः साधुसंगमः।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः।।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वदा।।

(शिक्षापत्र ३।९–११).

अनुवाद: (क) जिन महाप्रभुके द्वारा श्रीकृष्णको निवेदित करनेके कारण श्रीकृष्णने अंगीकार करके हमारे कुलको निष्कलंक बनाया ऐसे महाप्रभुके चरणकमलोंकी रेणुओंको मेरे नमस्कार! (ललि. त्रिभं. स्तो.).

भूतलपर पुष्टिजीवोंकेलिये पुष्टिभक्तिके प्रचार करनेके हेतुसे ही मेरे पिता महाप्रभुने पुष्टिमार्गके प्रवर्तनके साथ–साथ स्ववंशको भी प्रकट किया. एतदर्थ अपना अशेषमाहात्म्य अपने वंशमें स्थापित किया. अतएव किसीको भी स्मय करनेका कोई कारण नहीं रहने दिया है (सर्वो. स्तो.).

(ख) भगवन्माहात्म्यके ज्ञापनार्थ भगवानके गुण–कर्मोंका श्रवण कराना पड़ता है, इसीलिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है. शास्त्रोंके इस ज्ञानकेलिये गुरुकी आकांक्षा रहती है. कृष्णसेवापर दम्भादिरहित श्रीभागवततत्त्वज्ञ जो हो ऐसे नरका गुरुके रूपमें सादर भजन करना चाहिये. इस देहकी डोंगीसे भवसागरके जो पार उतरना चाहते हों उन्हें गुरु अपने सदुपदेशद्वारा कर्णधार बनकर पार पहुंचाये (साध. दीपि.).

(ग) गुरु भक्तिमार्गीय कृष्णसेवापरायण श्रीभागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित नर होना चाहिये. ऐसा गुरु न मिलता हो तो ऐसे महाप्रभुके उपदेशको ही इस भक्तिमार्गपर अपना नियामक मान कर प्रवृत्त हो जाना चाहिये. आधुनिक गुरुपदाधिष्ठितोंमें यदि यह लक्षण दिखलाई न भी देते हों तो भी, यदि महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका उपदेश वे करते हों तो, वैसे लक्षणवाले गुरुके उपदेशकी तरह ही फलीभूत होगा. शर्त उसमें यही है कि दुःसंगदोषसे मति अन्यथा न हो गई हो तो. (स्व.शर.सम.से.स्व.निरू.).

किसी भी तरहके दम्भके बिना – किसी तरहकी अपेक्षा रखे बिना श्रीआचार्यप्रकटित मार्गमें इस जीवका वरण हुआ है बस इसी एक करुणाके भावको रखते हुए – आचार्यचरणके दृढ आश्रयको मनमें रखकर पुष्टिभक्तिमार्गपर सतत प्रयत्नपूर्वक अग्रसर होना चाहनेवाले अपने शुद्ध सेवकको पुष्टिभक्तिके फलरूपतया पुष्ट किया हुआ स्वरूप पधरा देना चाहिये. (स्वमा.स्वरू.स्था.प्रका.).

(घ) ''भगवद्भक्तोंको नमनार्थ, वे उपदेश प्रदान करें एतदर्थ, श्रवणादिभक्ति सिद्ध हो पाये एतदर्थ भी धनकी अपेक्षा तो रहती है. साधनरूप श्रवण तो इसी तरह होता है'' (सुबो. २।३।३) – इस वचनके अनुसार भी धनदाताको सत्फल होता है परन्तु धनप्रतिगृहीताको संसार ही बढ़ता है. ''भिक्षाशया'' ( )वचनके आधारपर तीर्थपर्यटननियमकी तरह तत्त्वविचारार्थ केवल उदरभरणोपयोगी मात्र

अन्नका यदि प्रतिग्रह किया जाता हो तो दोष नहीं होता . . . ब्रह्मवैवर्तके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें ''भगवानके मंगलमय नामोंका जो विक्रय करते हैं उनके भारसे पृथ्वी पीड़ित रहती है'' ब्रह्माजीके प्रति पृथ्वीके वचन तथा ''मेरे नामका विक्रय करनेवाला विप्र कभी मुक्त नहीं हो सकता. मरते समय भी ऐसोंको मेरा नाम कभी याद आ नहीं सकता'' ऐसे श्रीनन्दरायजीके प्रति भगवद्वचनके आधारपर नामविक्रयके दोषरूप होनेसे शिष्यको नामोपदेश करना भी दोषरूप बन जायेगा, क्योंकि शिष्योंद्वारा धरी गई भेंट स्वीकारनेपर भी नामविक्रयकी सम्भावना हो सकती है. ऐसी शंका यदि उठती है तो वह एक हकीकत है. (श्रीपुरुषोत्तमजीने ''इति चेत् न'' कहनेके बजाय ''इति चेत् सत्यम्'' कहा है). फिर भी गुरुत्व ब्राह्मणकी साहजिकवृत्ति होनेसे इसे छोड़ी नहीं जा सकती. श्रुतिमें भी...जनकने याज्ञवल्क्यको दान देना चाहा तब याज्ञवल्क्यने यही कहा कि मेरे पिताने मुझे यह समझाया है कि ''उपदेश दिये बिना किसीका वित्त नहीं हर लेना चाहिये''. यह कहकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया . . . गीतामें सहजकर्मोंका त्याग न करनेकी बात कहकर...अनासक्तबुद्धिसे कर्म करना ही सच्चा कर्मसंन्यास है जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है – ऐसा कहा है. अतः गुरुत्वकी वृत्ति भी अनासक्तबुद्धिसे करनेपर दोष नहीं लगेगा. इसी तरह प्रभुचरणकी ''दान सर्वदा पात्रापात्रके विचारपूर्वक ही करना चाहिये. विशेषतः 'कृष्ण'नामका दान तो, क्योंकि बिना पात्रापात्रके विचार किये हर किसीको नामदीक्षा देनेपर दीक्षादाताका स्वयंका विनाश हो जाता है'' इस आज्ञाके अनुसार भी अपने तथा शिष्यके स्वस्वकर्तव्यपालनद्वारा ही केवल उद्धार सम्भव है, अन्यथा नहीं – इसी विचारसे नामदीक्षाका प्रदान करना चाहिये. लोभवश (हर किसीको 'श्रीकृष्ण'नामकी दीक्षा देकर गलेमें कण्ठी बांधकर भेंट–सामग्री धरनेवाले मोड़ा पैदा करनेके चक्करमें) तो नामविक्रय होता ही है और देनेवाला अपराधी बनता ही है. (श्रीपुरु.कृत. जलभेदविवृति).

इससे (अर्थात् कलियुगमें याजनवृत्तिका आदर्शरूपमें निर्वाह सुकर नहीं रह गया होनेसे) गुरुत्व ही केवल वृत्ति बची रह गई है. यह उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी उपकार किये बिना निरर्थक धन ले लेनेसे उसका ऋणी बनना पड़ता है, जो बन्धनकारी होता है. वैसे भी ऋतवृत्तिके बाद बिना मांगे जो मिले उससे निर्वाह चलानेकी अमृतवृत्ति अपनानेको कहा गया है. इस अमृता वृत्तिको भी बिना मांगे जो अपने शिष्योंसे मिलता हो उसीसे निर्वाह चलानेका, अर्थात् जो अपने शिष्य न हों उनका धन न लेनेका व्रत रखना ही प्रशस्तवृत्ति है. (स्ववृत्तिवाद).

गुरुको चाहिये कि वेश-भाषा-व्यवहार-भाव आदिद्वारा आनेवाले व्यक्तिकी पुष्टिमार्गमें रुचि है कि नहीं - यह अच्छी तरह परीक्षा कर लेनेपर तथा आनेवाला सचमुचमें जिज्ञासु है यह जान लेनेपर उसके प्रश्नके अनुरूप उसे सेवादिक (वृत्त्यर्थ प्रदर्शन नहीं प्रत्युत केवल) उपदेश करना चाहिये. (त.दी.नि. सर्वनि. २५५-२५६).

(ङ) जो महाप्रभु-प्रभुचरणके वचनोंसे (तनुवित्तजाकी जगह तनुजा + वित्तजा जैसी) विपरीत कोई बात करता हो, या सांसारिकताको बढ़ानेकी बात करता हो (जैसे आधुनिक कई अपठित गोस्वामी आजकल कहते हैं - घरमें सेवा करनेसे गर्व हो जायेगा सो रासलीलाकी तरह भगवान छिप जायेंगे, अतः मन्दिरमें दर्शन करने आनेकी विरहोत्कण्ठा रखनी चाहिये. ताकि भेंट-सामग्रीकी उनकी दुकान चलती रहे ! परन्तु इस विधानमें यदि सत्यनिष्ठा हो तो स्वयं गोस्वामी क्यों भगवत्सेवा छोड़कर दर्शनविरहोत्कण्ठा बढ़ाते नहीं है ?) ऐसोंका संग दुष्टसंग होता है. जो अपने निजी स्वार्थके बिना कृष्णभक्तिका बोध प्रदान करता हो, जो स्वयं निरपेक्ष (वृत्त्यर्थी या कीर्त्यर्थी नहीं) हो तथा (इस निरपेक्षतावश अहंकारी न होकर) सात्त्विक हो उसका संग साधुसंग होता है. इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही अपने-पराये और महत्कुलप्रसूत गोस्वामी बालकोंके साथ भी संग करने या न करनेका निर्णय लेना चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणके हार्दको

समझकर (पुष्टिमार्गको अनुसरनेके प्रयासमें परमुखापेक्षिता नहीं रखनी चाहिये) स्वतः वहां अपनी मति स्थापित करनी चाहिये. इसीसे सभी पुष्टिमार्गीयोंके सारे कार्य सिद्ध हो जायेंगें. (शिक्षापत्र).

ये सारे वे वचन हैं जिन्हें शुद्धभावसे सुनने-पढ़ने सोचने-समझने तथा मतिकृतिरतिमें उतारनेपर विमर्शग्रन्थके ९० प्रतिशत पृष्ठ - स्याही कागज तथा समय की शुद्ध बरबादी लगने लगते हैं.

(क)

''अस्मत्कुलं निष्कलंकम्'' कारिकापर श्रीहरिरायजीकी भाषाटीकाके आधारपर उसके अनुसार संस्कृत व्याख्या लिखनेवाले श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजीने अतीव मननीय व्याख्या लिखी है. वे कहते हैं- ''यत्कृतनिवेदनेनैव अस्मत्कुलं निष्कलंकं ज्ञात्वा सदानन्देन प्रभुणा स्वाधीनीकृतम्. सकलंकत्वे अर्पणायोग्यत्वात् निवेदनं न कुर्युः, उत्तमानामेव पदार्थानां तद्योग्यत्वात्. श्रीमदाचार्यकृतस्वीयत्वभावनयैव निष्कलंकत्वं कुले ज्ञेयम्. कलंको अत्र भगवद्वैमुख्यं ज्ञेयम्''. अर्थात् महाप्रभुने अपने 'दारागारपुत्राप्तादि' के निवेदनके अन्तर्गत क्योंकि अपने समग्र कुलका ही पुष्टिप्रभुको निवेदन-समर्पण किया है, अतः श्रीवल्लभवंशको निष्कलंक समझना चाहिये. पुष्टिप्रभुने भी ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' वचनके अनुरूप निवेदिततया निर्दिष्टको निष्कलंक मानकर अंगीकार किया है. क्योंकि यदि यह कुल सकलंक होता तो निवेदनायोग्य होनेसे महाप्रभु इसे भगवानको निवेदित-समर्पित ही नहीं करते. क्योंकि उत्तम पदार्थ ही निवेदनयोग्य होते हैं. महाप्रभुद्वारा इस कुलको स्वीय मानना ही उस कुलकी निष्कलंकता है. भगवानसे विमुख होना ही यहां कलंक है.

यदि सोनाकी कटोरीकी वार्ताप्रसंगके आधारपर हम यह खोजनेका प्रयास करें कि कब महाप्रभु हमें अपना = स्वीय मानना चाहेंगें और कब वे अपना = स्वीय माननेसे इन्कार कर देंगें तो ये सुस्पष्ट शब्दावली सामने आती है - ''जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो

षसो कबहू देवद्रव्य न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो. वाकेलिये गौअनकों खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो.'' बावजूद इसके विमर्शकारने पृष्ठ २१ पर ''महाप्रभुके भूखे रहनेके कारण उनके शिष्योंने प्रसाद ग्रहण नहीं किया'' ऐसी कुकल्पना प्रस्तुत की है तथा ''देवद्रव्य होनेके कारण नहीं परन्तु महाप्रभुने अपनी ओरसे ठाकुरजीको कुछ नहीं आरोगाया इसलिये नहीं आरोगे'' –ऐसा कुविमर्श किया है. जबकि महाप्रभुने स्पष्ट शब्दोंमें 'अपनो' शब्द वापरा है जिसका अर्थ है सकुटुम्ब महाप्रभु और संबोधित किये जाते सेवक वैष्णव भी. देवद्रव्यभक्षणका यह मोह भगवद्वैमुख्य नहीं तो और क्या है ? निश्चित ही वल्लभकुलके ५०० वर्षके इतिहासमें इससे अधिक कलंकास्पद विधान किसी गोस्वामी बालकने कभी किया नहीं होगा !

महाप्रभुके प्राकट्यहेतुको झुठलानेका यह षडयन्त्र है. महाप्रभु भूतलपर प्रकट हुए पुष्टिजीव उनके निजफलरूप निजगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजा सेवा(द्र. ''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'' – पु.प्र.म.)से वंचित न रह जाये एतदर्थ ही. स्वयं प्रकट हुए तथा अपने बाद भी पुष्टिभक्तोंके हितार्थ पुष्टिभक्तिका प्रचार चलता ही रहे तदर्थ गार्हस्थ्य स्वीकार कर वंश स्थापित किया. निर्दोष ब्रह्मकी दोषरहित सेवा दोषाक्रान्त होनेसे पुष्टिजीव भी कैसे कर पायेगा एतदर्थ पुष्टिप्रभुसे वचन भी लिया कि ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' (सि.र.). यह अशेषमाहात्म्य आपने अपने वंशमें स्थापित भी किया. फिर भी अपनेमें स्थापित उस माहात्म्यके साथ विद्रोह कर देवद्रव्योपजीवन तथा देवलकतावृत्ति का अवलम्बन करनेवाले स्ववंशज महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण या प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथचरण को क्या कभी स्वीय लग सकते हैं ? नहीं; सर्वथा नहीं.

श्रीहरिरायजीने यद्यपि इसी माहात्म्यके आत्मविश्वासका अवलम्बन करके इन नामोंकी व्याख्या कुछ इस तरहसे की है कि आधुनिक आचार्यवंशज उस वचनकी दुहाई देकर अपने सर्वविध अकाण्डताण्डवोंको अपने अशेषमाहात्म्यतया निरूपित करना चाहेंगें. तदर्थ एकबार उस अंशके अप्रकाशित

होनेसे यहां पहले उसे उद्धृत करके बादमें उसके निगूढ़ अभिप्रायका अन्वेषण करेंगें :

मूल :

'स्ववंश'पदेन 'स्थापित'पदेन च कालादिभ्यो बाहिमुर्ख्यस्य अन्यदर्शनप्रतीत्यापि नान्यथा भविष्यति इति ज्ञापितम्. यथा शैलादिमूर्तिषु महापुरुषस्थापितासु न कदाचिदपि तत्कृपया भगवत्सान्निध्यं गच्छति. तत्र साक्षात्प्रभुस्थापने किं वक्तव्यम् इति भावः. यथा शालिग्रामशिलामूर्तौ स्थापनव्यतिरेकेनापि भगवत्सान्निध्यमस्ति, पुष्टिभक्तसेवनेन पुरुषोत्तमाविर्भावो यथा भवति, तथा अत्रापि तद्वंशत्वेन माहात्म्यम् अस्त्येव परन्तु स्वमाहात्म्यं पुरुषोत्तमात्मकं स्थापितम् इति भावः. 'अशेष' इतिपदेन तत्कृतनिवेदनान्तरं सर्वेषां तथैव साक्षात्कारादि स्वस्य च लीलात्मकस्वरूपादिकम् इति भावः. (''भुविभक्तिप्रचार...स्मयापहः'' की श्रीहरिरायजीकृतव्याख्या).

अनुवाद : 'स्ववंश'पद तथा 'स्थापित'पद के प्रयोगसे यह सिद्ध होता है कि किसीको कालादिके कारण आचार्यवंशजोंमें बहिर्मुखता प्रतीत भी होती हो तो भी आचार्यवंशजोंमें बाहिर्मुख्य सम्भव नहीं है – यह ज्ञापित होता है. जैसे महापुरुषद्वारा स्थापित शैलादिमूर्तिमें महापुरुषोंपर कृपाविशेषके कारण कभी भगवत्सान्निध्य निवृत्त नहीं होता है. ऐसी स्थितिमें साक्षात् प्रभुद्वारा की गई किसी स्थापनाके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता रहती ही नहीं है – यह भाव है. जैसे शालिग्रामकी शिलामूर्तिमें स्थापनाके बिना ही नित्य भगवत्सन्निधान रहता है और पुष्टिभक्तके द्वारा सेवन किये जानेपर वहां पुरुषोत्तमका भी आविर्भाव हो ही जाता है, वैसे ही यहां भी आचार्यवंशत्वेन तो माहात्म्य है ही, उसके अलावा पुरुषोत्तमात्मक माहात्म्य स्वयं आचार्यचरणद्वारा स्थापित किया गया है – यह आशय है. 'अशेष'पदके कारण यह भी द्योतित होता है कि वंशजोंद्वारा आत्मनिवेदनकी दीक्षा दिये जानेपर लेनेवाले पुष्टिजीवको भगवत्साक्षात्कारादि तथा स्वयंका लीलात्मक

स्वरूप भी सिद्ध होगा ही. (''भुविभक्तिप्रचार... स्मयापहः''की श्रीहरिरायजीकी व्याख्या).

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आचार्यवंशजोंमें, श्रीहरिरायजीके अनुसार, स्वयं वंशकर्ता महाप्रभुद्वारा पुरुषोत्तमत्व स्थापित किया गया होनेसे कालादिदोषवश प्रतीत होती देवद्रव्योपजीविता या देवलकता, अर्थात् बहिर्मुखता भी, दोषात्मक न होकर पुरुषोत्तमलीलात्मक ही हैं ऐसे मानना चाहिये. तब तो स्थापित पुरुषोत्तम होनेके दावेके कारण अन्य भी अनेकविध शिष्टविगर्हित कृतियां भी हमारी पुरुषोत्तमकी लीला ही माननी पड़ेगी. बात आगे बढ़नेपर कभी कोई आचार्यवंशज स्वयं आचार्यचरण-प्रभुचरण या स्वयं श्रीहरिरायचरणोंके वचनोंको प्रामाणिक न माने तो उसे भी पुरुषोत्तमलीला ही माननी पड़ेगी. तब इनके वचनोंका कोई आचार्यवंशज खण्डन करे उसे भी पुरुषोत्तमलीला माननी पड़ेगी ! ऐसी स्थितिमें स्वयं श्रीहरिरायचरणद्वारा निर्दिष्ट ''...एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः'' कसौटी भी आचार्यवंशजोंपर लागू होगी कि नहीं ? स्पष्ट है कि श्रीहरिरायचरणके ही दोनों वचन हैं जिनमेंसे एकको प्रमाण और अन्यको अप्रमाण तो माना नहीं जा सकता है. अतः 'व्यवस्थित विकल्प'न्यायका समाश्रयण करना पड़ेगा.

इसीका निरूपण श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी(वदनानलदास)ने इन्हीं नामोंपर लिखी अपनी व्याख्यामें किया है. यह व्याख्या भी अभी प्रकाशित नहीं हो पाई है अतः उस अंशको अविकल उद्धृत करके ही कुछ विचार करना उपयोगी होगा :

(१) ननु वंशीयानां तथासामर्थ्याभावात् कथं तत्प्रचार इत्यतः 'स्ववंशे'इति. स्वभूतेषु (स्वभूते !) पुत्रपौत्रादिरूपवंशे स्थापितम् अशेषं ''नमामि हृदये शेषे''इति कारिकोक्तं स्वहृदयस्य अन्तरंगलीलाधारत्वेन यत् शेषत्वं तद्व्यतिरिक्तं स्वस्य उपदेशेन जनोद्धारार्थम् अवतीर्णस्य तावन्मात्रं नामदानेन जनोद्धाररूपं माहात्म्यं येन तादृश इति अर्थः. तत्र तावद् वंशस्थापनेन अन्यदापि तद्द्वारा जनान् उद्धरति गुरुस्तु स्वयमेव. (२) 'स्थापित'पदेन आगन्तुकत्वम् उक्तम्. तेन प्रयोजनसिद्धौ ''यावदधिकारमवस्थिति-

राधिकारिकाणाम्''न्यायेन पृथुवत् तत् तिरोभवति इति सूचितम्. तस्य भगवद्धर्मत्वेन अपहतपाप्मत्वात् न आधारदोषसम्बन्धः. (३) जनोद्धारार्थमेव तत्स्थापनात् स्वोद्धारार्थं तु पृथुवत् तेनापि यत्नः कर्तव्यएव. (४) उपदेशार्थमेव एतत्स्थापनात् तदनधिकारवति स्त्रीपुत्र्यादौ न तत्स्थापनम् इति ज्ञेयम्. न च 'नर'पदस्य जीवगतपुंस्त्ववाचकत्वेन तत्रापि अधिकार इति वाच्यं, कृष्णसेवा-दम्भादिराहित्य-श्रीभागवततत्त्वज्ञतान्यथानुपपत्त्यैव एतत्प्राप्तेः 'नर'पद(स्य !)म् अनर्थकत्वं स्यात्. नच पुत्रेष्वपि धर्मान्तरत्रयाभावे न अधिकारः स्याद् इति वाच्यं, ''प्राचाम् आचार्याणाम्''* इति भक्तिहंसोक्तन्यायेन तदुपपत्तेः. नच नरत्वाभावेपि तथा स्याद् इति वाच्यं, नरत्वस्य स्वरूपान्तर्गतत्वेन स्वरूपयोग्यतापा-दकधर्मत्वात्. अतएव तत्र स्नेहस्यैव कृष्णसेवादिधर्म-कारणीभूतस्य प्राचीनगतत्वेन उपपत्तिः उक्ता नतु नरत्वस्य. अतो नरत्वं तु अपेक्षितमेव इति ज्ञेयम्. अतएव टिप्पणान्तरे(श्रीगोकुलनाथकृते)पि 'वंश'पदं पुत्रपरत्वेन व्याख्यातं नतु पुत्रीपरम् इति भावः. (५) ननु एवं सति जनोद्धारेपि वंशीयानां तु स्वस्मिन् तादृशमाहात्म्यज्ञानेन प्रत्युत गर्वरूपो दोषएव सिद्धः इत्यत आहुः 'स्मयापह' इति, गर्वनिवर्तक इति अर्थः. स्वरूपबलेनैव दोषं निवर्त्य जनानि च तान्यपि उद्धरिष्यति इति भावः. (श्रीविठ्ठलेशात्मज 'वदनानलदास' श्रीवल्लभजीकृत ''भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः''की व्याख्या).

(*''आधुनिकानाम् उपदेष्टृणामपि स्नेहाभावेपि तन्मूलभूतानां प्राचाम् आचार्याणां तद्वत्त्वेन तदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः'' - भक्तिहंस.)

कुल मिलाकर इसमें इतनी बातें कही गई हैं: (१) महाप्रभुकी तरह उनके वंशजोंमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी सर्व शक्तियां नहीं हैं. ''नमामि हृदये शेषे'' कारिकामें वर्णित भगवानकी अन्तरंगलीलाका आधार बन पाये ऐसा शेषात्मक हृदय न होनेपर भी महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तोंको दोहराते हुए पुष्टिजनोंके उद्धारार्थ 'कृष्ण'नामवाली अष्टाक्षरमन्त्र तथा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र की दीक्षा देनेके अधिकारी होनेका माहात्म्य अपने पुत्र-वंशमें महाप्रभुने स्थापित किया है. अर्थात् अपने बाद अपने वंशद्वारा भी पुष्टिजीवोंका उद्धार करनेका सामर्थ्य महाप्रभुमें होनेसे वे ही गुरु हैं (वंशज नहीं). (२) 'स्थापित'पदके प्रयोगके कारण यह

माहात्म्य भी उनमें आगन्तुकधर्म है, स्वयंसिद्ध नहीं. अतः प्रदान करते समय तात्कालिक प्रकट कर बादमें तिरोहित रहता है. जैसे पृथुमें विष्णुका आवेश प्रकट होता तथा तिरोहित होता माना गया है. जनोद्धारकता धर्म आधुनिक वंशजोंका धर्म न होकर भगवद्रूप आचार्यचरणका ही धर्म होनेसे अपने आधारीभूत आधुनिक गोस्वामिओंके निजी दोषोंसे दूषित नहीं हो पाता. (जैसे अपवित्र मलिन वस्तुओंमें भी व्यापकतया रहनेपर भी सर्वव्यापी परमात्मा मलिन अपवित्र नहीं होता). (३) अतएव आत्मोद्धारार्थ तो महाप्रभुके वंशजोंको भी महाप्रभूपदिष्ट प्रकारको अनुसरते हुए निजप्रयत्न करने ही पड़ेंगें !** (४) यह माहात्म्य केवल मन्त्रोपदेशार्थ ही स्थापित होनेसे (अर्थात् हवेलिओंमें भटकती दर्शन-मनोरथ-मठडी-मोहनथालार्थी पुष्टिमार्गीय जनताके वित्तको अपने तनरूपी मोरी = 'कन्ड्यूईट पाईप'द्वारा पुष्टिप्रभु तक पहुंचानेको निजवंशमें माहात्म्यस्थापन नहीं किया गया है) मन्त्रोपदेशका जिन्हें अधिकार नहीं ऐसी महाप्रभुके वंशकी पुत्रिओं तथा पत्निओं में वह माहात्म्य नहीं होता. अतएव गुरुके लक्षणमें 'नर'पदका प्रयोग किया गया है. वंशज पुत्रिओंमें गुरुत्वलक्षणघटक कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता हो परन्तु नरत्व न हो तथा वंशज पुत्रोंमें गुरुत्वलक्षणघटक नरत्व हो परन्तु कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता न हो - इन दोनों स्थितिओंमें वास्तविक गुरु तो महाप्रभु ही निजस्वरूपबलसे बनते हैं.ऐसी स्थितिमें पुत्री या पत्नी में दीक्षादानका अधिकार जो मान्य नहीं किया गया है, उसमें हेतु यही है कि महाप्रभूपदिष्ट गुरुलक्षणान्तर्गत 'नरं'पदके साथ प्रभुचरणनिर्दिष्ट ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः''पदावली पुष्टिमार्गीय गुरुकी स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ है. (अर्थात् फलमुखयोग्यता तो कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता के कारण ही आती है). अन्यथा फलमुखयोग्यताके निरूपणमें 'नरं'पदका प्रयोग निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा. (५) वंशज पुत्रोंमें भी अपने उस स्थापित माहात्म्यके कारण, यदि गर्व-''हम पुष्टिजीवोंके उद्धारक हैं''ऐसा पैदा होता हो तो, यह उन्हें समझ लेना चाहिये कि यदि वे श्रीभागततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण भी हों तब भी पुष्टिजीवको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजन करने योग्य बनानेका

उनका माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर महाप्रभुद्वारा स्थापित ही है. अतः जब वंशज भागवततत्त्वज्ञ न हों, या कृष्णसेवापरायण न हों, या दम्भादिरहित न हों तब साधारण पुष्टिजीवोंके जैसे इन निजवंशजोंके भी दोषोंको स्वरूपबलसे निवृत्त करनेका सामर्थ्य स्मयापहर्ता स्वयं महाप्रभुका ही है. अतएव गुरुलक्षणके बाद महाप्रभुने ''तदभावे स्वयं वापि...परिचर्यां सदा कुर्याद्'' (त.दी.नि. सर्वनि. २२८) उपदेश दिया है.

(**कुछ पहलवानछाप बुद्धिवाले अपठित आचार्यवंशज आजकल वैष्णवोंको बरगलाते हैं कि षोडशग्रन्थके आदेश तो सारेके सारे वैष्णवोंकेलिये ही महाप्रभुने प्रकट किये हैं, अपने वंशजोंकेलिये तो केवल शिक्षाश्लोकी है. इसमें मूल कारण यही है कि तनुवित्तजा और गृहसेवा के सिद्धान्तमुक्तावली और भक्तिवर्धिनी में उपदिष्ट नियम गोस्वामिओंपर कहीं लागू न हो जायें! परन्तु यही बात भी यदि सच मानकर चलें तो सिद्ध हो जाता है कि महाप्रभुको वैष्णवोंके बहिर्मुख होनेकी आशंका नहीं थी अतः केवल भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका उपदेश उन्हें दिया तथा वंशजोंके बहिर्मुख होनेकी प्रबल सम्भावनाओंका विचार कर शिक्षाश्लोकीका उपदेश किया होना चाहिये.)

इस तरह श्रीवल्लभजीकी व्याख्याके सविवरण भावानुवादके पांचों अंशोंको हृद्गत करनेपर यह सिद्ध होता है कि श्रीहरिरायजीद्वारा वर्णित पुरुषोत्तमता स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ ही है, फलमुखयोग्यताके निरूपणार्थ नहीं. जैसे शालिग्राममें नित्य भगवत्सन्निधान होनेके बावजूद पुष्टिभक्तद्वारा सेवित होनेपर ही पुष्टिपुरुषोत्तमता प्रकट होती है – ऐसा श्रीहरिरायजीने स्वीकारा है, ठीक

उसी तरह श्रीभागवततत्त्वज्ञता कृष्णसेवापरायणता दम्भादिरहितता गुण आचार्यवंशजोंमें हों तभी ऐसे वंशजोंका संग फलमुख साधुसंग हो सकता है. अन्यथा स्वयं बुद्धके जैसे साक्षात् भगवदवतार होनेपर भी उनके नास्तिक्यपूर्ण उपदेशोंके ग्रहणार्थ उनका संग साधुसंग न होकर दोषपूर्ण संग माना गया है, वैसे ही महाप्रभुके इन वंशजोंकी पुरुषोत्तमताकी गति भी समझनी चाहिये. यह बात स्वयं श्रीहरिरायजीके (ग) तथा (ङ) भागोंमें संकलित वचनोंके आधारपर स्पष्ट हो जाती है.विशेषतः, ''तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि''–''अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः'' –''महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः''शब्दावलीके निगूढ़

भावोंका अवगाहन करनेपर भी यह स्पष्ट हो जाता है.

अतएव लेखकार श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजीकी भी अप्रकाशित सर्वोत्तमस्तोत्रकी व्याख्यामेंसे इन नामोंकी व्याख्याके अंश भी यहां मननार्थ हम उद्धृत करना चाहेंगें :

मूल: 'भुवि' इति. नित्यलीलायां तु स्वस्य आस्यरूपत्वेन स्वदर्शनबलाद् वाक्यवेणुनादादिभिः भक्तानां भक्तिः भवति. भुवि तु तदभावाद् अन्वयेनैव सा भवतीति तदैकप्रचारार्थम् अन्वयकर्ता नतु लोकवद्, अलौकिकत्वात्. ...'अन्वय'पदेन स्वपुत्रद्वारापि परम्परया वंशजननेच्छा सूचिता. वंशो द्विविधो – विद्यया जन्मना च. तत्र विद्यया शिष्यरूपो जन्मना पुत्ररूपः. तत्र विद्यावंशे तु आरोपितसामर्थ्येन सर्वोद्धारः तथा भवेद् इति तदर्थम् आहुः 'पिता' इति. स्वजनक इति अर्थः. एतेन स्वस्य भुवि भक्तिप्रचारकर्तृत्वम् उक्तम्. तेन साक्षात्पुष्टिसम्बन्धस्तु साक्षाद्वंशेनैव भवति; शरणसम्बन्धस्तु अपरेणापि भवति इति सूचितम्. अतएव पुरुषोत्तमदासादीनां शरणदानाज्ञा. ननु साक्षाद्वंशेपि तद् आरोपितं भवेद् इति आशंक्य आहुः 'स्ववंशे...' इति. 'स्व'पदेन पुत्ररूप वंश उच्यते, तत्रैव अशेषमाहात्म्यं स्थापितम्. 'स्व'पदेन साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धि निरूपितम्. तेन अशेषमाहात्म्यं श्रीअग्निकुमारेष्वेव शेषं तु सर्वत्रैव इति सूचितम्. यद्वा अशेषमाहात्म्यं सर्वत्रापि अन्यथा तद्द्वारा पुष्टिभक्तिप्रचारो न स्यात्, कालस्य बाधकत्वात्. तस्मिन् स्थापिते तस्य अबाधकत्वम्. यद्वा ''दीपाद् दीप'' इति न्यायेन स्वस्मिन् सिद्धमेव अशेषमाहात्म्यं, स्थापनं तु स्वातिरिक्तेष्वेवेति 'स्थापितम्' इति उक्तम् . . . यद्वा स्मयो = गर्वो ''वयमेव जगदुद्धारका'' इति; तस्य तथा. स्वमाहात्म्यस्थापनादेव तथात्वं न स्वतः इति. (लेखकार श्रीवल्लभजीकृत ''भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः''की व्याख्या).

भावानुवाद: वंशस्थापनाकी आवश्यकता भूतलपर है,

क्योंकि नित्यलीलामें तो मुखारविन्दरूप होनेसे महाप्रभु अपने दर्शन–वचन–वेणुवादनादि द्वारा भक्तिभावको पोषित करते ही हैं. भूतलपर उस रूपमें अवस्थित न होनेके कारण ही वंशद्वारा भी भक्तिका प्रचार करते हैं. स्वयं अलौकिक होनेके कारण केवल उसी प्रयोजनसे आपने वंशस्थापना की है–किसी लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं. 'अन्वय'पदके प्रयोगसे यह भी सूचित होता है कि अपने पुत्रके वंशद्वारा भी आगे भक्तिके प्रचारका कार्य चलता रहे. वंश दो तरहसे चलता है – एक विद्यासे दूसरा जन्मसे. विद्यावंशमें शिष्य प्रकट होते हैं, जन्मवंशमें पुत्र. विद्यावंशमें प्रकट हुए शिष्यमें गुरु अपने सामर्थ्यका आरोपण करता है ताकि शिष्य भी सर्वोद्धारक बन पाये. ऐसा परन्तु महाप्रभुने पुष्टिमार्गमें करना चाहा नहीं इसलिये प्रभुचरणने 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्' नामके साथ 'पिता'नाम भी जोड़ा है. अर्थात् महाप्रभु स्वयंके जनकपिता हैं. इससे सिद्ध होता है कि प्रभुचरणका प्राकट्य भी भक्तिप्रचारार्थ ही है. साक्षात्पुष्टिसम्बन्ध साक्षाज्जात पुत्रवंशसे होता है तथा शरणसम्बन्ध विद्यावंशसे भी. अतएव पुरुषोत्तमदासजी आदि वैष्णवोंको शरणमन्त्रकी दीक्षा प्रदान करनेकी आज्ञा दी गई थी. साक्षात्पुत्रवंशमें निजसामर्थ्यको आरोपित क्यों नहीं माना जाता? इसलिये कि साक्षात्पुत्रवंशमें आपने अपना पुरुषोत्तमसम्बन्धी अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है. प्रभुचरणमें ही पुरुषोत्तमसम्बन्धी यह अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है, अन्यत्र तो शेषमाहात्म्य ही स्थापित किया गया है. अथवा सर्वत्र अशेषमाहात्म्यकी स्थापना महाप्रभुने की है – ऐसा भी स्वीकारा जा सकता है. क्योंकि महाप्रभुके अशेषमाहात्म्यके स्थापित हुए बिना कोई पुष्टिभक्तिका प्रचार कर नहीं पायेगा. क्योंकि कलिकालके बलवान होनेके कारण (वंशज भी तनुवित्तजा सेवाकी जगह आजीविकोपार्जन और भावसंगोपनके उपयोगी निजगृहकी जगह भावप्रदर्शनकी दुकान ही चला पायेंगे अतः) भक्तिमार्गके प्रचारमें बाधा उपस्थित हो ही जायेगी. अथवा दीपसे जुड़ते दीपकी तरह प्रभुचरणमें तो अशेषमाहात्म्य स्वयंसिद्ध है परन्तु अन्यत्र वह स्थापित हो तभी सम्भव है . . . ''हम जगतके उद्धारक हैं (जिस मोहसे पनपी भ्रान्तिके वश

आज पुष्टिजीवैकधर्मको 'विश्वधर्म'के रूपमें प्रचारित किया जा रहा है)'' –ऐसा घमंड महाप्रभुने दूर कर दिया है. क्योंकि महाप्रभुसे अतिरिक्त सभी पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारकोंमें वह माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर स्थापित हो तब ही हो सकता है अन्यथा नहीं.

इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल महाप्रभुके वंशमें जन्म लेनेसे ठाकुरजीको उद्देश्य करके पराये लोगों, अर्थात् दर्शनार्थी जनों, द्वारा धरी गई भेंट–सामग्रीपर गुरुत्वके बलपर स्वच्छन्दतया पूर्ण स्वत्व स्थापित नहीं हो सकता. वह तो देवद्रव्य रहेगा ही कि जिसके उपभोग करनेपर महाप्रभु भी अपना वंशज माननेसे भी इन्कार कर देंगें – ''मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.'' इससे बड़ा कलंक या लांछन भक्तिप्रचारार्थ प्रकट किये गये वंशपर और क्या लग सकता है !

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी स्वमुखसे यह तो स्वीकारते ही हैं कि ''परन्तु ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तुको ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना (इन शब्दोंपर ध्यान देना आवश्यक है –गो.श्या.म.) उपायनकर्ता ग्रहण नहीं कर सकता.'' (विमर्श पृ.१९). तब प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं स्वीकार सकता? इसका उत्तर विमर्शकारने यूं दिया है– ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही पूर्ण स्वत्व होता है अतः उपायनकर्ता पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते.'' (विमर्श पृ.१८). बावजूद इस स्वीकृतिके ''गुरुका ही पूर्ण स्वत्व आनेसे देवद्रव्यके भक्षणका दोष सर्वथा आता नहीं. यहां यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त विचार गुरुघरके ठाकुरजीकी सेवामें विनियुक्त करने हेतु आनेवाले द्रव्यसे सम्बन्धित है.'' (विमर्श पृ.१६) तथा ''श्रीमहाप्रभुजीने इस द्रव्यका स्वीकार नहीं किया अतः उसमें देवद्रव्यत्व है. महाप्रभुजीद्वारा उस द्रव्यका स्वीकार किये जानेपर उसका देवद्रव्यत्व नष्ट होता...'' (विमर्श पृ.२२) –ऐसे विचित्र विधान और कर दिये हैं.

ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना, स्वप्रदत्त या परप्रदत्त, जिस द्रव्यपर ठाकुरजीका स्वत्व हो उसे अपनी स्वच्छन्द इच्छाके आधारपर कोई भी गुरु या शिष्य स्वोपभोगार्ह पूर्ण स्वत्व कैसे मान सकता है ? अन्यथा मान लीजिये (वैसे

आधुनिक धनलोलुप हम गोस्वामिओंसे तो यह शक्य ही नहीं फिर भी केवल विचारार्थ ही हम युक्ति दे रहे हैं): किसी वैष्णव ब्राह्मणके घर बिराजते ठाकुरजीको किसी गोस्वामी गुरुने बेशकीमती हीरेका हार भेंट धरा हो या सोनेकी कटोरी भेंट धरी हो तो क्या उस वैष्णवको वह भेंट स्वीकार लेनी हो तो वह देवद्रव्य नहीं रह जायेगा ? अर्थात् न स्वीकारनेपर ही क्या देवद्रव्य बनेगा ?

जिसे उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है उसके स्वीकार या अस्वीकार को ही स्वत्वनिर्धारणमें उपयोगी माना जा सकता है, अन्यके नहीं. उदाहरणतया प्रभुचरणद्वारा श्रीबालकृष्णलालजीको पधरानेकी इच्छा प्रकट करनेके बावजूद श्रीयदुनाथजीने उन्हें स्वीकारे नहीं थे, अतः उनका पूर्ण स्वत्व स्थापित न हो पाया.फलतः''दाने हि न स्वविनियोगः''नियमके अधीन स्वयं प्रभुचरण या उनकी गादीपर बिराजनेवाले श्रीगिरिधरजीके वंशज न भी ले सकते हों, एतावता तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके घरमें उनके अपने पूर्ण स्वत्वके कारण एकबार वहां बिराजते ही तीसरे घरके बालक पूर्ण स्वत्वके दावेके साथ क्यों नहीं ले सकते ? तृतीय लालजीके तथा उनके वंशजोंके स्वीकार लेनेपर प्रभुचरणनिधि श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीपरसे श्रीयदुनाथजीकी स्वत्वनिवृत्ति क्या विमर्शकारको मान्य होगी ? हो तो फिर बावेला ही किस बातका मचाया जा रहा है ! क्योंकि श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीके दानकर्ता प्रभुचरण पुनः नहीं ले सकते एतावता तृतीय लालजी या उनके वंशज नहीं पचा सकते ऐसा तो फिर कहा नहीं जा सकेगा !

अतएव नवरत्नप्रकाशमें ''दाने हि न स्वविनियोगः न तु निवेदने''के बजाय ''दाने हि न विनियोगः'' पाठ क्यों नहीं दिया ? –ऐसा प्रश्नाडम्बर विमर्शकारने किया है (विमर्श पृ.१५७). साथ ही साथ हास्यास्पद अपसिद्धान्त एक यह भी स्थापित किया है कि ''पुष्टिमार्गमें 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम' कहकर दान होता नहीं अतः प्रसादी वस्तुके ग्रहणमें दोष नहीं.'' (विमर्श पृ.२७) जब दान होता ही नहीं तो न तो निषेधकी आवश्यकता थी और न स्वविनियोगके निषेधकी या परविनियोगकी अनुमति की भी.

''तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम'' यह कहकर जैसे दान नहीं देती, वैसे ही दर्शनार्थी जनता ''गुर्वाराध्याय भगवत्स्वरूपाय निवेदयामि–समर्पयामि इदं न मम'' कहकर समर्पण भी कहां करती है ? फिर उसपर गुरुका पूर्ण स्वत्व कैसे प्रकट हो जाता है, समर्पणकर्ताके बोले बिना ? देवद्रव्योपजीविताकी वृत्तिकी वकालत करनेको जिस सैद्धान्तिकी वास्तविकताको विमर्शकार यहां छिपा रहे हैं, वह यह है कि प्रभुचरणने ''तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वात् इच्छायाश्च ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. वस्तुतस्तु इच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य'' (नव.प्रका. १) आक्षेपके सन्दर्भमें यह दान और निवेदनका पार्थक्य बताया है. अतः उपायनीकृत द्रव्य या सामग्री का स्वोपभोग साक्षाद् भगवदाज्ञाके बिना अधर्म्य देवद्रव्योपजीवन होता है – यही यहां विवक्षित है. क्योंकि 'स्वविनियोग' या 'भगवद्विनियोग'के विकल्प ही यहां सन्दर्भोपात्त हैं; दानकर्ता या दानानुमन्ता यहां 'स्व'पद या 'पर'पद से विवक्षित नहीं हैं. निवेदनमें देवस्व ही उत्पन्न नहीं किया जाता होनेसे स्वविनियोग अनुमत ही है और उचिततर भी है. इसमें 'न तु निवेदने' अंशको छोड़कर विमर्शकारद्वारा दान–निवेदनके पार्थक्यको भुलाकर व्याख्यान करना जननेत्रोंमें धूलिप्रक्षेपणकी उनकी मनोवृत्तिको उजागर करता है ! अतः सिद्ध होता है – भगवद्वंशजात होनेपर भी वृत्त्यर्थ भगवदाराधना देवोद्दिष्ट या देवाराधनार्थोद्दिष्ट परद्रव्यके दानसे निर्वाह्य होनेके कारण विगर्ह्य ही होती है. भक्त्यर्थ भगवत्सेवामें तनुवित्तजाका ऐक्य रहता ही है तथा वृत्त्यर्थ भगवत्सेवामें तो तनुजा और वित्तजा का पार्थक्य करना ही पड़ेगा. और इसकेलिये महाप्रभुने यदि वंशस्थापन किया होता तो ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्'' उनका नाम नहीं रह जायेगा ! निजाचार्यचरणके नामको ''भुवि आजीविकालाभकृते स्वान्वयकृत्'' रूपमें बिगाड़नेकी ही वह तो बात होगी. प्राचीन श्रीवल्लभोंके बारेमें तो निजाचार्यके नामको बिगाड़नेकी बात स्वप्नमें भी नहीं सोची जा सकती थी. आधुनिक श्रीवल्लभोंकी तो कथा कुछ और ही है !

(ख)

इस विभागमें प्रस्तुत वचन श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणका है, जो

साधनदीपिकासे उद्धृत किया गया है. उन्होंने उन मौलिक हेतुओंको शृंखलाबद्ध किया है जिनके वश महाप्रभूपदिष्ट ''कृष्णसेवापर-दम्भादिरहित-श्रीभागवततत्त्वज्ञ-नर'' लक्षणयुक्त गुरु आवश्यक बनता है. भक्तिको महाप्रभुने पंचमपुरुषार्थतया मान्य किया है अतएव 'सेवाफलविवरण'ग्रन्थमें 'सेवाके तीन फल' कहनेके बजाय 'सेवा करते समय तीनमेंसे किसी एक तरहका फल होता है' यही कहा है: ''सेवायां फलत्रयं''द्वारा. सेवाकी इसी फलावस्थाका निरूपण ''मानसी सा परा मता'' (सि.मु.) वचनद्वारा किया गया है. यह वही अवस्था है जिसे 'भक्तिवर्धिनी'ग्रन्थमें ''यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' वचनद्वारा भक्तिकी व्यसनावस्थाके रूपमें भी वर्णित किया गया है.

इन सभी वचनोंका कुल निष्कर्ष यही है कि पुष्टिमार्गमें भक्त या भक्त्यर्थी ही भगवत्सेवाके अधिकारी हैं. क्योंकि लोकार्थी भी या तो भगवत्सेवाके कारण क्लेश ही पाते हैं या फिर उनके लोक ही नष्ट हो जाते हैं – यह भी सिद्धान्तमुक्तावलीमें निरूपित किया गया है. वृत्त्यर्थीके द्वारा की गई तो भगवत्सेवा भी नवधा भक्तिकी ही तरह केवल लौकिक व्यापार ही नहीं प्रत्युत पापकर्म ही है – यह भी भक्तिहंसके अवगाहनसे सुस्पष्ट हो जाता है. वह भक्ति ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह''के रूपमें परिभाषित हुई है. तदनुसार सर्वप्रथम माहात्म्यज्ञानकेलिये यह आवश्यक है कि पुष्टिजीव लौकिक अर्थ पुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थोंके विषय लौकिक धन एवं रसरूपादि विषयोंके मोहसे छूटकर उनसे अतीत ऐसे पुरुषोत्तमके बारेमें कुछ जान पाये, पश्चात् शास्त्रोंद्वारा विहित धर्मपुरुषार्थरूप कर्मज्ञानोपासनाके उपायोंसे प्राप्य स्वर्गादि चतुर्विध मोक्षान्तपुरुषार्थरूप फल या उनके प्रापकोंकी तुलनामें पुरुषोत्तमभक्तिकी उत्तमताको पहचान पाये. एतदर्थ पुरुषोत्तमके दिव्य गुण एवं दिव्य लीलाओं का ज्ञान अपेक्षित होता है. वह मिलता है श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रोंके श्रवणसे, वह श्रवण गुरुमुखसे करना चाहिये. तदर्थ गुरुकी अपेक्षा दिखलाई गई है.

उस पुष्टिमार्गीय गुरुके स्वरूपलक्षणतया तो हमने देखा कि महाप्रभुद्वारा श्रीकृष्णको निवेदित उनके निजवंशमें पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि परम्परामें आते 'नरं'पदबोधित पुरुष हैं.इनमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिप्रभुसे मिलानेकी स्वयंसिद्ध

सामर्थ्य न भी हो परन्तु ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाप्रदानकालमें उस सामर्थ्यकी तावन्मात्रकालिकी अभिव्यक्ति होती है. जैसे साधारण आर्थिक स्थितिवाला बेंकका कर्मचारी भी बड़ी-बड़ी लॉन, बेंकव्यवस्थाद्वारा अधिकृत होनेपर, दे सकता है. फिर भी फलमुख लक्षण तो महाप्रभुने ''कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वम्'' ही सूचित किया है.

इस लक्षणका पदकृत्य समझाते हुए महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है. यथा - जिस गुरुकेलिये सेवाका उपदेश करना कर्तव्य हो (महाप्रभुने कल्पना भी नहीं की है कि उनके मार्गमें गुरु सेवाके उपदेश देनेकी जगह वृत्त्यर्थ प्रदर्शन करने लग जायेंगें) वह स्वयं उसे उत्तम कर्तव्य मानता हो तो स्वयं क्यों नहीं करेगा ? इसलिये गुरुके लक्षणमें कृष्णसेवापरायण होना सबसे पहली शर्त है. दूसरी शर्त, महाप्रभुके अनुसार, यह है कि वह कृष्णसेवा किसी निमित्त (जैसे कि विमर्शकारने ४५ तथा १६४-१६५ पृष्ठोंपर ऐश्वर्यार्थ, शरीर-परिवारके रक्षण-पोषणार्थ, वृत्त्यर्थ आदि अनेक निमित्त भगवत्सेवाके धर्म्य माने हैं - गो.श्या.म.)के वश नहीं करनी चाहिये. अन्यथा वह दम्भ बन जायेगी. तदर्थ दम्भादिरहित होना भी आवश्यक बताया है. यहां 'दम्भादि'में 'आदि'पदके अर्थतया श्रीपुरुषोत्तमजीने काम लोभ और गाममें पूजनेकी लालसा को गिनाया है. इनका क्रमशः विमर्शकारद्वारा दिये गये निमित्तोंसे समीकरण जान लेना भी आवश्यक है: ऐश्वर्यार्थ भगवत्सेवा लोभसहित होती है. शरीर-परिवारके रक्षणपोषणार्थ भगवत्सेवा कामसहित भगवत्सेवा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाको सेव्यसुखजननके बहाने बनाकर अथवा भक्तजनोंके उद्धारार्थ प्रदर्शनोंके बहाने बनाकर करना गाममें पूजनेकी मनोवृत्तिसे किया जानेवाला दम्भ ही समझना चाहिये.

प्रसंगोपात्त विमर्शकारने जो विकल्प उत्थापित किये हैं उनका भी विचार कर लेना चाहिये :''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' -इस वाक्यमें 'अनिषिद्धप्रकार'शब्दसे 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' या 'धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार'

यों इन दोनोंमेंसे कौन सा अर्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको अभिप्रेत है ? (विमर्श पृ.१६३). इस विकल्प- प्रश्नका देवलक बालकोंके मनोरंजनार्थ विमर्शकारने क्रोडाक्रीडनक- उत्तर यों प्रस्तुत किया है: 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' यदि अभिप्रेत हो तो ''ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' यह आगेका अंश असंगत होगा. क्योंकि ऐहिक फलप्राप्तिकेलिये भगवत्सेवा विवक्षितभक्तिमार्गमें निषिद्ध है. अतः धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार ही श्रीपुरुषोत्तमजीका अभिप्रेत अर्थ है.

नितान्त बचकानी क्रोडाक्रीडनकक्रीडा करते हुए विमर्शकार यह भी कहते हैं - धर्मशास्त्रके मतानुसार केवल लाभ या केवल पूजाकेलिये ही की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अर्थात् श्रद्धारहित केवल धन कमानेकेलिये अथवा केवल प्रतिष्ठाकेलिये की जाती भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अंशतः भी भक्ति और श्रद्धाके साथ की जाती वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ भी भगवत्सेवा धर्मशास्त्रानुसार निषिद्ध न होनेसे धर्म्य ही है (विमर्श पृ. १६३-१६८).

हम देख चुके हैं कि वृत्तिका धर्मतया प्रदर्शन तथा धर्मका वृत्त्युपार्जनार्थ अनुष्ठान विवक्षित भक्तिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनोंके अनुसार निषिद्ध दम्भ ही है. अतः सर्वप्रथम तो यह विकल्पप्रश्न ही अनवसरपराहत होनेसे निज अज्ञानका प्रदर्शन है. दूसरे स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ''तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये'' वचन स्वयं विवक्षित भक्तिमार्गीय वचन है. इसके आधारपर ऐहिकफलकेलिये भगवत्सेवा जब निषिद्ध ही है तब धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानेकी आवश्यकता क्या ? क्योंकि धर्मशास्त्रमें अनिषिद्ध होनेपर भी भक्तिशास्त्रमें निषिद्ध हो तो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी हेयकोटिमें ही गणना करनी चाहिये. जिस लोकार्थीको अनिषिद्ध प्रकारसे भगवत्सेवा करनेवाला कहा गया है उसकी व्याख्या करनेको धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानी ही हो तो लगा लो ! लौटकर फिर महाप्रभुसे उस दौड़का परिणाम भी सुन लो : ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा !''

यह क्या बाललीला हुई है वह तो श्रीबालकृष्णलाल ही जानें ! विवक्षित भक्तिशास्त्रमें भक्तिहंसगत वचनके विचारमें लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का भेद हम तो समझा ही चुके हैं. वहां यह कहा ही गया है कि शास्त्रविहित होनेसे लोकार्थीकी भक्ति पुष्टिमार्गीय न होकर कर्ममार्गीय या मर्यादामार्गीय होती है. अतएव ''एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेहएव नियामकः स्नेहवतां, कर्मणि विधिवत्. तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेशएव. स च वेदाविरुद्धएवेति ज्ञेयम्'' (भक्तिहंस) यह वचन भी अनुसन्धेय है ही. इस विशोधनिकाके उपक्रममें भी सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाश(१९३-१९६)गत ''स्वतःपुरुषार्थतया अनुष्ठिता सेवा हि स्वतन्त्रभक्तिरूपा'' होती है -इस वचनके भी आधारपर वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ अनुष्ठित भगवत्सेवा यत्किञ्चित् भक्ति या श्रद्धा के सहित होनेपर भी स्वतन्त्र पुष्टिभक्ति नहीं रह जाती. इसी तरह सर्वथा भक्तिरहित भी सेवाका अनुष्ठान, यदि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ न किया जाता हो तो, स्नेहमार्गीय आचार्योपदेशानुसारी होनेपर प्रभुचरणने उसे अभिनन्दनीय ही माना है. क्योंकि आचार्योपदेशानुसारी स्वतःपुरुषार्थरूप अवृत्त्यर्थ- अप्रतिष्ठार्थ केवल भक्त्यर्थ की जाती भगवत्सेवा ही भक्तिमार्गीय होती है, प्रभुचरणके अनुसार.

अतएव श्रीकल्याणरायजीने गुरुपदयोग्यताकी तीसरी शर्त 'श्रीभागवततत्त्वज्ञं'की उत्थानिकागत ''सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः''* इस पंक्तिमें 'प्रमाण'का अर्थ भगवानके वचन अथवा सत्यरूप भगवान जिस सेवामें मूल हों परन्तु धर्म अर्थ काम या मोक्ष नहीं -ऐसे किया है (तब कहाड़ीभेंटकी आजीविका या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही यहां नहीं उठ सकता ! - गो.श्या.म.). वह सेवा स्वतः पुरुषार्थतया अथवा केवल भगवदर्थ ही होनी चाहिये - यह खुलासा भी दिया गया है.

(*अर्थात् प्रमाणमूला भगवत्सेवा पुरुषार्थरूपा होती है क्योंकि मनमें कुछ (वृत्त्यर्थ ऐश्वर्यार्थ या प्रतिष्ठार्थ करनेके) भावोंको रखकर बाहरसे (सेव्यसुखजनिका सेवाके भावके दिखावे या जगतके उद्धार करनेके उदात्त भावके दिखावे का) अन्यथाकरण फलसाधक नहीं होता.)

''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' वचनांशमें 'वीक्ष्य'पदका अभिप्राय दिखलाते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने पुष्टिमार्गकी अन्य मार्गोंसे यही विलक्षणता प्रतिपादित की है कि इस मार्गमें गुरुकी परीक्षा सबसे पहले अच्छी तरह कर लेनी आवश्यक मानी गई है. अन्यथा गुरुपदका दावेदार कृष्णसेवापरायण या दम्भादिरहित या श्रीभागवततत्त्वज्ञ अथवा नर (महाप्रभुवंशोद्भूत पुत्रसंतति) न होकर दुनियाके चक्करमें फंसा कोई अन्धा पशु भी तो हो सकता है.इसे स्वयं अन्धे होकर गुरु बना लेनेपर गुरु और शिष्य दोनोंका अधःपात ध्रुवनिश्चित हो जाता है. श्रीपुरुषोत्तमजीने यह भी खुलासा दिया है कि ''तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव सिद्ध्यति. एवं अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.'' (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२७). अर्थात् ऐसे अधिकारी गुरुसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर ही ब्रह्मसम्बन्ध फलदायक होता है. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध देनेका अधिकार जैसे लक्षणवाले पुरुषका स्वीकारा गया है वैसे लक्षणवालेसे भिन्न सभी अनधिकारी होते हैं. अतः ऐसोंसे ब्रह्मसम्बन्ध लेना ही नहीं चाहिये. इससे सिद्ध हुआ कि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवा करनेवाले इस पुष्टिमार्गमें ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेके अधिकारी नहीं होते.

उल्लेखनीय है कि इस सन्दर्भमें महाप्रभुने ''कृष्णभक्तिपरं वीक्ष्य'' न कहकर ''दम्भादिरहितं कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' कहना पसन्द किया है. इससे भी यही सिद्ध होता है कि भक्त होनेके कारण अथवा भक्त्यर्थी होनेके कारण जो कृष्णसेवापरायण होता है वही गुरु बन सकता है. वृत्त्यर्थी या प्रतिष्ठार्थी कृष्णसेवापरायण हो तब भी गुरु नहीं बन सकता. ऐसा गुरु कभी वृत्त्यर्थ या पीठाधीशत्वादि-प्रतिष्ठार्थ अपनी भगवत्सेवाके प्रदर्शनतया छप्पनभोगादिके मनोरथ करेगा ही नहीं. अतएव ऐसा ही गुरु अपने शुद्ध शुद्ध उपदेशसे, श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणके अनुसार, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भादिकी उत्ताल तरंगोंके थपेड़े खाकर भवसागरमें डूबने जा रहे पुष्टिजीवको उबारकर पुष्टिप्रभु तक पहुंचा पायेगा.

(ग)

इस विभागके वचनोंमें श्रीहरिरायचरणने भी भक्त अथवा भक्त्यर्थी

दोनोंका संग्राहक 'भक्तिमार्गीय'पद प्रयुक्त किया है. इतनी बड़ी जबरदस्त छूट देनेके बावजूद निरतिशय दयालुता प्रकट करते हुए श्रीहरिरायचरण कहते हैं कि इतना भी कोई पुरुष जब अपने आपको गुरुपदके लायक बना न पाता हो तब भी वह कमसे कम उपदेश तो श्रीमहाप्रभुके सिद्धान्तके अनुसार सच्चा सच्चा कर ही सकता है. ऐसेसे भी ब्रह्मसम्बन्ध लिया जा सकता है. उदाहरणतया स्वयं सर्दी-ज़ुकामका रोगी चिकित्सक भी सच्ची औषधि यदि चिकित्सार्थीको देता है तो चिकित्सार्थी स्वस्थ हो सकता है. रोगी चिकित्सक, परन्तु, अपने पास निदान-चिकित्साकेलिये आनेवाले रोगीको स्वास्थ्यकारी औषधि देनेके बजाय व्यर्थकी गोलियां या मिक्स्चर केवल वृत्त्यर्थ ही देता रहता हो तो रोगनिवारणके बजाय द्रव्यनिवारण या प्राणनिवारण ही अधिक सम्भव परिणाम लगते हैं! इस अवृत्त्यर्थिता अर्थात् अदम्भ पर भार प्रत्येक सोपानपर अपेक्षित है. नामत: - भगवन्माहात्म्यका उपदेश, भक्तिमार्गीय दीक्षाका उपदेश, भक्तिमार्गीय सेव्यस्वरूपप्रदान, ऐसे स्वरूपके प्रसादका प्रदान आदि. अतएव (ग)विभागीय दोनों वचनोंमें श्रीहरिरायजीने 'दम्भादिरहित' तथा 'अदम्भ' पद सावधानीपूर्वक प्रयुक्त किये हैं.

सूक्ष्मतासे विचार करनेपर आचार्यतया सम्भावित व्यक्तिके सर्वप्रथम दो मौलिक भेद सामने आते हैं: प्रथम जन्मना वंशज और द्वितीय विद्यया वंशज. प्रथम कल्पके अन्तर्गत आचार्यकुलके नर या नारी यों दो उपभेद होते हैं. यहां पुन: तीन कल्प हमारे सामने आते हैं : (१) अनिन्दित (२) निन्दित तथा (३) निषिद्ध. साथ ही साथ इन अनिन्दित आदि तीन प्रकारोंमें श्रीभागवततत्त्वज्ञता या तदनभिज्ञता के दो अवान्तर उपभेदोंमें कृष्णसेवाकथोभयपरता केवलसेवापरता या केवलकथापरता रूप स्वधर्मको भक्ततया, भक्त्यर्थितया, लोकार्थितया अथवा आजीविकार्थितया निभानेवालोंके कारण उभरते अनेक भेदोपभेदके वश गुरुतया सम्भावित कुछ गुरुपदार्ह हो सकते हैं, कुछ गुरुपदार्ह न होनेपर भी गुरुद्वारपदार्ह हो सकते हैं; और अन्य कुछ गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया भी सर्वथा वर्जनीय हो सकते हैं. इन्हें अधोलिखित सारणीके आधारपर समझा जा सकता है:

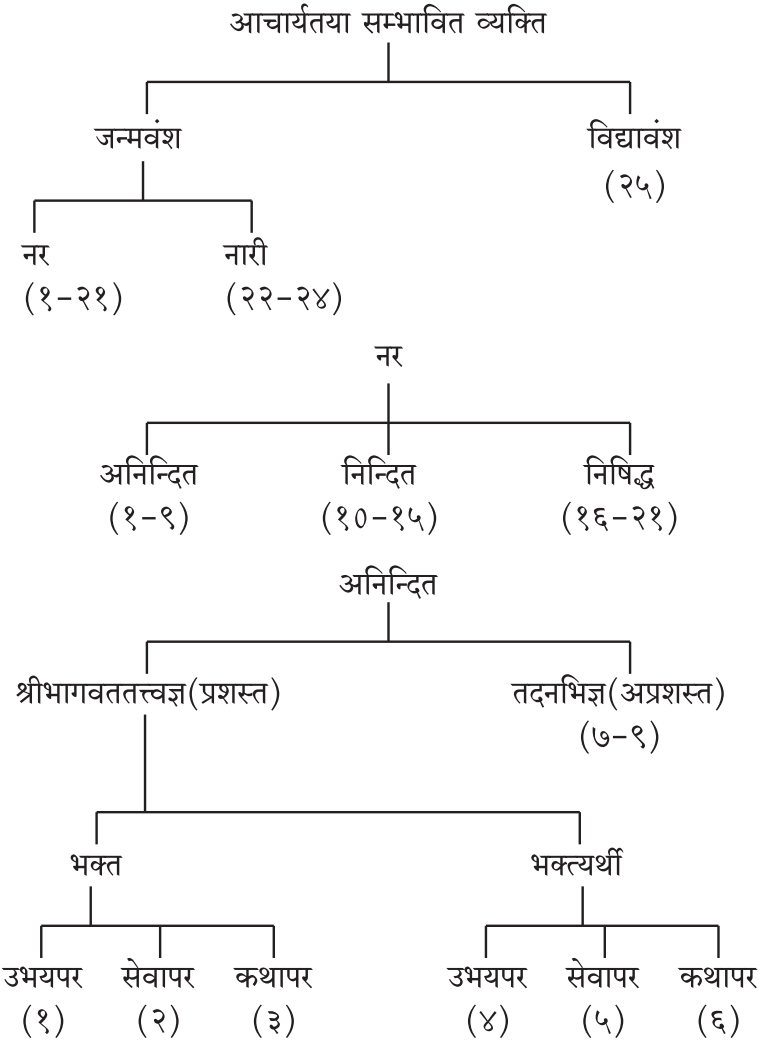

(१-६) : इनमें आचार्यवंशमें जन्म लेनेवाले पुरुषके कल्पके अन्तर्गत, जो अनिन्दित अलौकिकार्थीका उपकल्प है उसमें, जो व्यक्ति भागवततत्त्वज्ञ होनेसे और स्वयं भक्त भी होनेसे कृष्णकी सेवा-कथा दोनोंमें तत्पर हो उसे उत्तमोत्तम कक्षाके गुरुके रूपमें मान्य करना चाहिये. उससे उतरती कक्षापर केवल सेवामें तत्पर;तथा उससे भी उतरती कक्षापर केवल कथामें तत्पर, को समझना

चाहिये. जो स्वयं भक्त होते हैं वे कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी तो हो ही नहीं सकते. अत: पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष माहात्म्य, महाप्रभुका, ऐसोंमें अखण्डित स्वीकारना पड़ता है. इसी तरह स्वयं भक्त न भी हों परन्तु लोकार्थी या आजीविकार्थी न होकर शुद्ध भक्त्यर्थी होनेके कारण भगवानकी सेवा या कथा या दोनों हीमें जो प्रवृत्त होते हैं वे भी कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी बनना नहीं चाहेंगे. अतएव भक्त जितनी उत्तम कक्षाके न होनेपर भी इन्हें प्रशस्त कक्षाके ही गुरु मानने चाहिंये. भक्तोंकी तरह भक्त्यर्थियोंके भी तीन उपभेद स्पष्ट सोचे जा सकते हैं. इस तरह भागवततत्त्वज्ञकी कोटिमें भक्तिमार्गीय गुरुओंके छह प्रकार सम्भव हैं. इन्हें आदरपूर्वक गुरुतया सेवनीय माना जा सकता है. ये छहों उत्तम या प्रशस्त कल्प हैं.

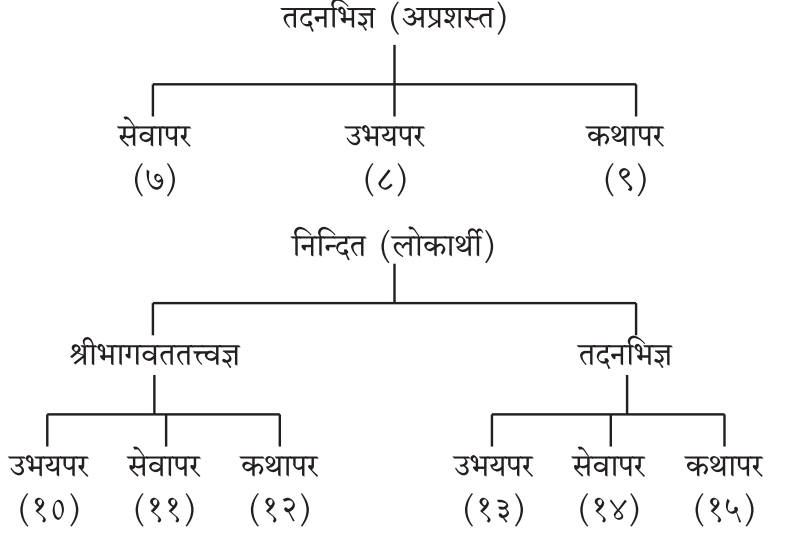

(७-१५): तीन अप्रशस्त कल्प तथा छह निन्दित कल्प- यों ये नौ कल्प, गुरुतया माननीय व्यक्तियोंकी उत्तम कक्षावालोंके कल्प न होकर गुरुद्वारतया माननीय मध्यम कक्षावाले व्यक्तियोंके कल्प हैं. इन सभी प्रकारोंको श्रीहरिरायचरणने ''अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोपि हि उपदेशः तथाभूतः गुरोरिव फलिष्यति यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेद् मतिः'' शब्दावलीसे निरूपित किया है. इनमें सातवेंसे लेकर नौवें कल्प इसलिये 'अप्रशस्त' कहे जा रहे हैं, क्योंकि ये सभी अलौकिकार्थीके प्रभेद होनेसे प्रशस्त होनेपर भी इन्हें

गुरुतया मान्य करनेमें कुछ दिक्कत है. गुरुका उत्तरदायित्व होता है कि वह भागवतप्रमाणमूलक उपदेश शिष्यको प्रदान करे, मनघडंत उपदेश नहीं. प्रस्तुत कल्पगत व्यक्ति, परन्तु, स्वयं गतानुगतिकतया पुष्टिमार्गीय सेवाकथाके प्रकारको भलीभांति अनुसरता है पर भागवतज्ञ नहीं हैं. अतएव ऐसे अज्ञानियोंको गुरु बनानेपर कभी मनघडंत उपदेश मिल जानेका भय बना रहता है. ये अच्छे भक्त हो सकते हैं; अच्छे उपदेशक नहीं.

दसवेंसे लेकर पंद्रहवें कल्प तक लोकार्थीके पूर्वसदृश छह कल्प हैं. ''दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञम्''की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं- ''तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति...अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति''. इससे सिद्ध होता है कि काम-लोभ-मोह-दम्भादिमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश एक अलग दोष है तथा अज्ञानमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश कुछ अलग प्रकारका दोष. प्रथम निषिद्ध कोटिमें आता है जबकि द्वितीय निन्दित कोटिमें. इसी तरह भीतर कुछ ठीकसे समझ न पाना पर बाहरसे उचित रीतिसे बरतना; और न बुद्धिसे भलीभांति समझ पाना और न भलीभांति बरत ही पाना, यह एक और प्रकार गड़बड़ीका हो सकता है. इन्हीं सम्भावनाओंको लक्ष्यमें रखकर अनिन्दित कोटिके भागवतानभिज्ञ तथा निन्दित कोटिके भागवततत्त्वज्ञ के बीच रहे सूक्ष्म अन्तरको समझना चाहिये. अतः निन्दित कोटिके अन्तर्गत उत्तरोत्तर अपकृष्ट कक्षाओंवाले छह प्रकार वर्णित हुवे हैं. ये कल्प भक्तिमार्गदृष्ट्या निन्दित निम्नकक्षाओंके हैं, क्योंकि भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा के बाह्यप्रकारोंमे किसी भी निषिद्ध वृत्त्यर्थादिके प्रकारको अपनाते नहीं हैं. अर्थात् ''अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो'' वचनमें निरूपित लोकार्थीका यह प्रकार है. इसकी ही महाप्रभुने ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' कहकर निन्दा की है. फिर भी श्रहिरिरायचरण कहते हैं कि स्वयं कितनी भी निन्दनीय कक्षाका क्यों न हो, स्वयं समझता हो या न समझता हो, परन्तु महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा उपदिष्ट भजनके प्रकारको तोड़े-रोड़े बिना या छोड़े बिना उपदेश

देता हो तो ''तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति'' = इन गुरुद्वारभूतोंसे भी शिष्योद्धार सम्भव है.

(१६-२०) कल्पोंमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा करनेवाले जघन्यकोटिके निषिद्ध अधिकारियोंका संकलन हुवा है. ये श्रीभागवततत्त्वज्ञ हों या अनधीत मूढ, इनमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष स्वमाहात्म्यका महाप्रभुने अशेष अपहरण कर लिया होनेसे इनका संग सर्वात्मना त्याज्य ही होता है. ये गुरुपदके लिये या गुरुद्वारपदकेलिये भी सर्वथा अयोग्य होते हैं. इन सभी प्रकारोंमें, आचार्यवंशज होनेके कारण, स्वरूपलक्षणमें निरूपित योग्यता तो रहती है. फलमुखलक्षणमें निरूपित योग्यतासे किन्तु सर्वथा विपरीतता ही प्रकट होनेसे ये वर्जनीय होते हैं. अपवित्र पात्रमें रखा पवित्र गंगाजल भी आचमनीय नहीं रह जाता है. तद्वत् निषिद्ध महापातकी देवद्रव्योपजीवन अथवा देवलकता रूप पाषण्डके कारण ऐसे व्यक्ति सर्वथा अस्पृश्य असम्भाषणीय अदर्शनीय जब माने गये हैं तब इनका गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया संग अनुमोदनीय कैसे हो सकता है ? स्वयं महाप्रभुने ऐसोंको अपना माननेसे जब इन्कार कर दिया है तब इन्हें वाल्लभ सम्प्रदायमें गुरु या गुरुद्वार कैसे माना जा सकता है ?

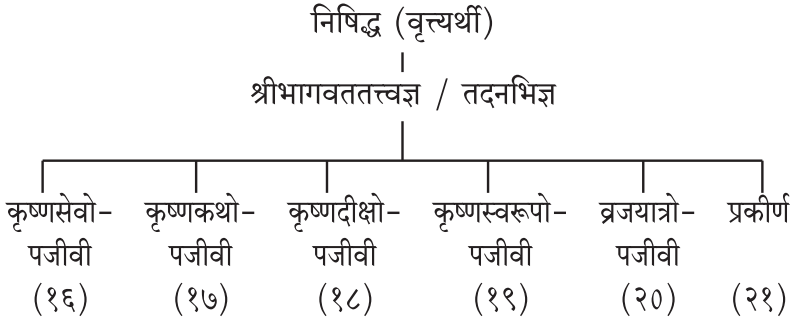

यहां प्रकीर्णके अन्तर्गत मालापहेरामणीमें उछामणी आदिकी भेंट बटोरनेवाले, कहाड़ीभेंट, यमुनायाग, लोटीजीकी नीलामी, प्रसादविक्रय आदि पुष्टिमार्गमें निषिद्ध वृत्तियों द्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले तथा अन्य भी लोक-वेदमें सत्पुरुष या धर्माचार्य ब्राह्मणकी हैसियतसे निषिद्ध वृत्तिओंका समाश्रयण

करनेवालोंका परिगणन कर लेना चाहिये. (विशेष जिज्ञासापूर्त्यर्थ पृ. ३८२-३८३ देखें).

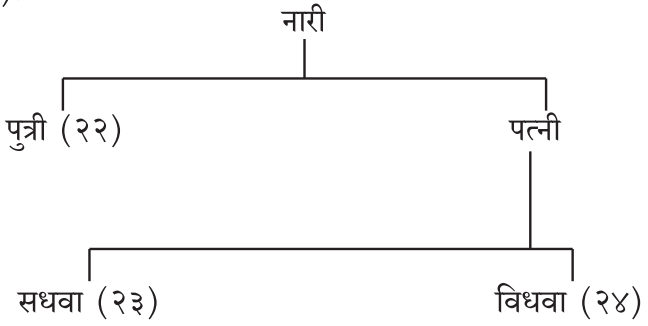

(२२-२४) इन तीन कल्पोंमेसे प्रथममें आचार्यवंशसे सम्बद्ध होनेपर भी गुरुके लक्षणान्तर्गत नर न होनेके कारण अनुपनीतता है अतः अद्विजता है. क्योंकि महाप्रभुके अनुसार ''ब्राह्मण्यं न जातिः, व्यक्तिसद्भावेपि तस्यापगमात्, 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' इति वाक्यानुरोधात् च...ब्राह्मण्यं नाम काचिद् देवता. सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणा' इति उच्यन्ते...सा च उपनयनेन देहे समायाति.'' (सुबो. २।१।३७). अतः आचार्यवंशजोंकी पुत्रिओंमें उनके किसी द्विजके साथ विवाहित होनेके पूर्व द्विजत्व ही नहीं होता. गुरुपदकेलिये यदि अद्विजको भी अधिकारी मानना हो तब तो पुष्टिमार्गीय सभी अद्विजोंको गुरुपदकेलिये अधिकारी मानना पड़ेगा. उनका भी ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार मान्य करना पड़ेगा. द्विजसे विवाहित होनेके बाद आचार्यवंशज पुत्रिओंमें द्विजत्व तो आता है परन्तु तब वे आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अन्यथा इन आचार्यवंशजाओंके वंशजोंका भी अधिकार मान्य करना पड़ेगा. जैसे विवाहके बाद आचार्यकुलमें परिणीत स्त्री आचार्यकुलकी हो जाती है ऐसे ही आचार्यवंशजा कन्या विवाहके बाद आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अतएव पुत्रिओंको पुष्टिमार्गीय ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करनेका अधिकार नहीं है.

आचार्यकुलमें विवाहित स्त्री अपने पतिकी विद्यमानतामें 'गुरुपत्नी' कहलाती है, 'गुरु' नहीं. अविद्यमानतामें, किन्तु, ''आचार्यकुलाद् = गुरुगृहाद् गुर्वभावे तत्पत्क्यां तत्पुत्रे तद्भ्रात्रे वा ब्रह्मचर्यम् इति ज्ञापयितुं 'कुल'पदम्''

(अणु.भा. प्रका.३ ।४ ।४७) इस वचनके बलपर गुरुत्व प्राप्त होता है. अतएव 'आचार्याणी'तथा 'आचार्या' ऐसे दो पृथक पदोंके स्त्रीलिंगमें प्रयोग व्याकरणशास्त्रमें मान्य किये गये हैं. सधवा आचार्यपत्नी होती है तथा विधवा आचार्यत्वका उत्तरदायित्व वहन करनेवाली आचार्या बन सकती है. नारीके कल्पमें इस अपवादको भी स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है.

(२५) इस कल्पके अन्तर्गत आचार्यवंशजेतर नरमें फलमुखलक्षणके विद्यमान होनेपर उत्कृष्ट भगवदीयके रूपमें उसके साथ सत्संग अवश्य किया जा सकता है–गुरुतया संग नहीं. ऐसे भगवदीयोंके साथ सत्संगादिका लाभ लेकर भक्तिमार्गमें मूल आचार्य, अर्थात् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य(= गोस्वामी श्रीगोपीनाथ एवं श्रीविठ्ठलनाथ प्रभु)चरणोंमें गुरुबुद्धि रखते हुए स्वयमेव कृष्णसेवामें प्रवृत्त होनेका कल्प भी महाप्रभुने ही समझाया है :

मूल :

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ।।

(त.दी.नि. सर्वनि. २२८).

भावानुवाद : पूर्वोक्त लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर (अर्थात् कहीं स्वरूपयोग्यता होनेपर फलमुखयोग्यतासे वैपरीत्य और कहीं फलमुखयोग्यता होनेपर स्वरूपयोग्यतासे वैपरीत्य के दर्शन होनेपर) स्वयमेव स्वतोलब्ध भगवत्स्वरूपकी सेवामें स्वतः ही प्रवृत्त हो जाना चाहिये.

इसकी व्याख्या करते हुए आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने कुछ स्पष्टीकरण दिये हैं जो प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अब सर्वथा मननीय हैं. वे कहते हैं : ''आगे चलकर कलियुगके बलिष्ठ होनेके कारण निज वंशजोंमें गुरु होनेके लायक लक्षण नहीं दिखलाई देंगें. तबकी व्यवस्था महाप्रभु समझाते हुए स्वयंमें ही गुरुत्व सीमित करना चाहते हैं. यहां ''तदभावे...'' आज्ञाका दैन्यभावपूर्वक अनुसरण करनेकेलिये यदि कोई स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता हो तो

धर्मका आभास छल या पाषण्ड नहीं मान लेना चाहिये और न मूढ़ता ही. स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले भक्त या भक्त्यर्थी को सेवाके प्रकारके बारेमें कुछ जिज्ञास्य हो तो भगवदीयोंसे मिलकर पूछकर जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये. (द्र. त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२८).

स्पष्ट है कि यह पुष्टिमार्गियोंके लिये आपत्कालीन व्यवस्था है, जो स्वयं महाप्रभुद्वारा ही उपदिष्ट हुई है.

(घ)

इस विभागके वचनोंके अन्तर्गत प्रथम वचनमें हमने देखा कि वृत्त्यर्थ कृष्णनामदीक्षाको भी निन्दनीय माना है. द्वितीय वचनमें, यद्यपि, गुरुत्वको ही वृत्तित्वेन धर्म्य माना है तो भी दोनों वचनोंकी एकवाक्यता इसी तरहसे हो सकती है कि शिष्यको उसके कर्तव्यके उपदेश करनेकी जो शास्त्रद्वारा अनुमोदित वृत्ति है उसे हमें अपनानी चाहिये.निर्धारित धनराशि लेकर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना,शिष्यवृद्धि, ख्यातिवृद्धि, प्रतिष्ठावृद्धि,ऐश्वर्यवृद्धि के चक्कर चलानेके मनोभावोंपर काबू पाना चाहिये. ''पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः'' (त.दी.नि. सर्वनि. २४३) – ''पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं, वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि, तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्'' (त.दी.नि. सर्वनि. २५३-२५४) – ''एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्. परमत्र एको दोषः – तदुपजीवनम् इति...वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः'' (त.दी.नि. सर्वनि. ६७) – ''इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति'' (त.दी.नि. भाग.नि. १।२७) आदि अनेक वचनोंके कारण तथा स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' (विमर्श पृ. १७) न्यायके आधारपर भी जैसे भगवत्स्वरूपात्मक होनेसे भागवतका वृत्त्यर्थ विनियोग उचित नहीं होता वैसे ही भगवत्सेवा या साक्षात् भगवत्स्वरूप का भी वृत्त्यर्थ उपयोग पुष्टिमार्गमें कैसे अनुमोदनीय हो सकता है ! कण्ठमें प्राण अटके हों तब भी वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका तो स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये !! स्वप्न भी दिखता हो तो उसे अपने पापोंका उसे उदय मानना चाहिये !!!

(ङ)

इस विभागके वचनोंकी (घ)विभागीय जलभेदव्याख्याके वचनके साथ एकवाक्यता करनेपर, अर्थात् ''तत्रापि वित्तदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः'' – ''यो वदक्त्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः, संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः'' वचनोंकी परस्पर एकवाक्यताके आधारपर ''अवाञ्छनीय लक्षणयुक्त गुरुका संग = दुष्टसंग'' समीकरण भी स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा कभी न कभी पुष्टिमार्गीगुरुपदाकांक्षी आचार्यवंशज गोस्वामिओंको वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार त्याज्य मानना ही पड़ेगा.

वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करनी हो तो तनुवित्तजा सेवामें तनुवित्तके द्वन्द्वको अविग्रहार्ह मानना पड़ेगा ! इस तरह जब भगवत्सेवाद्वारा धनप्राप्तिकी आशा ही रह नहीं जायेगी तब जनताकेलिये भगवत्स्वरूपके प्रदर्शनकी वृत्तिमें भी स्वतः अरुचि पनप जायेगी. फलरूपेण श्रीहरिरायचरणद्वारा उपदिष्ट आदर्श मूर्तिमान हो पायेगा – ''**तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।**

न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।

श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।

न (विमर्श)कल्पितप्रकारेण न (पीठाधीशत्वप्राप्ति)दुर्भावसमन्वयात् ।।''

(शिक्षापत्र १८ ।१२–१३).

क्या अब भी इसके भावानुवादको प्रस्तुत करनेकी अपेक्षा बची रह गई है ?

*

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

– सुबो. २ ।९ ।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवा करता हो उसे (पुष्टिसम्प्रदायमें) अधम (जघन्य गुरु एवं अनुयायी) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

उपसंहार

इस तरह प्रस्तुत विषयके वाचनिक पक्षोंके विचारके बाद उपसंहारतया अब अन्तमें विमर्शकारद्वार पृष्ठ १५३पर प्रस्तुत युक्ति–'' 'वल्लभकुलके गोस्वामी यदि देवद्रव्यभक्षण करते होते तो वंशनाश हो गया होता. क्योंकि, चौरासी वैष्णवकी वार्ताके अनुसार ''तब श्रीगोपीनाथजी कहें – 'तिहारो कहाईके श्रीठाकुरजीकी वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निर्मूलनाश होय जायेगो.' तब श्रीआचार्यजी कहें – 'हमारो मारग तो ऐसो ही है.' सो द्रव्यतें कछुक गोपीनाथजी प्रसन्न भये हते सो एक पुत्र भयो परन्तु वंश नाहीं चाल्यो''(चो.वै.भा.प्र. ३।८). अत: इस वचनमें स्थापित नियमके आधारपर वंश नष्ट हो गया होना चाहिये था परन्तु वंश तो विद्यमान है ही. इससे सिद्ध होता है कि वल्लभवंशमें किसीने देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है.' ''

साथ ही साथ– ''जो जो कुल देवद्रव्यका भक्षण करते हैं उनका निर्मूलनाश होता है'' ऐसी व्याप्ति मानी है और ''जो जो कुल निर्मूल नष्ट हुए हैं उनमें देवद्रव्यभक्षण हुआ ही होना चाहिये'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती यह खुलासा भी दिया है (सम्भवतः भूतकालकी तरह वर्तमानमें भी कई गोस्वामी बालकोंके वंश चलनावाले नहीं हैं ऐसे तथ्यके उजागर होनेसे – गो.श्या.म.).

वैसे तो देवद्रव्यभक्षण और वंशनाश के बीच उल्लिखित वार्तावचनके आधारपर जो हेतु–हेतुमद्–भावका सम्बन्ध समझमें आता है वह व्याप्तिग्राहिका सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिद्वारा ग्रहीत होता प्रत्यक्षदृष्ट सम्बन्ध तो नहीं है. इस नियमको, अतएव, आनुमानिक भी नहीं माना जा सकता. यह तो शुद्ध वाचनिक हेतु–हेतुमद्–भाव है. अतः विमर्शकारको अभीष्ट यहां श्रुतार्थापत्ति है या अनुमान – यह जिज्ञास्य बन जाता है !

इसे श्रुतार्थापत्ति स्वीकारनेपर वंशनाशाभावान्यथानुपपत्त्या वार्तामें श्रुत जो वंशनाशहेतुभूत देवद्रव्यभक्षण है, उसके अभावकी अर्थापत्ति स्वीकारनी होगी. यदि अनुमान लेते हैं तो ''श्रीवल्लभकुलं देवद्रव्यभक्षणापराधरहितम्, अनष्टवंशत्वात् वंशसातत्यात् वा, यत्र यत्र अनष्टवंशत्वं वंशसातत्यं वा तत्र तत्र

देवद्रव्यभक्षणापराधरहितत्वम्'' ऐसा कुछ आकार अनुमानका स्वीकारना पड़ेगा.

वैसे तो इस वाचनिक नियमको यौक्तिक न बनाना ही उचित था परन्तु विमर्शकारने क्योंकि वह कृत्य कर ही दिया है तो, जहांतक युक्ति जाती है वहांतक, अकाम भी यौक्तिक चिन्तनद्वारा अनुधावन करना ही पड़ेगा. परिणाम चाहे नितान्त अवाच्य अचिन्तनीय क्यों न हो पर ''उत्प्रेक्षितस्य ह्यगतिर्न विद्यते''न्यायसे विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित युक्तिके अनुसरणार्थ बाधित होकर कुछ लिखना पड़ रहा है.

स्पष्ट है कि ''यत्र धूमः तत्र वह्निः'' व्याप्तिमें ज्ञापकहेतुभूत कार्यद्वारा कारकहेतुभूत कारणकी अनुमिति की जाती है. तद्विपरीततया विमर्शकार यहां कारकहेतुभूत देवद्रव्यभक्षणको ही ज्ञापकहेतु भी बना रहे हैं:''यत्र यत्र देवद्रव्यभक्षणं तत्र तत्र निर्मूलो नाशः इति व्याप्ति'' (विमर्श पृ.१५३). जब कोई ऐसा व्याप्तिनियम घड़े कि ''यत्र वह्निः तत्र धूमः'' तब ऐसे हेतुका अयोगोलकमें व्याप्तिव्यभिचार दिखलाते ही व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है.

वैसे तो तर्कशास्त्रका यत्किञ्चित् अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी भी इस तथ्यको भलीभांति जानते ही होते हैं कि कारणसे जब कार्यका अनुमान करना हो तब कारणसामग्रीके उल्लेख करनेके बजाय सामग्रीघटक एकाद किसी कारणका हेतुतया उल्लेख करनेपर हेतु सोपाधिक बन जाता है. उदाहरणतया ''पर्वतो धूमवान् वह्नेः'' कहनेपर धूमका एक कारण जैसे वह्नि होती है ऐसे ही दूसरा कारण आर्द्रेन्धनसंयोग भी होता है. दोनोंके साहित्यके अभावमें केवल वह्निसे धूम उत्पन्न नहीं होता. अतएव ऐसे हेतुको 'सोपाधिक' कहा जाता है.

इसी तरह यदि देवद्रव्यका अभक्षण भी वंशसातत्यकी कारणसामग्री होती या देवद्रव्यका अभक्षण वंशसातत्यका एकमात्र कारण होता तो व्यतिरेकव्याप्तिद्वारा अनुमान शक्य था. देवद्रव्यभक्षणको यदि वंशसातत्यका एकमात्र हेतु या कारणसामग्री मानते हैं तो सद्योजात शिशु या मरणासन्न वृद्ध भी संततिजनक होने लगेंगें, देवद्रव्याभक्षी हों तो. अन्यथा हम जानते हैं कि वंशसातत्य कभी बीज और क्षेत्र की उभयजन्यतासे प्रयुक्त होता है. कभी

विवक्षित बीजके राहित्यसे विशिष्ट केवलक्षेत्रजन्यतासे प्रयुक्त भी हो सकता है. कभी दत्तकविधानवश भी वंशसातत्य हो सकता है. वैसे जहांतक विमर्शकारकी मान्यताओंका सवाल है इनमेंसे कुछ भी न रहनेपर किसी एकको दिये जानेवाले ठाकुरजी जिस किसीके मांथेपर बादमें बिराजमान हो जायें केवल इतनेसे हेतुके कारण भी वंशसातत्य हो जाता है! उदाहरणतया न तो श्रीयदुनाथजीकी औरसपुत्रपरम्परामें और न दत्तकपुत्रपरम्परामें ही होनेके बावजूद केवल श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजी, क्योंकि, प्रभुचरणने श्रीयदुनाथजीको पधराने चाहे थे – बस इतने ही हेतुके बलपर विमर्शकार अपने–आपको श्रीयदुनाथगृहोद्भव–श्रीयदुनाथपरम्परोद्भव–श्रीयदुनाथवंशोद्भवतया भी बिरदवाना चाहते हैं! किसीके ठाकुरजीकी ऐसी छीनाझपटी कर लेनेसे वंशसातत्यकी अश्रुतपूर्व कारणसामग्री जब स्वयं विमर्शकारने ही मान्य रखी है तब केवल देवद्रव्यके अभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु कैसे माना जा सकता है? 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य' ग्रन्थमें, अतएव, हमने सावधान करनेका प्रयास किया था कि ऐसी कारणसामग्रीकी कुकल्पना करनेपर सभी एकदूसरेके ठाकुरजीकी छीनाझपटी शुरु करके एकदूसरेके गृहोंके मालिक होनेका दावा करने लग जायेंगें! बावजूद इसके विमर्शकारने इस गम्भीर समस्यापर ध्यान देनेके बजाय मिथ्या प्रचार चालु ही रखा है. इसे सत्य माननेपर, परन्तु, यह व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है और व्याप्तिनियमको प्रामाणिक माननेपर षष्ठपीठाधीशत्व डावांडोल होने लगेगा.*

(*इस सन्दर्भमें हम अपने भी इन दो श्लोकोंको यहां उद्धृत करना चाहेंगें:
''क्रीडायां बाल्यकाले प्रभुचरणरतेः वर्द्धकत्वाद्धि यस्य
पश्चात्तु स्वात्मजेभ्यः स्वनिधिवितरणे दित्सया पुष्टभावात्।
श्रीमत्सप्तस्वरूपोत्सवभवकलहे वाल्लभैः हि स्वरूपैः
तुल्यत्वस्योपदेशात् निखिलनिधिसमस्थापनात् सेवनाच्च।।
आचार्यैर्वान्ववायैः नहि भवति भिदा सेवने पुष्टिरूपे–
ष्वित्थं सिद्धे कृतान्ते निरुपधिभजने भावभेदादनंगी–
कारेप्येवं विभक्तौ यदुपतिसदनाकारकत्वं विभाव्य
षष्ठत्वं वर्णितं ते कविभिरपि मुधा वस्तुतो बालकृष्णः।।

अर्थात् श्रीमत् विठ्ठलनाथ प्रभुचरणकी बाल्यावस्थाकी क्रीडामें रतिवर्धक होनेके कारण, बादमें अपने सप्त आत्मजोंको अपने निधिस्वरूपोंके वितरणके समय पुष्ट करके श्रीयदुनाथजीको पधरानेकी इच्छाके कारण, श्रीयदुनाथजीके मनस्तापके समाधानमें ''ठाकुरजीमें छोटो-बड़ो कहा ?'' वचनद्वारा महाप्रभुद्वारा पुष्ट किये गये सभी स्वरूपोंके साथ श्रीबालकृष्णलालकी तुल्यताके निरूपणसे भी, और सप्तस्वरूपोंके सम्मिलित अन्नकूटोत्सवमें श्रीबालकृष्णलालको साथ पधरानेके व्यवहारद्वारा भी यह सिद्धान्तित हुआ ही था कि महाप्रभुके निधिस्वरूपों या उनके वंशजोंके निधिस्वरूपोंमें परस्पर छोटे-बड़े स्वरूप होनेका तारतम्य होता नहीं है. यह निरुपधि भजनके विचारसे कही गई बात है. फिर भी किसी भावभेदवश श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको न स्वीकारनेवाले श्रीयदुनाथजीको बंटवारेमें मिले ठाकुरजी न होनेपर भी इन्हें कविओंद्वारा षष्ठनिधि माना जाता है. यह ठीक है क्योंकि षष्ठी विभक्ति कभी कारक नहीं होती. ऐसे ही यदुनाथगृह-कारक न होनेके कारण ही कविजनोंने श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको व्यर्थ ही षष्ठनिधि मान लिया है. अन्यथा श्रीद्वारकेशजी भावनावाले तथा सुरतके घरसे द्वितीय घरमें गोद आनेवाले रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी तो श्रीद्वारकाधीशके गोदके ठाकुरजी ही इन्हें मानते हैं. इसकी विस्तृत विवेचना आगामी प्रकरणोंमें की जायेगी.)

प्रकृतमें कारणताघटक तत्त्वोंके इतने वैविध्यके कारण देवद्रव्याभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु माना नहीं जा सकता है. फिर भी यदि अनुमान करना ही हो कि वल्लभकुलमें किसीने भी देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है, क्योंकि वल्लभकुलका निर्मूल नाश नहीं हुआ है. जहां-जहां देवद्रव्यभक्षण किया जाता है वहां वहां निर्मूलनाश हो जाता है, अर्थात् वंशसातत्य नहीं रह जाता है, ''यन्नैवं तन्नैवं''. तो ऐसे हेतुको अप्रयोजक, अर्थात् ''हेतुरस्तु साध्यं मास्तु'' कहकर अनुकूलतर्कके अभावमें दोषयुक्त ही मानना पड़ेगा.

फलरूपेण यदि श्रुतार्थापत्ति विमर्शकारको अभीष्ट है ऐसा मानकर चलें तो उसमें अन्यथानुपपत्तिका बल होना आवश्यक होता है. वह पूर्वपरिगणित अनेकानेक हेतुओंके कारण अन्यथा उपपत्तिकी सम्भावनाओंको विचारनेपर श्रुतार्थापत्तिको सर्वथा कुण्ठित ही बना देता है.

ऐसी निरर्थक बातोंसे विमर्शकार वस्तुतः किसे बरगलाना चाहते हैं - यह समझमें नहीं आया!

वैसे प्रामाण्याप्रामाण्यकी तो भगवान ही जाने, फिर भी सत्सिद्धान्तमार्तण्डकारने तो इस विषयमें भी शाण्डिल्यसंहिता भक्तिखण्डसे वचन उद्धृत कर रखें हैं कि पुष्टिसम्प्रदायमें कुछ कालके बाद आचार्यपराङ्मुखोंके कपटके कारण पुष्टिमार्ग ही विलिन हो जानेवाला है:''विरलेष्वेव भविता सम्प्रदायोत्यनुत्तमः, आश्चर्याणि चरित्राणि कृत्वा नानाविधान्यसौ, स्थापयिष्यति वै तस्याः पारम्पर्यक्रमं कुलम्, समुद्धृत्य ततो जीवान् हरेः प्रीतिं करिष्यति, ततः कतिपये काले कालदोषप्रभावतः, विलयं यास्यति पन्थाः कापट्येनाकुलः परः, परदोषान्वितैः पुंभिः निजाचार्यपराङ्मुखैः (द्र. सत्सि.मार्त.प्रश्न.२।४।१२). यदि यह वचन प्रामाणिक है तो विमर्शकारोत्प्रेक्षित हेतु शास्त्रवचनबाधित होनेसे भी दुष्ट ही सिद्ध होता है. अस्तु.

अतः अन्तमें पुनः अपनी हृदयव्यथाजन्य शुभेच्छा प्रकट करते हुए –

श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षजनितं भक्त्येकहेतुः फलं
भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम्।
वृत्त्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्
कष्टं भो कलिकाकदष्टमिह तद् दृष्ट्वापि सीदेन्न कः।।

इस तरह गोस्वामि–श्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहर द्वारा विरचित सेवा–देवद्रव्यादिविमर्श तथा सेवा–देवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रकी विशोधनिकामें ''शास्त्रीय सन्दर्भमें: पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकास्वरूप'' नामक द्वितीय प्रकरण यहां समाप्त होता है.

।।सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु।।

वचनामृत – ३०

(शिष्टाचार और पूर्वजाचार का तारतम्य)

अब आप तीसमो वचनामृत आज्ञा करत हैं. ...आचार्यत्व दोउनको है जो श्रीमहाप्रभुजीको और श्रीगुसांईजीको. श्रीसुबोधिनीजी चतुर्थस्कन्धके चार अध्यायनपे श्रीगुसांईजीने करी है. परि श्रीमदाचार्यचरणकी आज्ञा न भई सो तासों प्रकरण न चल्यो. सो ताको अभिप्राय यह है जो श्रीमद्भागवत है सो श्रीनाथजीको स्वरूप है; और श्रीसुबोधिनीजी है सो श्रीस्वामिनीजीको स्वरूप है. सो जितने अंगकी योग्यता होय सो तितनो निरूपण करे हैं. सो तासों प्रथमस्कन्ध, द्वितीयस्कन्ध, तृतीयस्कन्ध, दशमस्कन्ध, एकादशस्कन्ध के चार अध्याय तांई आपने करे हैं. सो दर्शन देत हैं. और स्कन्धमें जहां टीकाको काम परे तहां निबन्धमें तत्त्वदीप भागवतार्थप्रकरण है. सो तामें देखि लेनो... और श्रीसुबोधिनीजीमें काहूं ठौर सन्देह रही जाय तो श्रीगुसांईजीने टिप्पणीमें सन्देह निवृत्त कियो है. और श्रीसुबोधिनीजीके उपर लालुभट्टने योजना करी है. सो ये सब ग्रन्थ श्रीभागवतजीके उपयोगी है...तब आपने आज्ञा करी जो प्रथम तो आज्ञाप्रमाण चलनो और श्रीसर्वोत्तमजीको अवगाहन बहोतसो राखनो. सो तब कृपा होय.ओर सर्वोत्तमजीकी टीका पांच-सात बालकनने करी है. परि श्रीबालकृष्णजी महाराजने करी है वह सर्वोपरि है. सो तिनको नाम सर्वोत्तमभाष्य है. सो छे हजार श्लोक पूर है. सो टीका हमने सरस्वतीभण्डारमें ढूंढी, पर पाई नाहीं... सो तासों कहूं पोथी चली गई होय – ऐसो दीसत है. सो हमहू कृष्णगढ़ गये. सो सोध तो बहोत करी परि कहूं ठीक परी नाहीं. सो या पोथीमें चित्त बहोत है. परि भगवदिच्छासों मिले तब. सो तब मनोरथ सिद्ध होय. और हू श्रीबालकृष्णजी महाराजने ग्रन्थ बहोत करे हैं. सो पुस्तकालयमें हैं. और श्रीभागवतकी पाठ करिवेकी पुस्तक है. सो डोलतिवारीमें बिराजत है. सो जामें सोधन अपने श्रीहस्तको है. और श्रीबालकृष्णजी महाराजके ज्येष्ठपुत्र हैं सो श्रीद्वारकेशजीको...सों श्रीगुसांईजीने नाम केसरीरायजी धर्योहै... सो श्रीद्वारकेशजी महाराजने नामामृत ग्रन्थ कियो है. सो श्रीबलकृष्णजीके अष्टोत्तरशत नाम हैं. सो अति ही मनोहर है. सो ताको पाठ घरके बालक

बहुबेटीनको तथा वैष्णवनको अवश्य करनो चाहिये. जो सर्वोत्तमवत् है, सो ताकी टीका हमने अमथाके पास मथुरामें लिखाई है... और श्रीकल्याणरायजीने हू अनेक वादके ग्रन्थ किये हैं. और श्रीहरिरायजीने तो आधुनिक जीवनके उपर बड़ी कृपा करी है. जो शिक्षापत्र प्रकट करे हैं. सो ताकी टीका श्रीहरिरायजीके भाई श्रीगोपेश्वरजीने करी है. सो तासों सब जीवनको सुगमता भई. और श्रीबालकृष्णजीके चौथे लालजी श्रीपीताम्बरजीके वंशमें श्रीपुरुषोत्तमजी लेखवारे जाने हैं सो प्रसिद्ध है. सो विनने हू भाष्यपे प्रकाश कियो है. और अनेक ग्रन्थ वादके किये हैं. सो काशीमें दिग्विजय करिके सब पण्डितनकों जीते. सो सबनके पासतें विजयपत्र लियो. सो आप तो प्रबल पण्डित हते. और चांपासनीवारे श्रीविठ्ठलरायजी श्रीसुबोधिनीजीकी कथा बहोत सुन्दर कहिते. सो जामें सब कोऊ समुझे सो ऐसे आज्ञा करते. सो स्त्री तथा बालक तथा वृद्ध पर्यन्त सबको समुझावते. और गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी हू बड़े पण्डित हते. सो कछु ग्रन्थ किये. सो तिनकी तो कछु खबरि नाहीं. और श्रीकाकाजी श्रीव्रजभूषणजीने श्रीबालकृष्णजीके सहस्रनाम कीये हैं. और श्रीव्रजाभरणजी दीक्षितजीने वादके ग्रन्थ तथा वल्लभाख्यानकी टीका करी है. जो अबके समयमें काशीवारे श्रीगिरिधरजी सरिखे पण्डित नहीं सुने हैं. सो तापर एक प्रसंग चल्यो, जो श्रीगोकुलनाथजीके टीकायत श्रीलक्ष्मणजी महाराज हते. सो रीवां गांव पधारे... सो राजा तो रामानुजाचार्य सम्प्रदायको सेवक हतो...पाछे रस्तामें रामानुजसम्प्रदायके दस बारह पण्डित बैठाये और महाराजकों पधरायवेकों आसामी पठायो. सो तब महाराज पधारे. सो तब तो सब पण्डितने रोके जो आप वाद करिके पधारो. सो तासों म्याना पाछो फिरायो. सो रीवां छोड़िके पधारे. सो तब तो यह बात काशीमें श्रीगिरिधरजीने सुनी. सो तब रामकृष्ण शास्त्रीको संग लेके शीघ्र रीवांको पधारे. सो रामकृष्ण शास्त्रीकों तो राजद्वारमें पठायो और कहेवाई जो जाको कछु पूछनो होय सो आयके पुछो. सो तब यह बात सुनिके राजा सब पण्डितनकों संग लेके आपके दर्शनको आयो... फेरि गिरिधरजी आज्ञा करी जो जाको जो प्रश्न करनो होय सो करो. सो तब पण्डितनने प्रश्न कर्योजो तब सब पण्डितनको निरुत्तर कर दियो. सो तब राजाने विनती करी जो कृपानाथ! मोकों शरण लीजिये. सो तब आपने आज्ञा करी जो तुम तो वैष्णव ही हो. जो

शरण लियेको शरण कहा लेंगें ? सो या सम्प्रदायमें और हमारी सम्प्रदायमें कछु भिन्नता नहीं है. सो यह कहिके समाधान कर्यो; और हमारे आयवेको कारण तो यह है जो आज पीछे श्रीगुसांईजीके बालक पधारे सो तिनसों ऐसो छल नहीं करनो. सो तब तो राजाने या बातको लेख करिके भेंट कर्यो. पाछें आप तो काशी पधारे. सो ऐसे आप प्रतापी हते. सो वादके अनेक ग्रन्थ...किये हैं... और नगरवारे श्रीबाबूरायजी सो आपकी कर्मकाण्डके उपर आछी रुचि हती. और छोटे भाई श्रीव्रजवल्लभजी सो पण्डित तो कछुक हते जो प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो हमारे गुरुदेव श्रीद्वारकेशजी महाराज दादाजीने हू पुष्टिमार्गके ग्रन्थ, पाठ तथा वादके बहोत किये हैं. सो श्रीवल्लभाख्यानकी सोध करिके श्रीगुसांईजीके सहस्रनाम कड़वानमें किये हैं. और श्रीसर्वोत्तमजीको नाम उद्धार हू कर्योहै. जो सुबोधिनीजीको अवगाहन अष्टप्रहर रहतो. लीलामें प्रवेश होते तांई पुस्तक हस्तमें रही. सो चारों वेदमें आप अत्यन्त प्रवीण हते. सो अद्यापि बिराजते तहां तांई सब देख्यो करते. और लौकिक वार्ता प्राचीनकी बहोत खबरि हती. सो सबनसों कृपाकरिके कहते. और सेवामें दोऊ बेर नहाते. जो स्नान करते, जो आलस एकक्षण हू नहीं. सो ऐसे जाके भाग्यमें होयगो तैसेई करेगो. ओर श्रीविठ्ठलेशरायजीवारे श्रीगोपेश्वरजी महाराज अलौकिक दर्शन देते. और वेदान्तके भाष्य उपर रश्मि टीका किये हैं. सो तामें अक्षर बहोत झीने लिखे हैं. सो वह पोथी बांधे पीछे खोली नहीं; और श्रीसुबोधिनीजी आप बांचते सो कोऊ पण्डित होतो तो समझतो और वैष्णवनकों तो श्रवणमंगल हतो. सो अष्टप्रहर अलौकिकमें मग्न रहते. जो लौकिक प्रपञ्चादिककी खबरि नहीं. सो ऐसे अलौकिक स्वरूप हते. सो ऐसे हमारे काकाजी श्रीव्रजपालजी महाराज कामवनवारे श्रीमदनमोहनजीके टीकैत सो अत्यन्त लीला दिखावे हैं. और श्रीमदनमोहनजीकी सेवामें अष्टप्रहर रहे हैं...हमारे यहांकी प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो सुनिके बहोत चित्त प्रसन्न भयो. परि विसेष रहिवेको अवकास न हतो, सो तासों सुनिवेको चित्त रहि गयो. और कोटावारे श्रीमथुरेशजीके टीकायत श्रीविठ्ठलनाथजी...सोऊ बड़े पण्डित. अबके बारेमें और सब बालक बिराजे हैं, सो तिनमें तो पण्डित आप ही हैं... सो श्रीमथुराधीशजीकी सेवामें आप तथा आपके लालजी श्रीरणछोड़लालजी बहोत निपुण हैं. और आप तो पण्डित बहोत

हैं परि पण्डिताईको आप गुप्त राखत हैं. सो तासों पण्डित प्रसिद्ध थोरे दीखत हैं. और श्रीचन्द्रमाजीके टीकैत श्रीगोविन्दरायजी, सो इनको शास्त्रको परिचय तो थोरो, परि पोथीको शोख बहोत है. सो निरन्तर पोथी देख्यो करते. सो तातें निजसेवकनको पुष्टिमार्गकी रीतिसों शिक्षा आछी रीतिसों करे हैं. और श्रीनटवरजीवारे गोस्वामी श्रीकाकाजी श्रीव्रजरायजी सो उनने श्रीवल्लभाख्यानकी टीका संस्कृतमें तथा दानलीला ''गोवर्धनकी शिखरतें मोहन दीनी टेर'' सो याकी टीका संस्कृतमें करी है. सो संस्कृतको अभ्यास हू आछो है. सो श्रीनटवरजीकी सेवामें तत्पर और गोस्वामी बालक श्रीजीवनलालजी बम्बईवारे, बालकृष्णचम्पू ग्रन्थ आछो कर्योहै सो तामें पदनकी ललितता बहोत सुन्दर धरी है; और कवितालंकारके साहित्यमें आप बहोत निपुन हैं. और श्रीवल्लभाख्यानकी टीका भाषामें करी है; और श्रीबालकृष्णजीकी सेवामें निपुन हैं. और गोस्वामी श्रीगोपिकालंकारजी उपनाम श्रीमट्ठुलालजी सो श्रीदाऊजीके अष्टोत्तरशतनाम कहे हैं सो ताकी टीकाकी आज्ञा हमको भई है. सो सावकाससों होयगी. और आप श्रीमदनमोहनजीकी सेवा बहोत स्नेहपूर्वक करे हैं. सो आभरनसों तथा सामग्रीसों लाड़ लड़ावे हैं. तथा सांझकों दोऊ बिरियांकी सेवासों पहोंचिके कथा नित्यनियमपूर्वक करनी. सो तामें अलौकिक आनन्द आवे है जाके भाग्यमें होय सो सुने हैं और समुझे हैं. और गोस्वामी श्रीदादाजी श्रीगोकुलाधीशजी, व्याकरणमें बहोत समझे हैं, परि प्रकट नहीं करे हैं. जो अद्भुतलीला दिखावे हैं परि प्रकट नहीं करे हैं. ***सो अगारि बालकनमें वार्ता तथा सेवामें निपुनताई सेवा प्रीतिपूर्वक करनी. जो हमको याद हती सो लिखाये. सो ऐसे तो श्रीमहाप्रभुजीको कुल एकसार है और अब तो श्रीगोवर्धनधरकी लीला ऐसी है: ''लीला लाल गोवर्धनधरकी''. सो कोउ बालकमें विद्याकी तथा विद्याध्ययन तथा सेवा विसे शिथिलता दीसे है. सो ईश्वर हू कालको ग्रहण न करे तो और कौन करे ! सो तासों कलियुगको सन्मान राख्यो है. श्रीमदाचार्यजीकी कहा इच्छा है ? सो जानि नहीं परत है. सो तातें यह मार्ग तो आपकी इच्छानुसार है. जो अभी हमारे कृत्य देखते तो एक दिना हू न निभती. जो नित्यनियम है सो नित्य भोजन करे हैं; और नित्य गपौड़ा मारे हैं,***

जो नित्य चैन उठावे हैं. सो यह हमारे चरित्र हैं, सो पलंगड़ीवारे ही पार लगायेंगें. क्यों, जो निजवंशमें जन्म लियो है सो ताको पक्को भरोसो है. और अपने मतके ग्रन्थ बहोत हैं जो वाद तथा पाठ के. बड़ेनने काहू बातकी कसर नाहीं राखी है सो अत्यन्त संग्रह करिके परिश्रम कियो है. परि लोगनकी बड़ी कसरि है. सो वासों अहर्निश चिन्ता रहि आवे है. और पुलबन्दर (पोरबन्दर)वारे श्रीशोभाबहुजी बड़े प्रतापी भये हैं. सो जिनने श्रीसुबेधिनीजी अनुसार श्रीभागवतके द्वादश स्कन्धपर्यन्त धोल १६ करे हैं. सो जामें सबनकों बोध होय. सो सुन्दर राग, न्यारे न्यारे ढाल सहित अर्थप्रकरन न्यारे न्यारे बताये हैं; तथा श्रीठाकुरजी तथा श्रीस्वामिनीजी तथा श्रीमहाप्रभुजी तथा श्रीगुसांईजी के प्राकट्यके धोल बधाई तथा कीर्तन तथा सांझीके कीर्तन विगेरे किये हैं. सो जामें हरिदास नाम छाप धरी है. जो हरिरायजीको ब्रह्मसम्बन्ध कर्योहतो. सो तासों हरिदास नामकी छाप धरी है. सो तासों यह बहुजी नमनयोग्य हैं. सो जिनपे श्रीमहाप्रभुजीकी पूर्ण कृपा हती.

।। इति श्रीगिरिधरलालजी महाराजको तीसमों वचनामृत समाप्तम् ।।

***

त्रिधा हि यज्ञकृतिः— फलार्था भौतिकी, शुद्ध्यर्था आध्यात्मिकी, भगवदर्था आधिदैविकी इति.

(सुबो. १०।६७।४१).

तीन तरहसे यज्ञका अनुष्ठान होता है— जब किसी फलकेलिये किया जाता है तो वह भौतिक होता है, शुद्धिकेलिये किया जाता है तो वह आध्यात्मिक होता है परन्तु जब भगवदर्थ किया जाता हो तभी वह आधिदैविक होता है.



विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

धने गृहे यदासक्ताः सेवकाः सम्भवन्ति हि।
लाभपूजार्थयत्नाश्च तदा स्यात् कुपितो हरिः ॥१॥
भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमाः।
आसुरावेशिनो दासाः तदौदास्यं भवेद् हरेः ॥२॥
अहङ्कारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम्।
निजाअपि तदा कृष्णः कुप्यति स्वजनप्रियः ॥३॥
यदा महत्कुलोद्भूताः त्यजन्ति कुलगां गतिम्।
तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशयः ॥४॥
अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सुपथस्थितिः।
नवा निजाचार्यनिष्ठा नवा दैन्यं हरेः परम् ॥५॥
नवा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम्।
न यथालाभसंतोषः कथं कृष्णः प्रसीदति ॥६॥

॥ इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ॥

गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचिता

विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

धने गृहे यदासक्ता: सेवका: सम्भवन्ति हि ।
लाभपूजार्थयलाश्च तदा स्यात् कुपितो हरि: ।।१।।
भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमा: ।
आसुरावेशिनो दासा: तदौदास्यं भवेद् हरे: ।।२।।
अहंकारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम् ।
निजाअपि तदा कृष्ण: कप्यति स्वजनप्रिय: ।।३।।
यदा महत्कुलोद्भूता: त्यजन्ति कुलगां गतिम् ।
तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशय: ।।४।।
अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सपथस्थिति: ।
नवा निजाचार्यनिष्ठा नवा दैन्यं हरे: परम् ।।५।।
नवा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम् ।
न यथालाभसंतोष: कथं कृष्ण: प्रसीदति ।।६।।

।। इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ।।

***

प्रकाशकीय

कोई धर्मार्थी, अर्थार्थी, मोक्षार्थी, भक्त्यर्थी अथवा स्वाराध्यभगवत्सुखैकार्थी व्यक्ति अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा कैसे करता है--रूक्ष कर्तव्यरूपमें, या आजीविकाके उपार्जनोपायके रूपमें, या अपने सांसारिक शोखमोजोंके साधनोंको जुटानेके उपायके रूपमें, या सांसारिक तापक्लशोंसे छुटकारेके उपायके रूपमें, या महद्विमृग्यभक्तिको पानेके उपायके रूपमें अथवा अपने सेवयस्वरूपके सुखसन्तोषके उपायके रूपमें--यह उसका अपना स्वातन्त्र्य है जिसके बारेमें कुछ भी रोक-टोक करनेको मैं अपने-आपको अधिकारी नहीं मानता. फिर प्रस्तुत 'विशोधनिका' में इतने उग्रभावोंको इतनी उग्रभाषामें प्रकट करनेका औचित्य क्या?

गुजराती भाषाके प्रसिद्ध कवि श्रीमुकुल चोकसीके काव्यभावोंको में अपनी सफाई देनेके रूपमें दोहराना चाहूंगा :

ये और कुछ नहीं इक हृदयसे उठी है भाप,

ठंडी पडी तो पानी पर छू लिया तो ताप.

इन उग्रभाव और उग्रभाषा को ठंडे करनेकी शर्त केवल यही हैं कि या तो कोई मुझे समझाये कि महाप्रभु-प्रभुचरणके नामपर भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन जो आज वल्लभसम्प्रदायमें चल रहा है वह उनके किस वचनके आधारपर धर्म्य माना जा सकता है? अथवा जिसे जो करना हो करे पर अपने सिद्धान्तविपरीत कृत्योंको इन दिव्य आचार्योंके सिद्धान्त एवं परम्परा के रूपमें प्रस्तुत न करे !

इसका अधिकांश भाग वि.सं.२०५० में लिखा जा चुका था किन्तु मुद्रणार्थ दिया नहीं जा सका. हालमें चि.सौ.बिन्दु बहुजीद्वारा कोई प्रकाशनार्ह मेटर हो तो कम्प्युटरमें फीड करनको मांगनेपर उनके उत्साह एवं परिश्रम के वश; इसी तरह, अन्यभी मेरे अनेक सहयोगी वैष्णवोंके आर्थिक तथा सक्रिय सहयोग वश अब यह प्रकाशित होने जा रहा है.

पवित्रा बारस, वि.सं.२०५८

गोस्वामी श्याम मनोहर

आमुख

।। दु:संगविज्ञानप्रकारनिरुपणम् ।।

अथ श्रीवल्लभाचार्यकृपया स्फुरितं हृदि ।
स्वीयानामभ्रमार्थाय किञ्चिदत्र निरूप्यते ।।१।।

अब श्रीवल्लभाचार्यचरणकी कृपासे हृदयमें जो कुछ स्फुरित हो रहा है, उसे पुष्टिमार्गीयोंके भ्रमोंको दूर करनेके लिये निरूपित किया जाता है.

दैवासुरविभागेन द्वेधा जीवा: प्रकीर्तिता: ।
बन्धमोक्षव्यवस्थापि गीतायामेव रूपिता ।।२।।

जीवोंकी सृष्टिके दो प्रकार : (१) दैव और (२) आसुर के विभागश: कहे गये हैं. स्वयं भगवद्गीतामें ही ''दैवी सृष्टि मुक्तिके लिये तथा आसुरी सृष्टि बन्धनके लिये निर्मित हुई है'' यह भी कहा गया है.

दैवेष्वपि च जीवेषु यदङ्गीकरणं पुन: ।
भक्तिमार्गे तएवात्र प्राप्स्यन्ति पुरूषोत्तमम् ।।३।।

दैवी सृष्टिके अन्तर्गत भी जिसका भक्तिके हेतु प्रभुने वरण किया होता है, वही इस भक्तिमार्गमें पुरुषोत्तमको पा सकता है.

तत्रापि भेदो विज्ञेयो मर्यादापुष्टिभेदत: ।
मार्गे फलेऽपि विज्ञेयो भक्तिमोक्षविभेदत: ।।४।।

भक्तिमार्गमें भी मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्ति का भेद होता है, यह जान लेना चाहिये. इसके कारण मार्गके स्वरूप तथा फलके स्वरूपमें भक्तिके लिये भक्ति तथा मुक्ति के लिये भक्ति करनेके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं.

भक्तावङ्गकृत्यभावे दैवानामपि सर्वथा ।
कामनिष्कामभेदेन स्वर्गमोक्षौ न संशय: ।।५।।

भक्ति करवानेके लिये जिनका भक्तिमार्गमें अङ्गीकार न हुवा हो तो वे जीव, दैवी सृष्टिके जीव होनेपर भी, सकाम होनेपर स्वर्गादिफल और निष्काम होनेपर मोक्ष ही केवल पा सकते हैं.

विज्ञेयं वरणं भक्तौ तदर्थित्वैककार्यत: ।
तदर्थित्वं च विज्ञेयं भजनार्थप्रवृत्तित: ।।६।।

जब केवल प्रभुको ही पानेकी कामना हो तो प्रभुने भक्तिके लिये वरण किया है, ऐसे समझ लेना चाहिये. यदि भगवद्भजन करनेके लिये प्रवृत्ति हो पाती हो तो समझना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिकी वास्तविक कामना है.

तत्रादौ शरणं गच्छेत् महापुरुषयोगत: ।
महापुरुषपारोक्ष्ये तन्निष्ठैरपि सर्वदा ।।७।।

भगवद्भजनमें प्रवृत्त होनेके लिये महापुरुषों (श्रीभागवततत्त्वज्ञ, दम्भादिरहित, कृष्णसेवापरायण आचार्यवंशजो) के द्वारा भगवत्-शरणागति प्राप्त करनी चाहिये. यदि वैसे योग्य महापुरुष न मिलते हों तो अन्य भगवदीयोंद्वारा भी भगवत्-शरणागति ग्रहण करनी चाहिये.

तत आश्रयसंसिद्धौ सेवार्थं स्वसमर्पणम् ।
समर्पणे जीवदेहतत्सम्बन्धवतामपि ।।८।।
ब्रह्मसम्बन्धत: कृष्णसाक्षात्सम्बन्धयोग्यता ।

भगवत्-शरणागति ग्रहण करनेके बाद भगवदाश्रयको दृढ बनानेके उपाय करने चाहिये. वह दृढ होनेपर भगवत्सेवाके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये (अर्थात् शिष्यैषणालोभवशाद् आज-कल दृढाश्रयके बिना दिये जाते ब्रह्मसम्बन्धको 'भ्रमसम्बन्ध' ही समझना चाहिये) जीवात्माके सम्बन्ध देह और देहके साथ सम्बन्धित सकल चेतनाचेतन वस्तुओंके भगवान्को समर्पित करनेपर उनका ब्रह्मसे सम्बन्ध जुड़ जाता है. अत: श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवामें सम्बद्ध होने लायक भी.

ततस्तत्सेवया स्वीयसर्वस्वविनियोगत: ।।९।।
गृहीतपरमानन्दनिधि: कृष्णोऽक्षय: स्मृत: ।

अतस्तु सावधानित्वं विधेयं भगवज्जनैः ।।१०।।

सम्प्राप्तनिधिभिः चौरवञ्चकेभ्यो विशेषतः ।

अपने-आपको सेवायोग्य बना लेनेके बाद भगवत्सेवामें अपने सर्वस्वके विनियोग करते रहनेपर अपने घरमें बिराजमान श्रीकृष्णका स्वरूप स्वयं ही अक्षय परमानन्दकी निधि बन जायेगा. अतः श्रीकृष्णरूप निधि पा जानेवाले भगवदीयोंको चोर-ठगेरोंसे पूरी तरह सावधानी बरतनी चाहिये.

चौरास्तु द्विविधाः ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।।११।।

बाह्याः कुटुम्बरूपा ये ते तु वित्तहराः स्मृताः ।

यतस्तद्विनियोगेन वित्तं याति समर्पितम् ।।१२।।

चोर दो तरहके होते हैं : बाह्य और आभ्यन्तर. इनमें बाह्य चोर अपने वित्तहारी कुटुम्बिजन ही होते हैं. ये पता भी नहीं चलने देते कि भगवत्सेवार्थ विनियोगार्ह. अपना सारा वित्त न जाने कैसे केवल कुटुम्बनिर्वाहमें ही विनियुक्त होता रहता है !

आन्तराः कामलोभाद्याः चित्तमात्रहरास्तु ते ।

यतो बहिर्मुखं चित्तं सेवायां प्रविशेद् नहि ।।१३।।

चित्तवित्तैकसाध्या हि सेवा चापि न सिद्ध्यति ।

तदभावेऽखिलं व्यर्थं पुरुषार्थपरिक्षयात् ।।१४।।

आभ्यन्तर चोर हमारे चित्तको ही हर लेनेवाले स्वयं हमारे भीतर रहे काम-लोभ आदि दुर्गुण होते हैं. इनके कारण बहिर्मुख बना चित्त कभी भगवत्सेवामें जुट ही नहीं पाता है. सेवा तो निज चित्त-वित्तसे ही साध्य होती होनेसे सिद्ध नहीं हो पाती है. सेवाके बिना तो किया-धरा सब कुछ व्यर्थ ही होता है, पुरुषार्थके परिक्षयके कारण.

अतो विवेकधैर्यादिशस्त्रयुक्तैः तथा पुनः ।

आन्तरास्ते निराकार्या बाह्यास्तेतु यथाक्रमम् ।।१५।।

सेवाकारणतद्रोधपरित्यागादिसाधनैः ।

अतः विवेक-धैर्य-आश्रयके शस्त्रोंसे सुसज्ज रहते हुवे आभ्यन्तर

चोरोंको डरा कर भगा देना चाहिये. इसी तरह बाह्य चोरोंको भी सेवाके उपायरूप अपने चित्त और वित्त को भगवत्सेवामें निरुद्ध रख कर; अन्यथा, भगवत्सेवामें से अपने चित्त और वित्त को चुरानेवालोंमें ममताके परित्यागद्वारा या अन्य भी ऐसे किन्हीं शक्य उपायोंद्वारा.

वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुध्यताम् ।।१६।।
यतस्तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम् ।
विनयः शान्तता वेशः शंखचक्रादिचिन्हितः ।।१७।।
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः ।
ततो ज्ञानाभावतोऽपि सर्वथा नाशनं मतम् ।।१८।।

चोरोंकी तुलनामें वञ्चक अधिक दुष्ट होता है क्योंकि उसकी आकृति चेष्टा आचार भाषण विनय शान्तता वेश शंखचक्र आदि तिलक-मुद्रा आदिसे अपने-आपको सजाधजा कर रखना आदि सभी बातें भगवद्धर्मवर्तिओंके जैसी होती हैं. परिणामतया ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचान पाना बहोत ही मुश्किल काम होता है. अतएव ऐसे वंचकद्वारा ठगे जानेपर आत्मनाश सर्वथा निश्चित ही होता है.

दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यतः ।
अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारतः ।।१९।।

भक्तोंके जैसे भेख बनाये रखनेके कारण ऐसे वंचकोंको पहचान पाना बहोत कठिन काम होता है. अतः बिना विचारे हर किसीपर विश्वास कभी भी नहीं कर लेना चाहिये.

तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वासः सङ्गदोषतः ।
असत्यपि च सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गतः ।।२०।।
अतएवोक्तम् आचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम् ।
'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे ।।२१।।

भगवद्भक्त होनेकी भ्रान्तिके वश विश्वास रख कर संगदोषके कारण असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेका परिणाम यह निकलता है कि जीव भक्तिमार्गसे

च्युत हो जाता है. अतएव सर्वनिर्णय निबन्धमें आचार्यचरणने गुरुके भी वीक्षणकी बात ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' कारिकामें दिखलायी है.

नन्वेतस्य परिज्ञानं कथं भवति सर्वथा ।
ज्ञाने सति परित्यागः कर्तव्योऽस्य सतां भवेत् ।।२२।।
भवेच्च चोरविज्ञानं शास्त्रतो धर्मदर्शनात् ।
नहि वञ्चकविज्ञानं साम्यतो भगवज्जनैः ।।२३।।
न कोऽपि सदृशो धर्मो वैलक्षण्यावबोधकः ।
मृगाणामिव साधूनां मृगयोरिव गायने ।।२४।।
सतोऽपि किञ्चिद् आधिक्यं वञ्चकेतु प्रतीयते ।
प्रदशनार्थत्वस्तु वेषादेरिह सर्वथा ।।२५।।
गृहसंवासतो ज्ञेय इति चेत् तन्न युज्यते ।
संसर्गे बुद्धिनाशेतु मोहाद् न ज्ञानसम्भवः ।।२६।।
ज्ञानाभावे भवेदेव तत्क्रिया सार्थकाखिला ।
संसर्गमात्रतो नाशे कस्य ज्ञानोदयो भवेत् ? ।।२७।।
न ज्ञापयति चात्मानं यावन्नाशं स वञ्चकः ।
नाशयित्वैव भवति निजरूपसमास्थितः ।।२८।।
मार्गस्थितेर् भवत्येव तादृशोऽत्यन्तबाधकः ।
बलाद् न मारयत्येष प्रबोध्यैव च घातकः ।।२९।।
छलबुद्धिर्विनाशाय न बलं तस्य साधनम् ।
अज्ञातः सर्वथा हिंस्रो ज्ञातो नैव हि बाधकः ।।३०।।
ज्ञानन्त्वशक्यं तस्येति न निस्तारो कथञ्चन ।
इति चेत्.....

यहां एक शंका उठती है कि ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचानना कैसे? क्योंकि पहचान पानेपर ही कोई भला आदमी किसी दूसरे आदमीसे कतरा सकता है. अपने भीतर या बाहर रहनेवाले चोरोंको तो शास्त्रोंके उपदेशके आधारपर जाना जा सकता है परन्तु वंचकजन तो भक्तजनोंके जैसा

ही दिखलायी देता होनेसे पहचाना नहीं जा सकता. भक्तजनोंसे वंचकजनोंको अलग-थलग कर पाये ऐसी कोई विलक्षणता नहीं दिखलायी देती, जैसे मृगोंको साधुपुरुषोंकी वनमें उपस्थिति और शिकारिओंकी वनमें उपस्थिति का प्रभेद समझमें नहीं आता. प्रत्युत वंचकजनमें तो भक्तजनोंसे भी कुछ अधिक ही भक्तिभाव दिखलायी देता होता है. क्योंकि उसके वेष आदि सभी कुछ प्रदर्शनार्थ ही तो होते हैं. घरमें साथ रह कर उसकी वास्तविकताको जाननेके प्रयासमें तो उसके संगके कारण बुद्धिनाशकी ही पूरी सम्भावना रहती होनेसे ऐसे वंचकोंको जान पाना शक्य ही नहीं लगता. जाने बिना तो वंचककी सारी चालें सफल होंगी ही. और संसर्गमात्रसे नाश होनेकी बात जो कही जा रही है सो वंचकका ज्ञान किसे हो सकता है! हमारा पूर्ण नाश किये बिना वंचक अपना असली रूप तो प्रकट करेगा नहीं और नाश करनेके बाद असली रूपके उजागर हो जानेका कोई लाभ नहीं. सन्मार्गसे हमें भटका देनेको वंचकजन कभी बलजबरी तो करता नहीं होता. वह तो हमें भरमा कर ही मारता होता है. हमें नष्ट कर देनेको वह बल नहीं वापरता किन्तु चालाकीसे ही अपना काम निकालता है. उसे जान न पायें तो उसके जैसा हिंस्र अन्य कोई हो नहीं सकता और जान लेनेपर तो वह अन्यत्र छटक जाता है. अत: वंचकजनको पहचान पानेकी इस कठिनाईके कारण इस समस्याका कोई समाधान ही समझमें नहीं आता!

.....तत्र सिद्धान्त उपाय: परिकीर्त्यते ।।३१।।
भगवद्भक्तसाम्येऽपि तदसाधारणो गुण: ।
निरपेक्षत्वमेतस्मिन् तदभावाद्धि वञ्चक: ।।३२।।
अनाकारितएवासौ संगे लगति सर्वथा ।
प्रार्थिता भगवद्भक्ता: कृपयन्ति कथञ्चन ।।३३।।

इस ऐसी शंकाके समाधानतया यह जान लेना चाहिये कि भक्तजनके साथ अन्य सभी बातोंमें वंचकजन समान होनेपर भी एक बात उसकी वास्तविकताको पहचाननेका उपाय बन ही जाती है. वह यह कि भक्तजन निरपेक्ष होते हैं वंचकजन कभी निरपेक्ष नहीं हो सकता. वह तो बिन बुलाये हमारे पीछे पड़ना चाहता है जबकि भक्तजन तो कई बार बुलाये जानेपर भी

मुश्किलसे कभी-कभाक प्रसन्न हो कर हमारे साथ होना चाहेगा.

स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः ।
दीनेषु भगवद्भक्तास् तदर्थैकप्रसादकाः ।।३४।।
चालयत्ययमुनमार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः ।
तेतु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः ।।३५।।
एवं विज्ञाय बुद्धयैव वैलक्षण्यं हि वञ्चके ।
तत्संग तत्र सद्भावं तन्माहात्म्यं परित्यजेत् ।।३६।।

वंचकजन स्वार्थमोहित होनेके कारण धनिकोंकी ही अधिक पूछ-परछ करता है, जबकि भक्तजन तो दीनजनोंपर प्रसन्न हो कर केवल उसके हितकी बात ही उसे समझाते हैं, क्योंकि अपने स्वयंके स्वार्थको सिद्ध करनेकी मनोवृत्ति भक्तजनोंमें नहीं होती. वंचकजन मीठी-मीठी चापलूसी भरी बातोंके द्वारा उन्मार्गकी ओर हमें ले जाना चाहता होता है जबकि भक्तजन तो कडुवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है. इस तरह भक्तजन और वंचकजन के बीच रही विलक्षणताको अपनी बुद्धि लगा कर समझ लेनेके बाद वंचकजनका संग, उसके प्रति सद्भाव और उसकी महत्ता का विचार मनमेंसे दूर कर देना चाहिये.

अन्यथा मार्गनिष्ठोऽपि विनाशं प्राप्नुयाद् नरः ।
अतएवास्मदाचार्यैर् उक्तं स्वीयकृपालुभिः ।।३७।।
''पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर्मम'' ।
अन्यत्राप्युक्तमेवं हि शिक्षापद्येषु सर्वथा ।।३८।।

अन्यथा पुष्टिमार्गमें निष्ठा रखनेवालेका भी विनाश हो सकता है. अतएव निजजनोंपर कृपा करनेको श्रीमदाचार्यचरणने भी कहा है ''इस पाषण्डसे भरी दुनियामें श्रीकृष्ण ही मेरी एक गति है'' हमनें भी शिक्षापत्रोंमें इस विषयका निरूपण भलीभांति किया है.

प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्सुक उपेक्षैवोचिता तदा ।
एवं विज्ञाय सततं स्थेयं वै सावधानिभिः ।।३९।।

सेवापरैः कथासक्तैः सत्संगपरिशोधकैः ।
बाह्यव्यापाररहितैः भगवद्भावभावुकैः ।।४०।।
दैन्यमात्रपरिश्रातन्तैर् असदालापवर्जितैः ।
श्रीकृष्णदर्शनाद्यार्तैर् निजाचार्यश्रिताश्रितैः ।।४१।।

भगवद्भक्तोंके भीतर भी यदि प्रावाहिकताके ही लक्षण दिखलायी देते हों तो उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये. यह ऐसी सावधानी जो भगवान्की सेवा और कथा में परायण रहना चाहते हों, जिन्हें अपने सत्संगको परिशुद्ध रखना हो, जिन्हें बाह्य व्यापारहित हो कर भगवद्भावकी भावना करनी हो, जो दैन्यभाववश निरर्थक साधनाडम्बरोंमें उलझना न चाहते हों, जो असदालापसे परे रहना चाहते हों, जिन्हें श्रीकृष्णदर्शनादिकी आर्ति निजाचार्यचरणाश्रितोंके आश्रित रहनेके कारण प्रबल हो उन्हें सतत बरतनी चाहिये.

श्रीमत्कल्याणरायात्मजहरिराय*

***महानुभाव श्रीहरिरायचरणविरचित इस दुःसंगविज्ञानप्रकारसे अधिक उपयुक्त प्रस्तुत विशोधनिकाका आमुख और क्या हो सकता है? इसमें जैसे दूषणोंसे बचनेकी बात श्रीहरिरायजी सभी पुष्टिमार्गिओंको समझा रहे हैं. ये वे बातें है जो पुष्टिमार्गीय आधुनिक हवेलिओंको व्यावसायिक रूपमें चलानेवाले हम गोस्वामिवर्ग तथा इनकी तरह ही वैष्णव प्रेतात्माओंको धुंधुकारीसदृश सिद्ध करनेवाली भागवतसप्ताहोंके कथाव्यासोंकी पुष्टिमार्गीय उपयोगिताको मापनेको सर्वथा उपकारक मानदण्ड है.**

गो.श्या.म.

***

विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

विषयानुक्रमणिका

	परिच्छेद	पृष्ठ
(१)	उपक्रम....	५२४
(२)	'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गत संकलित-विषयवाक्यविचारे 'विमर्श'विशोधन...	५४०
	संग्रहकारिका	५७१
(३)	'सेवोपदेशदीक्षा' - 'सेवोपदेष्टा' शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे 'विमर्श'विशोधन....	५७२
	संग्रहकारिका	५९८
(४)	'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गत संकलितविषयवाक्यविचारे 'विमर्श'विशोधन...	६०१
	संग्रहकारिका	६२७
(५)	'सेवाप्रदर्शन'शीर्षकान्तर्गत संकलितविषयवाक्यविचारे 'विमर्श'विशोधन...	६२८
	संग्रहकारिका	६४९

***

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

विशोधनिका

(उपक्रम)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले-मुम्बई) में विचारणार्थं तदाप्रस्तुत सभावानुवाद सिद्धान्तवचनावलीमें के (१) सेवोपदेशदीक्षा (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (६) सेव्यस्वरूप (९) सेवोपदेष्टा शीर्षकोंके अन्तर्गत संकलित वचनोंद्वारा विवक्षित सिद्धान्त इस प्रकरणके मुख्य विचार्य विषय हैं. साथ ही ''विमर्श'' ग्रन्थमें वर्णित अपसिद्धान्तोंका निराकरण भी.

(विचार्यविषयसिंहावलोकन)

'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत वचन, वैसे तो, सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित अथवा असंकलित सिद्धान्तनिरूपक सकल वचनोंके वास्तविक अभिप्रायोंको जाननेके निकष (कसोटी)रूप हैं. फिरभी इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि सेवाप्रयोजनको इदमित्थतया निर्धारित करनेवाले अन्य भी अनेकानेक वचन समयाभाववश तथा स्थानसंकोचवश मुझसे छुट भी गये ही हैं. साथ ही साथ यह भी भूलना नहीं चाहिये कि सिद्धानतवचनावलीके तेरह-के-तेरह विचार्यविषयोंके वास्तविक स्वरूपको समझना हो तो ये तीन ही वचन पर्याप्त प्रकाशदायी हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं. अतएव इनका उपजीवन केवल आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य ही है. कई अपठित एवं पण्डितम्मन्य देवलकोंके द्वारा प्रचारित किया जा रहा है कि इतने ही वचनोंको ले कर क्यों विचार किया गया-अन्य बचन क्या एतद्विषयक ग्रन्थोंमें हो नहीं सकते हैं या मैने पढ़े ही नहीं हैं? समाधानतया यह कथनीय हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें भी जिस अधिकरणमें, जिस श्रुतिवचनको प्रथम अधिकरणांग अर्थात् विषयवाक्य बनाया जाता है, वहां भी उस वचनके अलावा सम्बद्ध विषयके निरूपक उपनिषदोंमें अन्य भी अनेक वचन मिलते ही है. कभी इस

तरहकी बचकानी बातें शास्त्रीय चर्चामें उठायी नहीं गयी कि शांकर, भास्कर, रामानुज, माध्व या वाल्लभ भाष्योंमें जो वचन जिस अधिकरणके विषयवाक्यतया उपस्थापित किये गये हैं, उस विषयके निरूपक ओर भी वचनोंका विन्यास क्यों नहीं किया गया? क्योंकि अधिकरणशैलीके विचारमें जो वाक्य विषयवाक्यतया प्रस्तुत नहीं हुवा हो उसे भी संशयकी या पूर्वपक्षकी या उत्तरपक्षकी या संगतिकी कोटीमें भी प्रस्तुत तो किया ही जा सकता है. वाल्लभ सम्प्रदायका, परन्तु, आज यह कैसा दुर्भाग्य है कि अधिकांश उपदेशक या तो अपठित हैं या पल्लवग्राही पाण्डित्यवशाद् ''एरण्डोऽपि द्रुमायते'' उक्तिके मूर्तिमान स्वरूप ! फलत: ऐसी अनर्गल बातें करके भोली जनताको बरगलाते रहते हैं !

सेवाके यथोपदिष्ट स्वरूपके निर्धारणार्थ, जैसे सेवाके प्रयोजनका बोध आवश्यक है, वैसे ही सेवोपयोगी स्थल, सेवार्थ आजीविका, सेवाकर्ता-तथा-परिचारक, सेवोपदेष्टा तथा स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसादग्रहण इनसे सभी सम्बन्धित सभी उपदेशोंका भी अभिप्राय 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोके उपजीवन द्वारा ही शक्य है.

इस बातको छेड़नेका मुख्य हेतु यही है कि 'विमर्श' ग्रन्थके वास्तविक लेखक पू.पा.गो.श्रीवल्लभराय दीक्षितने, अथवा नामदायी लेखक पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने ही सही, अपने-आपको नियोगपर्यनुयोगानर्ह स्वतन्त्रविचारकके रूपमें प्रस्तुत करनेके हेतुसे उक्त पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके सन्दर्भमें मेरे द्वारा किये गये विधानोंकी आलोचना करनी चाही है. अतएव आलोच्य विधानोंको यथाप्रदत्त क्रमसे च्युत किया गया है. अत: यह आवश्यक हो जाता है कि विमर्शक्रम तथा सिद्धान्तवचनावलीक्रम का परस्पर सम्बन्ध एक बार बुद्धिगत कर लिया जाय.

तदनुसार 'विमर्श' के प्रथम कृष्णसेवा प्रकरणमें सिद्धान्तवचनावलीके मुख्यतया 'सेवा-स्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंकी विचारणा की गयी. गौणतया सेवास्थल, सेवार्थ आजीविका एवं सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक शीर्षकोंवाले वचनोके अभिप्रायोंका कहीं-कहीं स्पर्श किया गया है. तदनुसार ही मुझे भी 'विशोधनिका'के प्रथम प्रकरणको भी चलाना

पडा.

पश्चात् 'विमर्श'के द्वितीय एवं तृतीय प्रकरणोंमें अर्थात् देवद्रव्यप्रकरण एवं देवलकताप्रकरण में, क्योंकि देवके द्रव्यसे किंवा पूजनसे जीवननिर्वाह चलानेवालेको 'देवलक'कहा जाता है. अत:, दोनोंको एककाय बना कर 'शास्त्रीय सन्दर्भमें : पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकाका स्वरूप' नामक 'विशोधनिका' का द्वितीय प्रकरण प्रकाशित किया गया था.

अब क्रमप्राप्त 'विमर्श'के चतुर्थ प्रकरण एवं 'विशोधनिका'में प्रतिज्ञात 'वार्ताविमर्श' प्रकरणको छोड़ कर 'विमर्श'के पूर्वार्धके अन्तिम 'भावसंगोपनप्रकरण'के विशोधनकी प्राथमिक आवश्यकता कुछ गंभीर अवलोकन द्वारा दृष्टिगत हुयी है. अत: प्रतिज्ञात क्रमके त्याग तथा व्युत्क्रमावलम्बन की क्षमायाचना करते हुवे एक खुलासा मैं देना चाहूंगा. वह यह है कि विमर्शकारद्वारा अपनायी गयी विमर्शनीतिकी एक खासीयत यह है कि न्यूनतम सिद्धान्तवचनोंका अवलम्बन कर अर्थात् बने वहां तक वार्तासाहित्यमेंसे सदाचारके निकषपर कण्ठोक्त विधि-निषेधात्मक वचनोंके अभिप्रायोंका अन्यथोन्नयन कर देना, बजाय कि वचनोंके आधारपर चरित्रको समझ कर उसकी व्याख्या करनेके.

पुष्टिमार्गके इतिहासमें सिद्धान्तनिर्णयार्थ 'विमर्श'की इस नूतन व्याख्यानीतिका पदार्पण; अत:, इस विमर्शशैलीद्वारा हुवा है. इसका एक दुर्लाभ तो बिलकुल सक्षमतया सामने आया ही है कि आधुनिक गोस्वामिओंके उपदेशविरुद्ध अनेक आचरणोंकी मूलाचार्योंके चरित्रसे आपाततो रमणीय कोई न कोई उपपत्ति तो मिल ही जाती है! यह कण्ठोक्त वचनकी मर्यादामें बन्धनेपर सर्वथा अशक्यप्राय काम था. अतएव 'विमर्श' के सभी कथ्योंके इर्दगिर्द वार्तासाहित्यके उद्धरणोंके बाहुल्यका एक समूचा दुर्ग सा निर्मित किया गया है! यह उतनी आपत्तिजनक बात नहीं है जितनी कि इस दुर्गके इर्दगिर्द, उसे और भी दुर्गम बनानेके, बचकाने आक्षेपकी जो खाई खोदी गयी है :

''सुनते है कि अब वार्ताग्रन्थ आदिको अप्रामाणिक सिद्ध करनेके

लिये किसी ग्रन्थका प्रणयन श्रीपुरुषोत्तम आदिके नामसे उसे प्रकाशित करने का उपक्रम चल रहा है. सम्प्रदायानुरागी सभी लोगोंको इससे सतर्क रहना चाहिये और इसका जम कर विरोध करना चाहिए.''

(विम.पृ.सं.८३ पर स्थूलाक्षरोंमें मुद्रित पंक्तियां)

शालीन विचारणाशैलीकी शीर्षावरक शालं ओढ़ कर किये गये, इस नामोल्लेखरहित आक्षेपको, कोई आवश्यकता नहीं कि मैं अपने बारेमें ही किया हुवा मान कर चलूं, फिरभी पूर्वपक्षकी अधिकांश उक्तिओंमें मेरे ही विधान संकलत हुवे हैं, अत: अपने बारेमें किया हुवा मान कर स्पष्टीकरण देने मैं सन्नद्ध हूं :

(१) विगत दस-पंदरह वर्षोंमें महाप्रभु-प्रभुचरण-श्रीपुरुषोत्तमजी प्रभृति पूर्वाचार्योंके मूल ग्रन्थोंको सम्पादित संशोधित-प्रकाशित करनेकी मेरी अदम्य हार्दिक भावना तथा नम्र प्रवृत्ति चल ही रही है. भगवान् न करे कि विमर्शकार द्वारा आशंकित कुत्सित मनोवृत्ति मेरे मनमें कभी पनप पाये!

(२) पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें प्रतिपक्षिओंद्वारा प्रस्तावित एक शर्त यह भी थी कि वार्तासाहित्य या भाषासाहित्य में से कोई भी वचन मैं विचारार्थ प्रस्तुत न करूं, क्योंकि प्रतिपक्षियोंको वार्तासाहित्य एवं भाषासाहित्य का प्रामाण्य नि:सन्दिग्ध नहीं लगता था. अतएव संकलित भी कुछ वचन सिद्धान्तवचनावलीमें से निकाल कर परिशिष्टमें अमृतवचनावलीमें उद्धृत करने पडे थे. चि.हरिरायजी, वैसे अघोषित प्रतिनिधि परन्तु बादमें पु.सि.सं.शि.तया घोषित, ने भी चर्चाके दरम्यान, अपने शाखाचंक्रमणशील विलक्षण स्वभावके अनुरूप, अस्पष्टोल्लेख द्वारा यह बात स्वीकारी ही थी (द्रष्टव्य: विस्तृ.विव.पृ.सं.१७८).

(३) स्वयं सूरतसे प्रकाशित राजनगरवाले नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी के वचनामृतमें ऐसी अक्षम्य अनधिकारचेष्टाका उल्लेख तो मैने विशोधनिकाके प्रथम प्रकरणमें किया ही था (द्रष्टव्य : विशो.आमु.पृ.सं.१६-१७) परन्तु यहां अब इस आक्षेपके सन्दर्भमें पुन: एक और रहस्य उद्घाटित करना चाहूंगा कि सूरतके मोटे मन्दिरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालजीका कहीं भी उल्लेख न

होनेपर भी तथा प्राचीन पाठोंसे संवादित करनेकी किसी भी तरहके उत्तरदायित्वकी अपेक्षा रखे बिना केवल षष्ठपीठाधीशताके मोहवश स्वयं विमर्शकारके यहांसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' में गुजरातसे व्रजयात्रा करने आनेवाले भगवदीयकी वार्तामें श्रीबालकृष्णलालका उल्लेख डलवा दिया गया है! अत: ''आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स: पण्डित:'' के इस पाण्डित्यप्रकर्षके बारेमें अधिक क्या कहा जा सकता हैं!

(४) नड़ियादकी हवेलीके निजी या सार्वजनिक होनेके केसमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ होनेकी हैसियतमें दी गयी गवाहीमें पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने न केवल इस विमर्शविमृष्ट सोनेकी कटोरीवाले प्रसंगको अपितु अन्य भी अनेक वार्तासाहित्यके प्रसंगोके प्रामाण्यको सन्दिग्ध माना है (द्रष्टव्य : उक्त दावेमें प्रतिवादी नं.१ के साक्षी नं.२ की मौखिक गवाही पृ.सं.२५ तथा २६).

ऐसी स्थितिमें स्वयं पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री ही अब ''सतर्क रहने'' और ''जम कर विरोध करने''की आज्ञा देते हों तो दोमेंसे उनके किस वचनको शिरोधार्य करना? किसका जम कर विरोध करना? क्या उनके उपक्रमपराक्रमसे भयभीत हो जाना या उनकी उपसंहारविजयको अभिनन्दित करना ?

(५) वैसे स्वयं मुझेतो स्वयं मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त उपदेशोंसे बाधित न होता हो तो अथवा सुरतसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवन्'की वार्तामें षष्ठनिधित्वके मिथ्योल्लेखकी तरह प्रक्षिप्तताके बलवत्तर प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित न हो तबतक वार्ताप्रामाण्यका सहसा अस्वीकार न कभी मान्य था न है और न हो पायेगा. वार्ता तो श्रीगोकुलनाजी तथा श्रीहरिरायजी द्वारा लिखी गयी हैं. इन महानुभावोंके वचन हमारी कल्पनाओंके आधारपर अप्रमाण कैसे मानें जा सकते हैं? इन दोनों गुरु-शिष्योंका तो वाल्लभ सम्प्रदायके उत्कर्षोन्नयनमें अनितरसाधारण योगदान है. इनके वचनोंको अप्रमाण मान कर इस सम्प्रदायमें कौन कृतघ्न बनना चाहेगा? खैर, इनकी बात तो दूर, मैं तो जिन विमर्शकारके कुविमर्शकी बिना किसी

लागलपेट इतनी स्पष्ट आलोचना लिख रहा हूं, उनके भी वचन यदि मूलाचार्योंकी वाणीसे अविरुद्ध हों तो, जैसे कि 'पुष्टिविधान' आदि प्रकाशनोंमें 'अमृतवचनावली'तया संकलित मैने किये हैं, उन्हें षोडशग्रन्थादि सदृश नित्यपाठके क्रममें मैं श्रद्धापूर्वक पाठ करता हूं. तो वार्तासाहित्यके मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त वचनोंसे अविरुद्ध वार्तासाहित्य या वचनामृतसाहित्य के वचनोंको अप्रमाण गोस्वामी श्याम मनोहर कैसे मान सकता है? मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध तो वाल्लभ सम्प्रदायमें कोई भी वचन प्रमाण हो नहीं सकता है! अत: मैं तो वार्तासाहित्यके उपसंहारविजयका अभिनन्दन ही न केवल वास्तविक विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीको अपितु समग्र पुष्टिसम्प्रदायको इस प्रसंगपर देना चाहूंगा ! दैर आयद दुरुस्त आयद!!

(६) श्रुति-स्मृति-सदाचार-स्वप्रियके उत्तरोत्तर प्रामाण्यदौर्बल्य तथा ''प्रामाण्य स्वत: एवं अप्रमाण्य परत:''के मीमांसाशास्त्रीय सामान्य विवेकके आधारपर सन्देहार्ह प्रामाण्यवाली वार्ताओंको भी बलवद्बाधक प्रमाणोंके उपलब्ध हुवे बिना सहसा अप्रमाणिक ही मान लेना या कह देना मुझे तो सर्वथा अनभीष्ट है. अत: ऐसी पाषाणोपम कठोर मेरी इस प्रामाण्यधारणापर पड़ते ही यह क्षुद्र आक्षेप तो स्वत: छिन्न-भिन्न हो जाता है.

(७) श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अभ्यासकर्ताओंके लिये यह तिरोहितार्थ नहीं है कि भगवल्लीलाओंमें इतिवृत्त जैसे निरूपित हुवे हैं वैसे ही इतिकर्तव्यता भी उपदिष्ट हुई हैं : 'भगवान् अपनी लीलाओंको प्रकट करके शास्त्रार्थ भी प्रस्थापित करते है.'' यह शास्त्रार्थ भी पूर्वोत्तरमीमांसाओंकी तरह कर्तव्योपदेश या तत्त्वोपदेश रूप भी हो सकता है. कर्तव्योपदेशके मूलत: दो प्रकार होते है : विधान और निषेध इन दोनोंके पुन: तीन अवान्तर प्रभेद होते है : औत्सर्गिक, आपवादिक एवं प्रातिप्रसविक.

इन मुख्य-अवान्तर प्रकारोंमें धर्मविधान तथा अधर्मनिषेध द्वारा धर्माधर्मांग ग्राह्य-वर्ज्य षडंग देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके विनियोगाविनियोगकी प्रेरणाद्वारा कर्तव्योपदेश सम्पन्न होता है.

कर्मस्वरूपकी ऐसी जटिलता तत्त्वस्वरूपके बारेमें भी सोची जा

सकती है. जैसे देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके सन्दर्भमें कर्तव्योपदेशमें विधिनिषेध-उत्सर्गापवाद-प्रतिप्रसवके भेदोपभेद खड़े हो जाते है, वैसे ही तत्त्वोपदेशमें भी सम्भव है. अखण्डाद्वैत तत्त्वमें भी अनेकविध नामरूपोंके लीलात्मक परस्परविरोधी भेद भी उभरते ही हैं. इनमें किसी भी एक प्रकारकी लीलाके आधारपर किसी तरहके सामान्य कर्तव्यका उह, न केवल अधर्म्य एवं अतत्त्व ही हो सकता है परन्तु आत्मघाती भी. उदाहरणतया भगवान्ने माखनचोरीकी लीला की अत: पराये घरसे माखन चुरा कर भोग लगानेको क्या अपने सेवाप्रकारमें धर्म माना जा सकता है? अथवा भगवान्ने गोपिकाओंके साथ रासक्रीडा की थी उसे अनुकरणीय कर्तव्य माना जा सकता है? ऐसा माननेपर, महाभारतमें भगवान्ने गुरु-ब्राह्मणवध भी करवा दिया था, उसे भी अनुकरणीय आदर्शतया मान्य रखना पड़ेगा! अन्यथा अनुकरणीय न मानने पर भगवल्लीलामें दोषोंकी भी उद्भावना करनी शास्त्रके वास्तविक अभिप्रायसे अपरिचयका द्योतन ही है. क्योंकि इस तरहकी लीलाओंके द्वारा प्रतिपिपादयिषित तत्त्वोपदेशरूप शास्त्रार्थ, यह भी तो हो सकता है कि आत्माराम आप्तकाम भगवान्, भक्तोंके भाव असामर्थ्य एवं अज्ञान का किसी सीमातक नि:स्वार्थ अनुकरण करके भी उन्हें अपनी लीलाओंमें निरुद्ध बना कर उनकी, प्रपञ्चासक्ति निवृत्त कर देते हैं. ऐसी स्थितिमें यहां कर्तव्योपदेश खोजना सहज संभव है कि हमें अपनी प्रपञ्चासक्तिके परिपोषणार्थ ही उचित प्रतीत होता होगा!

(८) जैसे भगवान्की दिव्य सामर्थ्यमें निष्ठा रख कर भगवच्चरित्रमें हम दोषबुद्धि नहीं लाते, वैसे ही दिव्य सामर्थ्यकी निष्ठा निभाते हुवे आचार्यचरण या उत्तमकोटीके अन्य भी भगवदीयोंकी भी असाधारण सामर्थ्यमें हमें निष्ठा रखनी चाहिए. प्रत्येक भगवच्चरित्र कर्तव्योपदेशार्थ ही न हो कर कभी केवल कर्तव्योपदेशार्थ, तो कभी केवल तत्त्वोपदेशार्थ, तो कभी उभयोपदेशार्थ भी हो सकता है. वैसे ही आचार्यचरित्र या अन्य भी उत्तमकोटिके भगवदीयोंके चरित्र भी कभी कर्तव्य कभी तत्त्व या कभी उभय के उपदेशार्थ भी हो सकते हैं.

(९) अत: 'विमर्श'द्वारा प्रदर्शित अविमृष्टविधानकारिताके दोषसे

बचना हो तो धैर्ययुक्त विस्तृत विवेचनाकी आवश्यकता है. कोई वार्ता यदि कर्तव्योपदेशार्थ है तो, वह कर्तव्य औत्सर्गिक है आपवादिक है या प्रातिप्रसविक है. इसी तरह तत्त्वोपदेशार्थ है तो वह तत्त्वस्वभाव-तत्त्वस्वरूपके निरूपणार्थ है या तत्त्वसामर्थ्यके निरूपणार्थ, इसका सूक्ष्म अन्तर विचारना पड़ेगा. इसे समझे बिना तो महाप्रभुने दो बार भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया एतावता सभी आचार्यचरणानुगामिओंको दो बार भगवदाज्ञाओंके उल्लंघनकी छूट क्या दी जा सकती है? आचार्यचरणने निजजनकके श्राद्धकर्मार्थ दूसरेसे घृतयाचना की थी, अतः आधुनिक गोस्वामिओंको भी उनके नि.ली.पितृचररणोंके श्राद्धकर्मार्थ परघृतयाचनामें (वैसे पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने, उल्लिखित नड़ियादकेसकी गवाहीमें, इस वार्ताको भी अप्रमाण ही मानी है! फिरभी) कोई न्यूनताबुद्धि नहीं लानी चाहिये! फिर तो आचार्यचरणने अपने पितृव्यके पास घरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालके स्वरूपके बजाय श्रीमुकुन्दरायजी ही पधराने पसन्द किये थे : **''श्रीवल्लभेन देवालयं गत्वा एका शालिग्रामशिला श्रीभागवतपुस्तकं च याचितं मात्रा हरिस्वरूपं च तदा जनार्दनः प्राह इयं शिला... अयं मुकुन्दः.... बालकृष्णः .... पुस्तकं च .... नीयतां यद् रोचतड़ति शिलां पुस्तकं मुकुन्दं पुस्तकं च गृहीत्वा चलितः''** (श्रीवल्ल.दिग्वि.प्रथमावच्छेदः), अतः उसके आधारपर भी कुछ कर्तव्योपदेशकी उट्टंकना लोग करने लगेंगे! क्योंकि ये स्वरूप सुरतिस्थ स्वरूप हों या न हों परन्तु **''सभी स्वरूपोंमेंके मूलस्वरूपके सूचक नाम 'कृष्ण' नाम केवल श्रीबालकृष्ण प्रभुके नामके साथ आता है. अतः इससे स्पष्ट सूचित होता है कि सर्वस्वरूपोंमें श्रीबालकृष्ण प्रभु सर्वमूलभूत मौलिक स्वरूप है''** ('सेव्यसेवकरसास्वाद' पृ.सं.८का हिन्दी-अनुवाद) में स्वीकृत मूलनामप्रयोगकी युक्ति यहां भी अविस्मरणीय माननी पडेगी.

निष्कर्षतया वैसे तो ये सारी बातें भुला भी दें तो भी महाप्रभुके **''ईश्वराणां वचएव तथ्यं नतु आचरितं, क्वचिद् आचरितमपि वचनानुगुणं चेद्, ईश्वराणां बहवो धर्माः यथा ऐश्वर्यं तथा धर्मात्मत्वं तथा दया, तत्र ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यैः यत् करोति तत् 'स्वच्छन्दचरितम्' इति उच्यते. बुद्धिमान् तद् न समाचरेत्. तेहि अन्यथा न वदनित अन्यार्थं कथनम् अन्याधिकारेणेति; अतः,**

तद्विरुद्धं न कथयन्तीति.'' (सुबो.१०।३०।३२) इस वचनके जागरुक रहते हुवे महाप्रभु-प्रभुचरणोंके श्रीकण्ठोक्त विधि-निषेधोंके अन्यथार्थकल्पनाका साहस वस्तुत: एक महान् दु:साहसका उदाहरण प्रस्तुत करना है, वह भी विमर्शकारसदृश सुपठित व्यक्तिद्वारा किये जानेपर तो ''साक्षरा: विपरीता: चेद्...'' लोकोक्तिको ही उजागर करना है.

इन बातोंके विचार करनेपर; तथा, क्योंकि अभी अपनी घोषणाके अनुसार विमर्शके पूर्वार्धके मूल्य ४०रु.के अलावा उत्तरार्धके भी ४०रु. शुल्क वसूल कर लेनेके बावजूद उत्तरार्धका प्रकाशन कब हो जायेगा या होगा भी कि नहीं इसकी निश्चिति न होने के कारण भी, कुछ असमंजस परिस्थिति बनी हुई है. क्योंकि पूर्वार्धकी तरह उत्तरार्धमें भी सिद्धान्तवचनोंके बजाय वार्ताओंपर ही अवलम्बित हुवा जायेगा, यह सोच कर, उस उत्तरार्धके प्रकाशित होनेके बाद ही एकहेलया 'वार्ताविमर्शविशोधनिका' का प्रकाशन अधिक सुसंगत होगा. रही बात 'सेवादेवद्रव्यादिविमर्शसारसंग्रहक्रोडपत्र'की तो वह तो अन्तमें 'क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग'में अधिक आयासकी अपेक्षा नहीं रखेगा सो किसी भी वर्ष किसी भी मास किसी भी दिन सम्पन्न हो पायेगा! तथा 'ट्रस्टप्रकरण' भी सिद्धान्तनिर्धारित होनेपर ही निर्धारणीय हो पायेगा यह सोच कर 'विमर्श'के अन्तिम 'भावसंगोपन-प्रकरण'का विशोधन अधिक प्रासंगिक लग रहा है.

यों विचार्यविषयक्रमकी संगतिके निरूपणके बाद विचारक्रमकी संगतिके सन्दर्भमें भी थोड़ा-बहुत खुलासा सिंहावलोकनविधिसे कर लेना उचित होगा.

ग्रन्थारम्भमें यह खुलासा तो हमने दे ही दिया है कि आलोच्य 'भावसंगोपनप्रकरण' 'सिद्धान्तवचनावली'के 'सेवाप्रयोजन', 'सेवोपदेशदीक्षा', 'सेवोपदेष्टा', 'सेवाप्रदर्शन' तथा 'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंसे सम्बद्ध विषय हैं.

(पूर्ववृत्तका विहंगावलोकन)

इन पांच विषयोंमेंसे पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी

९२, पार्ले-मुंबई)में चि.हरिरायजीने तीनपर पक्षग्रहण किया था. अत: उन गृहीत पक्षोंको 'पु.सि.सं.शि.'पदवी द्वारा अभिनन्दित करनेवाले वास्तविक तथा नामदायी विमर्शकारोंकी उन पक्षोंके साथ नैतिक प्रतिबद्धता तो माननी ही पड़ेगी. उसे 'विमर्श'में कहां छोड़ा या स्वीकारा गया है, उस तथ्यपर एक विहंगावलोकन भी अतएव आवश्यक है ही.

तद्नुसार:--

(अ) 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यतया संकलित वचनोंके बारेमें मेरे द्वारा **''सिद्धान्तत: भगवत्सेवाका प्रदर्शन आम जनताके समक्ष हो सकता है या नहीं''** इस संशयके सन्दर्भमें चि. हरिरायजीने **''निरंकुशा: हि कवयश्चेद् महाकवयस्तु महानिरंकुशा:''** नियमको चरितार्थ करते हुवे अपना पक्ष यों प्रस्तुत किया था : **''श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीकी सेवा जो आचार्यचरणने प्रकट की वह मन्दिरसेवा और दर्शनसेवा... का प्रावधान है... उसी वक्त दर्शन मन्दिर को सिद्धान्तमें स्वीकार लिया गया था''** (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२)

यह अतीव विस्मयजनक तथ्य है कि प्रात:स्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजी जैसे सिद्धान्तनिष्ठ विद्वान् पिताके द्वारा सुपाठित श्रीवल्लभरायजी जैसे विद्वान् पुरुष सर्वप्रथम तो चि.हरिरायजीसदृश महाकविकी कल्पनाओंसे इतने केसे विमोहित हो गये कि 'पुष्टिने शीतल छांयडे'में स्वयंके द्वारा दिये गये समाधानको निरसनीय पक्ष मान बैठे! यह तो सम्भव नहीं लगता कि 'पु.सि.सं.शि.'पदवीके पाठमात्रसे यह प्रतिबद्धता जनमी हो. क्योंकि उक्त पदवीपाठके बावजूद महाकविके निजकाव्यैकशोभाकर अनेक कल्पनाकंटकोंसे विमर्शकारने अपने उलझे हुवे दामनको 'विमर्श'में एक झटकेसे छुड़ा लिया है!

लिहाजा **''सामान्यतया इतर हिन्दुसम्प्रदायमें 'मन्दिर' देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होता है परन्तु ऐसे देवालयरूप मन्दिर जैसी संस्थाका पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है... पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी या माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्यप्रदान करनेका व्यक्तिगत धर्म फर्ज और अधिकार होता**

है. वैसे ही जिस सेवकका जो सेव्यस्वरूप होता है उस सेव्यकी सेवा उस सेवकका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार है. सेवा यह सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं है परन्तु सेवा यह अपने आन्तरिक जीवनके सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे अपने जीवनकी अपने निजघरमें अनुष्ठित स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलियोंकी तरह 'श्रीनाथजीका मन्दिर'शब्द रूढिवशात् प्रचलित हो गया है. वस्तुतः सामूहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसा अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवालय जैसा श्रीनाथजीका मन्दिर नहीं है.'' (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७-१५८ का हिन्दी अनुवाद) इस विधानकी संगति अब कैसे बैठानी?

वैसे प्रतीत होता है कि यह पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीने जब श्रीनाथजीके व्यक्तिगत होनेका दावा न्यायालयमें कर रखा था उसके समर्थनमें दिवंगत श्रीयुत आर.के.भट्टकी पुस्तकके आधारपर चोरा गया समाधान है, पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीको प्रसन्न करने कि षष्ठपीठाधीशत्वकी मान्यता कथञ्चित् प्राप्त हो जाय! एतदर्थ ही यह धांधली हो गई लगती है. बादमें कोर्टमें न्यायालयके समक्ष एतत्संबन्धी वचन प्रस्तुत न किये जानेसे कोर्टने पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीके व्यक्तिगत स्वरूप होनेका दावा श्रीनाथजीके बारेमें मान्य नहीं रखा. फलतः ''व्यवहारे भाट्टाः'' नीतिका परित्याग कर भाट्ट विधानको भुलानेकी आवश्यकता, व्यावसायिक भगवत्सेवाके पारमार्थिक प्रयोजनवशात्, उठ खड़ी हो गई होगी. चि. हरिराय 'महाकवि'के निरंकुशकल्पनाप्रसूत पक्षग्रहणके अभिनन्दनार्थ 'पु.सि.सं.शि.'बिरुदावलीके प्रलेखपर षष्ठपीठाधीशतया गो.ति.म.श्रीके साथ संयुक्तहस्ताक्षर करवा लेनेकी कूटनीतिवश प्राप्त षष्ठत्वके निर्वाहार्थ पुनः स्वकृत विधानका भी परिमार्जन अपेक्षित था सो अब 'विमर्श' प्रस्तुत कर दिया गया है! इस बीच एक दुर्घटना और घटित हो गई. अपने सेव्यस्वरूपको चौटा बजार स्थित मन्दिरसे वराछा रोडपर स्थित बंगलामें हिन्दु-मुस्लिम दंगोंके बहानेसे पधरानेकी आवश्यकता थी परन्तु सुरतनगरकी दर्शनार्थी वैष्णव जनताके प्रबल असन्तोष तथा विरोध के कारण पुनः ठाकुरजीको चौटा बजार स्थित हवेलीमें पधराने पड़े! सो हाल ही में प्रकाशित 'विमर्श' समर्थित सार्वजनिक प्रदर्शनोपयोगी मन्दिरोंको

अपसिद्धान्त घोषित कर दिया गया है. पुन: स्वयं विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीके अग्रज श्रीबालुराजा द्वारा ! उसे भी एक बार अवलोकन कर लेना 'विमर्श' के निगूढ़ स्वभावके निर्धारणार्थ उपयोगी हो सकता है :

> **''.... मन्दिरके स्थलान्तरणके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कहा कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा ही नहीं है. उसमें तो व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूपकी ही बात है और अतएव उसका सेवाप्रकार देवालय प्रकारका नहीं है. मन्दिरका स्थापत्य भी घर जैसा ही होता है. कहीं ध्वजा-शिखर होते नहीं है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करते हैं उसे 'मन्दिर' कहते हैं; ओर वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिरोंके स्थान अतएव बदले जा सकते हैं. हम भी यदि यहांकी जगहके बारेमें (परिवारमें) समझोता सफल नहीं हुवा तो दूसरी जगह कर विचार निश्चित करेंगे.''**
>
> ('गुजरात-समाचार' अंक दि.२५-५-९३)

भूलना नहीं चाहिये कि ये गो.श्री बालकृष्णजी भी 'विमर्श'के लिये द्वितीय नामदायी हैं. सिलसिलेवार देखें तो ''पुष्टिने शीतल छांयडेमें'' स्वीकृत भावसंगोपनात्मिका निजगृहसेवाका सिद्धान्त पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें चि. हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्षको अभिनन्दित करते समय छोड़ दिया गया! जिसकी यथाकथञ्चिद् उपपत्ति 'विमर्श'में दी गई. अभी इस 'विमर्श'को पढ़ कर लोग समझनेका प्रयास कर रहे थे कि गुजरात-समाचारमें पुन: नूतन सिद्धान्त प्रकट हो गये हैं! अब 'गुजरात-समाचार'में प्रकाशित सिद्धान्त यदि पुष्टिमार्गीय हों तो श्रीनाथजीके मन्दिरको पुष्टिमार्गीय मानना कि नहीं? लगता है षष्ठत्वमान्यताप्रदायक पू.पा.गो.ति.महाराजकी जानकारीमें यह वक्तव्य अभी आया नहीं है. अन्यथा षष्ठत्वके निरसनकी धमकी मिलते ही पुन: सार्वजनिक मन्दिरको महाप्रभृति आचार्योंकी सदाचार परम्परासे प्रमाणित सिद्ध करना पड़ेगा. वैसे ट्रस्टप्रकरण, जिसकी विशोधनिका अभी लिखी जानी बाकी है, उसमें विमर्शकारने थोड़ी-बहोत लीपापोती करनेकी असफल चेष्टा की है सो

भी 'चोरासी वैष्णवन्की वार्ता'में की २४वीं वार्ताके प्रसंग १के प्रामाण्यको मान्य रख कर या अमान्य रख कर यह प्रकट नहीं हो पाता है! ''प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा: ऋते स्वार्थशक्ते:!''

(आ) 'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके सन्दर्भमें ''**सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ और भी पुष्टिसिद्धान्तमें हो सकता है या नहीं?**'' इस तरह संशयकी दो कोटियां प्रयुक्त करनेपर चि.हरिरायजीने पक्षग्रहण किया था : ''**अधिकारीभेदसे सम्भव है**'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२)

वैसे न्यूनतम शब्दावलीमें यह प्रश्नोत्तरी सम्पन्न हुई थी. अत: चि.हरिरायजी महाकविके लिये तो आकाशावधि शाखाचंक्रमणका अवकाश यहां उपलब्ध है. अन्यथा 'सेवास्वरूप' तथा 'सेवार्थ आजीविका' शीर्षकान्तर्गृहीत गृहीत पक्षोंके साथ एकवाक्यता करनेपर चि.हरिरायजीके चित्तमें ''**चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन आर्तो जिज्ञासुरथार्थी ज्ञानी च...**'' कल्प ही रमा हुवा था. ''**सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डित:**'' नीतिके अनुसार सेवाद्वारा अर्थोपार्जन जब निषिद्ध सिद्ध होने जा रहा हो तो भक्तिकी जघन्यकोटितया उसे मान्य करवानेका केसरिया चि.हरिरायजीने कर लेना चाहा था! क्योंकि ''तुष्यतु दुर्जनन्यायेन'' चि. महाकविने पक्षग्रहण किया हो, ऐसा तो शक्य ही नहीं क्योंकि मैं तो कोटिद्वयावगाही संशय या विकल्प ही केवल प्रस्तुत कर रहा था पक्षग्रहण तो चि. महाकविका अपना कल्पनाकौशल था. वैसे यदि अब चि.महाकवि ऐसा शाखाचंक्रमण करना चाहें तो भी मैं तो पुन: यही कहना चाहूंगा कि दुर्जनोंको सन्तुष्ट करनेवाले पक्षको गृहीत करनेके बजाय चि. महाकविकी अपनी आस्थाके अनुरूप श्रीमदाचार्यचरणको वे सन्तुष्ट कर पायें, ऐसा पक्ष क्यों नहीं गृहीत किया? क्या दुर्जनैकसन्तोषदायकताका जघन्यस्वभाव सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्ने महाकविकी नियति बना रखी है क्या!

विमर्शकारने यहां खुल कर प्रयोजनके बारेमें भगवत्सेवाका तो नहीं परन्तु भगवत्सेवाके प्रदर्शनका प्रयोजन दिखलाया है. दर्शनार्थिजनताके

उद्धारको सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनतया मान्य किया है. ऐसी स्थितिमें अधिकारीभेद किस दृष्टिसे समझना तथा सेवात्मिका क्रियाका प्रयोजन सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन तथा उस प्रदर्शनका प्रयोजन दर्शनार्थिजनताका उद्धारतया लेनेपर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को मुख्य प्रयोजन मान कर दर्शनार्थिजनतोद्धारको उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना अथवा दर्शनार्थिजनतोद्धारको मुख्य प्रयोजन मान कर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना? यों यहां संशयकी कोटियोंको और परिष्कृत करना पड़ेगा.

(इ) 'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यरूप वचनोंमें शब्दशः स्वार्थप्रतिष्ठा या परार्थप्रतिष्ठा का तो उल्लेख था नहीं, फिरभी **''वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो.''** (त.दी.नि.प्र.२।२२८) यों सेवार्थ भगवत्स्वरूपके चयनकर्ता भक्तकी तरह स्वयं भगवान् भी भक्तका चयन करते हैं प्रपञ्चासक्ति या संसार से उसके उद्धारार्थ. यह चयन तद्भक्तसेव्यात्मना करते हैं यह भी ध्वनित होता है. अतः स्वार्थप्रतिष्ठाका यदि श्रुतिबलसे नहीं तो भी लिंगबलसे तो बोध होता ही है.

चि.हरिरायजीने केवल स्वार्थप्रतिष्ठा माननेपर उसे अर्थोपार्जनका साधन नहीं बनाया जा सकेगा तथा केवल परार्थप्रतिष्ठा स्वीकारनेपर गोस्वामिवर्गको सेवाफलसे वंचित मानना पड़ेगा, ऐसी मानसिक असंमजसतामें निरंकुशकल्पनाकौशलका प्रदर्शन करते हुवे पक्षग्रहण कर लिया **''मेरा स्पष्टतम(?!) मत यह है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्यस्वरूप पधराया जाता है तो स्वार्थप्रतिष्ठा होती है (ताकि कोई बनिया पू.पा.गो.महाराजश्रीओंकी प्रतिस्पर्धामें व्यावसायिक मन्दिर चलाने न पाये!) परन्तु पुष्टिमार्गीय गुरु जो सेवा करता है, वह सेव्यस्वरूप स्वार्थ–परार्थ होता है (ताकि हम गोस्वामिओंद्वारा चलाये जाते सार्वजनिक–व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनके कारण हमें मिलते आर्थिक लाभको किसी तरहकी आंच न आने पावे!) अर्थात् परार्थ भी है''** (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५९)

उल्लेखनीय है कि संशयकोटिमें ही मैं यह स्पष्ट कर चुका था कि

निजस्वत्ववाले स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परधन लेना देवलकता है तथा परार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परिवारेतर जनताको भी धनादिके समर्पणका अधिकार शास्त्रसम्मत है. चि. महाकविने तो आशुकविकी तरह शीघ्र ही अपना निरंकुशकल्पनाकौशल प्रकट करते हुवे यही उचित मान लिया कि गोस्वामिओंके स्वत्वकी वकालतके लिये स्वार्थप्रतिष्ठा होने दो; तथा, दर्शनार्थिजनतासे मिलते लाभकी सुरक्षाके लिये परार्थ अर्थात् उभयार्थ प्रतिष्ठा होने दो. इस विषयमें 'पु.सि.सं.शि.' पदविप्रदानद्वारा चि. महाकविको अभिनन्दित करनेवाले विमर्शकारने मौनसेवनमें ही अपना श्रेय मान लिया है, ऐसा प्रतीत होता है, यद्यपि 'पुष्टिने शीतल छांयडे' तथा 'गुजरात-समाचार' में प्रकाशित वक्तव्य तो चि.महाकविद्वारा गृहीत पक्षसे सर्वथा विपरीत थे और हैं!

वैसे तो पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें प्रकट हुई स्वीकृति और तन्मूलक अर्थापत्तिओंके आधारपर विचारकी कड़िओंको आगे बढ़ानेकेलिये 'संक्षिप्तविवरण'में मैंने 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेद जोड़ दिया था. परन्तु किंवक्तव्यविमूढतावश चि.महाकविके तो यह हाल हो गये कि कभी कहते हैं **''पक्षग्रहणमें जो बातें कबूल करनेके आरोप लगाये जा रहे हैं वे मनगढ़न्त हैं! कभी ''तटस्थ-मध्यस्थ यदि कोई हो तो पुनः शास्त्रार्थ करके तीन घंटामें मुझे पराजित कर सकते है''** कह कर बलाय टालना चाहते हैं. कभी जनताको मेरे विरुद्ध भड़कानेको मुझे **'श्रीनाथजीका विरोधी'** कहते हैं! कभी कहते हैं **''केसेट्स्के साथ छेड़छाड़ हो गई है''**, जबकि छेड़छाड़में कोई अंश मान लो कि काटा भी जा सकता हो, पर उसमें जोड़ा कैसे जा सकता है? वह अनितरसाधारण ''अहोरूप अहोध्वनि'' अन्यत्र कहांसे आ सकती है? जबकि ओडियो-वीडियो केसेट्स्मेंसे जिसे चि. महाकवि गृहीत पक्षोंको देखना-सुनना हो वह देख-सुन सकता है. कर्णोपकर्ण ऐसा भी सुना जा रहा है कि चि. महाकवि यह भी कहते हैं **कि पक्षग्रहण तो 'तुष्यतु दुर्जन'न्यायेन स्वीकार लिया था''**. परन्तु 'तुष्यतां पुष्टिप्रभुमहाप्रभू'न्यायेन कुछ स्वीकारनेका बीजभाव ही मानों चि. महाकविके जीवात्माके भीतर परमात्माने स्थापित ही नहीं किया हो, ऐसा लगता है. इस दयनीय मानसिक दुरवस्थाको देख कर

चि.महाकविको तो उपेक्षणीय तथा क्षन्तव्य समझ कर ही अब आगे बढ़ना पड़ेगा! परन्तु विमर्शकार अपने नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक नहीं सकते. क्योंकि चि. महाकविकी स्वीकृति यदि अभिनन्दनीय पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो 'विमर्श'की धारणा उससे विपरीत या विरुद्ध नहीं होनी चाहिये थी. यदि विपरीत या विरुद्ध धारणायें 'विमर्श'में प्रस्तुत करनी थी तो चि. महाकवि को अभिनन्दित करना किसी तरहकी कूटनीति थी या वास्तविक धर्मके स्वरूपका निर्धारण था, यह खुलासा तो कभी न कभी देना ही पड़ेगा.

यह तो सहज सम्भव लगता कि 'संक्षिप्तविवरण' तथा 'विमर्श' का मुद्रणकार्य एक ही समय चलता रहा होगा. अत: 'विमर्श'में 'संक्षिप्तविवरण'के 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेदकी युक्तिओंका विमर्श हो नहीं पाया. परन्तु वहां प्रस्तुत कई आपत्तियां अभी भी अनुत्तरित हैं, इस तथ्यपर विमर्शकारका ध्यान आकृष्ट करना मेरा कर्तव्य है. स्वयंकी इच्छाके अनुरूप स्वनाम्ना स्वपितामहनाम्ना स्वाग्रजनाम्ना या सकलनाम्ना जैसे भी सुविधाजनक लगे उन आपत्तियोंके उत्तर देनेका नैतिक उत्तरदायित्व विमर्शकारका है ही.

इस 'भावसंगोपनप्रकरण'में आते वार्तासाहित्यके प्रसंगोके उद्धरणोंद्वारा सिसाधयिषित पक्षका विशोधन तो भविष्यमें 'वार्ताविमर्शविशोधन' प्रकरणमें होगा, जिसका यत्किञ्चित् दिशानिर्देश हम इसी परिच्छेदमें कर ही चुके हैं. अत: अब इस औपक्रमिक स्पष्टीकरणके बाद 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्योंके आधारपर क्या सेवाप्रयोजनके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर अस्वीय दर्शनार्थी भक्तके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन सिद्धान्ताभिमत प्रकार है या सिद्धान्तविपरीत इसकी मीमांसाकेलिये अग्रसर हुवा जा सकता है.

***

'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क) न लौकिकः प्रभुः कृष्णौ मनुते नैव लौकिकं भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः परलोकश्च'' (शिक्षापद्यानि)

(क) न तो श्रीकृष्ण कोई लौकिक प्रभु हैं और न, अतएव, वे लौकिक भावोंको मान्य करते हैं. अतएव हमारा भाव उनके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सब कुछ हैं ऐहिक भी और पारलौकिक भी (तत्रैव).

(ख) ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः 'लोकार्थी' इति, 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव. अतः क्लिष्टो भवति. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोऽपि नश्यति, निषिद्धाचरणाद् इति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति. सर्वथा तद्रहितः कश्चित् कुर्यादपीति 'चेद्' इति उक्तम्. अत्र मूलनामोक्तिः भजनकर्तुः अभिप्रायेण अन्यथा तदसम्भावात् (सिद्धान्तमुक्तावलीविवृति : १६)

(ख) ''कोई लोकार्थी यदि कृष्णभजन करना चाहे तो उसे सर्वथा क्लेश ही होता है'' यहां शंका होती है कि कोई आजीविकाके लिये श्रीकृष्णभजन करता हो तो उसकी क्या गति

होती है? इस शंकाके समाधानतया 'लोकार्थी' पदप्रयोग किया गया है. 'लोक'पदका अर्थ होता है लौकिक अर्थ अत: लौकिक अर्थकी कामनाको पूर्ण करनेको जो भजन करता है वह तो व्यापारकी तरह अर्थप्राप्ति होनेपर अनर्थरूप ही होता होनेसे ऐसे भजनको 'भक्ति' नहीं माना जा सकता होनेसे ऐसोंका किया-धरा सब क्लेशरूप ही होता है. न केवल ऐसोंको ऐहिक क्लेश होता है परन्तु ऐसोंका तो परलोक भी नष्ट हो जाता है, निषिद्धाचरण होनेके कारण. अतएव 'सर्वथा क्लेश ही होता है' कहा. जिसे स्वल्प भी भजन और भजनीय भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो वह ऐसा कभी नहीं कर पायेगा. जिसे स्वल्पज्ञान भी न हो वही ऐसा कर सकता है. अत: एक सम्भावनाके रूपमें 'यदि' कहा गया है. ऐसे भजनकर्ताका भजनीय स्वरूप श्रीकृष्ण तो हो ही नहीं सकते फिरभी उसे ऐसी भ्रान्ति सताती होती है कि वह श्रीकृष्णभजन कर रहा है. अन्यथा आजीविकार्थ भजनमें भजनीय विग्रह श्रीकृष्ण हो ही नहीं सकते (तत्रैव).

(ग) तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मत:, न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यै श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन, न कल्पितप्रकारेणन-दुर्भावसमन्वयात् (शिक्षापत्र : १८।१२-१३)

(ग) अपने माथे बिराजते भगवत्स्वरूपकी सेवा आजीवन अपना धर्म मान कर करनी चाहिये, न तो किसी फलको पानेको, न किसी तरहकी भोगवृत्तिके वश, न प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पानेकी लालसाके वश ही, न श्रीमदाचार्यचरणोक्त रीतिसे भिन्न किसी रीतिके अनुसार ही, न मन:कल्पित प्रकारोंसे और न किसीके प्रति किसीभी तरहके दुर्भाव रख कर ही (तत्रैव).

(घ) ''भगवत्सेवा है सो गोप्य है सो काहूसों जनावे नाहीं. जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड

करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे. सो लौकिक आवेशते बहिर्मुख होय सेवामें प्रतिबन्ध पड़े. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं सो लोभी पाखण्डी होय, ताकों अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहूं न बिराजें. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोडी बने तो बाधक नहीं. सो थोड़े ही शुद्ध भगवद्धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ लौकिक आसक्तिके भगवद्धर्म न बढ़े. तातें आलौकिक सो सेवा करे जो श्रीठाकुरजीको जानते कार्य होयगो--जो लोगोन्के=लौकिकके जानेतें कछं सिद्धि नहीं है. (चोबीस वचनामृत :२२)

(संशय)

इन और ऐसे अनेक मूलाचार्यवचनोंके विचार करनेपर इतना तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि सेवाका प्रयोजन, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार, लौकिक तो हो ही नहीं सकता. अलौकिक प्रयोजन भी स्वयं भगवत्सुख अथवा भगवत्स्वरूपसेवा भगवन्नाम भगवद्गुण अथवा भगवल्लीला में चित्तकी अनन्यप्रवणताके अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता. अत: वित्तोपार्जनार्थ पदप्रतिष्ठाप्राप्त्यर्थ अथवा जनतोद्धारके प्रयोजनवश किया जाता भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन, यदि कण्ठोक्त सेवाप्रयोजनसे भिन्न हो अथवा विरुद्ध हो तो वह सिद्धान्तत: अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं यही इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थोंके बारेमें जिज्ञासा या संशय का विषय है.

(पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२ पार्ले-मुंबई) में स्वमार्गीय ग्रन्थानुशीलन सिद्धान्तबोध अथवा जिज्ञासुजनोचित सौम्यभावोंसे रहित महाकविने अपने स्वभावानुरूप अनर्गल कल्पनाकौशलवशात् ‘‘**अधिकारीभेदसे सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या**

अलौकिक कुछ भी सम्भव है'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२) ऐसी सगर्जन घोषणा करके पु.सि.सं.शि. पदवीरूप शाखापर चंक्रमण कर दिया था. तदनुसार यहां भी अधिकारभेदवश विभिन्न प्रयोजनोंके वश किया जाता भवत्स्वरूपसेवाप्रदर्शन भी अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं? उसे तो, परन्तु स्वयंके जघन्याधिकारी होनेके निगूढ़भावसे जन्य चि.महाकविकी अचिकित्स्य विवशताका अनुमान लगा कर, क्षम्य मान लेना ही उचित होगा. वैसे तो 'शाखाचंक्रमणनिरसन'में भी निरसनके प्रकारका थोड़ा-बहुत दिशानिर्देश तो दिया ही जा चुका था. अत: उन सभी चंक्रमणसम्भावनावाली शाखाओंका भी कर्तन तो हो ही चुका है. फलत: प्रस्तुत परिच्छेद विमर्शकार द्वारा उट्टंकित या उट्टंकनसम्भावना के विशोधनार्थ ही अब केवल अवशिष्ट रह जाता है.

(उत्तरपक्ष)

सेवाप्रयोजनका विचार करते समय मुख्य ऐवं गौण प्रयोजनोंके भेद भी विचारणीय बनते ही हैं. इन्हें मुख्यफल और अवान्तर फल के रूपमें भी निहारा जा सकता है. जिस साधनका जो मुख्य फल नियत होता है, उस फलको पानेकी कामनाके प्रमुख कामना होनेपर, यदि हम उस साधनको अपनाते हैं, तो फल और साधन दोनोमें पूर्ण सामञ्जस्य प्रकट होता है. अवान्तर फलको प्राप्त करनेकी कामनाके मुख्य होने पर भी साधन-फल सम्बन्धी हमारे विवेकमें एवं व्यापारमें थोड़ी-बहुत असमञ्जसता तो लकती ही है.

जिस साधनके साथ, परन्तु, जिस फलका नियत विरोधाभास ही हो उसी फलकी कामनाके प्रबल होनेपर उसी साधनको अपनाना विवेक एवं व्यवहार की पूर्ण असमञ्जसताका उदाहरण माना जा सकता है. अत: ऐसी असमञ्जसताका उदाहरण माना जा सकता है. अत: ऐसी असमञ्जसताको ''अव्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति'' वचनका विषय मानना चाहिये. कभी तो ऐसा भी होता है कि जो साधन जिस फलका नियत विघातक माना जाता हो, ऐसे साधनको भी कभी अपनानेकी भी विवशता अनिच्छा अज्ञान मोह परद्वेषार्थ असूयावश या आत्मप्रवंचनार्थ लोकमें प्रकट हो जाती है. ऐसी सारी

विवशताओंका परिणामस्वरूप फलविघात ही होता है !

तदनुसार सिद्धान्तमुक्तावलीमें जैसी साधनरूपा कृष्णसेवाका मुख्यफल चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें स्वीकारा गया, उसके सिद्ध होनेपर भी मानसी सेवा सिद्ध होती मानी जा सकती है. अहन्ता-ममताजन्य संसारदु:खकी निवृत्ति एवं ब्रह्मानुभूति रूपी, जो अवान्तरफल कृष्णसेवाके स्वीकारे गये हैं, वहीं यह भी स्पष्टीकरण दे दिया गया है कि ये अवान्तरफल सेवाकर्ता साधककी अभिलाषाके स्वरूपके विचारवश निरूपित नहीं हुवे हैं प्रत्युत मुख्यफलके स्वरूपान्त:पाती गुणधर्म होनेसे अवान्तरफलतया निरूपित हुवे हैं.

एतदर्थ ही साधनरुपा कृष्णसेवाके अनुष्ठानोचित व्यापारका स्वरूप 'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदद्वारा प्रकट किया गया है.

अब कोई संसारदु:खकी निवृत्ति या ब्रह्मबोध की प्राप्तिके लिये तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान करता हो तो उसके ऐसे व्यापारमें स्वरूपतो-अन्यात्व न होनेपर भी फलतो-अन्यथात्व प्रकट होता ही है, मुख्यफलान्त:पाती होनेके कारण इनका स्वरूप मुख्यफलविरोधी न होता हो तो भी. अर्थात् जब अंग ही अंगीकी प्राप्तिमें बाधक बनने लगे तो फलसाधनभावमें कुछ असमञ्जसता तो स्वीकारनी ही पड़ती है.

उदाहरणार्थ मुख्यफलरूप प्राणधारणके सम्पादनार्थ साधनरूप व्यापार अन्नभक्षण है, इसके अवान्तरफल पुष्टि तुष्टि और क्षुधानिवृत्ति प्रकटतया सभीको अनुभूत होते हैं. बहुधा इन तीनों या तीनोंमेंसे किसी एककी अमर्यादलालसा प्राणनिर्वाहके बजाय प्राणघातक ही सिद्ध होती है. एतावता सिद्ध होता है कि अवान्तरफलोंके बारेमें भी मुख्यफलके जैसी कामनाके प्रबल होनेपर मुख्यफलके अंगभूत अवान्तरफल मुख्यफलमें बाधक हो सकते हैं.

इसी तरह सांसारिक दु:खकी निवृत्तिके लिये सांसारिक साधनोंके अवलम्बनमें किसी तरहकी असमञ्जसता न होनेपर भी सांसारिक दु:खोंकी

निवृत्तिकी कामनावश कृष्णसेवाका अनुष्ठान ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' वचनमें निरूपित व्यापार एवं प्रयोजनकी असमञ्जसता है. यही गति कृष्णसेवाके द्वितीय अवान्तरफलरूप ब्रह्मबोधकी कामनाके प्रबल होनेपर भी सोच ली जा सकती है. क्योंकि तदर्थ ज्ञानमार्गीय उपासना आदिकी ही मुख्यसाधनता स्वीकारनी उचित होगी.

इस सबके विपरीत लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा या कीर्ति आदिकी कामनाके वश जब कोई कृष्णसेवाके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है तब तो चित्तकी कृष्णैकप्रवणता या मानससेवा रूपी वास्तविक फलका विघात तो ध्रुव निश्चित है और अतएव इसे फलविरुद्ध व्यापारमें प्रवृत्त होनेकी मूढ़ता भी माननी पड़ती है.

यह विरोध उभयथा सम्भव है :

(१) साधनस्वरूपको विकृत बना कर, यथा, एककर्तृका तनुवित्तजाके बजाय भिन्नकर्तृका तनुजा और वित्तजा के अनुष्ठानद्वारा साधनके स्वरूपविघातक व्यापारद्वारा, अर्थात् स्वगृहके बजाय सार्वजनिक देवालयमें कृष्णसेवाके साधनस्वरूपके विघातद्वारा, स्वकीय भक्तोंके सहयोग तथा संनिधानके बजाय अस्वकीय तथा अभक्तों के संनिधान अर्थात् जनसाधारणके सहयोग तथा संनिधान द्वारा सम्पन्न करने पर.

(२) वास्तविक फलके अनभिलषित होनेपर यह पुनः दो तरहसे सम्भव होता है : (क) वास्तविक फलकी अनुत्पत्ति तथा (ख) वास्तविक फलका विघातन.

तनुवित्तजा, स्वगृहाधिष्ठित स्वरूपकी सेवा, अपने परिवारजनोंके उसमें विनियोगके निर्वाहपूर्वक यथोपदिष्टतया करनेपर भी सेवाकर्ताके अन्तःकरणमें वास्तविक फलकी अभिलाषा ही न रहनेपर वह फल उत्पन्न नहीं होगा. यह वास्तविक फलकी महत्ताके प्रति प्रमाद या अज्ञान के कारण भी सम्भव है. इसी तरह तद्विरोधी फलके प्रति मोहजन्य आकर्षणके कारण भी जैसे लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा प्रतिस्पर्धा या कीर्ति आदिके मोहवश

यथोपदिष्टतया भी कृष्णसेवाका अनुष्ठान इन विरोधी फलोंके मोहवश कृष्णसेवाका स्वरूपोपघाती न होनेपर भी फलोपघाती बन सकता है. अतएव शिक्षाश्लोकी सिद्धान्तमुक्तावली विवृत्ति तथा शिक्षापत्रके वचन स्थालीपुलाकन्यायेन विषयवाक्यतया मेंने प्रस्तुत किये थे. अन्यथा तो अनेकानेक वचन इस अभिप्रायको सिद्ध करनेवाले सुबोधिनयादिसे उद्धृत किये ही जा सकते हैं. उदाहरणतया विशोधनिका (द्वितीय)के मुखपृष्ठपर तथा पृष्ठपृष्ठपर जो वचन उद्धृत हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है.

विमर्शकारने इस विषयमें अपनी एक विचित्र व्याख्यानरीति पेटेन्ट बना रखी है कि जितने भी निषेधवाक्य हैं उनकी सदाचारसे विरुद्धता दिखला कर सिद्धान्तविपरीत सदाचारकी वचनाविरोधिताकी उपपत्ति देने-खोजनेके बजाय कण्ठोक्त निषेधोंका अभिप्राय लक्षणावृत्तिसे खोज लेना.

यह तो ऐसी बाललीला है कि मानों मद्यपानका शास्त्रमें निषेध उपलब्ध होता हो तो भी श्रीबलरामके मद्यपानको सदाचार मान कर मद्यबुद्ध्या मद्यपानको दोषरूप दिखलाना परन्तु गंगाजलपानबुद्ध्या या औषधबुद्ध्या मद्यपानको निर्दोष सिद्ध कर देना. अथवा उन-उन ऋषियोंके अप्सरारमणके वृत्तान्तको उद्धृत कर सदाचारकी शपथ दे या ख कर आधुनिक परवधूविहारको धर्म्य ठहराना सो भी यह कह कर कि परवधूबुद्ध्या परवधूविहार दोषरूप हो सकता है पर अप्सराबुद्ध्या अथवा स्ववधूबुद्ध्या विहार करनेपर आर्ष सदाचारानुसरण ही केवल होता है!

ऐसे बचकाने कुविमर्शोंके कुछ उदाहरण देख कर ही इस विषयके विचारार्थ अग्रसर होना उपयुक्त होगा. देखिये :

(१) ''रतिर्देवादिविषया भाव:'' इस वाक्यके अनुसार 'भाव' शब्दका अर्थ भगवद्विषयिणी रति है. व्यवहारमें देखा जाता है कि पतिदर्शनार्थ किसीके आनेपर पत्नी नहीं रोकती. अन्य लोंगोके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका शृंगारारसका जो स्थायी भाव है, उसे पत्नी लोगोंके समक्ष प्रकट नहीं करती. 'रति' का

अर्थ है : ''यह पति किंवा इनका दर्शन आदि सुखका साधन है इस प्रकार का पत्नीका संस्कार.'' (विम.पृ.सं.१९७-१९८)

(क)

वैसे तो विमर्शकारने यहां एक बहोत बड़ा झांसा देनेकी कोशिश की है. क्योंकि यह तो ठीक है कि सामान्यतया कोई भी पत्नी पतिको मिलने-देखने आनेवालोंपर रोक-टोक नहीं लगाती होती परन्तु दर्शनार्थिओमें कोई दर्शनार्थिनी पतिकी आंखोंमें डोरे डालने आना चाहती हो, उसपर भी वह पत्नी यदि बुरा न मानती हो और उसे रोके-टोके भी नहीं; और, तब एक दिन वह मनचली दर्शनार्थिनी कोर्टमें दावा भी कर दे : वह पुरुष केवल पतिप्रदर्शिका पत्नीका ही पति नहीं परन्तु दर्शनार्थिनीका भी पति है और पतिप्रदर्शिका तो केवल उसकी परिचारिका है. तब भी वह प्रतिप्रदर्शिका यदि बुरा न मानती हो तो या तो वह स्वपतिविरक्ता होगी अथवा व्यभिचारी पतिने उस पत्नीको सरे-आम रस्तापे उतर कर विरोध दरसानेके बावजूद उसे मार-पीट कर भीगिबिल्ली बना दिया होना चाहिये, घरमें एक निरीह पालतु जानवरकी तरह पाले रखनेको! अन्यथा अपने पतिको फंसानेको दर्शन करने आनेवालीको रोकनेके दाम्पत्यकलहमें तो सती पत्नी भी अपने मुकामसे बाहर निकलकर मार्गपर उतर जाती है. मार खाते-खाते, परन्तु, किसी बिचारीका पत्नी होनेका अभिमान ही खण्डित हो गया हो तो कथा दूसरी है!

अत: ''भावस्तत्राप्यस्मदीय: सर्वस्वश्चैहिकश्च स: परलोंकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा सेव्य: सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि न:'' वचनके आधारपर क्योंकि ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ पुष्टिप्रभु ही सिद्ध करते हैं तब दर्शनार्थी जनतासे रक्षण-पोषणकी अपेक्षा रख कर भजन करना कारिकामें प्रयुक्त ''सएव न: अखिलं विधास्यति'' भावनाके विपरीत लगता है. अत: वृत्त्यर्थ, रक्षार्थ, पोषणार्थ, प्रतिष्ठार्थ, जनोद्धारार्थ अथवा परधनके स्वकीयभगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोगार्थ भगवत्सेवाका अनुष्ठान सिद्धान्तानुमोदनीय नहीं हो सकता है.

(ख)

आज इस व्यावसायिक दर्शन करानेके चक्करमें पुष्टिमार्गीय हम गोस्वामिओंके अधिकतर ठाकुरजीओंको वैष्णव दर्शनार्थी ट्रस्टी बन कर पचा गये हैं. कई स्थलोंपर तो ऐसे प्रदर्शनार्थी पू.पा.महाराजोंका निष्कासन भी ट्रस्टिओंने कर दिया है. स्वयं सुरतघरके ताबेकी कलोलकी हवेलीमें, सुनते है कि ट्रस्टिओंने सिर उठाना चाहा है, स्वयं मोटी हवेलीमें आराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको मन्दिर रिपेर करनेके लिये वराछा रोड पधरानेकी योजना स्थगित करनी पडी कि कहीं मुकदमेबाजी न हो जाये! बावजूद इसके दर्शनार्थिओंकी उद्धारकी कामनामें कितनी सदाशयरूपा जनोद्धिधीर्षा है? और कितनी धनोपार्जनकी विवशता? यह कह पाना कठिन लगता है. यह स्थिति इतनी विरल भी नहीं कि विमर्शकारके ध्यानसे बाहर हो. हर सूरतमें यह एक व्यावहारिक विवशताकी कथा है सैद्धान्तिक पक्ष नहीं. वैसे इतना सुदृढ है कि सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन करना हो तो सेवास्थलको न केवल प्राचीन तन्त्रागमोंके नियमोंके अनुरूप अपितु आधुनिक उच्चतम न्यायालयके निर्णयोंके आधारपर भी देवालय स्वीकारना पडेगा. इतना ही नहीं अपितु उस देवालयस्थ भगवद्विग्रहपरसे अपना स्वत्व भी निवृत्त मानना पडेगा. फिरभी ऐसे भगवद्विग्रहके बारेमें स्वरूपासक्तिका दावा तो बचकानी मनोवृत्ति लगती है. अन्यथा स्वीयभक्तजनेतर अन्य जनसाधारणको दर्शन कराये ही नहीं जा सकते. विशाल खुले द्वारोंवाली बेरोकटोक आवागमनकी सुविधा दर्शनार्थिओंको प्रदान करनेवाली हवेलीके संचालक क्यों दर्शनार्थी जनताको महाप्रभु-प्रभुचरण भगवत्स्वरूप सेवार्थ पधरा कर अपने-अपनें घरोंमें सेवाका उपदेश नहीं देते. ऐसे करनेपर खोनेको केवल देवोत्तर द्रव्यका आर्थिक लाभ होगा और पानेको स्वयं निजाराध्य देवाधिदेव भगवत्स्वरूप होगा! खेदके साथ, परन्तु, कहना पडता है कि देवलकोंकी रुचि प्राय: देवमें नहीं किन्तु देवद्रव्यमें ही बद्धमूल होती है.

विमर्शकार कहते हैं --

> ''अन्य लोगोंके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका जो शृंगाररसका स्थायिभाव रति है उसे पत्नी लोगोंके समक्ष प्रकट

नहीं करती.''(तत्रैव)

वैसे तो आधुनिकायें उद्यानोंमें, सागरतटोंपर या क्लबोंमें अपने पति या प्रेमी के प्रति रहे शृंगारात्मक भाव भी प्रकट करती ही हैं, जैसे हम आधुनिक गोस्वामिगण शृंगाररसात्मिका जलक्रीडाकी भावनासे कराये जाते ज्येष्ठाभिषेकके दर्शन मंगलामें आम जनताको कराते है. दानलीलाके शृंगारिक भावपूर्ण दर्शन शृंगार राजभोग आदि दर्शनोंमें कराते हैं. सांझीके सन्ध्या-आरतीमें और शारदी पूर्णिमामें रासलीलाकी भी भावनावाले दर्शन भी शयनमें कराते ही हैं. वसन्तके खेलमें तो चालीस दिनोंतक शृंगारभावात्मिका रतिसे ठाकुरजीको चोवा चन्दन गुलाल अबीरसे खिलानेके भी दर्शन कराये ही जाते हैं.

यदि कहा जाये कि इन शृंगारलीलाभावोंके दर्शन या प्रदर्शन में गोस्वामी स्वयंका प्रभुके प्रति रहा मधुरभाव प्रकट नहीं करते परन्तु व्रजभक्तोंके भगवान्के प्रति कैसे मधुरभाव थे उन्हींका केवल प्रदर्शन करते हैं! तब तो यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा कि या तो इन सेवाओंका अनुष्ठान हम गोस्वामिवर्ग सर्वथा भावविहीन केवल जनप्रदर्शनार्थ ही करते हैं; अन्यथा, उन्हीं क्रियाओंके अनुरूप निज हृदयमें भी भाव होनेपर ऐसी शृंगाररसात्मिका सेवा तो कमसे कम जनताके समक्ष हमें बन्द करनी चाहिये थी, धनलालसाको संयत करके. परम्पराकी दुहाई दे कर, यदि ऐसा करनेमें विमर्शकारको दोष न लगता हो तो, आहार्य सख्यभक्तिको प्रकट किये बिना ठाकुरजीको शृंगार धराते समय भी खुले टेरामें शृंगार धरानेमें आपत्ति होनी तो नहीं चाहिये थी. फिर शृंगार धरानेकी सेवाके प्रदर्शनसे क्यों कतराना चाहते हैं? क्यों अब यहां ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि न युज्यते?'' जैसे अन्नकूट-छप्पनभोगके प्रदर्शन आम जनताके समक्ष आयोजित होते हैं, वैसे ही मंगलभोग गोपीवल्लभभोग राजभोग उत्थापन शयनभोग आदिका भी प्रदर्शन क्यों किया नहीं जाता? यदि कहा जाये कि सेवारीतिकी घर-घरमें विद्यमान पुस्तकोंमें उसका प्रावधान नहीं है, अत: टेराके भीतर ही वह सेवा अनुष्ठेय होती है. तो ऐसा क्यों नहीं सोच लिया

जाता कि यह निषेध भी लाभपूजार्थ प्रदर्शनकी मनोभावनावश प्रदर्शनका निषेध होगा परन्तु हवेलिओंमें आनेवाली साधारण जनताके उद्धारार्थ प्रदर्शन करनेमें यह निषेध बाधक नहीं होना चाहिये. ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते.''

कोष्ठक (ख)के सामने दिये वचनमें कारिका तो नि:सन्देह महाप्रभुका उपदेश है परन्तु उसके विवरणतया दिये गये प्रभुचरणवचन सभी मातृकाओंमें उपलब्ध न होनेसे सिद्धान्तचर्चासभामें चि.महाकविने उसका प्रामाण्य सन्दिग्ध माना था (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.९७ तथा २१८-२२१). इस बारेमें विमर्शकारका मौन हमें मौनव्रत धारण करनेको बाधित नहीं कर सकता; क्योंकि, शब्दावलीका प्रामाण्य सन्देहास्पदतया स्वीकार कर भी चलें परन्तु इन शब्दावलियोंमें अभिप्रेत उपदेश महाप्रभुकी मूलकारिका तथा प्रभुचरणके (आगे इस प्रकरणमें निष्कर्षतया उद्धृत किये जानेवाले) भक्तिहंसके वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर और कठोर शब्दोंमें इसी उपदेशको प्रकट कर रहे हैं.

(ग)

विमर्शकार कहते हैं--

> ''जिस प्रकार पतिके साथ रहस्यमें हुयी बातचित आदिको लोंगोके सामने प्रकट करनेपर पत्नीका पतिके प्रति भाव बढ़ता नहीं अपितु घटता है. उसी प्रकार भगवान्के साथ होनेवाली रहस्यवार्ता आदिको लोंगोके सामने प्रकट करनेपर भक्तका भगवान्के प्रति विद्यमान भाव बढ़ता नहीं घटता है. अत: भगवान्की सानुभावताका प्रकाशन अनधिकारिओंके सामने नहीं करना चाहिये. (विम.पृ.सं.१९८)

यहां यह प्रश्न उठता है कि जैसे पतिके साथ रहस्यमें हुई बातचीत पत्नीको प्रकट नहीं करनी चाहिये वैसे सेवाकर्ताको अपने प्रभुके सानुभावकी रहस्यवार्ता क्यों प्रकट नहीं करनी चाहिये? उत्तररूपेण भावकी अवृद्धिंगामिताकी सम्भावना अथवा भावके नाशकी भीति ही हेतुतया उपस्थित होती हैं. तो व्रजभक्तोंके साथ भगवान्की जो रहस्यलीला है उन्हें

प्रकट करनेवाली सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन कैसे अनुमोदनीय हो पायेगा? यदि कहा जाये कि व्रजभक्तोंके अनुकार्य भावोंकी भावनानुकारिणी सेवा करनेवाले हम आधुनिक गोस्वामिओंकी सानुभावताका प्रदर्शन न होनेसे अनुमोदनीय हो सकता है तो इसके कारणको भी खुल कर बताना पड़ेगा :

(१) क्या अनुकार्य व्रजभक्तोंके सदृश हम आधुनिक गोस्वामिओंके हृदयमें रहे आहार्यभाव या भावना भगवत्सेवाके समय विद्यमान नहीं रहती इस कारण, अर्थात् हम लोगोंकी सेवा केवल क्रियात्मिका ही होती है?

अथवा

(२) हमारी कृष्णसेवामें भावांश व्रजभक्तोंका होनेपर भी प्रदर्शनद्वारा प्रकट होनेवाला अंश तो केवल हमारेद्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवात्मिका क्रियाका ही होता होनेसे?

(१) यदि लेशत: भी हम गोस्वामिओंमें निज भगवत्सेवामें व्रजभक्तोंके रहस्यभावोंका आहार्यभावन (अर्थात् भावना) नहीं रहता तो ऐसे भावभावनाके उद्बोधक पदोंका गान सेवाके समय हमें हमारी भगवत्सेवामें बन्द करवाना चाहिये. अन्यथा रहस्यवार्ताका प्रकाशन प्रकट हो ही रहा है. केवल क्रियात्मिका सेवाके इतने समारम्भ पूर्वक अनुष्ठानका भक्तिमार्गमें औचित्य भी क्या हो सकता है? यदि जनतोद्धार? तो क्या वह भक्तिभावके उद्बोधनद्वारा या केवल क्रियाप्रदर्शनद्वारा अथवा निजगृहमें भगवत्सेवार्थ असमर्थ जनोंके द्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ? इसका स्पष्टीकरण भी देना पड़ेगा. क्योंकि केवल क्रियाप्रदर्शन तो भक्तिभावोद्बोधक होनेके बजाय कर्मप्रेरक ही होगा. भक्तिभावोद्बोधनार्थ भक्तिभावप्रदर्शन करनेपर तो स्वयं विमर्शांगीकृत भक्तिभावप्रणाश ही होगा. परद्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ तो प्रदर्शन करनेके बजाय जनताको कथाकल्पके समाश्रयणका उपदेश क्यों नहीं दिया जाता? महाप्रभुकी सुस्पष्ट आज्ञा है ही ''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्ति: दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम'' (भक्तिव.९) कथाकी दक्षिणा वैष्णव श्रोताओंसे ऐंठ कर भी भगवदर्थ नहीं तो

भगवत्कथार्थ द्रव्यविनियोग तो शक्य है ही. यदि कहा जाये कि महाप्रभुकी ''वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि'' (त.दी.नि.२।२५४) निषेधके रहते वह शक्य नहीं. तो इस निषेधकी प्रयोजनकी मीमांसा करनी पड़ेगी और वह महाप्रभुके उपदेशद्वारा शान्त करनी हो तो ''इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति'' (त.दी.नि.प्र. ३।१।२७) वचनानुसार फिर ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्याय यहां विमर्शकार क्यों लागू नहीं करना नहीं चाहते? नामात्मक रूप और साक्षात् स्वरूप के बीच ऐसा क्या तारतम्य है कि एकका आजीविकार्थ उपयोग वर्ज्य ही होता है अपरका आजीविकार्थ न केवल अनुपयोग प्रत्युत विमर्शकारके शब्दोंमें कहना हो तो ''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यकेलिये पूजन करनेमें दोष नहीं... रक्षा एवं पोषण के बिना देवकी पूजा न करें''--''याजनके अन्तर्गत ही वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा एवं भृत्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा के आ जानेसे वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं है'' (विम.पृ.सं.४५--३९). क्या नामात्मक भगवद्रूपकी तुलनामें साक्षात् भगवत्स्वरूपकी भगवत्ता विमर्शकारको न्यून लगती है! भगवत्कथाका भी केवल वेतनग्रहणार्थ उपयोग ही निषिद्ध मान कर दक्षिणाका निषेध नहीं मानना चाहिये था! यदि वहां दक्षिणा अग्राह्य हो तो यहां दक्षिणा कैसे ग्राह्य मान ली गयी है? यदि सबसे अपने घरोंमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न होनेका बहाना भी बनाना हो तो कमसे कम जिनसे निर्वाह शक्य हो, उन्हें तो स्वयं उनके घरोंमें बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवाके लिये प्रेरित करना चाहिये, उन्हें अपने घरोंमें भटकता बनाये रखनेके बजाय.

एतावता सिद्ध होता है कि हम गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा व्रजभक्तोंके अनुकार्य रहस्यभावोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शनकी अनुमोदनीयता भक्तिमार्गीय प्रयोजनवश तो शक्य नहीं.

(२) द्वितीय हमारी भगवत्सेवामें क्रियांश हमारा और भावांश व्रजभक्तोंका स्वीकारनेपर सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि हमारे आराध्यका स्वरूप न केवल भावात्मक है अपितु हमारी सेवासामग्री द्रव्य तथा क्रिया सभीमेंसे पुष्टिप्रभु भावोंका ही अंगीकार करते हैं. अतएव

श्रीप्रभुचरणके सेवाश्लोकोंमें आता है ''भावात्मकृतसामग्रां भोगेच्छां प्रकटी कुरु''--''...उद्दीप्तो भावभोजनमाचर''--''भुङ्क्ष्व भावैकसंशुद्धम्'' (प्रभुचरणकृत सेवाश्लोक.५७,५८.६२). अन्यथा भावरहित केवल द्रव्य या क्रिया का अंगीकार तो मन्त्रबलसे पूजामार्गीय देवताओंके बारेमें भी मान्य ही होनेसे पुष्टिप्रभुके वैशिष्ट्यका ही प्रत्याख्यान हो जायेगा. मूलमें यही हेतु था कि गृहिणोपसंहाराधिकरणमें तथा साधनदीपिकामें आधुनिक गृहस्थ भक्तोंके भावोंके संगोपन अर्थात् अस्वीय भक्तोंके समक्ष अप्रकाशनका नियम समझाया गया था. यह निजाचार्यप्रभृति पूर्वपुरुषोंकी कितनी बड़ी मनोवैज्ञानिक सूझबूझ थी ! कारण एक ही था कि उनकी कृष्णसेवा भगवदाराधना ही थी. वह न तो जनाराधना थी और न धनाराधना. हम गोस्वामिओंके दुर्दैवविपाकवश वह हमारी कृष्णसेवा अब सकलभक्तजनविगर्ह्य केवल धनजनाराधनाका नग्नताण्डव बन गयी है, जिसकी वकालत 'विमर्श' द्वारा की जानी कायिकी नग्नताके अलावा वाचिकी भी नग्नता नहीं तो और क्या हो सकती है?

वैसे विमर्शकारने 'देवलकप्रकरण'में अपना उत्तरपक्ष कोष्ठक (ग) के सामने दिये श्रीहरिराय महाप्रभुके वचनके अभिप्रायनिरूपणके साथ प्रारम्भ किया परन्तु शीघ्र ही वार्ताके आधार खोजने पलायन कर अन्तमें ''भगवत्सेवाके मिषसे अपने लाभ एवं अपनी पूजा केलिये किये जानेवाले प्रयत्नमें उपधर्मत्व देवलकत्व आदिका सम्पादकत्व है'' (विम.पृ.सं.३४) स्वीकार कर भी पृष्ठसंख्या ३८-३९ पर वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाको पुनः निर्दोष मान लिया है. अवधेय है कि वृत्ति यदि स्वार्थ भोगोपयिक न हो तो वह 'वृत्ति' ही नहीं कहलायेगी सो श्रीहरिरायजीका ''न भोगार्थं'' निषेध वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाके निषिद्धतामें ही पर्यवसित होता होनेसे 'विमर्श'का शिक्षापत्रद्रोह ही यहां प्रकट हो रहा है. इसमें लेशमात्र सन्देह रह नहीं जाता है. यदि वृत्तिको भगवद्विनियोगार्था मान कर भी चलें तो भगवदुद्देश्यक देवस्व ही सिद्ध होनेसे पुनः देवलकत्वापत्ति दुष्परिहरा सिद्ध होगी. देवोद्देश्यक गोस्वामिस्वामिक परद्रव्यांगीकार तो कोई निर्लज्ज पुरुष ही घोषित कर सकता है, भक्तपुरुष नहीं.

इस सारे विषयके स्पष्टीकरणार्थ पुन: नड़ियादके केसमें पू.पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीके कुछ वक्तव्य उद्धृत करना चाहेंगे. इनके अवलोकन करनेसे सारी अस्पष्टता दूर हो कर सभी मुद्दे करतलामलकवत् स्पष्ट दिखलायी देने लगेंगे. यथा :

> ''गोस्वामी बालकोंके घरमें बिराजते स्वरूपोंको वैष्णव अर्पण कर नहीं सकते हैं. परन्तु गुरुओंको भेंट दे सकते हैं. अत: देनेवालेका मालिकाना हक दी भेंटपर रहता है या नहीं का प्रश्न उपस्थित नहीं होता... भेंट और अर्पण दोनों अलग बाते हैं भेंटमें देनेवालेका मालिकाना हक निवृत्त हो जाता है और लेनेवालेका पैदा होता है और समर्पणमें समर्पण करनेवालेका मालिकाना हक कायम रहता है. अत: भेंट और समर्पण एक ही बात नहीं... (पृष्टसं.८).
>
> **वकील :** वैष्णवोंद्वारा जो भेंट धरी जाती है वह श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिये नहीं परन्तु गुरुके लाभार्थ दी जाती है, ऐसा आपका कहना है?
>
> **महाराजश्री :** नहीं.
>
> **वकील :** वैष्णवोंके द्वारा श्रीठाकुरजीको उपर कहे गये अनुसार दी जाती भेंट गुरु, श्रीठाकुरजीकी सेवार्थ स्वीकारते हैं क्या यह ठीक है?
>
> **महाराजश्री :** श्रीठाकुरजीकेलिये भेंट धरी ही नहीं जाती तो गुरु वैसी भेंट भेंट स्वीकारते हैं या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठता. परन्तु स्वयंके आत्मकल्याणकेलिये वैष्णव भेंट धरते हैं.
>
> **वकील :** वे किसे भेंट धरते हैं?
>
> **महाराजश्री :** गुरुको. (पृ.सं.१८)
>
> .....

वकील : यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा एवं नेगभोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहकेलिये भेंट आदि धर कर वित्तजा सेवा करते हों तो या मन्दिरमें तनुजा सेवा करते हों तो क्या वह मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होता ऐसे आपका कहना है?

महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा, वित्तजा सेवा स्वतन्त्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है, और वह करते हों तो वह मन्दिर साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता.

वकील : सुरतके श्रीबालकृष्णजीके मन्दिरमें श्रीठाकुरजी श्रीबालकृष्णजीकी सेवाकेलिये वैष्णवोंके द्वारा स्थावर-जंगम सम्पत्ति भेंट धरी जाती है या नहीं?

महाराजश्री : यह मेरी निजी हवेली है ओर निजी स्वरूप है और यहां जो कुछ भेंट आता है वह मेरी भेंट होती है.

वकील : भेंट तो वैष्णव धरते हैं ओर श्रीठाकुरजीको धरते हैं.

महाराजश्री : वैष्णव धरते हैं यह सच्ची बात है परन्तु भेंट तो मेरी ही कही जायेगी.

वकील : भेंट तो श्रीठाकुरजीको धरते हैं.

महाराजश्री : नहीं. (पृ.सं.२१)

.....

वकील : आपको यह रसीद दिखायी जा रही है वह आपकेद्वारा दी गयी है कि नहीं?

महाराजश्री : हां.

वकील : इस रसीदके आधारपर तो आप स्वीकारेंगे कि

श्रीठाकुरजीको भेंट यहां धरी जाती है?

महाराजश्री : नहीं.

वकील : इसमें ठाकुरजीकी भेंट छपा हुवा है.

महाराजश्री : यह तो मैंने अपनी निजी समझकेलिये छापा है.

वकील : आपकी निजी समझ यानि कि ऐसी रकम श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये आपको वापरनी है यही न?

महाराजश्री : नहीं.

वकील : अर्थात् ऐसी भेंटको भी आप श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये वापरनेको बंधे हुवे नहीं हैं?

महाराजश्री : नहीं. (पृ.सं.२२)

.....

वकील : श्रीठाकुरजीकेलिये वैष्णवोंकेद्वारा दी जाती भेंट गोस्वामी महाराजोंद्वारा अनेक बार स्वीकारी जाती है.

महाराजश्री : मैं कई बार कह चुका हूं कि श्रीठाकुरजीकेलिये कोई भी वैष्णव भेंट धर ही नहीं सकता तो स्वीकारनेकी बात कहां हो सकती है.

वकील : वैष्णवोंको गोस्वामी महाराजोंको श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये कुछ भी देना ही नहीं चाहिये क्या?

महाराजश्री : भेंट धरनेकी पद्धति नहीं है.

वकील : भेंट स्वीकारनेकी पद्धति है क्या?

महाराजश्री : नहीं. (पृ.सं.२५)

.....

वकील : वैष्णवोंके घर पधरामणीके समय श्रीठाकुरजीकी भेंट अंतर्पट रख कर ली जाती है और उसपर मालिकी आपने महाराजोंकी स्वीकारी तो एक ही समय इस तरह दो-दो भेंट लेनेमें वैष्णवोंसे दोहरी भेंट लेने के आशयसे क्या वह ली जाती है? या अंतर्पटवाली भेंट श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये ली जाती है?

महाराजश्री : श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये नहीं परन्तु श्रीठाकुरजीके लिये ली जाती है. (पृ.सं.३२)

यह गवाही पू.पा.महाराजश्रीने दिनांक १६।१२।१९४६ के दिनक साड़े बारह बजे पूरी की थी, बी.बी.देसाई (कमिशनर्स् कैरा स्पेशियल सूट नं.२५४३) के समक्ष. 'विमर्श'के आमुखलेखनका काल २८।४।१९९२ दिनांकित हुवा है. इन छियालीस वर्षोंमें पू.पा.महाराजश्रीके विशेष स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययनवशात् यह विचारोंमें परिवर्तन आया है कि वार्धक्यवशात् दृष्टिलोप हो जानेके कारण पू.पा.महाराजश्रीके हस्ताक्षर उन्हें अनवगत प्रलेखपर ले लिये गये हैं? आखिर उनके विचारोंमें इतना अन्तर कैसे आ गया और क्यों आया? यह अब विमर्शकारको समझाना पड़ेगा. क्योंकि इस गवाहीमें पू.पा.महाराजश्रीने स्वीकारा है कि पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें भगवत्सेवार्थ न तो धन देनेकी पद्धति है और न धन लेनेकी (यह कथा दूसरी है कि तब भी स्वयं गवाही लेने आये वकीलसे श्रीठाकुरजीके भेंट स्वरूप सेवा स्वीकारी गयी थी और उसकी रसीद भी दी गयी थी!). साथ ही साथ यह भी स्वीकारा गया था कि इस तरह यदि परद्रव्य कहीं लिया-दिया जाता हो तो उसे पुष्टिसम्प्रदायानुसारी कृत्य नहीं माना जा सकता. 'विमर्श'में, परन्तु, अब यह कहा जा रहा है कि

> **''' 'जहां धन मिले अपना निर्वाह हो' इस उद्देश्यसे मनोरथ आदिका सम्पादन नहीं किया गया हो वहांपर मनोरथ आदिके लिये प्राप्त द्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर प्रसादग्रहण करनेमें अचोपजीवकत्वका दोष आ नहीं सकता.''** (पृ.सं.१३-१४)

अजीब दास्तां है ये कहां शुरु कहां खतम ये मंजिलें कौन सी न वो समझ सके न हम ! कल तो कोई वारांगना भी कहने लग जायेगी कि ''जो अविवाहित या विधुर पुरुष होते हैं उनकी दारुण कामपीड़ाके त्रासको निवृत्त करनेकी अंशत: भी परोपकारकी भावना जिस हृदयमें न हो ऐसी स्त्रीके द्वारा किये जाते देहके व्यापारद्वारा अर्थोपार्जनको अनीति माना जा सकता है परन्तु अंशत: भी परोपकारका भाव हृदयमें होनेपर कामपीड़ितोंद्वारा, वेतनत्वेन नहीं प्रत्युत उपायनत्वेन प्रदत्त द्रव्यपर स्वोपभोगार्थ स्वत्व स्थापित करना अनीति नहीं मानी जा सकती!'' तो ऐसे परोपकारके कृतज्ञताज्ञापनरूप उपायन और कायव्यापरके अनाचारद्वारा अर्जित द्रव्यमें विमर्शकार कैसे विभाजकरेखा खींच पायेंगे यह जिज्ञास्य है? ऐसा नहीं कि इसके मूलमें सामाजिक समस्यासे तत्तद् देशकी सरकार वाकिफ न हों. अन्यथा वारांगनाओंको कानूनन अपनी कायाके व्यापार करनेका अनुज्ञापत्र (लायसंस्) देनेकी परिपाटी क्यों होती? फिरभी यह तो एक तथ्य है अन्न वस्त्र रत्न भूमि-भवन आदिके व्यापार करनेवालोंकी समाजमें जैसी प्रतिष्ठा होती है ऐसी अपनी कायाके व्यापार करनेवाली स्त्रीकी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होती. अतएव कुछ स्त्रियां सरकारी अनुज्ञापत्रके साथ प्रकट सार्वजनिक कायाव्यापार करनेके बजाय निजी गृहोंमें अपना स्वत्व रखते हुवे ऐसा व्यापार भी करती हैं समाजमें अपनी प्रतिष्ठा भी निभाना चाहती हैं. शास्त्रोंमें भी अतएव निजगेहमें भक्तिभावपूर्वक अर्चनादि सुविधा जिन्हें नहीं उनकेलिये परार्थ देवालय और उनमें अर्चकोको अर्चनाकी दक्षिणा स्वीकारने और देनेकी अनुज्ञा दी ही है. धार्मिक जगत्में भी धर्मोपदेशक गुरु आचार्योंके जैसी इन अर्चकोंकी धार्मिक प्रतिष्ठा नहीं दिखलायी देती है. हम गुसांई महाराजोंने भी अतएव निजी घरोंमें अपने आराध्यको परार्थ प्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयस्थ भगवद्विग्रहकी तरह पधरानेके बजाय अपने स्वत्वके डिंडिमघोषके साथ अपनी निजी आराधनाको आजीविकाके रूपमें निभानेका जो छलप्रपंच किया है उसकी ही वकालत 'विमर्श' करना चाहता है.

अत: इसवी सन् १९५० में बरोड़ासे प्रकाशित परशुरामकल्पसूत्रके वचनको विमर्शकार--

''यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं सम्पाद्य चाखिलम् ।
साधनं चार्चयेद् विद्वान् स समग्रफलं लभेत् ।।
योऽर्चयेद् विधिवद् भक्त्या परानीतैश्च साधनैः ।
पूजाफलार्धमेवास्य न समग्रफलं लभेत् ।।''

इन वचनोंको इसी पृष्ठपर उद्धृत कर उसका समाधान यों प्रस्तुत करते हैं कि ''शिष्योंका उस द्रव्यमें स्वत्व होता नहीं इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही, न है.... अतएव गुरु उस द्रव्यको अपनी इच्छाके अनुसार विनियोग करते हैं'' (विम.पृ.सं.१३). इस बारेमें परन्तु अनेक विकराल प्रश्न खड़े हो जाते हैं.

सर्वप्रथम तो उल्लिखित श्लोकोंमें परानीत साधनोंसे अर्धफल मिलता है ऐसा क्यों कहा जा रहा है? अर्चनसाधनोंको लानेवाले परपुरुषका अर्चनमें यदि आधा हिस्सा न हो तो विमर्शनीतिके अनुसार उन परानीत साधनोंको उपायनतया स्वीकार कर कोई भी अर्चक उन परानीत साधनोंमें, विमर्शोक्तदिशया, अपना पूर्ण स्वत्व स्थापित कर पूर्ण फलका भागी क्यों नहीं बन सकता! इसके अलावा यहां 'विधिवद्' पद और 'भक्त्या' पद अतीव लक्ष्यमें रखने लायक हैं. अर्थात् ऐसे परानीत गौण साधनोंसे भी यथाकथंचित् अर्चनाको निभानेकी भक्तिकी अनुज्ञा शास्त्रवचनसिद्ध होनेपर भी, है विहित होनेके कारण ही. अतएव तदनुसार ही अर्चकको अर्धफल मिलता है, सो भी वह भक्तिभावपूर्वक किया गया पूजन हो तब ही. अर्थात् उससे अपनी आजीविकाका निर्वाह न करता तब ही. अन्यथा तो देवलकत्व ही आता है. यह हम विशोधनिकाके द्वितीय परिच्छेदमें प्रतिपादित कर ही चुके हैं.

पुष्टिभक्तिके अन्तर्गत तो प्रभुचरणकृत निषेध तथा उसके व्याख्याताओंद्वारा कृत व्याख्याओं यथा --

१. ''वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.''

२. ''नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शङ्क्यं, तत्र ऋत्विग्वरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वाद्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्.''

३. '' 'उक्तसेवा'=मानसी सेवा. 'इतरे'=तनुवित्तजे. 'एका' इति वित्तजा इति अर्थः. 'एतादृशेन'=वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण. 'अपरा'=तनुजा. 'तत्साधिके'=फलरूपसेवासाधिके. तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः.''

४. ''तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता=कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च तत्सिद्धौ 'ते'=संसारनिवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्. 'वस्तुस्वभावाद्' इति मानसीपूर्वरूप-वस्तुस्वभावात्. मानसीसेवासिद्ध्यै तनुवित्तजा.''

(१.सिद्धा.मुक्ता.विवृ.२ २.विवृ.प्रका. ३.विवृ.टिप्प. ४.टिप्प.विवृ.).

द्वारा निराकृत होनेसे ऐसी सेवा अवैध ही मानी जायेगी. इस बारेमें सारे खुलासे विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदमें किये जा चुके हैं.

दूसरे प्रतिपक्षके वकीलको श्रीठाकुरजीकी भेंटसेवाकी रसीद क्यों दी गयी? क्या तथाप्रचारित षष्ठपीठमें पीठाधीशोंको जितनी भी भेंट आती है उसे वे किस कार्यमें विनियोग करेंगे इसकी रसीद दी जाती है? यदि नहीं तो केवल श्रीठाकुरजीकी रसीद देनेका हेतु क्या था? अतः ऐसे द्रव्यको पृथक रखनेकी व्यवस्था थी या नहीं, अथवा सम्प्रति है या नहीं, अथवा भविष्यमें रखी जायेगी या नहीं, ऐसी लचर बातोंको प्रमाण कैसे माना जा सकता है! वैसे स्वयं मैने एक बार जिज्ञासार्थ किसी वैष्णवद्वारा सुरतके समाधानीसे पुछवाया था कि श्रीठाकुरजीकी भेंटकी रसीद दो तो समाधानीने उस वैष्णवको कह कि ''ऐसा करनेसे सरकारी लफड़ा होता है अतः बिना रसीदके भेंट जमा करानी हो तो करा जाओ'' इसकी रेकोर्डेड् केसेट् भी उसने मुझे ला कर दी है! इससे अधिक ''मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् व्यवहारे पुनरन्यथा'' का उदाहरण और क्या

हो सकता है? ये सब तो खैर, विमर्शकारकी अपनी आजीविकासम्बन्धी विवशता हो सकती हैं परन्तु इसे सिद्धान्तमें प्रमाणतया कैसे स्वीकारा जा सकता है?

वैसे इन सारी बातोंका विस्तृत विशोधन हम अपने अपनी द्वितीय विशोधनिकामें कर ही चुके हैं सो विस्तार अब यहां आवश्यक नहीं. परन्तु नाशिकमें उसे उपहारतया देने गये सज्जनको विमर्शकारने कहा था कि 'विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन' हम भी लिख कर प्रकाशित करवा देंगे परन्तु चातककी तरह उसकी प्रतीक्षा करनेके बावजूद अभी तक वह मुझे मिला नहीं है. ''कब देखो मेरी ओर? हम चितवत तुम चितवत नाहि मेरे करम कठोर!''

(घ)

इसके बाद क्रमानुरोधात् प्राप्त होता है स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीगोकुलनाथजीके चोबीस वचनामृतमें जो कहा गया है उसकी संगतिका विचार कि वह विमर्शके साथ कैसे शक्य है? ''**भगवत्सेवा है सो गोप्य है. सो काहूसों जनावे नाहीं**'' कह कर ''**जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे सो लौकिक आवेशते बहिमुख होय. सेवामें प्रतिबन्ध पडे. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लौकिकके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं, सो लोभी पाखण्डी होय. ताको अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें. लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहूं न बिराजे. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोड़ी बने तो बाधक नहीं, सो थोड़े ही शुद्ध धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ (उदा. पीठाधीशताकी प्राप्ति, भूति-प्रतिष्ठार्थ छप्पनभोग आदिके यत्र-तत्र आयोजन गो.श्या.म.)लौकिक आसक्तिके भगवद्धर्म न बढ़े**''. जिस सदाचारकी इतनी दुहाई विमर्शकार देते हैं, उस सदाचारके इतिहासमें कभी न मनाये गये ऐसे श्रीयदुनाथजीके उत्सवोंका आयोजन भूतिप्रतिष्ठार्थ नहीं तो और क्या माना जा सकता है? षष्ठपीठाधीशतया घोषित होनेको केवल नाथद्वारामें

छप्पनभोग आयोजित किया गया था (जिसके बांटे गये परचे प्रमाण हैं. गो.श्या.म.) अत: भूति-प्रतिष्ठाके बढ़ावेके लिये भगवत्सेवाको प्रचार नहीं करनो चाहिये (वैसे 'वैष्णववाणी'में पेम्फलेट भेजे गये थे. गो.श्या.म.) ''अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं परन्तु लोगोंका उद्धार करनेके लिये दर्शन कराना उचित है'' (विम.पृ.सं.१९९-२०१)

वैसे हकीकत तो यह है कि इन अक्षरोंको लिख रहा हूं उससे ठीक दो दिन पूर्व जामनगरके एक वैष्णवभाई मुझे कह रहे थे **''महाराजश्रीनी पासे अढलक धन होवा छतांय, हूं मुंबई आवतो हतो तेथी पहेला दर्शन करवा गयो. त्यारे महाराजश्रीए आज्ञा करी-'...भाई! अधिकमास आवी रह्यो छे खयालमां तो छे ने?' हूं तो मारुं द्रव्य प्रभुनी सेवामां विनियोग थाय ते मारुं सौभाग्य मानुं पण आटली अढलक सम्पत्ति होवा छतांय महाराजश्रीने अमारा जेवा जीवो पासे मांगवुं पडे ऐनुं कारण समजातुं नथी''** इससे सिद्ध होता है कि कीर्ति भी यदि मिलती होती तो अलौकिक न सही लौकिक लाभ कुछ न कुछ स्वीकारा जा सकता था. परन्तु लौकिक शोखमोजके लिये धन धन धन और धनके अलावा कोई भी कामना हम गोस्वामिओंके हृदयमें शेष बची हो ऐसा पुष्टिमार्गके अनुगामिओंको कमसे कम लगता नहीं है.

क्योंकि जनताके उद्धारके उदात्त आशयसे भगवत्प्रदर्शन किया जाता होता तो धनलालसा छोड कर निजधनसे सारे अधिकमासके मनोरथ करके दर्शन खोले जा सकते थे!

विमर्शकार ''येन केन प्रकारेण'' कल्पका समाश्रयण करके कहते हैं **''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको एश्वर्यके लिये पूजन करनेमें दोष नहीं है. वे वैष्णव वेतनके लिये देवकी पूजा न करे परन्तु रक्षा और पोषण के बिना देवकी पूजा न करें''** (विम.पृ.सं.४५)

वैसे तो धनार्थ भगवत्सेवा गर्हिततम दुष्कृत्य है फिरभी जनता उसे भी क्षमा कर देती, यदि याचनापूर्वक न की जाती होती तो परन्तु स्वमुख समाधानी पेम्फ्लेट अखबारोंमें विज्ञापन आदि द्वारा 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थपर

प्रवचनका आयोजन करके सिद्धान्तरहस्य जिज्ञासाके सात्त्विक भावभरे भोले श्रवणार्थिओंसे अन्तमें अधिकमासमें निजाराध्य भगवत्स्वरूपके मनोरथोंको सम्पन्न करने द्रव्ययाचना कर ली जाती है. किन्तु गर्ह्यम् अत: परम् !

(ङ)

विमर्शकार (पृष्ठ : २०१)ने जो **''भक्तानां दैन्यमैवैकं हरितोषणकारणम्''** के आदर्शके अनुसार दैन्य रखते हुए जनताके उद्धारार्थ भगवत्प्रदर्शनकी रीति बताई है तो वहां यह प्रश्न उठता है कि इसी तरहका दैन्य रख कर वैष्णव जनता भी व्यावसायिक प्रदर्शनवाले मन्दिर व्यक्तिगतरूपेण या सार्वजनिक न्यासकी गतिविधिके रूपमें चलाये तो वहां नित्यनियमसे दर्शन रक्षण-पोषण करने क्यों गोस्वामिगण जाते नहीं? क्योंकि केवल हम गोस्वामिओंके दैन्यके पाषण्डसे यदि वैष्णव जनताका उद्धार हो सकता हो तो हमारी अनुगामी जनताके व्यावसायिक प्रतिनिधिओंके भी दैन्यके पाषण्डसे हम गोस्वामिओंका उद्धार क्यों नहीं हो पाता है? क्यों ऐसे मन्दिरोंमें हम दर्शन-भेंट-सामग्री-मनोरथोंके लिये दौड़ादौड़ नहीं करते? यदि कहा जाये कि गोस्वामिओंके पास तो उनके अपने ठाकुरजीकी सेवा रहती है तो जिन वैष्णवोंके पास उनके अपने ठाकुरजी बिराजते हों उनको तो यह रहस्य कमसे कम समझा देना चाहिये. क्यों नहीं समझाया जाता? यदि गोस्वामिओंद्वारा किये जाते व्यावसायिक भगवत्सेवाके प्रदर्शनसे ही जनताके उद्धारका कोई सिद्धान्त हो तो अहंकार ही हमारा उजागर होता है, दैन्य नहीं.

इससे सिद्ध होता है :

''चित्तेन (पदप्रतिष्ठालालसा+वित्तलालसा) दुष्ट: वचसापि (स्वमुखगतेन समाधानिमुखगतेन पेम्फ्लेटगतेनापि) दुष्ट:कायेन (भगवत्सेवेतर व्यवसायिक सार्वजनिक यज्ञयागादि भागवतसप्ताह व्रजयात्रा आदिना)दुष्ट: क्रिययापि (अस्वतनु-अस्ववित्त-जन्ययापि) दुष्ट: ज्ञानेन (विमर्शसदृश लेखन प्रकटनसामर्थ्येन) दुष्ट: (खैर जाने दो...) कतिधा विचार्य:!'' हम गोस्वामिओंका भक्तिमार्गसे अध:पात तो भयंकर ही हुआ है.

यह सहज सम्भव है कि मेरे इस लेखनांशको अनेकानेक सौम्य पाठक निर्वैर सैद्धान्तिक आलोचनाके रूपमें स्वीकारनेके बजाय रागद्वेषप्रयुक्त व्यक्तिगत आलोचनाके रूपमें मेरे हृदयके वैयक्तिक रागद्वेष असूया मात्सर्य आदिके दुर्गुणोंका प्रमाण मानना चाहेंगे. ऐसे मूल्यांकनसे मैं अवश्य ही सहमत भी हो जाता परन्तु विमर्शकारकी विचारशैलीका प्रतिबिम्ब प्रकट करनेको मैं यह कहना चाहूंगा कि विमर्शकारकी व्यक्तिबुद्ध्या आलोचना माननेपर यह व्यक्तिनिन्दाकी अक्षम्य दोषदृष्टि हो सकती हे परन्तु अपसिद्धान्तके केवल एक क्षुद्र उदाहरणकी दृष्टिसे देखनेपर इसे व्यक्तिनिन्दा नहीं मानी जा सकती!

इस तरह मैं यदि प्रतियुक्ति दूं तो क्या स्वयं विमर्शकार उसे मान्य रखने उद्यत होंगे? **''यश्चोभयो: समो दोष: परिहारश्च ययो: सम:''**

विमर्शकार एक ओर कहते हैं कि भगवत्सेवाका प्रदर्शन जनताके उद्धारार्थ अनुमोदनीय है दूसरी ओर कहते हैं कि लाभपूजार्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन अनुचित होता है. और तीसरी ओर यह भी स्वीकार लेते हैं कि भगवत्कृपया भगवत्सेवाप्रदर्शनसे लाभपूजा मिलती हो तो वह दोषरूप नहीं. यह तो बहुत भारी झांसेबाजी हो गयी! क्योंकि चोथी ओर विमर्शकार वृत्त्यर्थ तथा भूत्यर्थ भगवत्पूजनकी वकालत भी करना ही चाहते हैं. इससे अधिक वदतोव्याघातका नग्नताण्डव और क्या संभव होगा?

इस सन्दर्भमें अधिक तो क्या भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड सुबोधिनीकारके कुछ वचन ही हृदयके इर्दगिर्द घिरे दुराशयके तिमिरको निरस्त कर भक्तिरसपूरित कमलके रूपमें हृदयको खिला सकते हैं :

वे वचन यों हैं :

(१) तस्य प्रसादएव दुर्लभ:, प्रसन्ने न किञ्चिद् अदुर्लभम्. यथा स्वस्य भोगे न कापि न्यूनता तथा तस्यापि.

(२) भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा. हेतु: फलानुसन्धानम्, तद्रहिता अहैतुकी... या भक्ति: इति... नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्.

(३) लोकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा.

(४) साधवोहि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति नतु प्रत्युपकारम् अपेक्षन्ते.

(५) धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय: इति सिद्धान्त:.

(६) दुष्टैव श्री: अन्यगता शुद्धा कृष्णेकतत्परा, कृष्णमेव ततो वाञ्छेद् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित्.

(सुबो.(३)१३।५०,२९।१२.सुबो.(१०)८।२६,२९।२२,७३।३३, ८५।९)

स्पष्ट है आजके हम पुष्टिमार्गाचार्यवंशजोंको भगवत्प्रसादपर अविश्वास हो गया है. हमारे भीतर भगवान् विष्णुके बजाय भगवत्पत्नी श्रीकी लालसा इतनी प्रबल है कि लक्ष्मीपतिके बजाय लक्ष्मीवाहन अधिक प्यारे लगते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि भगवत्प्रसाद प्राप्त होनेपर कुछ दुर्लभ नहीं परन्तु हमें तो प्रसादकर्ता प्रभुके साक्षात् स्वरूप हस्तगत हो जानेपर भी उनके सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनद्वारा जनताके उद्धारकी तथाकथित उदात्त भावनाके साथ वृत्त्यर्थ-भूत्यर्थ भगवदाराधन करना न केवल अन्तर्मनमें सुहाता है परन्तु प्रकटवाणी द्वारा उसकी वकालतमें लज्जाका अनुभव भी हमें नहीं होता. क्योंकि हमने भक्तिको आज अपनी आजीविकाके रूपमें अपना लिया है सो हमारी भक्ति अहैतुकी भक्ति ही नहीं रह गई है. अतएव हमारे सैव्यप्रभुकी सेवा हमारी भगवन्निष्ठा न हो कर जनताके उद्धारद्वारा अर्थोपार्जनकी लौकिक निष्ठा है. अतएव सामान्य साधुजन जहां, महाप्रभुके अनुसार, प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं रखता, वहां अहैतुकी भक्तिके उपदेष्टा आचार्यके वंशज होनेके बावजूद हम भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा हमारी आजीविका वृत्ति तथा समृद्धि की अदान्त लालसाका संवरण नहीं कर पाते हैं. किम् आश्चर्यम् अत: परम् ! निष्कर्षतया हमारे मूलपुरूष मूलाचार्य महाप्रभु जिसे 'दुष्टा श्री' कहते हैं वही आज रावणके जैसे आसुरी भावोंसे ग्रस्त हो जानेसे हमें अधिक प्रिय लग रही है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है.

(च)

विमर्शकारनें या तो एक निरनुयोज्यानुयोग किया है या सम्भावित पूर्वपक्षकी भीतिके वश एक लचर शंका-समाधान ये प्रस्तुत किये हैं :

> **''पूर्वोदाहृत श्रीगोकुलनाथजीके 'भगवत्सेवा है सो काहूसों जनावे नहीं'' विधानका पूर्वपक्षियोंने तात्पर्यार्थ जिस स्थानमें भगवत्सेवा करनेपर कोई जान न सके ऐसे गुप्त स्थानमें भगवत्सेवा करनी चाहिये.''**

इसके उत्तरपक्षतया विमर्शकारने प्रश्न भी उठाया है :

> **''तब श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी के समय ऐसा स्थल क्यों नहीं चुना गया जिससे भगवत्सेवा पूर्णरूपसे गुप्त ही रह जाय. तब लोग श्रीमहाप्रभुजी आदिकी आज्ञा प्राप्त होनेपर दर्शनार्थ कैसे आते थे?''** (विम.पृ.सं.२०२)

वैसे इस विषयमें एतिहासिक तथ्य यह तो है ही कि भगवत्सेवार्थ महाप्रभुके द्वारा काशी/प्रयागके बजाय अड़ैलको निवासस्थलके रूपमें चुनना तथा प्रभुचरणद्वारा ब्रजमें वृन्दावनादि जैसे अतिप्रसिद्ध स्थलोंके बजाय अल्पप्रसिद्ध गोकुलको निवासार्थ चुनना, हम आधुनिक उनके वंशजोंकी मनोवृत्तिसे सर्वथा विपरीत ही था. क्योंकि जैसा कि भगवद्गीतामें भक्तके निवासस्थलके बारेमें निर्देशन मिलता है **''मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अव्यभिचारिणी विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि'' (भग.गीता. १३।१०) तथा नारदभक्तिसूत्रगत ''...कः तरति? यः संगं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्म्ममो भवति. ययो विविक्तस्थानं सेवते...''** (नार. भ.सू.४६-४७) तदनुसार ये पितापुत्र तो भक्तिमार्गप्रवर्तक आचार्य होनेसे पूर्ण निष्ठाके साथ भक्तिको अपना करके ही भक्त्याचारका उपदेश देते थे. जबकि हम आधुनिक गोस्वामी भक्तिमार्गोपदेशक होनेके बजाय सेवाभक्तिप्रदर्शक बनना अधिक पसन्द करते हैं. अतएव विविक्तदेश हमें भगवत्सेवार्थ सुहाते नहीं हैं. प्रायः पुष्टिमार्गीय हवेली गामके बजारवाले भीड़भाड़भरे मुहल्लेमें होती

है ताकि बनियोंको दुकानदारी और दर्शन का लाभ एकहेलया मिलता रहे!

वैसे पुष्टिमार्गीय सैद्धान्तिक आवश्यकता किसी गुप्त स्थलमें सेवा करनेके बजाय अपने भावात्मक भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा को गुप्त रखनेकी है. यह विषयवाक्योंके शुद्ध हृदयमें अवलोकन करनेपर सुस्पष्ट ही है.

आचार्यचरण तथा प्रभुचरण के दर्शनार्थ जो अनुयायी अड़ैल या गोकुल आते थे, उन्हें अपने आराध्य विग्रहकी सेवाराधनाके प्रदर्शनार्थ समाधानी या पेम्फ्लेट के प्राचीनरूप 'पत्रावलम्बन' द्वारा आमन्त्रित नहीं किया जाता था. स्वगृहागत स्वीय भक्तोंको अपने सेव्यप्रभुके दर्शनकी अनुज्ञा, जैसे आज भी अनेकानेक वैष्णव भगवदीय जो स्वगृहमें भगवत्सेवा निभाते हैं, देते ही हैं. यह किन्तु वे अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ समाचारपत्रोंमें विज्ञापन दे कर या पेम्फलेट छपवा कर या समाधानी भेज कर परिचित-अपरिचित सभीको आमन्त्रित नहीं करते. उनका परीचित भगवदीय कोई घरमें आये तो दर्शन भी करा देते हैं.

क्या कारण कि आम पुष्टिमार्गीय भगवदीय अपनी स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ दर्शनार्थिओंके उद्धारकी भावनाका बहाना नहीं बनाते? प्रश्नके उत्तरतया केवल एक ही तथ्य उजागर होता है कि उनकी भगवत्सेवाको वे आजीविकोपार्जनके रूपमें नहीं निभाते हैं, विशुद्ध भगवत्सुखार्थ भक्तिके रूपमें ही निभाते हैं. अतएव उनके ठाकुरजीकी सेवामें मनोरथ उनके भक्तिभावपूर्ण होते हैं, जबकि हम वल्लभवशंजोंके अपने सेव्यस्वरूपके मनोरथ धनलालसाके नंगे भोंड़े प्रदर्शन केवल रह गये हैं.

विमर्शकार प्रश्नाडम्बर कर रहे हैं कि ''महाप्रभुजीकी आज्ञासे दर्शनार्थ कैसे आते थे?'' परन्तु यह प्रश्न खड़ा नहीं होता. क्योंकि उन्हें दर्शनार्थ आमन्त्रित नहीं किया जाता था आये हुवोंको दर्शनकी अनुमति दी जाती थी. पितापुत्रोंमें इतनी भक्तिमार्गीय सामर्थ्य थी कि सेवाके दर्शन करते ही बहुधा उनके सेवकोंको सानुभाव सिद्ध हो जाता था. जबकि हम इतने असमर्थ हैं कि अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन न करें तो अधिकांश जनता हमारे मूंह देखना भी नहीं चाहेगी. अतएव द्रव्यसंग्रहकी अदम्य

लालसाके विवश हमें कंठी भी कोई पहने या न पहने ऐसे, पुष्टिमार्गमें निष्ठाशील वैष्णवके बजाय प्राय: निष्ठाविहीन धनिकोंको ट्रस्टी बनाना पडता है! हमारे स्वरूपका गुणगान एक पदमें इस तरह मिलता है :

परिचयसंचयचतुराचार: ।।

धनिकवणिग्जनकुसुममधुपगतिदर्शितविविधविकार: ।।१।।

शासनजनरञ्जनविगलितमतिचाटुवचनशृंगार: ।।

कलैकदेशविबुधतामण्डितखण्डितगौरवहार: ।।२।।

अतएव हमारी तो यह दुर्गति हुई है कि वैदिक कर्मानुष्ठानमें भी वर्णाश्रमबाह्य मुसल्मान कलेक्टर यदि उपस्थित न हो पाये तो हमें कर्मवैगुण्य लगता है!

अत: प्राचीन आचार्योकी प्रयोजनबुद्धि और हमारी प्रयोजनबुद्धि में आकाशपातालका अन्तर है. प्राचीन आचार्य जिस प्रयोजनवश स्वगृहमें सेवा करते थे उसमें स्वीयभक्तोंके अलावा अन्य किसीको दर्शन करानेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था. अत: जिन वार्ताओंके उद्धरणोंका तामझाम विमर्शकारने खड़ा किया है, वह तो एक फूंक मारनेपर उड़ जानेवाला हलका तामझाम है. क्योंकि जिनको महाप्रभु प्रभुचरणने स्वगृहस्थित सेव्यप्रभुके दर्शन कराये थे, वे सभी उनकी पैनी दिव्यदृष्टिसे बराबर जाने-पहचाने स्वीय भक्त होंगे ही. उनके तो चरणोदकप्रदान या दीक्षाप्रदान में भी इतनी सामर्थ्य थी कि लेते ही उनके सेवकोंमें मानसी सेवा भी सिद्ध हो जाती थी. हमारी इसके विपरीत ऐसी शोचनीय दुरवस्था है कि हमें यह स्वीकारनेमें भी लज्जा नहीं आती कि वैष्णवोंसे वित्तजा सेवा कर हम तनुजा सेवा करते हैं तो ऐसी सेवा 'क्षीरकारणसामग्री'न्यायेन मानसीकी साधिका न भी हो तब भी उसे निषिद्ध नहीं माना जा सकता! (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.९२-९३).

वैसे तो हकीकत एक यही है कि मतभेद प्राचीन व्याख्याकारोंमें भी होते थे कि भगवत्संयोग परमफल है या भगवद्विप्रयोग; परन्तु, आद्य श्रीवल्लभ और हम आधुनिक वाल्लभों के बीच मतभेदकी रेखाको स्पष्ट

करना हो तो केवल एकही बात घूम फिर कर सामने आती है कि भगवत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा जनतासे द्रव्य लिया जा सकता है या नहीं? इस तरहकी जघन्यकोटीके मतभेदोंमें उलझी हमारी सामर्थ्यके वश हम दर्शनार्थी जनताकी उद्धार करनेकी मनोवृत्ति या मनोग्रन्थि रखते हों तो हमसे अधिक आत्मसंमूढ विश्वमें और कौन होगा?

प्राचीन वाल्लभ उपदेश था:

धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।

कृष्णार्थे तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः ।।

हम आधुनिक वाल्लभवंशजोका मनोभाव इसके विपरीत ऐसा बन गया है :

धनं सर्वात्मना ग्राह्यं गृहीतुं चेन्न शक्यते ।

'सेवा'नाम्नातु गृह्णीयाद् अथोऽनर्थनिवारकः ।।

इसलिये अर्वाचीन प्रयोजन दर्शनार्थिजनोद्धारसे पहले हम गोस्वामिओंको हमारा उद्धार कैसे होगा इसका मार्गदर्शन श्रीहरिरायचरणके इन शब्दोंमें खोजना चाहिये :

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।

न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।

श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।

न कल्पितप्रकारणे न दुर्भावसमन्वयात् ।।

निष्कर्षतया जैसे कि प्रभुचरणकी सुस्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा मिलती ही हैं:

(१) '' 'कृष्णसेवा' इति फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन.''
(सिद्धा.मुक्ता.विवृ.१).

(२) ''भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वं भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्... नच 'माम्' इति पदेन पूजायाअपि विषयः पुरुषोत्तमएव इति वाच्यं विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् तथा उक्तम्... अन्यफलाद्यनुसन्धानराहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरुषोत्तमावेशोऽपि अन्तःकरणे पूज्ये च भवति... तत्रापि अर्थार्थिभिः कृतः चेत् तदा तथा (कर्ममार्गीयः), वृत्तयर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि.'' (भक्तिहंस).

अतः जनोद्धारके छद्मसें वित्तोपार्जनार्थ की जाती भगवत्सेवा अन्यशेषतया अनुष्ठित होनेसे शुद्ध अपसिद्धान्तरूपा ही नहीं प्रत्युत पापाचरण ही सिद्ध होती है. चि.महाकविकी कथा तो लोकविलक्षणा मानी जा सकती है परन्तु प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी सदृश आदर्श व्यक्तिके द्वारा सुपाठित उनके आत्मज विमर्शकारद्वारा वृत्त्यर्थ प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवाकी वकालत वस्तुतः पुष्टिसम्प्रदायकेलिये सामुदायिक लज्जाका विषय है, सिर नीचा हो जाता है कि क्या मूंह ले कर अब किसीको पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति और पापाचरण के बीच रही भेदरेखा समझानी!

वैसे जनोद्धारार्थ या वित्तोपार्जनार्थ ये दोनों अलग-अलग प्रयोजन हैं परन्तु चि.महाकवि, जैसे अधिकारभेदवश स्वीकारते हैं, वैसे ही विमर्शका प्रकरणभेदशः दोनोंको स्वीकारते तो हैं ही फिर दोनोंका एकवद्भावद्वारा निरूपण दोषावह नहीं माना जा सकता (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.४५ तथा २०१)

इस समग्र विषयकी संग्रहकारिका

लोकार्थी तु भजन् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।।
जीविकार्थी भजन् कृष्णं भवेद् देवलकोऽशुचिः ।।१।।
लोकार्थित्वं जीविकार्थित्वं च गर्ह्ये प्रयोजने ।।
सेवा नहीदृशी कार्या पुष्टिमार्गानुगामिभिः ।।२।।

कृष्णो हि साधनं भक्तौ भक्तिः कृष्णे हि साधनम् ।।
ताभ्यामन्यत्तु यत् किञ्चित् न फलं नापि साधनम् ।।३।।
फलसाधनयोः स्थाने एतद्भिन्ने प्रकल्पिते ।।
न सा भक्तिः पुष्टिभक्तिः कृष्णः पुष्टिप्रभुर्नवा ।।४।।
जनतोद्धृतये तस्मात् सेवायास्तु प्रदर्शनम् ।।
कल्पितो हि प्रकारोऽयं मार्गे दुर्भावयोगतः ।।५।।
शिक्षाश्लोक्यां हि ''लोकार्थी...''कारिकाविवृतावपि ।।
आचार्याणां स्फुटाभिप्रायान्नहि जनतोद्धृतिः ।।६।।
सेवाप्रयोजनत्वेन वक्तुं शक्या कथञ्चन ।।
ननु प्रयोजनं नैतत् सेवायामानुषंगिकी ।।७।।
प्रवृत्तिरेषा मन्तव्येति चेद् न तथा भवेत् ।।
नियतानियता वेति प्रवृत्तिर्ह्यानुषंगिकी ।।८।।
आद्ये सर्वैः कुतो नैवम् अनुष्ठानं प्रदर्श्यते ।।
सर्वे न गुरवो यस्मात् सर्वैः कर्तुं न शक्यते ।।९।।
गुर्वभावस्य कल्पेतु 'गतादृशाश्चेन् मिलन्ति हि ।।
प्रकारांशे तु प्रष्टव्याः सेवाया''श्चेति वाक्यतः ।।१०।।
अन्येषामधिकारेऽपि हानिर्नैवास्ति काचन ।।
स्वाच्छन्द्यान्मार्गलोपस्य शंका चेद् वंशजैरपि ।।११।।
स्वाचछन्द्यादेव मार्गोऽयं लुप्तप्रायः कृतोऽधुना ।।
तस्माद् यद् हरिरायैस्तु शिक्षापत्रे निरूपितम् ।।१२।।
विस्मर्तव्यं न केनापि ह्येतन्मार्गानुगामिना ।।१३।।
तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।१४।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।१५।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

'सेवोपदेशदीक्षा' तथा 'सेवोपदेष्टा' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क) परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह--कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात् (त.दी.नि.का.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्' इति, योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात्, तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रयोण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासुः' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं' सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या (त.दी.नि.प्रका.२।२२७).

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. '' 'ईक्ष' दर्शनांकनयोः'', 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे ''गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात्, तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्... तेन ब्रह्मसम्बन्धोऽपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः

(त.दी.नि.आव.२।२७).

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हींके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको, भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं, इस कसोटीपर उसे जांचनेपर ही निश्चित हो पाता है.

अत: जिनपर भगवत्कृपा रहती है उनके प्रारम्भिक साधनोंका निरूपण करते हैं--

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये ओर तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रख कर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अत: गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अत: गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवाभी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवा करने प्रवृत्त होता है तो वह सेवा सफल नहीं हो पाती. अत: गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक सेवामें प्रवृत्त हो

जाना भजनका सच्चा प्रकार है. (त.दी.नि.का.प्रका.२।२२७)

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य' पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष'का अर्थ होता है: 'देखना' या 'अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोड़नेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसे पशुका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और एक दिन दोनों ही, एक-दूसरेके कारण, एकसाथ ही गिर पड़ेंगे, जब भी एक जन गिरा तब! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद'ग्रन्थ प्रकट किय है... इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुजीने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये. (त.दी.नि.आव.२।२२७).

(ख) माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां, शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर् भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादराद्, देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः, गुरुणा कर्णधारणे उत्तार्या स्वोपदेशतः. (साधनदीपिका : ९-११)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है.

अत: कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति जान लेनेके बाद ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर उसकी आज्ञाके अनुसार भगवद्भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा (न कि सेवाप्रदर्शन या सेवार्थ वित्तग्रहण द्वारा) उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग) क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतव: (जलभेद : ४) ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्ति:, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... एवञ्च यत् प्रभुचरणै: उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतो अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति, तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारित दानेतु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेय: (श्रीपुरुषोत्तम-कृत-विवृति : ४).

(ग) घर-गृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढ़ानेवाली होती है (ज.भे.का.४).

यहां एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके

श्रीकृष्णजन्मखंडमें ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इस ब्रह्माजीको कहे गये पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गई भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय तो हुवा ही न! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अत: उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती... इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है ''पात्रापात्रका विचार करके ही दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करनेपर स्वयं नामदान करनेवालेका ही विनाश हो जाता है''. अत: अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनाके वश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता उसके विक्रयका अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.वि.४)

(घ) सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह--

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरे: क्वचित्, परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्.

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते, 'हरे: मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकार: उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति (त.दी.नि.का.प्रका.२।२२८)

ननु अत्र मूलएव कुठारपातः इति आकांक्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथग्'' इति आभासत्वाभावः सेवायाः; तृतीयस्कन्धोक्त–मौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम् (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(घ) ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है. अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये. यह अब दिखलाया जा रहा है : ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान्‌की मूर्तिको अपना आराध्य बनाकर उसकी परिचर्या–भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवान्‌के रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं. किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हो. हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो–जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.का.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि ऐसे इस गुरुलक्षणके कारण तो इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. अतः जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर कलियुगके बलवान् होनेके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि उपरिनिर्दिष्ट लक्षणयुक्त

गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है, इसे शिरोधार्य करनी ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लगता; और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी ऐसी भगवत्सेवा करनेवालेपर लग नहीं सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषकी जिज्ञासा होनेपर, सेवाके जानकार वैसे किसी भगवदीयसे मिलजुल कर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(ङ) **गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः. अथाधुनिकतीर्था-नामतथाभूततोऽपि हि, उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति, यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः** (श्रीहरि.कृत स्व.श.स.से.निरू.४०-५१).

(ङ) गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जाननेवाला तथा दम्भादिसे रहित होना चाहिये. ऐसे लक्षणवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेश ग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न श्रीकृष्णज्ञानप्रद गुरु श्रीमदाचार्यचरणके वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है, यदि दुःसंगादिसे मति ही अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गयी हो (तत्रैव).

(च) **अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरो विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः** (स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्रका.१६-११७).

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर किसी भी प्रकारकी शिष्यसे अपेक्षा रखे बिना, समुपस्थित जीवात्माका परमात्माद्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा पुष्टिजीव पुष्टिलाभसे वञ्चित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेको सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके मांथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (नकि केवल गुरुभावतया अथवा स्वसेव्यसे न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये (तत्रैव).

(छ)... **वञ्चकस्तु ततोऽप्येष... तेतु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः** (द्र.आमुख : दुःस.विज्ञा.निरू.१३-१५).

(छ) चोरोंकी तुलनामें वञ्चक तो अधिक दुष्ट होता है... जबकि भक्तजन तो कडवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है... (द्र.आमुख :तत्रैव).

(ज) **यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमो, यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनां, निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्संगः साधुसंगमः** (शि.प.३।८-९).

(ज) आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें करता हो उसका संग दुष्टसंग होता है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढ़ानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष हो उसका संग साधुसंग होता है (तत्रैव).

(झ) **तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् 'अमृता'ख्याया: अयाचितवृत्ते: उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धि:** (स्ववृत्तिवाद).

(झ) इससे फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी कार्य किये बिना मुफ्तमें धन ले लेनेपर लेनेवाला उसका ऋणी बन जाता है जो बन्धनकारी होता है. इसके अलावा ऋतवृत्तिके बाद जो 'अमृत' नामिका अयाचित वृत्ति कहीं गयी है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचितग्रहण करनेका आग्रह रखा जाये, हर किसीसे नहीं, तो ऐसा संकोच और भी प्रशंसनीय है (तत्रैव).

(ञ) गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानत्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति (त.दी.नि.प्र.आ.२५५-२५६).

(ञ) सेवोपदेश ग्रहण करना चाहनेवाले व्यक्तिकी वेश (भाषा भाव रुचि आचार विचार) के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा कर के और उसकी जिज्ञासा क्या है यह जान कर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवा आदिका उपदेश करना चाहिये (तत्रैव).

(संशय)

इस परिच्छेदमें हमें यह देखना है कि उल्लिखित (क) से (ञ) तकके विषयवाक्योंके आधारपर अथवा एतत्समानार्थक अन्य भी पूर्वाचार्योंके वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गीय सेवाके उपदेशप्रकार एवं दीक्षाप्रकार के विमर्श करनेपर क्या कोई उपदेशक गुरु या गुरुस्थानीय व्यक्ति जनसाधारणके सन्मुख अपनी भगवत्सेवाका प्रदर्शन कर सकता है या नहीं? अपने आराध्य प्रभुकी सेवाके लिये अनुयायिजन अथवा अननुयायिजन से वित्त ले सकता है या

नहीं? जब कोई निजगृहमें निजमस्तकपर बिराजमान भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजात्मिका सेवा निजपरिजनोंके सहयोगसे सम्पन्न करता हो तो निज सेव्यस्वरूपकी सेवाके दूसरें लोगोंको दर्शन कराने तथा दर्शनार्थिओंकी भीड़से सन्मुखभेंट तथा समाधानीद्वारा मनोरथोंकी निश्चितानिश्चित राशीकी वसूली एवं भंडारीद्वारा घी-गुड़-दाल-चावल-मसाला आदि सामग्री जुटाने से सेवाप्रदर्शनार्थी तथा सेवादर्शनार्थी को क्या वस्तुत: भक्तिमार्गीय लाभ होता है या अपराध? अत: इसमें उभरते पूर्वपक्षकी संगतिका निरूपण पहले आवश्यक प्रतीत होता हे.

(पूर्वपक्ष)

इस संशयग्रस्त विषयको विचारनेकी आवश्यकता या संगति यों हैं--

(१) **''भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्व-भावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वभगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत. एतेन यावद् अन्त:करणे साक्षात्प्रभो: प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहि: आविष्करणं भवति. प्राकट्येतु न तथा सम्भवति''** (अणुभा.३।४।४९).

(२) **''स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत''** (साध.दीपि.१७८)

(३) **''३८ मो अपराध: = गुरुदैवतयो: गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वयोनित्रयम्. ११अपराधो = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं= वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नापनम्. ३६तमो अपराध: = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणितनैवेद्यदानम्. ३५ तमो अपराध: = गुर्वाज्ञोल्लंघनम्. फलम् = असिपत्रादिघोरनरकपात:. प्रायश्चित्तं = वैष्णवगरुप्रसादनम्.''**

(श्रीहरिरायकृत-६६ अपराध फल-प्रायश्चित्तानि).

इन वचनोंके कारण निज सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन यदि

सिद्धान्तनिषिद्ध होता तो, महाप्रभु तथा प्रभुचरणों की वार्ताओंमें, अनेक स्वमार्गीय/अस्वमार्गीय वैष्णव/अवैष्णवों भक्त-अभक्तों को भगवद्दर्शन करानेके उल्लेखको अकारण अप्रामाणिक मानना पड़ेगा. इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शनके निषेधका नियम यदि गम्भीर होता तो वह सम्प्रदायके आचार्योंके चरित्रमें भी प्रकट होना चाहिये था. प्रत्युत इन नियमोंके विपरीत ही वृत्तान्तोंके उपलब्ध होनेसे ऐसे किसी भी नियमकी गम्भीरता सिद्ध नहीं हो पाती है.

प्रस्तुत अनुच्छेदके विषयवाक्यान्तर्गत (क) तथा (ख) वचनोंमे गुरु स्वयं कृष्णसेवामें परायण है या नहीं इसके वीक्षण = भली भांति परीक्षणकी बात कही गयी है. अत: भावसंगोपनके दुराग्रहके अन्तर्गत यदि भगवत्सेवाको सर्वथा गुप्त ही रखी जाये तो इस सम्प्रदायमें जो दीक्षित होना चाहता हो वह दीक्षाके लेनेसे पहले दीक्षादाताका वीक्षण कैसे कर पायेगा? अत: भगवत्सेवाके उपदेश एवं दीक्षा की प्रणालीके आधारपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शन कमसे कम सेवोपदेष्टा या सेवादीक्षादाता गुरुके लिये कोई आपत्तिजनक बात होनी नहीं चाहिये.

विषयवाक्यान्तर्गत (ग) वचनमें गुरुत्ववृत्तिको साहजिक वृत्तितया 'अत्याज्य' कहा गया होनेसे गुरुत्वकी योग्यताके घटकतया भी भगवत्सेवाप्रदर्शनको दोषरूप नहीं माना जा सकता है. अत: सेवाप्रदर्शनको तथा प्रदर्शनीय सेवार्थ परधनस्वीकारको गुरुदक्षिणात्वेन दोषरहित मान लेना चाहिये.

ये पूर्वपक्ष न तो सिद्धान्तचर्चासभामें चि. महाकविद्वारा प्रस्तुत हैं और न विमर्शकारद्वारा उपस्थापित. फिरभी वैसी मनोवृत्तिकी सम्भावनामें सहज प्रस्तुत हो सकते हैं. अत: विचारार्थ स्वयं मेरेद्वारा ही उट्टंकित है.

(उत्तरपक्ष)

इस सन्दर्भमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके स्वारसिक अभिप्रायकी निश्छल मीमांसा करनेपर यह उत्तरपक्ष अवधेय है.

गुरुत्वेन वरणीय पुरुषके कृष्णसेवापरायण होनेकी भलीभांति परीक्षा करना जैसे दीक्षार्थीका कर्तव्य है, वैसे ही उस गुरुत्वेन वरणीय पुरुषद्वारा अनुष्ठित सेवाके प्रकारकी सिद्धान्तशुद्धताकी भी परीक्षा करणीय है कि नहीं? यदि परीक्षा करणीय है, ऐसा स्वीकार कर चलते हैं तो जिस व्यक्तिका गुरुत्वेन वरण करके उससे सेवोपदेश प्राप्त करना है, उससे पहले ही सेवोपदेष्टा बनने जाते तथा उपदेशग्रहणार्थी दोनों ही व्यक्तिओंको भगवत्सेवाके सच्चे स्वरूपका परिज्ञान आवश्यक मानना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें जिज्ञासाका लोप भी सम्भव है. जिज्ञासुता ही न रह जानेपर गुरुके द्वारा किया गया सेवाप्रदर्शन या ज्ञानोपदेश भी निरर्थक सिद्ध होगा. यदि दीक्षार्थीको स्वयं सेवाके शुद्धाशुद्ध स्वरूपका ज्ञान न हो तो गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा सिद्धान्तशुद्ध है या अपसिद्धान्तयुक्त यह जाने बिना गुरु सेवापरायण है कि नहीं अथवा उसके द्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा स्वमार्गीय सिद्धान्त एवं प्रणालिका के अनुसार है कि नहीं यह जान पाना भी शक्य न हो पायेगा. यह उभयत: पाश है.

अत: अपरिहार्यतया इस उभयत:पाशसे मुक्त होनेको ऐसी कुछ कल्पना करनी ही पड़ेगी कि दीक्षार्थी जिज्ञासु व्यक्तिको कृष्णसेवाके साम्प्रदायिक सेवास्वरूपके बारेमें सूक्ष्म सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान भले न हो परन्तु स्थूल सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान तो अपेक्षित होता ही है. तो फिर यह भी स्वीकार लेना चाहिये कि भगवत्सेवाके स्थूल प्रकार एवं स्थूल सिद्धान्तों का सामान्यज्ञान सेवाप्रदर्शनमें दर्शक बने बिना भी कर्णोपकर्ण सत्संगकी प्रक्रियाद्वारा अथवा सामान्य धर्मोपदेशद्वारा ही शक्य होनेपर उसीके आधारपर गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिकी भी भलीभांति परीक्षा कर लेनेकी परिपाटी सुशक्य मान लेनी चाहिये. अत: तदर्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन आवश्यक नहीं रह जाता है. उदाहरणतया -- ''किसी रुग्णको अपनी चिकित्सा करानेसे पहले, स्वयं चिकित्सक, रोगनिदान एवं चिकित्सा का भलीभांति जानकार है कि नहीं? वह प्राणापहारी लोभादि दोषोंसे रहित है कि नहीं तथा जो औषधि वह देता है वह शुद्ध है कि नहीं इसका भलीभांति परीक्षण करके किसी चिकित्सकके पास चिकित्सार्थी बनकर जाना चाहिये'' -- ऐसे विधानकी

विवेचनामें भी उभयत:पाश खोजा सकता है कि यह चिकित्साशास्त्रको पहले भलीभांति जाने बिना सम्भव नहीं और जान लेनेपर अन्य किसी चिकित्सकद्वारा चिकित्सा करानेके बजाय स्वयं ही चिकित्सा भी शक्य बन जायेगी.

इसी तरह कोई धर्मगुरु भी जब अपनी धर्मसाधना निजात्मार्थ न करके जनसंग्रहार्थ या धनसंग्रहार्थ करता है, तो वह अपनी धर्मसाधनाको साधन और धनजनसंग्रहको फल मान रहा है. ऐसी स्थितिमें (क) वचनमें निरूपित **''मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धि:''** ऐसे व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा निष्फल होनेसे सेवोपदेष्टा बनना चाहते व्यक्तिकी (क) वचनमें निरूपित कृष्णसेवापरता असिद्ध हो जानेसे वह व्यक्ति गुरुत्वेन वरणार्थ अयोग्य सिद्ध हो जाता है. ऐसी स्थितिमें श्रीहरिरायजीके **''... तत्संगो दुष्टसंगम:... एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुन: महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्य: संगनिर्णय:. श्रीमदाचार्यचरणे मति: स्थाप्या सदा स्वत: ततएव स्वकीयानां सिद्धि: कार्यस्य सर्वथा''** (शि.प.३।८-११) वचनसंगतिके अनुरोधवश **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा.. परिचर्यां सदा कुर्यात्''** (त.दी.नि.२।२२८) कल्प समाश्रयणीय बन जाता है. क्योंकि अन्यथा जहां वह स्वयं रहता ही न हो ऐसे गामोंमें अर्थोपार्जनार्थ हवेलियोंको मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रख कर चलानेकी आवश्यकता क्या हो सकती है? क्यों वह वहांके अनुयायिओंको स्वयं उनके घरमें ही भगवत्सेवापरायण रहनेकी प्रेरणा नहीं दे पाता? अत: प्रतीत होता है कि ग्रामान्तरोंमें प्रदर्श्यमान भगवत्सेवा कर्तव्यभाववश की जाती भगवत्सेवा होनेके बजाय (क) वचनमें निरूपित **निमित्तान्तरवश** ही की जाती होनी चाहिये. अर्थात् देवलकत्वापादक दम्भवशात् ही की जा रही है. तो वह तो गुरुत्वका अर्थात् सेवादीक्षा अथवा सेवाज्ञा प्रदान कर पानेकी अधिकारिताका निवारक दोष हो गया. ऐसी स्थितिमें उल्लिखित श्रीहरिरायजीके वचन तथा आवरणभंगकार श्रीपुरुषोत्तमजीके **''लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगन्धान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयं... एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकायृपि व्यावर्तित:** (त.दी.नि.प्र.आ.२२७)

पारस्परिक संगतिके अनुरोधवश ऐसे पू.पा.महाराजश्री व्यावर्तित सिद्ध हो ही जाते हैं. उल्लेखनीय है कि श्रीपुरुषोत्तमजी इस तरहके अयोग्यव्यक्तिके व्यावर्तनार्थ ही महाप्रभुद्वारा 'जलभेद' ग्रन्थके निर्माणकी बात जो कर रहे हैं वह व्यावर्तन स्वयं उन्हीके शब्दोमें ''**क्षेत्रप्रविष्टा ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः**''(ज.भे.४) की विवृतितया ''गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मण-वृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... लोभाद् अविचारितदानेतु दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति'' निरूपित हुवा है. अतः दोनों वचनोंकी परस्पर संगति भी बैठ जाती है कि अविचारित दीक्षा प्रदान करनेपर भी जहां दाताको लोभदोषवशात् अपराध माना जा रहा है वहां अपनी प्रदर्श्यमान भगवत्सेवामें अविचीरततया दर्शनानुज्ञा प्रदान तथा वित्तजा सेवानुज्ञा प्रदान करनेवाला व्यक्ति तो कितना अधिक अपराधी बन जाता होगा! विमर्शकारको ''**एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' इस सन्दर्भमें पुनः याद दिलाना चाहेंगे. अर्थात् अविचारिनामदीक्षाके दानवश नामविक्रयापत्ति होती हो जो अपराधरूपा होती है तो अविचारित दर्शनानुज्ञादान और वित्तजा सेवानुज्ञादान (''जो दर्शन करने आया है वह भक्त ही होगा!'' द्र.विम.पृ.सं.८० तथा २०१) क्यों रूपविक्रय नहीं होने चाहिये?

विमर्शकार (पृ.सं.२११) पर कहते हैं कि ''**इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है. यद्यपि यह विषय यहां कहना नहीं है तथापि प्रसंगतः कहा गया है. 'तदभावे स्वयं वापि' इस वाक्यका तात्पर्य आगे स्पष्ट किया जायेगा**'' (विम.पृ.सं.१०-१४). आगे जब भी जो कुछ विमर्शकार स्पष्ट करेंगे उसका भी विचार निश्चय करेंगे परन्तु वह जब तक प्रकट नहीं किया जाता तब तक इतनी बात तो अवश्य कही जा सकती है कि हम यहां केवल एक वचनके आधारपर कुछ कह नहीं रहे हैं प्रत्युत महाप्रभु, प्रभुचरण गोस्वामिश्रीगोपीनाथजी तथा गोस्वामिश्रीविठ्ठलनाथजी ही नहीं; अपितु, श्रीहरिरायजी एवं श्रीपुरुषोत्तमजी आदि सभीके वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर यह जो कुछ कह रहे हैं वह आधारित है. क्योंकि महाप्रभु (क) वचनमें ''**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या**'' आज्ञा प्रदान

कर रहे हैं नकि ''तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या अथवा तत्समाधानीद्वारा याचितसेवार्थं वित्तजा सेवा कर्तव्या'' आज्ञा कर रहे हैं. अतएव श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण भी (ख) वचनमें अनुयायिजनोद्धारार्थ ''**माहात्म्यज्ञापनायैव श्र(/श्रा!)वणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्र आकांक्षा गुरोर्भवेत्... गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्याः स्वोपदेशतः**'' भगवन्माहात्म्य भगवद्गुण भगवल्लीला के श्रवणार्थ ही शास्त्रानुसारी उपदेशकी ही बात कर रहे नकि भगवत्सेवाप्रदर्शनकी, श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण भी (ग)वचनमें उद्धृत कारिकामें अविचारित दीक्षा प्रदानके कारण दीक्षादाता गुरुके अपराधी होनेकी निन्दा कर रहे हैं सो ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थ असति बाघके अन्यत्रापि युज्यते'' न्यायानुसार अविचारित भगवत्सेवादर्शनानुज्ञा या वित्तजसेवानुज्ञा पर भी लागू करनेमें विमर्शकारको बाधा क्या लग रही है, यदि उसे अपनी आजीविका ही बनानेकी कोई विवशता न हो तो ! श्रीहरिरायजी भी दुःसंगविज्ञाननिरूपणमें ''**तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वासो संगदोषतो असत्यपि सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गतः अतएवोक्तम् आचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणं 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे... अनाकारितएवासौ संगे लगति सर्वथा प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन. स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः**'' (दु.वि.प्र.२०-३४) द्रव्यार्थ विमोहित जो दर्शन करने आ रहा है वह भगवद्भक्त ही होगा ऐसा अविचारित उपदेश या अविचारित अनुज्ञा अपने भगवत्सेवाप्रदर्शनमें देता हो उसके संगको महाप्रभुद्वारा आज्ञप्त वीक्षणकी प्रक्रियाद्वारा दुष्टसंगतया निर्धारित करना चाहते हैं सो एकवाक्यता सर्वथा सुस्पष्ट ही है. आवरणभंगकार श्रीपुरुषोत्तमजी तो इन सर्वनिर्णयकारिकाओंके आवरणभंगमें ''**कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे... आभासात्वाभावः सेवायाः... मौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः**'' (त.दी.नि.प्र.आ.२२८) सुस्पष्टतम शब्दोमें श्रीमदाचार्यचरणोंके अनन्यगुरुके प्रतिपादनपूर्वक स्वतो भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी रीतिको आचार्यचरणाज्ञाप्त ही मान कर चल रहे हैं. फिरभी इस निजाचार्याज्ञाकी अवहेलना कर विमर्शकारका यह कह पानेका महान् दुःसाहस

कि ''**इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है**'' आचार्यचरणके साथ ही असूयामें पर्यवसित हो रहा है! किन्नु गर्ह्यम् अत: परम् ! लगता है कि श्रीहरिरायचरणनिरूपित ६६ अपराधोंमेंसे ११वें अपराधकी वकालत विमर्शकार ३६वें अपराधकी दुर्दम मनोवृत्तिवश कर रहे हैं जिसके कारण श्रीहरिरायजीके अनुसार ३५वें अपराधके ओर वे अपराधी ही सिद्ध होते हैं! यह सभी इन उद्धृत वचनोंकी एकवाक्यतामूलक निष्कर्ष है किसी एकाद वचनका लेभागू अभिप्रायाविष्करण नहीं.

इस ३६वें अपराधकी मनोवृत्तिके विवश कोई व्यक्ति जनधनसंग्रहकी निम्नमनोवृत्तिका भी उदात्तीकृत प्रयोजन जनतोद्धार प्रचारित कर सकता है. इसमें, परन्तु, समझनेकी बात यही है कि प्रत्येक व्यक्तिका आत्मोद्धार तो स्वयं उसके द्वारा अनुष्ठित धर्माचरण ''**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा**'' द्वारा ही सम्भव होता है नकि तत्प्रदर्शित भगवत्सेवाप्रदर्शनको केवल आर्थिक प्रोत्साहन देनेमात्रसे. स्वधर्मानुष्ठान स्वयंकृत होना चाहिये परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु केवल वित्तप्रदाता दर्शक बननेसे आत्मोद्धारकी कल्पना अतीव बचकानी मनोवृत्ति प्रकट करती है.

यदि परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु वित्तदानपूर्वक दर्शनमात्रसे आत्मोद्धार शक्य हो जाता हो तो जिस कनिष्ठ गोस्वामीने जिस ज्येष्ठ गोस्वामीसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ली हो उस दीक्षाप्रदाताके द्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे कनिष्ठ दीक्षाग्रहीता गोस्वामीका भी उद्धार शक्य हो जाना चाहिये था. यदि जनसाधारणका व्यावसायिक छप्पनभोगके प्रदर्शनमें दर्शक या आर्थिक सहयोग प्रदान करनेमात्रसे ८४ लाख योनिओंमें चलनेवाले जन्ममरणके दुष्चक्रसे छुटकारा हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि नित्यप्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनोंके असकृद् आवर्तनोंसे ही जनसाधारणका उद्धार हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि सकृद् अथवा असकृद् दर्शनोंके आवर्तनोंके बावजूद गोस्वामिसमाजका उद्धार स्वयंकृत कृष्णसेवासे ही होता हो तो वही बात

जनसाधारणके लिये भी सत्य होनी चाहिये. यदि इसे इष्टापत्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है तो ज्येष्ठ गोस्वामिप्रदर्शित कृष्णसेवाद्वारा ही केवल कनिष्ठ गोस्वामिओंका उद्धार निश्चित हो जानेके कारण कनिष्ठ गोस्वामिंओकी कृष्णसेवाका प्रयोजन केवल जनोद्धार ही शेष रह जायेगा. अर्थात् आत्मोद्धार नहीं. तब यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि कृष्णसेवाप्रदर्शन क्या--

(क) अन्यनिरपेक्ष वैकल्पिक या अनुकल्पिक एकाकी उद्धार साधन है?

अथवा

(ख) अन्यसापेक्ष सहकारिकारण?

अथवा

(ग) अन्य किसी अंगी अनुष्ठानका अंगभूत या आनंषंगिक साधन है?

(क) इनमें वैकल्पिक साधन होनेके कल्पको स्वीकारनेपर तो दर्शनार्थी जनताको [१]ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना, [२]उससे अपने ठाकुरजीके लिये भेंट-सामग्री-मनोरथके रुपये ऐंठनेको वित्तजा सेवा करानी, [३]उसे प्रवचन-भागवतकथा सुनाना या [४]व्रजयात्रा करवाना आदि सभी जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होंगी.

भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारका आनुकल्पिक कारण/साधन माननेपर मुख्य कल्प जो भी हो उसपर भार देनेके बजाय इस अनुकल्पके अनन्यावलम्बनकी आवश्यकता क्या? मुख्य कल्प यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' हो और वह वैष्णवोंसे देशकालकी विपरीततांके कारण निभ नहीं पाती, ऐसा मान लेते हैं, तो उपदेशकर्ता स्वयं उस मुख्य कल्पका अवलम्बन क्यों नहीं करते? महाप्रभु तो स्वयं स्पष्ट आज्ञा करते हैं **''योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद्''** (वहीं) इससे स्पष्ट होता है कि गुरु सेवाके जिस या जैसे प्रकारको उत्तम मानता हो तदनुसार गुरुके उपदेश और अनुष्ठान में एकरूपता होनी चाहिये. तनुवित्तजा

सेवाके आचार्योपदिष्ट कल्पकी अक्षम्य अवहेलनाके बावजूद 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाके कपोलकल्पित प्रकारका भी अनुष्ठान हम सेवाप्रदर्शक गोस्वामिओंके आचरणमें भलीभांति अनुष्ठित होता दिखलाई तो नहीं देता. क्योंकि अधिकांश तनुजा सेवा पगारदार नोकर करते हैं और वित्तजा सेवा प्राय: दर्शनार्थी जनता ही. अत: भगवत्सेवाप्रदर्शनके आनुकल्पिक एकाकी कारण होनेकी कल्पना करनेपर मुख्य कारण अन्य कोई अनुपदिष्ट अप्रदर्शित है, जबकि उपदेश्य प्रदर्शित कारण कृष्णसेवाका भोंडा प्रदर्शन होगा अनुकल्परूप. इस तरह उपदिष्ट एवं अनुष्ठित धर्मोमें भेद किसी न किसी तरहके दम्भका ही प्रमाण बन जायेगा.

(ख) यदि इस कारणसे भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारके अन्य किसी/किन्हीं साधन/साधनोंका सहकार कारणके रूपमें स्वीकारा जाये तो जिन दर्शनार्थी व्यक्तिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अथवा भागवतकथा-प्रवचनोपदेश एवं व्रजयात्रा सेवाप्रदर्शक गोस्वामी न कराते हों उनके सन्दर्भमें कृष्णसेवाप्रदर्शन जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होगी.

यदि कहा जाये कि बहुजनके उद्धारार्थ अनुष्ठित कृष्णसेवाप्रदर्शनके कारण अब्रह्मसम्बन्धी या भेंटसामग्रीमनोरथोंके निमित्त वित्तजा न करनेवाले कतिपय अवैष्णव मुफतिया दर्शनार्थिओंका उद्धार सहकारी कारणके अभाववश न भी हो पाता हो, एतावता कृष्णसेवाप्रदर्शनको निरर्थक नहीं माना जा सकता, तो इस नैरर्थक्यपरिहारके सन्दर्भमें यह कथनीय है कि कमसे कम मन्दिरोंके द्वारपर एक चपरासी तो दर्शनार्थिओंकी भीड़की छंटनीके लिये नियुक्त करना चाहिये. ताकी सबको यह वास्तविक्ता पता चल जाये कि सहकारी कारणके अभावमें केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं हो जाता है! इससे एक और अतिरिक्त सूचना हम प्रदर्शनप्रेमी गोस्वामिओंको उपलब्ध हो पायेगी कि दर्शनार्थिओंमें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे कितने लोग होते हैं और कितने लोग ऐसे ही जो आत्मोद्धारक भावनावश नहीं प्रत्युत एक धार्मिक तमाशा या साधारण कुतुहलवश आ धमकते हैं. कुतुहलवश जागी दर्शनार्थिता दर्शन में अनधिकारिता है ऐसा तो विमर्शकारने

(पृष्ठ.२०५) स्वीकारा है तब भी उसकी सावधानी तथाकथित अपनी षष्ठपीठमें ली जाती हो ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते. उस चपरासीसे निरन्तर यह भी घोषणा करवाई जा सकती है कि ''ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये बिना एवं वित्तजा सेवाके बिना, केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं होगा.'' हमारे मन्दिरोंमें इस व्यवस्थाका प्रावधान रखे बिना वैष्णव बहुजनोंके उद्धारकी बात तो युक्तियुक्त नहीं लगती.

(ग) यदि कृष्णसेवाप्रदर्शन आत्मोद्धारका एक आनुषंगिक कारण हो तो मुख्य कारण कौन सा है यह खुलासा भी करना पड़ेगा. यदि तनुवित्तजा सेवा हो तो सेवोपदेष्टा हम गुसांई स्वयं वह क्यों नहीं करते? यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवा तो भी क्यों मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रखते हैं और क्यों वैष्णवावैष्णव दर्शनार्थिओंसे सेवाके नामपर धन ऐंठते हैं? प्रदर्शनके गौण या आनुषंगिक कारण होनेपर भी उसपर इतना भार कि निरन्तर विज्ञापनोंद्वारा उसका ही प्रचार करते हैं परन्तु मुख्य कारणका प्रचार विज्ञापनोंद्वारा क्यों नहीं करते? यदि कहा जाये कि कृष्णसेवाप्रदर्शन निषिद्ध तो माना नहीं गया है केवल आनुषंगिक माना गया है और आधुनिक वैष्णव समुदाय उनके आत्मोद्धारके मुख्य कारण तनुजा-वित्तजा सेवाको निभा पानेमें सक्षम नहीं. अत: अनुकल्पके अवलम्बनद्वारा उनके उद्धारके केवल सदाशयवश कृष्णसेवाप्रदर्शनपर इतना प्रचारभार दिया जाता है. अत: इसे सभीको अनुमोदनीय ही मानना चाहिये.

वास्तविकता इस विषयमें यह है कि आज जितनी महत्ता दर्शनकी सीधी या तिरछी तरह दिखलाई जा रही है, उसे देखते हुवे कोई भी इसे पुष्टिमार्गीय धर्मानुष्ठानकी आनुषंगिक या अनुकल्परूपा प्रवृत्ति मान नहीं पायेगा. कई दर्शनार्थी हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनके बिना घरमें भोजन भी नहीं करते. उन्हें रोकने-टोकनेके बजाय प.भ.के रूपमें बिरदाया जाता है. कई बार तो कण्ठत: वैष्णवोंको उनके घरमें बिराजते ठाकुरजीकी उत्सवसेवा हमारी कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे पहले न करनेकी भी आज्ञा दी जाती है.

तनुवित्तजा न सही तनुजा/वित्तजा सेवाको भी सिद्धान्ताभिमत मान कर चलें तो भी हम अनेक गोस्वामिओंके अनेकानेक मन्दिर जो अनेकानेक गांवोंमें चलाये जा रहे हैं, वहां तो हम गोस्वामिओंका उपस्थित रह पाना भी शक्य नहीं तो तनुजा सेवाका तो प्रश्न ही उठ नहीं सकता. रही बात वित्तजा सेवाकी तो वहां जिस मन्दिरमें हम स्थायिरूपेण निवास करते हैं उस मन्दिरमें हमारे स्वयं आयके स्त्रोत हमारी चरणभेंट, अथवा और भी जो कुछ हों, उनसे सेवाप्रकार नहीं निभाते प्रत्युत ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, भंडारमें और पेढ़ी में जमा होनेवाली सामग्री और मनोरथसेवा आदि अनेकविध भेंटोंसे सेवा निभाते हैं. अपनी चरणभेंट तो अपने टी.वी. विडिओ नई-नई कारमोडेलों आदिके वैभव निभानेमें ही खर्ची जाती है.

इसके अलावा कृष्णसेवाप्रदर्शन यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाकी आनुषंगिक प्रवृत्ति हो तो वह केवल हम गोस्वामिओंका एकाधिकार क्यों बना दी गयी है? जो भी पुष्टिमार्गानुगामी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र या वर्णाश्रमेतर व्यक्ति भी, क्योंकि कृष्णसेवार्थ तो सभीको अधिकारी माना गया है, हम गोस्वामिओंकी तरह व्यावसायिक सेवाप्रदर्शन क्यों नहीं कर सकता? क्या हमें अपने इस व्यवसायपर अपने एकाधिकारको हानि पहुंचनेकी भीति सताती है?

यदि 'हां'में उत्तर दिया जाये तो बात खुल गयी कि कृष्णसेवा हम गोस्वामिओंकी भक्तिमयी प्रवृत्ति न हो कर केवल अर्थोपार्जनार्थ एक आजीविका मात्र है. अन्यथा अधिकाधिक मन्दिरोंके उद्घाटन करवा कर सभीको कृष्णसेवाप्रदर्शनार्थ क्यों प्रेरित नहीं किया जाता है. जनतामें बहुसंख्याक जीवोंके उद्धार होनेमें बुराई क्या हो सकती है!

केवल हम गोस्वामिओंकी गुर्वाज्ञाकी मर्यादा हो तो आर्थिक या कानूनी हक जताये बिना केवल नामसे जुड़े हुवे होनेसे आज्ञानुसार चलते होना अनिवार्य बताया जा सकता है. उसमें भी पुनः भीति यहीं अन्तर्मनमें सताती होनी चाहिये कि ऐसे मन्दिर अधिक प्रसिद्ध या जनप्रिय बन कर हमारी कृष्णसेवाकी व्यावसायिक गतिविधिमें कहीं प्रतिस्पर्धी न बन जायें!

इसके अलावा यह भी तो विचारणीय है कि हम गोस्वामिओंके नाम और आज्ञा में क्या वस्तुत: इतनी दिव्य सामर्थ्य है कि स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी सेवा अथवा सेवाका प्रदर्शन भी हमारी आज्ञाके आधीन ही हो कर जनोद्धारक हो पाते हैं? अन्यथा नहीं!

यदि यह नियम त्रैकालिक या शाश्वत हो तो इसका निरूपण भागवतादि भक्तिप्रतिपादक शास्त्रोंमें क्यों नहीं मिलता? यदि यह नियम तात्कालिक या व्यावहारिक है, तो ऐसे नियमके औचित्य एवं सम्प्रदायके हितमें होनेका प्रमाण क्या? क्योंकि यदि सार्वकालिक इस नियमको मानते हैं तो भागवतादि अवतारकथाओंमें वर्णित अनेकानेक जीवोंके उद्धारको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा. क्योंकि वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञासे उद्धारका कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता. और त्रैकालिक न मान कर वल्लभवंशजोंकी विद्यमानताके कालमें सीमित नियम मानते हैं तो केवल कालसीमा ही क्यों देशसीमा क्यों नहीं इस नियमपर लादी जाती कि ''जिस देशमें वल्लभवंशज गोस्वामी विद्यमान हों वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञा एवं नामसे जुड़े बिना कृष्णसेवाप्रदर्शन जनोद्धारक नहीं होगा?''

यदि ऐसा देशनियम भी स्वीकार लिया जाता है तो हमारी जिन अनेकानेक हवेलिओंमें हम रहने नहीं जाते उनमें चल रहे व्यावसायिक कृष्णसेवाप्रदर्शनकी उद्धारकता निरस्त हो जायेगी. क्योंकि जिन छोटे-छोटे नगर या गांवों में हमें प्रचुर आय नहीं होती चरणभेंट-पधरामणी-तपेली आदिकी वहांकी पुष्टिमार्गीय निर्धन जनता हम गोस्वामिओंके पधारनेकी बांट चातक बन कर निहारती रहती है परन्तु हम जाना पसन्द नहीं करते.

यदि इस नियमको कालमें सीमित परन्तु सार्वदेशिक मान लेते हैं तो जो गोस्वामिमहानुभाव जहां अपने व्यावसायिक मन्दिर चला नहीं पाते वहां उन उन गोस्वामिओंसे ली हुयी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा निरर्थक सिद्ध होगी. क्योंकि कृष्णसेवाको प्रदर्शित करनेवाला किसी गोस्वामीके नामसे जुड़ा मन्दिर वहां चल ही नहीं रहा. अत: दीक्षा प्रयोजनहीन बन जायेगी.

कोष्ठक (क)के अन्तर्गत उद्धृत महाप्रभुवचन तथा श्रीपुरुषोत्तमजीकृत

उसकी व्याख्या दोनोंके आधारपर यह स्पष्टतया दिखलायी देता है कि कृष्णसेवोपदेशदीक्षाकी सफलता ''**भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरायणत्वे सति नरत्वं**'' लक्षणवाले गुरुसे ग्रहण करनेपर निरूपित हुयी है नकि केवल वल्लभवंशजत्वके आधारपर : ''**एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तित:**'' (वहीं) व्याख्याके आधारपर यह करतलामलकवत् स्पष्ट है.

यह तो हम कह ही चुके हैं कि ''**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या**'' (वहीं) विधान उपलब्ध होता है नकि ''**तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या**''. अत: वास्तविक सिद्धान्त और वर्तमान अन्धरूढ़ि के बीच आकाश-पातालका अन्तर स्पष्ट दिखलायी देता है.

यह भी दिखला चुके कि कोष्ठक (ख)के वचनमें भी यही सूचित हो रहा है कि भगवन्माहात्म्यज्ञानके लिये भगवद्गुण एवं भगवच्चरित्र का श्रवण आवश्यक होता है और इस आवश्यकताकी पूर्ति शास्त्रोंसे होती है और शास्त्रोपदेशग्रहणार्थ ही गुरुकी अपेक्षा होती है. वह गुरु महाप्रभु निर्दिष्ट लक्षणविशिष्ट होना चाहिये. ऐसे गुरुके उपदेशके अनुसार, स्वधर्मानुष्ठानसे उद्धार सिद्धान्तित हुवा नकि सेवाप्रदर्शनसे या सेवादर्शनसे. स्पष्ट है कि गुरुकी यहां इस वचनमें दृष्टोपकारकता निरूपित हुयी है नकि अदृष्टोपकारकता.

कोष्ठक (ग)के रूपमें उद्धृत वचनकी भी मीमांसामें भगवन्नामोपदेशद्वारा गुरुत्वकी वृत्तिसे भी भगवन्नामविक्रयके दोषका परिहार तभी सम्भव माना है जब वह केवल कर्तव्यनिर्वाहबुद्ध्या तथा शिष्योद्धारैकप्रयोजनवश कथञ्चित् अपनायी जाती हो. अन्यथा धनलोलुपतावश या अधिकारविवेक रखे बिना किये जानेपर तो नामोपदेशदीक्षा भी उपदेशरूपा न होकर विक्रयरूपा बन जाती है. अत: ''**एकत्र सिद्ध: शास्त्रार्थ: असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायके अनुसार ही भगवत्सेवोपदेश भी भगवत्स्वरूप/भगवद्भजनके विक्रयमें विकृत न हो जाये इसकी नितान्त सावधानी अपेक्षित थी. ऐसी स्थितिमें व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनकी कथा तो सिद्धान्तसे कितनी दूरापास्त है !

यदि वैष्णवावैष्णव या स्वीयास्वीय के अधिकारविचार और विवेक के बिना सभी दर्शकोंके सामने सेवाप्रदर्शन और सभीसे द्रव्य तदर्थ ऐंठा जाता हो तो उसे भगवत्स्वरूप तथा भगवत्सेवा का विक्रय ही मानना पड़ेगा.

उल्लेखनीय हो जाता है कि विमर्शकारने कृष्णसेवाप्रकरण (पृ.५-१०) में क्रीत या विक्रीत तनुजा सेवायें मानसीकी साधिका सेवा नहीं होती, एतावता उन्हें निषिद्ध नहीं मान लेना चाहिये ऐसा अश्रुतपूर्व-अकल्पितपूर्व कुविमर्श तो कर दिया परन्तु वे भूल गये कि नामविक्रयको जब नामविक्रेताका विनाशकारी दोष माना गया है तो ''**एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायानुसारिणी शुद्धा सात्त्विकी मति रखते हुवे भगवत्सेवाके भी क्रय-विक्रयको भी दोषरूप मानना क्यों भूल गये? भगवत्सेवाको आजीविका ही बनानेका ऐसा भी दुराग्रह किस कामका?

यों कृष्णसवाप्रदर्शन दर्शनार्थी जनताका उद्धारक होता है, इस धारणाके खण्डित होनेपर भी ''**तुष्यतु दुर्जनन्यायेन**'' कथञ्चित स्वीकारनेको उद्यत भी हम हो जायें एतावता अपनी सेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनतासे द्रव्य ऐंठनेकी बात कथमपि उचित ठहरानी शक्य नहीं लगती.

''**विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति**'' वचनके अनुसार जब पुष्टिमार्गप्रवेशार्थ नामदीक्षाग्रहणमें सभीका अधिकार मान्य नहीं रखा गया तब पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे सभीका उद्धार हो जायेगा ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है. ''**एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बधके अन्यत्रापि पुज्यते**'' न्यायके अनुसार ही.

कोष्ठक (घ)के वचनके अनुसार यह भी हम दिखला ही चुके हैं कि मार्गप्रवेशार्थ आधुनिक गुरुओंकी अपेक्षा या उपयोगिता होनेपर भी अनिवार्यता नहीं है. क्योंकि कृष्णसेवामें स्वयं भी प्रवृत्त हुआ जा सकता है और ऐसी कृष्णसेवामें न तो धर्माभास होनेका दोष स्वीकारा गया है और न कृष्णसेवामें स्वतः प्रवृत्त होनेवालेके बारेमें मौढ़्यादि दोष ही स्वीकारे गये हैं. तब महाप्रभुपदिष्ट लक्षणवाले या लक्षणरहित हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित

कृष्णसेवाके दर्शनकी अपरिहार्य न होनेके बारेमें प्रश्न भी उठ नहीं सकता है.

कुछ लोग कहते हैं कि ''**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्**'' (सर्वोत्तमस्तोत्र : १२) नामके अनुसार धार्मिक जनताको भगवत्सेवाके प्रशिक्षणार्थ प्रदर्शन आवश्यक होता है ताकि प्रदर्शित सेवाविधिको जान कर स्वयं निजगृहमें अनुयायिजन भलीभांति सेवा कर पायें.

इस सन्दर्भमें कई तथ्य विचारणीय लगते हैं. यथा--

(१) आजकी तारीखमें यह रेडिमेड सेवाप्रदर्शन लोगोंमें कितनी गृहसेवारुचि जगानेमें बढ़ानेमें और निभानेमें सक्षम हुआ है अथवा घटाने और नष्ट करनेमें सफल हुआ है, इसके पुष्टिमार्गीय सर्वेक्षणद्वारा कितने प्रतिशत क्या कर रहे हैं इसका आकलन जब तक कोई प्रकट न करता हो तब तक कोई प्रामाणिक अभिप्राय कैसे बांधा जा सकता है?

(२) इन सेवाप्रदर्शनोंमें भटकनेवाले दर्शनार्थिओंकी निष्ठा स्वमार्गीय सिद्धान्त साधना धर्मोपदेश या धर्मोपदेशकों में भी बढ़नेके बजाय घटी है. क्योंकि अन्यमार्गीय सिद्धान्त साधना और धर्मोपदेश करनेवालोंको सुनने मानने जानेवालोंमें अधिकांश नहीं भी तो अच्छी-खासी तादातमें पुष्टिमार्गीय वैष्णव या वैष्णवपुत्र होते ही हैं. कृष्णसेवाप्रदर्शनकी, साम्प्रदायिक हितके सन्दर्भमें, इससे अधिक निरर्थकता और क्या हो सकती है?

(३) स्वयं इन रेडिमेड प्रदर्शनोंसे होनेवाली रेडिमेड आमदनीके कारण आश्वस्त हम गोस्वामिओंमें स्वमार्गीय ग्रन्थोंके भी--मूलभूत शास्त्र या अन्यमार्गीय ग्रन्थोंकी कथा ही दुरापास्त है --अध्ययन-अभ्यासकी रुचि क्षीणप्राय रहती है. परिणामरूपेण कतिपय अपठित गोस्वामी बालकों तो गंडा-ताबीज झाड़-फूंकके गोरखधंधेमें वैष्णवोंकोभी उलझाना पड़

रहा है.

(४) अपने घरमें ब्रह्मवर्चस्वी गोस्वामी आचार्योचित गौरवपूर्ण जीवन जीनेके बजाय धनिक वणिग्जनोंको ट्रस्टी बना कर उपानदुपलेही बन कर देवलकतोपजीवन करनेको बाधित होना पड़ता है. कुछ गोस्वामिओंको निजगेहस्थित प्रभुपरसे अपना स्वत्व भी खोना पड़ा है. चोरी आदिके आरोप लगाकर कुछ गोस्वामिओंका भगवत्सेवामेंसे निष्कासन भी हुआ है. स्वयं विमर्शकारको हालमें अपने सेव्यस्वरूपको वराछामें अपने बंगलामेंसे पुन: चौटाबाजार स्थित जर्जर भवनमें पधरानेको बाधित होना.)

(५) वीडिओ जैसी आधुनिक कमखर्चीली प्रशिक्षण सुविधाओं द्वारा भगवत्सेवाप्रशिक्षण सुकर होनेपर भी केवल जनप्रशिक्षणके क्षुद्र प्रयोजनार्थ अपनी कृष्णसेवा जैसी दिव्यतम साधनाको व्यावसायिक प्रदर्शन बनाना कहां भक्तिमार्गीय नीतिमत्ता या बुद्धिमत्ता हो सकती है? नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा मनोरथसेवा के विडिओसेट तैयार कर वितरण और/अथवा विक्रय कर कृष्णभक्तिप्रशिक्षण सिद्धान्तशुद्ध गौरवपूर्ण ढंगसे भी दिया जा सकता है.

(६) महाप्रभुके नाममें भी ''**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्ति कृत्**'' पद प्रयुक्त हुवे हैं परन्तु ''**जनशिक्षाकृते कृष्णसेवाजीविकाकृद्**'' अथवा ''**जनशिक्षाकृत कृष्णसेवाप्रदर्शनकृद्**'' पद प्रयुक्त नहीं हुवे है.

(७) आज महाप्रभु और प्रभुचरण के निधि सेव्यस्वरूपोंमें से बहुतोंके उपर उनके हम वंशजोंका स्वत्व इसी सेवाप्रदर्शनकी जघन्य मनोवृत्तिके वश नि:शेष हुवा है. अपने देहसम्बन्धी बहुबेटिओंकों तो अन्योंकी कुदृष्टिकी आशंकाके वश परदेकी

ओटमें हमने छिपाये रखना चाहा परन्तु अपने आत्मसम्बन्धी सेव्यस्वरूपपरसे जहां पहुंचनेपर स्वत्व खोना पड़े ऐसी सीमाओंको लांघकर भी प्रदर्शन करना चाहा. हमें न तो पुष्टिमार्गीय विवेक और न किसी तरहकी आत्मसम्मानमूलक लज्जा ही अपने इन कुकृत्योंसे बचनेको हमें रोक पायी! इससे अधिक निम्नतर कक्षा हमारे अध:पतनकी और क्या हो सकती है?

(८) यदि कृष्णसेवाप्रशिक्षण हमारी कृष्णसेवाका वास्तविक प्रयोजन हो तो वह कृष्णसेवा न तो कर्तव्यभावसे और न तत्सुखके भावसे अनुप्राणित मानी जा सकती है. अत: ऐसी अवस्थामें लोकहितार्थ केवल होनेके कारण वह भगवदर्थ न होनेसे आधिदैविक दृष्टिसे कितनी निम्नस्तरीय बन जाती है. इसके विपरीत अनेक हमारे अनुगामी जनोंके घरोंमें अनुष्ठित भगवत्सेवा या भगवत्सुखैकार्थ होनेसे आधिदैविक या आत्मकर्तव्यता अनुष्ठित होनेसे आध्यात्मिक रूपा ही होती है, आधिभौतिक तो नहीं ही. यों कृष्णसेवाके उपदेशकोंकी कृष्णसेवासे तो वह हर तरह उच्चस्तरीय होती है. अत: हम कृष्णसेवोपदेशक गोस्वामिओंको हमारे शिष्योंसे भगवत्सेवाका वास्तविक स्वरूप एवं प्रयोजन समझना चाहिये, उन्हें गुरुतया मान्य रख कर.

(९) यदि वस्तुत: कृष्णसेवाप्रशिक्षणार्थ कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य हम सिद्ध करना चाहते हों तो भी दर्शनार्थिओंके प्रशिक्षणार्थ उन्हें सेवामें जो भीतर नहाना चाहे उसे रोकना टोकना नहीं चाहिये. सेवा को देखनेके बजाय सेवा को करने देनेसे प्रशिक्षण और भलीभांति दिया जा सकता है.

वैसे पता नहीं कि इतना वाहियात तर्क विमर्शकारको अभीष्ट है कि नहीं परन्तु अन्य कई हमारे देवलकबन्धु भरी सभामें ऐसा तर्क देते हैं.

इस तरह **'कृष्णसेवोपदेशदीक्षा'** शीर्षकके अन्तर्गत प्रस्तुत विषयवाक्योंका स्वारसिक अर्थविचार करनेपर कृष्णसेवाप्रदर्शनकी सिद्धान्तविपरीतता सिद्ध होती है. इसके बाद **'सेवाप्रदर्शन'** शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके विचारार्थ प्रस्तुत होनेसे पूर्व प्रस्तुत प्रकरणसे सम्बन्धित विचारोंकी संग्रहकारिका सुविधार्थ यहां प्रस्तुत कर रहे हैं :

संग्रहकारिका

प्रदर्शनेनोद्धारश्चेद् दर्शकस्य यदा तदा ।।
उद्धाराय बहूनां तु कुतो न क्रियतेऽधुना ।।१।।
सर्वैर्हि पुष्टिमार्गीयैः कृष्णसेवाप्रदर्शनम् ।।
गोस्वाम्येककृतं तच्च मतं सेवाप्रदर्शनम् ।।२।।
तत् किं तेषां प्रभुः सेव्यः परार्थइति हेतुना ।।
उत सेवैव दम्भार्था क्रियते तैरिति स्थितिः ?।।३।।
तत्र नाद्यः परार्थत्वे गोस्वामिगृहताक्षतेः ।।
परार्थश्च गृहे चेति न कथं व्याहतः स्वतः !।।४।।
वन्ध्या च जननीचेयं नारीति कथनं यथा ।।
दम्भैकार्था ततः सेवा दीक्षादातृत्वलोपिका ।।५।।
तथा चोक्तं निबन्धस्य सर्वनिर्णयवर्णने ।।
'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्''।।६।।
इहावरणभंगेऽपि व्याख्यातं नृवरैः स्फुटम् ।।
'अधिकारविनिर्देशाद् मार्गे ह्यनधिकारिणौ ।।७।।
लोकानुगः पशुह्यन्धोऽपरस्तमनुगस्तथा ।।
व्यावर्तितावुभौ तेन कथं तस्योद्धृतिर्भवेत् ?।।८।।
जलभेदस्य विवृतौ प्रभुक्तं समुदाहृतम् ।।
पुरुषोत्तमैस्तु तच्चेह स्मर्तव्यं हि सर्वदा ।।९।।
''विचार्यैव सदा देयं 'कृष्ण'नाम विशेषतः ।।
अविचारित दानेद स्वयं दाता विनश्यति''।।१०।।

मार्गेऽत्र दीक्षाग्रहणाधिकारो
नो सर्वगस्तत्र मुधास्मदीयाः ।।
उद्धारमोहेन परस्य तेऽत्र
जाता स्वयं नो पतयालवः किं! ।।११।।
गोपीनाथप्रभूक्तं च ह्यवधेयं स्वमार्गिभिः ।।
''माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।।१२।।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरो''रिति ।।
आकांक्षा नैव तस्येह कृष्णसेवाप्रदर्शने ।।१३।।
प्रदर्शनेन नोद्धारो ह्युद्धारः स्वोपदेशतः ।।
दुर्लभत्वे तु तस्यापि ह्याचार्यवचसा स्फुटे ।।१४।।
स्वयं वा कृष्णसेवैका निजोद्धृतिकरा सदा ।।
कर्तुश्च मौढ्यदम्भादिदोषराहित्यवर्णनाद् ।।१५।।
सेवोपदेशदीक्षादेः सिद्धान्ते दातृकर्तृकम् ।।
सेवाप्रदर्शनं नैव जनतोद्धारकारणम् ।।१६।।
'जनशिक्षाकृतेकृष्णभक्तिकृद्वंशजा'इति ।।
प्रदर्शनं हि सेवायाः नन्वेषं न विरुद्ध्यते ।।१७।।
जनशिक्षाथवा कृष्णसेवा स्यादत्र वै फलम्?।।
अन्त्ये किमन्तर्गडुना जनानां शिक्षणेन तु ।।१८।।
गुरुत्वादिति चेन्नात्र दम्भादिरहिता सदा ।।
श्रीकृष्णसेवापरता प्रथमा योग्यता मता ।।१९।।
प्रदर्शनकृते सेवा कृता चेद् दम्भितैव हि ।।
नो भक्तिर्नैव धर्मो वा जनोद्धारकरः क्वचित् ।।२०।।
नाम्नैतेन निजाचार्यनिन्दनं किमु कार्यते?।।
इति चेन्नहि तन्नास्ति कृष्णभक्तिप्रदर्शनम् ।।२१।।
उच्यते किन्तु कर्तृत्वं ह्यपाषण्डित्वबोधकम् ।।
आचिनोति शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि ।।२२।।
यश्चोपदिशत्यन्यान् तमाचार्यं विदुर्जनाः ।।

निबन्धेऽप्येवमेवाहुराचार्यचरणाः स्फुटम् ।।२३।।
''उपदेक्ष्यन्हि तां सेवामुत्तमां यदि मन्यते ।।
स्वयमेव कुतो नायं कृष्णसेवापरो भवेत?''।।२४।।
इति हेतोः सदा कृष्णसेवायां तत्परं जनम् ।।
संवीक्ष्य वै गुरुं कुर्यात् साधनं हीदमादिमम् ।।२५।।

तस्मान्नैवोपदेशेहि प्रदर्शनम् अपेक्ष्यते ।।
न परार्था ततः कृष्ण–सेवा सिद्धान्तसम्मता ।।२६।।
अथापि चेत् प्रदर्शनं मतं वरं हि साधनं
कृतं तदा कृतेन कायिकेन सेवनेन तु
यतोहि वर्ततेऽधुना तु साधनं हि वीडियोः ।।
प्रदर्श्यते कुतो न तेन वार्षिकं हि सेवनम् ।।२७।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवोपदेशदीक्षा' – 'सवोपदेष्टृ'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गत संकलित
विषयवाक्यविचारमूलक
विशोधन
(विषयवाक्य)

(क) **गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते--अगुप्तो रसो रसाभासः स्यात्** (सुबो.१०।१८।५--१०।५९।४४).

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है--प्रकट होनेपर वही रस रसाभास बन जाता है (तत्रैव)...

(ख) **सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह--**

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ।।

'तदभावे' इति. 'क्वचिद' देशविशेषे सत्परिपन्थानाम् अभावयुक्ते, 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति 'तद्रूपम्' इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो, भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्रच स्थितम्' इति (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारापातः ! इति आकांक्षायां, कलेः बलिष्ठेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्'' इति आभासत्वभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशाः यदि मिलन्ति तदा

प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम् (त.दी.नि.आ.१।२२८).

(ख) ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है–ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या–भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवान्का रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है. यह किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, श्रीहरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर भजन करने लग जाना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो–जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है, उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता हे–जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है, वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चल कर कलियुगके बलवान् होनेके कारण यदि उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहतें हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर जो स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लग सकता. और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त हो जानेपर भी, भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके बारेमें जिज्ञासा होनेपर, किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ–जान लेने में कोई आपत्ति नहीं.

यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.आ.२।२२८).

(ग) **गुरुदत्तां स्वयं लब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम् ।**
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते ।।
(साध.दीपि.९०)

(ग) भगवत्स्वरूप चाहे गुरुकेद्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या स्वयं कहींसे प्राप्त हुवा हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो; अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है वह है तो 'अपने मांथे बिराजता सेवयस्वरूप' ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो (अर्थात् वहां 'वोल्टेज' कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साध.दीपि.९०).

(घ) **सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते ।**
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तो सेवा विधीयते ।।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम् ।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता ।।
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम् ।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः ।।
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः ।
अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत् ।।
(श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१)

(घ) अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण सर्वप्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षाद् भगवद्रूप ही होती है. पूजामार्गके

अनुसार प्राणप्रतिष्ठा मन्त्रादिकी विधिके कारण मूर्तिमें पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य मार्गोकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप मानी गयी है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्वत: सुवर्ण बन जाती हैं, वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वत: साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१).

(ङ) **स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते ।**
तदेकहृदयस्थायी तद्भाव: कृष्णएव हि ।।
लीलासहस्रवलित: सामग्रीसहितस्तथा ।
भावनीय: सदानन्द: सदानन्दादिलालित: ।।
इदमेवोक्तमाचार्यै: सिद्धानतस्य निरूपणे ।
''आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवे''ति यद्वच: ।।
तदाशयस्तु विवृत: कृपयैव प्रभोर्मया ।
अवगत्य जना: सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा ।।

(श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३).

(ङ) स्वमार्गीय सेव्यस्वरूपके चिन्तका प्रकार अब कहा जाता है... पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं, जो श्रीकृष्ण अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्रीके सहित बिराजमान रहते हैं. ऐसे सदानन्दरूप और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तोंद्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ''आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये'' इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यही बताया है. उसके आशयका विवरण प्रभुचरण श्रीगुसांईकी कृपासे मैंने किया ताकि सभी लोग उसे भलीभांति समझ कर सदा श्रीहरिका

चिन्तन कर पायें (श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३)

(च) **भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः ।**
सेव्यमानं सदा भावैर्निरोधं साधयेद् ध्रुवम् ।।
(श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८)

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध-प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति-को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८).

(संशय)

संशय इन वचनोंके आधारपर यहां यह उठता है कि पुष्टिमार्गमें भगवत्स्वरूप भावात्मक होनेसे रसात्मक होता है और अतएव वह भावात्मिका सामग्री और भावात्मिका सेवा का ही अंगीकार करता है, यह बात यदि सत्य हो तो (क) वचनके आधारपर न केवल स्वरूप अपितु सेवा-सामग्री सभी कुछ संगोपनीय होनी चाहिंये. यों इस सुबोधिनीके वचनकी तात्पर्योद्टंकना 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत पूर्वोदाहृत भगवद्भावाविष्करण-निषेधपरक **''लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत''** (अणुभा.३।४।४९) भाष्यवचनके साथ समन्वयसाधिका बात लगती है. इस अभिप्रायकी श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी सेवा या सेव्य के प्रदर्शनकी अनुज्ञा **''स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्''** (सा.दी.१०८) के साथ तुलना करनेपर ऐसे 'स्वीय भक्तो'कों पूर्वोक्त सामान्यनिषेधका अपवादरूप विशेषविधान स्वीकारना पड़ता है. उसके बाद कोई स्वीय भी हो और देवतान्तरका भक्त भी हो तो उसे दर्शन कराने कि नहीं? इसका स्पष्टीकरण पूर्वोदाहृत श्रीहरिरायचरणके **''११.अपराधः=अवैष्णवस्य सेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवानिष्फलत्वं, प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्. ३६तमो अपराधो भगवन्नाम्ना याचनम्. फलं=उपचारनैष्फल्यं. प्रायश्चित्तं=पञ्चगुणितनैवेद्य-दानम्''** (षटष.अप.फ.प्राय.) वचनमें उपलब्ध होता है. अतः यहां भी पुनः

सामान्यविशेषभाव संगति ही स्फुट होती है. पुन: जैसा कि विमर्शकारने भावप्रकाशका एक वचन उद्धृत किया ही है कि ''**अपने ठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीकों न करावने यहू जतायो**'' (दो सौ बावन वार्ता : ३८।१) तो यहभी सामान्यविशेषभावानुपाती बन कर या तो वैष्णवोंमें भी कदाचित् स्वमार्गीय वैष्णवके ही दर्शनाधिकारकी नियतिका अथवा अधिकाधिक अस्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके भी दर्शनाधिकारके नियमका विधायक बन कर अपने सेव्य तथा उनकी सेवा के एतदितरके दर्शनाधिकारके निषेधमें पर्यवसित होगा. (ख) वचनमें जैसा निरूपण मिलता है तदनुसार सेवांगीकरणार्थ ''**एनम् उद्धरिष्यामि**'' पदप्रयोगवशात् भगवान्का यह विशेष प्राकट्य ही होता है, सर्वजनसाधारण प्राकट्य नहीं. अतएव ६६अपराधान्तर्गत ३६वां अपराध भगवत्सेवाके नाम ले कर परायोंका द्रव्य/सामग्री ले कर सेवामें विनियोगका पुष्टिभावके साथ ३६ आंकड़ेका सम्बन्ध है यह किशोरी बाईकी वार्तामें-- ''**तब श्रीठाकुरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?**[(वार्ता)] **यामें यह जताये जो वैष्णवकों औरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें लैके श्रीठाकुरजीको विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें**[(भा.प्र.)]''(२५२ वैष्ण.वा.२०९।२) आते इस नियमके साथ एकवाक्यता करनेपर यह बात और भी पुष्ट हो जाती है.

स्वयं विमर्शकारने भी 'पुष्टिने शीतल छांयड़े'में पहले यह सिद्धान्त स्वीकारा ही था--

> ''**पुष्टिमार्गमें जो स्वरूप अपने मांथे पधराया जाता है वह प्रभु (स्वरूप) और उनकी सेवा प्रत्येकको व्यक्तिगत रूपमें उसकी भावनाके अनुसार पधराया जाता है. अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवका एकमात्र निजी कर्तव्य बन जानेवाला निजी धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी अथवा माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करना उनका व्यक्तिगत धर्म कर्तव्य और अधिकार होता है. इसी तरह**

जिस सेवकका जो सेव्य स्वरूप हो उनकी सेवा करनेका उसका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होता है. सेवा यह कोई सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी अपने घरमें की जाती स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है.'' (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७)

अब, परन्तु, वही व्यक्ति 'विमर्श'में **''सेवार्थ अनुग्रहपूर्वक द्रव्यग्रहीता एवं द्रव्यसे सम्पन्न प्रसादके ग्रहीतामें देवलकत्वादि नहीं''** (विम.पृ.सं.३३) ऐसा विपरीत विधान करे तो इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवत्सेवार्थ परद्रव्य लिया जा सकता है या नहीं इस बारेमें पुष्टिमार्गीमें वैष्णव अनुयायी तथा वैष्णव गुरु यों दोनोंकेलिये अलग-अलग तरहके नियम हैं!

क्या सचमुचमें ऐसा हो सकता है, यह भी संशय होता है. कहीं ऐसा तो नहीं जब अपनेपर कोई कानूनी आपत्ति आये तब पू.पा.गोस्वामिओंकी भगवत्सेवा निजी कर्तव्य और निजी गृह की प्रवृत्ति बन जाती है और जब वह बाधा निवृत्त हो जाये तो पुनः भगवत्सेवा गुरु-शिष्योंके बीच, आर्थिक आदानप्रदानकी समुदायिक प्रवृत्ति! एतदर्थ हम देख चुकें है कि पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने नड़ियादकी सैद्धान्तिक गवाहीमें वैष्णवोंके द्वारा पू.पा.महाराजोंके हवेलिओंमें न तो तनुजा और न वित्तजा सेवा की कोई पद्धति होनी स्वीकारी थी. साथ ही साथ इस स्पष्टीकरणके साथ ऐसा व्यवहार कहीं चलता हो तो उसे पुष्टिमार्गीय नहीं माना जा सकता. वह गवाहीके तोरपर परन्तु सूरत-बड़ौदा-कलोल की स्वयंकी हवेलियोंको सन् ८०में निजी घोषित करवानेको तत्कालीन असीस्टेंट् चेरीटी कमिश्नर् श्रीमान् एन्.के.झवेरीके समक्ष प्रस्तुत सिद्धान्तके नमूने कुछ देखने लायक हैं :

"All celebration, seva, puja of a deity is made by maharajshri. Vaishanav or public has nothing to do for that" (p.10). "As against that it is the case of the opponent that whatever offerings or gifts are made they are made to maharajshri...All celebration seva, puja of a deity or idol is

made by maharajshri or Acharya. Vaishana or public has nothing to to do for that" (p.12).

और इस तरह निजी मान्य करा कर कानूनी बाधा दूर हो जानेपर अब केवल एक ही युग अर्थात् बारह वर्षके बाद पुन: सकल शिष्टाचारकी दुहाई दे कर वैष्णवोंसे द्रव्य लेनेका सिद्धान्त प्रकट हो गया है 'विमर्श' में देखिये :

''किशोरी बाईको जिस वैष्णवने ठाकुरजीकेलिए सामग्री दी है वह किशोरी बाईके परिवारका है या शिष्य है इसमें कोई प्रमाण नहीं है. सकल शिष्टाचारके अनुसार परिवार आदिके द्वारा प्रदत्त सामग्रीका भगवत्सेवामें विनियोग करना मान्य होनेसे किशोरी बाईकी वार्ताके भावप्रकाशमें वर्णित नियमको परिवारजन तथा गुरुशिष्य स्थलमें न मानना ही उचित है.''

''सेव्यसन्तोषजनकक्रिया सेवा कहलाती है. ऐसी स्थितिमें शिष्योंद्वारा गुरुघरके ठाकुरजीकेलिये सोंपे गये द्रव्यपर शिष्योंके स्वत्वको रखना या न रखना गुरुके सन्तोषपर निर्भर रहता है.'' (विम.पृ.सं.११-१३)

ऐसा सिद्धान्त प्रकट हो गया ! अत: ऐसी परस्पर विरोधाभासी स्वीकृतिओंको देखनेपर वास्तविक सिद्धान्तके बारेमें संशय उठ जाना स्वाभाविक ही है. अत: पूर्वस्वीकृतिके आधारपर सेवा/तत्सामग्री भी सार्वजनिक प्रदर्शनार्ह नहीं हो सकती. नूतन विमर्शके आधारपर हो सकती हैं.

वैसे गुरुद्वारा पुष्ट किये गये हों या नहीं, भगवत्स्वरूपके भगवत्वमें, महाप्रभुके अनुसार, कोई न्यूनाधिक भाव तो होता नहीं है परन्तु वह भगवत्त्व पुन: सेवार्थ समुद्यत भक्तविशेषके विशेषभावोंका ही अनुकारी होता है या सर्वसाधारण जनताके सर्वसाधारण भावोंका भी अनुकारी हो सकता है?

श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये (क)वचनके व्याख्यानके अनुसार इस प्रकारकी सेवा करनेमें गुरुद्वारा सेवाकर्ताके आत्मनिवेदनदीक्षामें दीक्षित होने या सेव्यस्वरूपके पुष्ट किये जानेको अनिवार्य नहीं माना गया है. और ऐसा

करनेमें, श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार, न तो धर्माभास न पाषण्ड और न मूढ़ता आदि दोषकी ही कोई संभावना सोची जा सकती है. अत: पू.पा.गोस्वामिओंके ही यहां स्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके लिये भी बाह्य तनुजा या वित्तजा सेवा करनेकी रीति पुष्टिमार्गमें कोई आवश्यक कर्तव्य सिद्ध नहीं होती.

ऐसी स्थितिमें इसे नियत कर्तव्यता दिखलाना अनुयायिजनोंको कुपथपर चलनेको बरगलाना है कि नहीं? भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा का प्रचलित व्यावसायिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें क्या न केवल अनावश्यक है अपितु मूल भगवत्प्राकट्यके सिद्धान्तके भी विपरीत होनेसे वर्जनीय ही होता है या नहीं? (गा कोष्ठकगत श्रीगोपीनाथप्रभुचरणके वचन भी इसके उपोद्बलकतया ही सामने आते हैं. अन्यथा ''**गुरुदत्तां/स्वयं लब्धां**'' का विकल्प या तो अर्थहीन अनुज्ञा सिद्ध होगी या फिर इसका अन्य कुछ अभिप्राय खोजना पड़ेगा. (घ), (ङ) और (च) कोष्ठकगत श्रीहरिरायजीके तीनों वचनोंके आधारपर भी तथाकथित गुरुस्थानीय गोस्वामिवर्गके परार्थ सेव्य भगवत्स्वरूप और अनुयायिजनोंके स्वार्थ सेव्य भगवत्स्वरूपों के बीच किसी भी तरहका तारतम्य तो किसी भी तरह इंगित होता नहीं है.

अत: न तो महाप्रभु, न प्रभुचरण और न श्रीहरिरायजी के ही इन उद्धृत वचनोंको देखनेपर तथाकथित 'शिष्टाचार' या प्रचलित अन्धरूढि की कोई सैद्धान्तिक संगति प्रतीत होती है. सभी भगवत्स्वरूप समान ही हों तो अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको छोड़ कर अन्यत्र दर्शनार्थ भजनार्थ प्रसादग्रहणार्थ अथवा निजद्रव्यविनियोगार्थ भटकना क्यों आवश्यक माना जाता है? ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा सेवित भगवत्स्वरूपोंके दर्शनादि ही जब पुष्टिमार्गमें नियत कर्तव्यतया प्राप्त न होते हों तो ''न स्वैरी स्वैरिणी कुत?'' न्यायेन गोस्वामिसेवित स्वरूपोंके दर्शन मनोरथ भेंट या सामग्री पुष्टिमार्गमें न केवल जलताडनवत् निष्प्रयोजन कृति अपितु मार्गविद्रोह भी क्यों न मान लेने चाहिंये?

फिरभी विगत डेढ़सो-दो-सो वर्षोंमें पनपी ऐसी परम्पराके अनुसार

ऐसा करना अनिवार्यतया माना जाता होनेसे संशय होना स्वाभाविक लगता है.

(पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले मुंबईमें) विमर्शकाराभिनन्दित चि.हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्ष जैसा कि पहले कह आये है इस तरह था :

> ''पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्य स्वरूप पधराया जाता है तो वह स्वार्थप्रतिष्ठा होती है; परन्तु, पुष्टिमार्गीय... गुरु जो सेवा करता है, वो सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ प्रतिष्ठा होती है. अर्थात् परार्थ भी होती है.... (वैसे स्वरूपके यहां परार्थ भी होने पर भी स्वामित्व तो भगवत्स्वरूपपर गोस्वामी गुरुओंका ही होता है, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिय)''. (विस्तृ.विव. पृ.१५९)

(उत्तरपक्ष)

क्योंकि गोस्वामी गुरुओंके मांथे बिराजते स्वरूपोमें कुछ अपवादोंको छोड़कर अवशिष्ट भगवत्स्वरूप प्राय: वैष्णवोके ही मांथे पधराये जानेके हेतु महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये गये थे; अत:, उस भावप्रतिष्ठाको यदि हम अक्षुण्ण मानते हो तो आज भी उन सारेके सारे स्वरूपोंकी स्वार्थ ही भावप्रतिष्ठा स्वीकारनी पड़ेगी. यदि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप गोस्वामिगृहोंमें पुन: पधारनेके कारण स्वार्थ+परार्थ=उभयार्थ बन जाते हों तो वह महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा सम्पन्न उस भावप्रतिष्ठाको निवृत्त करके अथवा निवृत्त किया बिना ही? यदि निवृत्त करके तो वे भगवत्स्वरूप महाप्रभु-प्रभुचरणके निधिस्वरूप नहीं रह जायेंगे! यदि निवृत्त किये बिना तो स्वीकारना पड़ेगा कि महाप्रभु-प्रभुचरणकी तुलनामें उनके वंशजोंका सामर्थ्य अधिक है. क्योंकि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्थापित धर्मको भी हमारे पू.पा.गोस्वामिबन्धु निवृत्त कर सकते हैं(!). ऐसी स्थितिमें, परन्तु, क्योंकि प्रभुचरण अपने छठ्ठे लालजीको श्रीबालकृष्णलाल पधराना चाहते थे एतावता उनमें आज भी षष्ठत्व धर्म अक्षुण्ण माननेकी बात उपपन्न नहीं हो पायेगी!

क्योंकि तीसरे घरमें बिराजनेके कारण सुरतिस्थ श्रीबालकृष्णलालजीमें तृतीयनिधित्व अथवा उपतृतीयनिधित्व ही प्रकट हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें महाप्रभुके कालमें जो श्रीनाथजीके सेवाप्रकारमें मंदिर तथा दर्शन का जो प्रावधान था वह भी अक्षुण्ण नही रह जायेगा. क्योंकि सतघरा (मथुरा) में प्रभुचरणके गृहमें पाट बिराजते ही वह प्रावधान निरस्त हो जायेगा! इसके अलावा श्रीनाथजीकी सेवामें बिना ब्रह्ममसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे बंगालिओंको साक्षात्स्वरूपसेवाका अधिकार था सो शिष्टाचारपरिपाटीके अनुरोधवश आज भी भगवत्सेवाधिकारार्थ पू.पा.गुसांईओंसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्य नहीं रह जायेगी. ऐसी स्थितिमें पू.पा.गुसांईओं और पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके बीच गुरु-शिष्यभाव भी अनिवार्य न रह जानेसे उस सम्बन्धसे वैष्णवद्रव्यांगीकार पुनः किशोरी बाईकी वार्ताविमर्शानुसार अवैध हो जायेगा!

वैसे जहां तक चि. महाकविद्वारा अंगीकृत पक्षोंका प्रश्न है तो उनकी बातें तो प्रायः ग्रन्थावबोधशून्य केवल काव्योत्प्रेक्षासदृश ही होती हैं. इस विषयमें किसी तरहके प्रमाणकी अपेक्षा हो तो चि. महाकविद्वारा विरचित श्रीमद्भागवतभाषालक्षणम् नामक ग्रन्थ, जिसमें ग्रन्थकारके निरंकुशकल्पनाकौशलके प्रदर्शनवश समाधिभाषाका लक्षण घोड़े-गधेमें भी अतिव्याप्त हो रहा है, उसमें स्वयं चि.महाकविके स्वयंके शब्दोंमें पुष्टिभक्त्याधारभूत समर्पणके बारेमें उनकी समझ देखने लायक है--

> **''यद्वा न्यायो अयं भङ्ग्या व्युत्पाद्यते उत्सर्गो नाम दानम्, अर्थात् त्यागः, स्वेच्छया कृतइति. तथाहि जीवात्मा यदा स्वाभिन्नत्वेन देहेन्द्रियदाराऽऽगारपुत्राद्यवच्छेदकम् अहंता-ममता-रूपाविद्यावच्छिनं जीवत्वम् आत्मना सह भगवत्कृपया सर्वात्मभावेन भगवन्तं भजन् तच्चरणारविन्दयोः स्वसर्वस्वम् अन्तःकरणेन समर्पयति निर्गुणपुष्टिमार्गानुरोधात् तदा सएव भगवदनुग्रहैकलभ्य उत्सर्गः इति ज्ञेयम्.''**
> (श्रीम.भाग.भा.ल.पृ.सं.६४)

''ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान्!'' अब क्या

कहना? 'उत्सर्ग' यानि दान और 'दान' यानि समर्पण! वैसे विवक्षित सन्दर्भमें स्वयं 'उत्सर्ग'पद श्रीमहाप्रभुद्वारा तो ''बलवद्बाधकापोद्यत्व'' रूप सामान्यशास्त्रके अभिप्रायवश ही प्रयुक्त है, जहां भङ्ग्यन्तर सोचना भी स्वयंमे एक अकाण्डताण्डव ही है. फिरभी महाप्रभुको अभिलषित अभिप्रायके अनुसार लेनेमें महाकविको अपने बुद्धिकौशलके प्रदर्शनका अवकाश न मिलता हो तो इस पदका औत्सर्गिक अर्थ तो पुनः ''स्वानुयोगिकप्राप्तवस्तुप्रतियोगिकसम्बन्धविरहेच्छा'' रूप त्याग ही होता है. यह त्यागरूप उत्सर्ग, परन्तु, ससम्प्रदानक होनेपर ही दानार्थक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं. क्योंकि दान तो ''**स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपर-स्वत्वोत्पादानानुकूलः 'तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम' इत्यादिशब्दभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः**''रूप होता है, जो प्रत्येक उत्सर्गके उदाहरणमें अनिवार्य नहीं होता. जबकि 'समर्पण'/'निवेदन'पदोंका अर्थ तो ''**तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलव्यापारः 'तुभ्यम् अहं समर्पयामि/निवेदयामि इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः**'' रूप होता है, यह श्रीपुरुषोत्तमजीने नवरत्नविवृतिप्रकाशमें सुस्पष्ट पृथक्करण दिखलाया ही है; फिरभी, महाकविकी मनोवृत्ति ''**शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति... (महाकवयः!)**'' उक्तिकी बरबस याद दिलाती है!

अब भला पूछा जाये कि ''(उत्सर्ग=दान)=समर्पण'' ऐसा समीकरण यहां प्रस्तुत करनेपर ''**दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्**'' (नव.र.प्रका.१) इस प्रभुचरणके वचनकी क्या गति होगी? तो मान कर चलना पड़ेगा कि फिरसे कोई शाखाचंक्रमण करके ''**तटस्थ मध्यस्थके सामने सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता हूं अन्यथा नहीं!**'' ऐसा कुशकाशावलम्बन ही एक गति रह जायेगी! ''**स्वभावो दुरतिक्रमः!**''

''**शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति**'' तो सुना था परन्तु ''**तत्र महाभ्रष्टाः कदाचिद् महाकवयोऽपि भवन्ति**'' तो हमारे महाकविद्वारा ही चरितार्थ हुवा है!

यह तो निश्चय ही महाकल्पनाकौशलकी महासाहसिकताका महाप्रमाण है! अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ महाप्रभु या प्रभुचरण जब ठाकुरजी पधारते थे तो किसी व्यक्ति या परिवार के मांथे ही पधराते थे. इसमें, परन्तु, यह अवधेय है कि श्रीनाथजी और अन्य कुछ ऐसे भगवत्स्वरूप आपने किसी एकके मांथे पधारनेके बजाय देवालयविधिसे पधराये थे. अत: ऐसे भगवत्स्वरूपको सर्वजनोद्धारक माननेकी परिपाटी रही है. इसे ही तन्त्रशास्त्र 'परार्थप्रतिष्ठा' कहते हैं. ऐसे स्वरूपकी सेवाके गोपनकी आवश्यकता भी उपलब्ध नहीं होती. इस परार्थ-स्वार्थके अन्तरका निरूपण सुविशदतया द्वितीय प्रकरणमें हो ही चुका है. अतएव महाप्रभुका ''...**जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पुजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है**'' (८४ वैष्ण.वा.२४।१) विधान भी तो वार्तासाहित्यमें उपलब्ध होता है.

यहां एक शंका उठ सकती है परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयमें भी पुरषोत्तमत्व तथा रसात्मकत्व तो स्वीकारना ही पड़ता हे. अत: वहां भी भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शन करनेसे उसमें रसाभासता ''**गुप्तो ही रसो रसत्वम् आपद्यते--अगुप्तो रसो रसाभास: स्यात्**'' (सुबो. १०।१८।५-१०।५९।४४) वचनोंके बलपर या तो स्वीकारनी पड़ेगी अथवा संगोपनकी अपरिहार्यता स्वीकारनी पड़ेगी. यों दोमेंसे कुछ एक तो स्वीकारना ही पड़ेगा.

यह विभीषिका, परन्तु, षोडशग्रन्थ तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे वितृष्ण लोगोंके लिये कारागार बन सकती है अन्यथा नहीं. क्योंकि सर्वप्रथम तो ''**सेवाकृते: गुरो: आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया**'' (नव.७) वचनके अनुसार वह गुर्वाज्ञाके अनुसरणका कल्प नहीं था परन्तु गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प था. अतएव सुबोधिनीके अनुसार कहना हो तो ''**अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसम् उत्पादयितुं शक्त:**'' (सुबो.१०।२९।१४) रीतिसे भगवान्के अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यका यह कल्प या निदर्शन भी हो सकता है. एतावता अन्यथाकर्तुम् असमर्थ जीवात्माओंको भक्ति जीवात्माओंके सहज

धर्मकी तरह रसशास्त्रीय प्रक्रियाद्वारा निष्पन्न होनेवाला एक स्वतन्त्र रस भी है अत: सो सर्वत्र रसाभास --आजीविकोपार्जनार्थ भगवत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा भक्त्याभास अर्थात् भक्तिके दम्भ या पाषण्ड--=धर्माभासको सदैन्य प्रकट करनेकी या गुर्वाज्ञाके उल्लंघनकी अनुमति दी नहीं जा सकती! क्योंकि गुर्वाज्ञाका अनुसरण औत्सर्गिक कल्प है जबकि गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प आपवादिक कल्प.

यहीं चि.महाकविके कल्पनाकौशलवश प्रकटी भीतिसे एक ऐसी आशंका हृदयमें जाग सकती है कि कहीं यहां भी उसी ''**भङ्ग्यन्तरवशाद् उत्सर्गो=दानं, दानं=समर्पणं**'' कल्पनाकौशलका प्रदर्शन कर गुर्वाज्ञाके औत्सर्गिक कल्पको भगवदाज्ञालब्ध कर्तव्यार्थ उसे देय अर्थात् समर्पणीय कहीं न मान लिया जाय!

वैसे यह एक वास्तविकता है कि आज उस आज्ञासिद्ध अपवादको हम आचारकी दुहाई देकर उत्सर्ग बना-मान कर चल रहे हैं. अतएव पूछा जा रहा है कि सूरदासजीने जैसे अपुष्टिमार्गीय अभक्त बनियाको आग्रहपूर्वक श्रीनाथजीके दर्शन करवाये थे; वैसे ही स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपका भी प्रदर्शन अस्वभक्तोंको क्यों नहीं कराया जा सकता? अपुष्टिमार्गीय दर्शनार्थी, परन्तु, जब कभी यह कहेंगे कि श्रीनाथजीकी सेवामें गैरब्रह्मसम्बन्धी बंगाली भी जब नहा सकते थे तो हम क्यों नहीं नहा सकते? तब क्या जवाब देना? श्रीनाथजीकी निजेच्छावश उस समय अपवादके रूपमें जो कुछ करना पड़ा उसे औत्सर्गिक सिद्धान्तके रूपमें मान्य करनेपर आज हरेकृष्णवाले अमरीकीओंको क्यों सेवामें नहाने नहीं दिया जाता? यदि कहा जाये कि हरेकृष्णवाले अमरीकिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा नहीं होती तथा ''**आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हा: न इतरे. अतो निवेदने भजनाधिकार:... द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत्**'' (नव.विवृ.१) वचनके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके बिना सेवाधिकार सिद्ध नहीं होता होनेसे सेवा नहीं दी जाती. तो मीराबाई जैसे अस्वमार्गीय भक्तको दर्शन करवानेके उदाहरणके आधारपर अस्वमार्गीयके सामने कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य जैसे सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाकी

अनुमतिके उदाहरणके आधारपर अब्रह्मसम्बन्धिओंको प्रदर्श्यमान कृष्णसेवाके व्यवसायमें भेंट-न्योछावर ले कर साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमति क्यों नहीं दी जाती? बंगालिओंको बिना ब्रह्मसम्बन्धके श्रीनाथजीकी साक्षात् सेवाका शिष्टाचार महाप्रभुके समयसे प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी के काल तक तो था ही. उसके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धिबुद्ध्या साक्षात् सेवाकी अनुमति प्रदान करनेमें कोई भी दोष हो नहीं सकता. अत: ब्रह्मसम्बन्धिओंको भी भक्तबुद्ध्या साक्षात् सेवानुमति प्रदान करनेमें कोई दोष, कमसे कम विमर्शकारकी विचारनीतिके अनुसार होना तो नहीं चाहिये (द्र.: विम.पृ.२०५).

बतर्ज पु.सि.सं.शि.चि.महाकवि--

''श्रीनाथजीकी सेवा जो प्रकट करी उसमें मन्दिरसेवा और अब्रह्मसम्बन्धी बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाधिकारका प्रावधान था. उस समय अब्रह्मसम्बन्धिओंके सेवाधिकारको सिद्धान्तत: स्वीकार लिया गया था!''

परन्तु ऐसी छलनाभरी बातोंमें मूल हेतु यही दिखलायी देता है कि वल्लभवंशजत्व पुरुषोत्तमसेवारूपव्यवसायप्रदर्शकत्व देवलकत्व पुरुषोत्तमत्व अपठितत्व अपाठकत्व दोराधागा-ताबीज-मन्त्र-झाडफूंककारित्व प्रसादविक्रेतृत्व व्यावसायिकव्रजयात्रानायकत्व वैदिककर्मयजमानत्व आदि जिन-जिन उपाधिओंसे द्रव्य मिलता हो उसे कथंचित् बटोरते ही रहना हम गोस्वामिओंको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य प्रतीत होता है ! अतएव गो. बालकको भेंट करके व्यावसायिक सार्वजनिक मन्दिर भी चलाया जा सकता है परन्तु गो.बालकसे ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना, गो.बालकसेपुष्ट कराये बिना कोई भगवत्सेवा भी नहीं कर सकता! इस तरहकी स्वार्थपूर्ण नीतिमें कितनी सैद्धान्तिक भक्तिभावना और कितनी व्यापारिक एकाधिकारितासे भरी दुर्मनोवृत्तिवाली द्रव्यलालसा काम कर रही है, यह आजकी तारीखमें कोई गुप्त कथा नहीं रह गई है! अतएव शास्त्री तथा वैष्णव भी अब सार्वजनिक हवेली खोलने लगे हैं. उन मन्दिरोंमें गुरुकी आज्ञाके बिना भी मनोरथ करवाने लगे हैं. गुरुद्वार बिना ही मूर्तिको पुष्ट भी करवाने लगे हैं. भागवतकथाव्यास

भी अब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देने लगे हैं और वैष्णवगण लेने भी लग गये हैं. यह खुल्लम्-खुल्ली उपेक्षा गोस्वामिवर्गकी जो होने लगी है, क्या यह हमारी सिद्धान्तन्ठिाविहीनताके प्रति सर्वथा और सर्वथा उचित ही प्रतिभाव प्रतीत नहीं होता! सिद्धान्तत: यह अनुचित होना चाहिये था परन्तु ''**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि**'' न्यायसे तो उचित ही लगता है.

अतएव ''**तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरे: क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्**'' वचनमें गुरुलक्षणरहित निजवंशजोंद्वारा दी जाती दीक्षाकी या की जाती स्वरूपप्रतिष्ठाकी या सेवाकी आज्ञा आदिकी अपरिहार्यता निरस्त की ही गई है. श्रीपुरुषोत्तमजी भी इस भगवत्सेवामें स्वत:प्रवृत्तिको धर्माभास या मूढता नहीं मानते. विमर्शकार तो अपने-आपको श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुगामीके रूपमें दरसाते हैं. अत: इसे इन्कार भी नहीं पायेंगे, चि. महाकवि तो प्रभुचरणके भी वचनोंके प्रामाण्य मानने भी बंधे हुवे नहीं और न अपने स्वयंके पितृचरणके तो बिचारे श्रीपुरुषोत्तमजीकी तो बिसात ही क्या? यह तो कर्तव्यविचारणाप्रयुक्त निरूपण हुवा.

तत्त्वविचारणाकी दृष्टिसे भी पुरुषोत्तमभजनकी स्वधर्मरूपता व्रजभक्तोंके भावोंके अनुसरणद्वारा ही उपदिष्ट हुयी है. व्रजभक्तोंके रसात्मक भावोंका पात्रस्थानीय अर्थात् आलम्बन विभावात्मक स्वरूप यथायथ अवतारलीलामें कभी शुद्धसत्त्वात्मक वासुदेव व्यूह होता है अथवा कभी लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम.*

उन व्रजभक्तोंके भावोंकी हृदयमें निरन्तर चलती भावनाके कारण श्रीमदाचार्यचरणके हृदयमें भी तद्भावात्मक भगवान् सर्वदा बिराजमान रहते हैं. इन महाप्रभुहृदयस्थितभावात्मक स्वरूपकी हृदयमें भावना करके जब भगवत्मूर्तिके अंगप्रत्यंगमें भावन्यास किया जाता है तब वह भगवन्मूर्ति उस भावकी पात्रस्थानीय आलंबनविभाव बनती है. उसमें साक्षात् रसात्मक पुरुषोत्तमकी भावना रखते हुवे जब शृंगारादि सेवा और सेवाके अनवसरमें व्रजलीलाके अनुभावन द्वारा सेवा-स्मरण करनेवालाका भाव बंधना शुरु होता है. तब वह भगवत्स्वरूप सेवा-स्मरण करनेवाले भक्तके भी बाह्याभ्यन्तरमें

आलम्बनविभावात्मक तथा स्थायिभावात्मक स्वरूप धारण कर विभिन्न रसानुभावोंको प्रकट करने लग जाता है. अर्थात् सेवा-स्मरणकर्ताको भगवान् उसके भावोंसे भावित होते हुवे निजनिरुद्ध बना लेते हैं. इसीका निरूपण श्रीहरिरायचरणने **''भक्तिमार्गे स्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्'** (स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार).

इस ग्रन्थके प्रारम्भकी भी कुछ कारिकायें, अतएव, इस विषयपर प्रकाश डालती हैं :

प्रार्थयित्वा निजाचार्यान् ध्यात्वा तद्हृदयस्थितम् ।
भावात्मकं प्रभो रूपं सर्वलीलायुतं सदा ।।
.....।
रक्षामिषेण विहितं भावात्मस्थापनं प्रभौ ।।

*द्रष्टव्य : **''ननु प्रभोः रसात्मनः आलम्बनाभावे कथं प्राकट्यः सम्भवः इति चेद् वासुदेवव्यूहस्य शुद्धसत्त्वात्मकस्य अत्र प्रकटितस्य तत्स्थानियत्वात्''** (भगवत्प्रादुर्भावसिद्धान्तः)

स्वाचार्यसंश्रितैः तद्वन् मूर्तावपि हरिस्थितिः ।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः भक्तिमार्गप्रकारतः ।।
'तत्र च स्थित'मित्यादि स भावात्मा हरिः स्मृतः ।

(स्व.मा.स्वरू.स्थाप.प्रका.५-९)

अतएव जबतक कोई व्रजभक्तोंके तथा महाप्रभुके भावात्मक प्रभुको निजभावनासे भावित नहीं कर पाता तब तक भगवन्मूर्ति न्यूनातिन्यून भगवदाकारविशिष्ट ब्रह्मसदंश केवल होती है अथवा अधिकमें अधिक सच्चिदानन्दात्मक पूर्णपुरुषोत्तम भक्तिभावालम्बनरूप पात्रस्थानीय भगवन्मूर्ति. वह रसात्मक पुष्टिपुरुषोत्तमतया प्रकट तो किसी व्यक्तिविशेषकी व्रजभावो तथा पुष्टिमार्गीय भावोंकी भावनासे भावित होनेपर ही हो पाती है.

यहां **''मल्लानामशनि''** (भाग.१०।४३।१८) न्यायानुसार तत्तद्

दर्शनार्थिओंके तत्तद् भावानुरोधवश तत्तद्रसात्मिका भगवन्मूर्तिके दर्शनका कल्प परार्थ देवालस्थ भगवत्स्वरूपके बारेमें सोचा जा सकता है, ''**कृत्वा तावन्तम् आत्मानम्**'' (भाग.१०।३०।२०) न्यायानुसार स्वगृहाधिष्ठित स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके सेवनका कल्प समजना चाहिये. ऐसे स्वगृहाधिष्ठित रसात्मक स्वरूपकी रसात्मकलीलानुभावनात्मक भजन यदि सर्वजनतामें प्रदर्शनार्थ हो तो सर्वत्र परार्थ देवालय ही होनेमें बुराई क्या थी? प्रत्येक वैष्णव मोहल्ला गांव नगरमें एक-एक सार्वजनिक परार्थ पुष्टिमार्गीय देवालयमें '**मल्लानामशनि**''न्यायसे अपने-अपने घरसे आकर गोस्वामी भी सेवा क्यों नहीं कर लेते, जैसे दर्शनार्थी वैष्णव जनतासे वे अपने अर्थसंचयकी दुर्लालसावश अपेक्षा रखते हैं? इसमें आपत्ति हम क्या गोस्वामिओंको क्या हो सकती है? रोजी-रोटीके सवालका तो हल ऐसे परार्थ देवालयोंमें पौराहित्यकी दक्षिणासे भी हो ही सकता था! इसमें देवलकताके कलंकसे भी बचा जा सकता था!

अत: सिद्ध होता है कि स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप अस्वीय भक्तोंके समक्ष तो अप्रदर्शनीय ही होता है. अन्यथा रसाभासताका दोष दुरुद्धर ही रहेगा. ''**कृत्वा तावन्तमात्मानं**''कल्पमें प्रत्येक कुमारिकाद्वारा व्यक्तिश: अनुष्ठित व्रत एवं प्रार्थना को तावद्भावापत्तिमें निमित्त माना गया है. यदि प्रत्येकको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दिलवायी जाती है उसे कुमारिकाओंके व्रतस्थानीय मानें तो तावद्भावापन्न प्रभुके स्वरूप ही सेवनीय होते हैं. तब अन्यके समक्ष प्रदर्शनका प्रश्न कैसे उठ सकता है? ''**यूथाधिपतियूथ**''न्यायके अनुसार स्वयूथके अर्थात् स्वीयभक्तोकों ही अपनी सेवाके दर्शनानुष्ठानमें परिचारक सहभागी बनाया जा सकता है.

विमर्शकार कहते है -

''स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ कर अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये ऐसा यदि उस 'अपने श्रीठाकुरजीके दरसन अन्यामार्गीकों न करावने' भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है तो प्रश्न आता है कि

मीराबाईको श्रीनाथजीका दर्शन श्रीगुसांईजीने कैसे कराया? गोविन्ददास खवासको नामनिवेदनके पूर्व श्रीगुसांईजीने दर्शन कैसे कराया? सूरदासजीने उस बनियाको श्रीनाथजीका दरसन कैसे कराया? अत: 'स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये' यह भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है ऐसा नहीं स्वीकारा जा सकता अपितु 'जो भगवद्भक्त नहीं हैं ऐसे अन्यमार्गीयोंको भगवद्भक्त ये नहीं है यह जानते हुवे बुद्धिपूर्वक भगवान्का दर्शन कराना निषिद्ध है' इतना ही इस वाक्यका तात्पर्यार्थ है. यह स्वीकारना पड़ता है. उज्जैनिके पास रहनेवाली ब्राह्मणीने वह शाक्त भगवान्का दर्शन करना चाहता है तो भगवद्भक्त ही होगा यह समझ कर यदि उसे भगवान्का दर्शन कराया होता तो कृष्णभट्ट यह न कहते कि 'हमारे श्रीठाकुरजी बनजव्यापार करत नाहीं जो ऐसे लोगन्कों दिखाइये... ओर वे लोग ऐसी भांति वैष्णव जानि अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी' इस वाक्यका तात्पर्यार्थ यह है कि भगवद्भक्त यदि होगा तो वह भक्तिभावसे प्रभुका दर्शन करेगा और उसमें अपना अहोभाग्य समझेगा. अपने उपर दर्शन करनेवालेने अनुग्रह किया यह समझेगा. अभक्त जब भगवान्का दर्शन करने जाता है तब वह जिस प्रकार संग्रहालय (म्यजिअम्)में रखी हुई वस्तुको देखने लोग जाते हैं उसी प्रकार केवल भगवान्की मूर्ति (स्वरूप)को देखने जाता है.'' (विम.पृ.२०५)

प्रश्न तो इस कुविमर्शको पढ़ कर अनेक मेरे मनमें भी उठ रहें हैं कि हम पू.पा.गोस्वामी जब अपनी व्यावसायिक सेवाका प्रदर्शन अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन खोल कर कराते हैं तब क्या इतनी भी सावधानी बरतते हैं? उज्जयनीकी ब्राह्मणीसे तो उस शाक्त अफसरने स्वयं दर्शन करानेको कहा था, तभी उस बेचारी ब्राह्मणीने दर्शन कराये थे! क्योंकि दर्शनकी मना करनेपर अपनी आयके एकमात्र स्रोतरूप अपने खेतके नाप-जोखमें वह शाक्त

अफसर कोई गड़बड़ी न कर दे! इस तरह हमें भी कोई सरकारी अफसर हमारी समृद्धि हमारे भगवत्सेवाव्यवसायके कारण जुटी है या कोई अवैध स्मगलिंग् आदि उपायोंके द्वारा ऐसा जाननेके हेतुवश दर्शन करानेको कहे तब तो हम भी दशून करा दें तो वह क्षम्य हो सकता था. अन्यथा अकारण क्यों दर्शन कराने चाहिंये? यदि दर्शनार्थीके उद्धारार्थ करा सकते हैं तो उस ब्राह्मणीने भी ऐसी भावनाके वश न कराये हों, इसमे प्रमाण क्या? स्वयं अपनी ओरसे चला कर अपने पेट भरनेको हम पू.पा.गोस्वामिओंकी तरह पेंफ्लेट्स् छपा कर, अखबारोंमें विज्ञापन प्रकाशित करवा कर; अथवा, समाधानी भेज कर तो शाक्त अफसरको दर्शनार्थ आनेको ब्राह्मणीने ललचाया नहीं था. हर सूरतमे कमसे कम 'विमर्श' सदृश ग्रन्थ प्रकाशित कर अपनी वित्तैषणा और लोकैषणा को सिद्धान्त होनेका मुखोटा तो उस बेचारी ब्राह्मणीने सर्वथा नहीं पहनाया था. तिसपर भी कृष्णभट्टने उसे यह कह दिया **''हमारे श्रीठाकुरजी बनज-व्यौपार करत नाहीं हैं जो ऐसे लोगन्को दिखाइये. और वे लोग वैष्णव जानी अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी!''** तो हमारे बारेमें कृष्णभट्ट यदि आज कुछ कहते तो क्या कहते यह सोच कर दिल आत्मग्लानि दहलने लगता है!

अत: सहज सम्भव लगता है कि दर्शन करानेकी मना करनेपर वह शाक्त अफसर नाराज हो कर उसके खेतका गलत नापजोख कर किसी दूसरेकी भूमितया उसके खेतको रजिस्टरमें चढा देता, इसी भीतिके वश वह बेचारी दर्शन करानेको इन्कार कर देनेकी हिम्मत जुटा नहीं पायी होगी! उस बेचारी ब्राह्मणीके पास आत्मनिर्वाहके साथ-साथ अपनी भगवत्सेवाके भी निर्वाहार्थ अन्य कोई आयके स्रोत भी तो थे नहीं.

न तो छप्पनभोग, न व्रजयात्रा, न सोमयागकी ईंटोकी बोली बुलवा कर; और, न नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा और मनोरथोंकी झांकियों में अपने ठाकुरजीके दर्शन खोलनेसे मिलती सन्मुंखभेंट, फूलघरमें, पानघरमें, शाकघरमें, गौशालामें घास-लापसीकी भेंट, भंडारमें इकट्ठी होती आटा -बेसन-दाल-घी-शक्कर-नमक-हलदी-हींग-मसालाकी सामग्रीभेंट

स्वीकारनेके जैसे आयके कोई जघन्यतम गर्हित स्रोत तो उस बेचारी ब्राह्मणीके पास निश्चित ही नहीं होंगे! न वह अपने ठाकुरजीको धरे भोगका विक्रय ही करनेका पातक कर्म करती होगी. उसके पास तो केवल अपना खेतभर रहा होगा. जबकि हमारे अनेकानेक आयस्रोतोमें तो हमारे ठाकुरजीके नित्य उत्सव तथा मनोरथों के दर्शनार्थ आनेवाली जनताकी भीड़ तथा धनिक मनोरथी बनियोंसे मिलती स्वयं हमारी चरणभेंटके अलावा जन्मदिन यज्ञोपवीत विवाह प्रस्ताव पवित्राबारस दान आदिके समय मिलती भेंटके अलावा वैष्णवोंको दीक्षा, विवाहके समय आशीर्वाद, उनके घरपर पधरामणी, उन्हें ठाकुरजी पधरानेकी, उनके ठाकुरजीको पुनः अपनी ग्वालमंडलीमें पधरानेकी, वैष्णवोंकी मृत्युके समय काढ़ी भेंट*, हमारे नित्यलीलामें प्रविष्ट होनेपर कडवाकी भेंट, पुरुषोत्तम(!)लीलाकी भेंट, विमर्शके दो भाग प्रकाशित करानेको ली गयी अग्रिम रु.४०+४०/- की भेंट आदि कितने सारे आयस्रोतोंके बावजूद हम इतनी सी सावधानी भी लेना आवश्यक नहीं समझते कि कहीं म्युजिअमें रखी मूर्तिओंकी तरह हमारे ठाकुरजीको भी ताकने-झांकने तो कोई हमारे व्यावसायिक मन्दिरोंमें घुस तो नहीं रहा! प्रत्युत ऐसे निर्बाध प्रवेशकी वकालत और कर रहे हैं कि ''जो दर्शन करने आ रहा है वह भक्त ही होगा'' ऐसी सतयुगी आश्वस्तता! किं विगर्ह्यमतः परम्!

(*जिसकी लालसावश श्रीबालकृष्णलालजीके छठ्ठे निधि होनेका मिथ्या दावा आौर तन्मूलक षष्ठपीठाधीश होनेका कलह न केवल श्रीयदुनाथजीके वास्तविक घरवाले उनके वंशजोंके साथ छेड़ रखा है बल्कि अबतो स्वयं विमर्शकार भाईओंमें भी परस्पर हाथापायी और मारामारी के वृत्तान्त आये दिन पुलिसथानेमें दर्ज होते हैं और अखबारोंमें एकदूसरेके विरुद्ध बयानबाजी देनी पड़ रही है!)

विमर्शकार सारी भक्तिमार्गीय लज्जाको ताकपर चढ़ा कर विमर्शमें ही स्वयं यह विधान तो कर ही चुके हैं कि--

> ''**अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यके लिये पूजन करनेमें दोष नहीं है. वे वैष्णव वेतनके लिये देवकी पूजा न करें परन्तु रक्षा एवं पोषण के बिना देवकी पूजा न करें... वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं** (यहां गुरुशिष्यके नियकी

अनिवार्यता क्यों भुला दी गयी?) **अपितु वेतनार्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध** (षष्ठपीठ और उससे जुड़े मन्दिरोंमें जो मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन भवत्सेवा करती है वह बिना ही वेतनके सम्भवतः कर रही होगी! ऐसा परन्तु लगता तो नहीं!!) **है.''**

(विम.पृ.४५)

सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यहां यह है कि व्यावसायिक भगवन्मन्दिरोंको चलानेके दुष्कर्मके परिपाकतया वर्तमान सरकारने जो हमारे सेवास्थलोंको पब्लिकट्रस्टतया घोषित किया है अथवा निजी रखनेपर कराधानोंसे मुक्ति नहीं मिलती ऐसी विभीषिका खड़ी की है उससे डर कर केवल सम्पत्तिमात्रकी सुरक्षाके हेतु कितनी अधिक दुर्मनोवृत्तिके विवश स्वयं हमने चला कर अपने घरोंको पब्लिकट्रस्टतया घोषित या रजिस्टर करवा दिया है, उसकी भी वकालत करनेको स्वधर्माभिमानकी सारी मर्यादाओंका उल्लंघन करते हुवे विमर्शकार कहते हैं-

''संकटकालीन वयवस्थाके रूपमें (जहां) ट्रस्टका बाह्यस्वरूप मात्र वहां ीदया गया हो (वहां) वस्तुतः ट्रस्ट (होता) है ही नहीं. भले ही ट्रस्टका लेखन क्यों न कर दिया हो... यहां यह विचारणीय है कि भगवत्सेवापयुक्त सम्पत्तिके संरक्षणार्थ जहां ट्रस्टका स्थापक बाह्यरूपमें ट्रस्टकी रचना करे तथा मनसे ट्रस्टकी स्थापना न करे ऐसे स्थलमें ट्रस्टके स्थापकको अनृतभाषणका लगेगा या नहीं? जब 'स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे गवमर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' इन कार्योंके लिए अनृतभाषणोको दोषावह नहीं माना जाता है तो भगवत्सेवार्थ आवश्यक होनेपर वैसी लौकिक युक्ति किसीने की हो तो .से दोषदृष्टिसे नहीं देखा जा सकता.''

(विम.पृ.६६)

ऐसे स्थितिमें उज्जयनीकी ब्राह्मणीने भी वृत्त्यर्थ अथवा

भगवत्सेवोपयोगी सम्पत्तिके संरक्षणकी ही केवल भावनासे दर्शन करा भी दिये हों तो हम पू.पा.गुसांईओंकी तुलनामें तो वह अधिक क्षम्य लगती है! यदि कहा जाये कि उसके यहांसे ठाकुरजी तिरोहित हो गये जबकि हमारे यहां तो बिराज रहे हैं, अत: उसकी अधिक अक्षम्यता फलबलकल्प्या है और हमारी क्षम्यता भी तो यह भी सोचा जा सकता है कि उसके अपराध प्रभुने बुरा माना इतना उस ब्राह्मणीको प्रभु अपना समझते होंगे जबकि हमारे अपराध प्रभुको बुरा ही नहीं लगता होगा क्योंकि हमें प्रभु सर्वथा प्रवाही या दुर्ज्ञ आसुरी जीव ही मानते होंगे ! मथुरास्थित श्रीकृष्णजन्मभूमिस्थित भगवद्विग्रहभञ्जक महममद गजनवीके द्वारा खण्डित किये जानेपर भगवद्विग्रह खण्डित हो गया तद्वत् !

स्वयं विमर्शकारने श्रीमत्प्रभुचरणके पत्रमेंसे ''**अन्यच्च यवनादयो भगवद्द्वारे आगच्छन्ति, तदा यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यं यद्यपि हार्दं न भवति तथापि बाह्यतोऽपि कार्यम्**'' (विम.पृ.६७) यह जो वाक्यांश उद्धृत किया है उसके आधारपर ही उस ब्राह्मणीने भी दर्शन कराये होंगे ऐसा क्यों विमर्शकार नहीं कह पाते? अस्वमार्गीयताके रूपमें, यवन अफसर और शाक्त अफसर के बीच अन्तर क्या हो सकता है? अत: सिद्ध होता है कि भगवत्स्वरूपसेवाके निर्विघ्ननिर्वाहार्थ सरकारी अफसरोंको निरीक्षणार्थ आने देना दर्शन करने देना दोषरूप न होनेपर भी उनसे सम्पत्तिकी सुरक्षा या प्राप्ति के हेतु दर्शन कराना अवश्य दोषरूप होता होगा.

ऐसी स्थितिमें चला कर अपनी ओरसे गामको आमंत्रित करना और फिर आमंत्रितोंमें कौन भक्तिभावश दर्शन करने घुस रहा है और कौन म्युजिअमकी तरह हमारे घरोंमें भी अनुष्ठीयमान भगवदाराधनको केवल कौतुकवश ताक-झांक करने आ रहा है उसकी भी लेशमात्र सावधानी या विवेक रखे बिना, जो घुस रहा है वह भगवदीय होगा ऐसे सोच लेना ''**प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मतसरणां सताम्**'' (भाग.पुरा.१।१।२) भागवतधर्मके बजाय हमारे घरोंमें कैतवपूर्ण भक्तिके नग्नताण्डवकी गवाही क्या नहीं देता?

अपने आराध्यके दर्शन कराते रहनेसे अपने ठाकुरजीकी सेवाके लिये विविध नामोंको घड़कर द्रव्य ऐंठना तो शुद्धदेवलकता नहीं तो और क्या हो सकती है? सेवार्थ आजीविका और देवलकता आदिकी विस्तृत मींमासा तो अपनी विशोधनिकाके प्रथम और द्वितीय भागोंमें हम कर ही चुके हैं. यद्यपि विमर्शकारको भेंटके रूपमें जब वे पुस्तिकायें भेजी थी तब विमर्शकारने रुष्ट हो कर कहा था कि ''हम भी विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन प्रकाशित करवा देंगे'' परन्तु मेरे दुर्भाग्यवश वह या तो लिखी ही नहीं जा सकी है या प्रकाशित नहीं हो पायी! वैसे प्रकाशनार्थ मेरे सहयोगकी अपेक्षा हो तो विमर्शकार नि:संकोच मुझे सूचित करें उसे प्रकाशित करानेको जो भी सहयोग मुझसे बन पड़ेगा देनेके लिये सदा सन्नद्ध हूं. एक बार परीक्षा ही ले कर क्यों देख नहीं लेते! मैं अतीव उनका उपकृत होउंगा! अपनी अशुद्धि समझ आनेपर स्वीकारने भी सदा सन्नद्ध हूं, इतना तो अपनी ओरसे आश्वासन देता ही हूं!

अस्तु, यदि हम पू.पा.गुसांई लोग धर्मनिरपेक्ष सरकारको बेवकूफ बनानेको निजीको सार्वजनिकतया घोषित एवं सरकारी विभागोंमें दर्ज करानेपर भी झूंट बोलनेके दोषी नहीं होते तो उस उज्जयनीकी बांह्मणीने भी झूंटे ही उसकी प्रशंसा न की हो ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिये? उसके पक्षमें एक प्रबल अन्यथानुपपत्ति यह भी सोची जा सकती है कि उसे तो श्रीनाथजीके वस्त्रोंकी सेवामात्र करनेसे **''सो वह बाई अति प्रीतिसों श्रीनाथजीकी सेवा करती... तब वा बाईसों श्रीनाथजी सानुभावता जनावन लागे त्यों-त्यों वह बाई मन लगायके सेवा करन लागी. पाछें वा बाईसों श्रीनाथजी प्रत्यच्छ बात करन लागे. वा बाईके पासतें जो वस्तु चहिये सो मांगि लैन लागे!''** (२५२ वैष्ण.वा.३८।१) इतनी उच्चाधिकारिता निरूपित हुयी है. मुझे नहीं लगता ग्रामोद्धारार्थ भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन करनेवाले हम पू.पा.गुसांईओंसे हमारे साक्षाात् सेव्यस्वरूप कभी सानुभाव जता कर ऐसी प्रसन्नतासे हमारी सेवा स्वीकारते हों.

निष्कर्षतया विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीगोकुलनाथजीके तीनों वचनामृतोंमें लीलाभाव[क], शरण-निवेदन-भक्ति-मार्गीय मन्त्रों[ख],

भगवत्सेवा[ग] तथा निजधर्म[घ] आदि अनेक बातोंके गोपनकी आज्ञा दे रहे हैं, उन सभी आज्ञाओंको अभिहितार्थ प्रमाण माननेके बजाय लक्षितार्थ या गौणार्थ के अभिप्रायान्तरोंसे उनकी अन्यथाव्याख्या करना तो महाप्रभुकी शास्त्रव्याख्याननीतिके सर्वथा विपरीत ही है. यथा--

> (१) लीलाको भाव[क] अन्यमार्गीयकों तथा पात्र बिना न कहेनो. पुष्टिमार्गमें अनन्य होय ताकों मिलिके निवेदन[ख]को तथा अष्टाक्षर-पञ्चाक्षर[ख] तिनकों प्रकाश जहां-तहां पात्र बिना न करनो. (११)
>
> (२) भगवत्सेवा(ग) है सो गोप्य है सो काहूकों जतावे नहीं. जो सेवा प्रकट करि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ताको 'पाखंडी' कहिये सो ताकि सेवामें कछु पुष्टिमार्गको फल नाहीं. और पाखंड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवें सो लौकिक आवेशतें बहिर्मुख होय. और सेवामें प्रतिबंध परे. सो जब लोभ छूटे तब पाखंड न होय... तातें सेवा थोरी ही करे यथाशक्ति करे. ताको कछु बाधक नाहीं. सो थोरे ही भगवद्धर्मसों वाके सघरे कार्य सिद्ध होय जाय और बहुत करे और पाखंड सहित होय तो भगवद्धर्म न बढ़े. तातें अलौकिक रीतसों सेवा करे सो श्रीठाकुरजीके जानिवेसूं कार्य सिद्ध होयगे जो लोगन्के जानेतें कछु सिद्ध होय नहीं.''(२२)
>
> (३) और पुष्टिमार्गमें शरण आवे ताकों अपनो सु(स्व)जाति जाननो. शरण बिना विजाति जानिए उनसों अपनो धर्म[घ] गोप्य राखे.''(२४)

विमर्शकार कहते हैं इन वचनोंका अर्थ भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा के प्रदर्शननिषेधके रूपमें लेनेके बजाय ''**अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवत्सेवाका प्रचार नहीं करना चाहिये. अर्थात् अपनी प्रतिष्ठा हो इसकेलिए**

लोगोंको यह कहना कि 'हमारे यहां ऐसी भगवत्सेवा होती है' यह सब ठीक नहीं. अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं अपितु (!? सम्भवत: 'किन्तु' पद होना चाहिये था! 'अन्यथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़े और दूसरोंका उद्धार भी हो जाये' ऐसे हृद्गत निगूढ़ अभिप्रायका रहस्य यहीं प्रकट हो जायेगा! महान् मनोविद् फ्रॉयड् ऐसी त्रुटिओंकी मनोमीमांसा अचेतनमन या बीजभाव का सचेतनमनद्वारा सम्पन्न होते विचार और वाणी के साथ किये जाते खिलवाड़के रूपमें करते हैं. गो.श्या.म.) **लोगोंका उद्धार हो इसकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित है''** (विम.पृ.सं.२००)

हम, परन्तु, इस सन्दर्भमें विमर्शकारका ध्यान छट्ठे वचनामृतपर आकृष्ट करना चाहेंगे कि जहा श्रीगोकुलनाथजी सुस्पष्ट शब्दोमें **''सेवा, भगवत्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. और काहुकों दिखायवेके अर्थ, पूजार्थ, उद्धारार्थ न करे. अपनो सहजधर्म जानें जैसे ब्राह्मण गायत्री जपे** (वैसे हम गुसांईबालक तो वह भी वैष्णवोंके सामने करना ही पसन्द करते हैं!) **यथालाभसन्तोषसूं सेवा करे... और पाखंडकी पूजा–सेवा प्रभु अंगीकार न करें''**(वचनामृत : ६)

सुस्पष्टतम शब्दोंमें श्रीगोकुलनाथजी यहां दिखानेकेलिये की जाती सेवाकी तरह उद्धारार्थ की जाती सेवा को पाखंडतया गिना दिया है.

वैसे विमर्शकारकी व्याख्यानीतिका अनुसरण करनेपर कल कोई ऐसा भी अर्थ कर ही सकेगा : ''फलार्थ भोगार्थ अथवा प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यर्थ भगवत्सेवाका पाषण्ड भी अहंकारपूर्वक नहीं करना चाहिये परन्तु 'चित्तेन दुष्टो वचसापि दुष्ट: कायेन दुष्ट: क्रिययापि दुष्ट: ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराध: कतितधा विचार्य' का दैन्यभाव रखते हुवे भगवत्सेवाका पाखंड करना भी दोषरूप नहीं माना जा सकता है. क्योंकि अन्यथा ऐसे दैन्यभावोद्बोधक श्लोककर्तापर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा! एतावता सिद्ध होता है श्लोककर्ता यदि मिथ्याभाषी नहीं हो सकते तो सकल शिष्टोंमें भी ऐसे दोष तो थे ही. सो दोष होना दोष नहीं परन्तु हृदयमें दैन्य न होना दोषरूप होता है!''

अत: यह सिद्ध होता है कि 'विमर्श' **''स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्यर्थं प्राणसंकटे गवामर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याद् जुगुप्सितम्''** (द्र.विम.पृ.सं.१६७) श्लोकानुप्रेरित हो कर वृत्त्यर्थ गवांस्वाम्यर्थ वित्तसंग्रहको प्राणोपम पवित्र मान कर प्राणसंकटनिवृत्त्यर्थ अजुगुप्सितया अभीष्ट अनृतभाषणात्मक लेखन ही है. अस्तु.

संग्रहकारिका

भावात्मको हि भगवान् भावो भगवदात्मकः ।।
स्वीयानां धर्मरूपोऽपि ''भजनीयो व्रजाधिपः''।।१।।
श्रीमदाचार्यवचनाद् गोप्याश्चैते त्रयः सदा ।।
रसात्मकतया पुष्टौ स्याद्रसाभासतान्यथा ।।२।।
तस्माद्रसत्वे गोप्यत्वापत्तिरस्ति दुरुद्धरा ।।
नोचेद्रसाभासतैव प्रदर्शनकृता भवेत् ।।३।।

किञ्च

अंगीकृतातु भावस्य गोप्यता रसतापि च ।।
धर्मस्य धर्मिणो वापि तथात्वे द्वेषिता कुतः ?।।४।।
''एकत्र तु विनिर्णीतः शास्त्रार्थोऽसति बाधके ।।
युज्यते हीतरत्रापि'' न्यायबाधो नवा कुतः ?।।५।।

तस्माद्

रसरूपे भक्तिमार्गे रसाभासप्रदर्शकान् ।।
दुर्ज्ञान् देवलकान् धिक् तान्[२] धिक तान् धिगेव तान् ।।६।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गतसंकलित विषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क) भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति एतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः. गोपनने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी. एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिः आविष्करणं भवति, प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम् (अणुभा.३।४।४९).

(क) भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोंकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोंका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभा.४।४।४९).

(ख) **स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्** (साध.दीपि.१०८).

(ख) जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिंये. (साध.दीपि.१०८).

(ग) ३८तमो अपराधो=गुरुदैवतयो: गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वयोनित्रयम्. ११अपराधो = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं= वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्. ३६ तमो अपराधो= भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं =पञ्च-गुणितनैवेद्य-दानम्. ३५ तमो अपराधो= गुर्वाज्ञोल्ल-ङ्घनम्. फलम्=असिपत्रादिघोर-नरक-पात:. प्रायश्चित्तं = वैष्णव-गुरु-प्रसादनम्.

(श्रीहरिराय-विरचिता: षट्षष्ठिरपराधा: तत्फलानि प्रायश्चित्तानि च).

(ग) ३८ वां अपराध : गुरु या दैवत (=श्रीठाकुरजीसे सम्बन्धी बातों)के गुप्त-रहस्य-को प्रकट करना. फल : तीन जन्मों तक श्वानयोनि. ११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराना. ३६वां अपराध : श्रीठाकुरजीके नामसे (भेंट, सामग्री या न्योछावर)मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांच गुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं के समर्पण!) करना. ३५ वां अपराध : गुरु-श्रीमहाप्रभु आदि-की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल : 'असिपत्रा'दि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित : वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.विर.षट्)

(संशय)

इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थकी मीमांसामें सर्वप्रथम संशय यह उठता है कि [१]अप्रदर्शनार्ह अर्थात् संगोपनीय केवल भक्त या भक्त्यर्थी सेवाकर्ताके भगवद् विषयकभाव ही होते हैं या [२]सेव्य भगवत्स्वरुप एवं

भगवत्सेवा भी? भगवद्भावकी तरह सेव्य भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के भी संगोपनीय होनेपर क्या [२/क]'अस्वीयत्व+अभयक्तत्व+अवैष्णवत्व' तीनों ही एक साथ जिसमें हो ऐसे व्यक्तिसे गोपनीय होते हैं अथवा [२/ख]'अस्वीयत्व /अभक्तत्व/अवैष्णवत्व' तीनोंमेंसे कोई एक भी जिसमें हो उससे संगोपनीय होते हैं? अथवा [२/ग]न अस्वीयसे न अभक्तसे अथवा न अवैष्णव से ही किन्तु जिस व्यक्तिके बारेमें हमारी धारणा उसके अस्वीय–अभक्त–अवैष्व होनेकी हो, उसे केवल दर्शन नहीं कराये जा सकते हैं? वैसे तो इस तीसरे कल्पमें भी पूर्वोक्त कल्पोंकी दोनों कोटियोंके विन्यासके कारण पुन: संशयघटक दो अवान्तर कोटियां उभर सकती हैं.

फिरभी संशयघटक इतनी सारी कोटियोंके रहते विमर्शकारने [१]केवल भावको ही संगोपनीय माना है, भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा को नहीं. 'स्वीय', 'भक्त' एवं 'अवैष्णव' पदोंकी 'स्वीयत्वबुद्धि', 'भक्तत्वबुद्धि' एवं 'अवैष्णवत्वबुद्धि' रूपी अर्थोंमें लक्षणा मान कर उन्हें प्रदर्शनानुकूल दर्शनाधिकारिता या अनधिकारिता का अवच्छेदक माना है.

व्यामोहिका भाषाका प्रयोग तो विमर्शकारका विभावानुभाव–संचारिभावनिष्पन्न स्थायिभाव होनेके कारण यदि इस पूर्वपक्षके निरूपणमें मुझसे कुछ निर्मूल निरूपण हो रहा हो तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे. यह बुद्धिपूर्वक अन्यथाव्याख्यान नहीं है परन्तु यथावभात व्याख्यान है. मैंने अपनी ओरसे केवल पूर्वपक्षके उट्टंकनका प्रयास किया है, फिरभी संशयकी तीसरी कोटिके अन्तर्गत अवान्तर कोटियां कौनसी विमर्शकारको अभिप्रेत होनी चाहिये, यह अपने नैसर्गिक बुद्धिसामर्थ्यसे निर्धारित नहीं कर पाया हूं.

इस स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि संशयकी अनेक कोटियोंमेंसे विमर्शकारद्वारा इंगित दिशामें ही अग्रसर हो कर पूर्वपक्षकी जो कोटि उभरती हो .सके समाधानार्थ प्रयास करना चाहिये. अन्यथा अनुक्तोपालंभनकी त्रुटि हो सकती है. अत: अन्य कोटियोंकी हम उपेक्षा करना चाहेंगे.

(पूर्वपक्ष)

अत: सर्वप्रथम विमर्शकारद्वारा निरूपित मुख्य कोटि कि केवल भगवद्भाव ही संगोपनीय होता है भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा नहीं, इसे विमर्शकारके शब्दोंमे ही देख लेना उचित होगा :

> **''यहां ...आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव (भगवद्विषयिणी रति) रसात्मक है. गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है. अत: भगवद्भावको आश्रमधर्मोंद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुए भगवत्सेवा करनी चाहिये, इस आशयसे आश्रमधर्म करने हेतु कहे गये हैं. अन्त:करणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरहदशामें होता नहीं. अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है. उस समय आश्रमधर्मोंद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं. विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्ति होनेसे नवधाभक्ति–भक्तधर्मोंद्वारा आश्रमधर्मोंका बाध विरहीमें हो जाता है. ...एवंच यहांपर आश्रमधर्मोंद्वारा अपने भगवद्भावको लोकमें छिपानेकी बात कही जा रही है नकि भगवद्दर्शन न करानेकी बात कही जा रही है. यह सिद्ध होता है.** (विम.पृ.सं.७५–७६)

(उत्तरपक्ष)

(क)

महती लज्जाका विषय है कि निरन्तर सुबोधिन्यादि ग्रन्थोंके अवगाहनशील एक मान्य वृद्ध व्यक्ति 'पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज' का नाम इस ग्रन्थके कर्ताके रूपमें प्रचारित किया जा रहा है. कभी तो यह अपने पितामहके बारेमें पौत्रोंके निगूढ़ द्वेषका एक प्रबल प्रमाण लगता है कि इस पराकाष्ठापन्न विचारहीन विधानके कर्ताके रूपमें उन्हें व्यर्थ बदनाम किया जा रहा है!

(१) सर्वप्रथम तो भगवद्भाव रसात्मक होता है, भगवान् भी रसात्मक होते हैं तथा सेवा भी भावात्मिका-रसात्मिका होती है तो ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थ: असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्याय यहां क्यों विस्मृत कर दिया गया है? इसका क्या कारण हो सकता है, यह समझमें नहीं आता है.

(२) यदि ''गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है'' नियम विमर्शकारको मान्य हो तो या तो सेव्य भगवत्स्वरूप एवं उनकी सेवा को अरसात्मक या रसाभासात्मक माने बिना उनके भी अगुप्त रहनेपर अर्थात् प्रकट करनेपर तनुजा-वित्तजाके तदैकप्रवणताक्रमेण मानसी अवस्थामें अभिवृद्धिकी सम्भावना नि:शेष हो जायेगी. इसी तरह सेवात्मिका भक्तिकी भी रुचिप्रेमासक्तिके क्रमसे व्यसनावस्थापर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो जायेगी. भगवत्स्वरूपमें प्रमाणलीला-प्रमेयलीला-साधनलीला वैशिष्ट्य के क्रमसे फललीलावैशिष्ट्य पर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो ही जायेगी.

यदि किसी कारणके वश रसात्मक होनेपर भी भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के प्रकट-अगुप्त रहनेपर अभिवृद्धिशील स्वभाव अवरुद्ध न होता हो तो पुन: ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्यायसे नित्यभेंट फेंकनेवाले दर्शनार्थी एवं बड़ी रकम देकर मनोरथी बने सेठियाओंके समक्ष भगवद्भावको भी प्रकट करते रहनेपर वह भी ''दिन-दिन बढ़त सवायो'' होना चाहिये था. अन्यथा आश्रमधर्मोंद्वारा जैसे भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये, वैसे ही भगवान्को भी आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये.

(३) इसके बाद विमर्शकारका यह विधान कि ''अन्त:करणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरह दशामें होता नहीं है'' न केवल श्रीहरिरायजीके शिक्षापत्रादि अनेकानेक ग्रन्थ ही अपितु महाप्रभु प्रभुचरण के भी वेणुगीत युगलगीत भ्रमरगीतकी सुबोधिनी टिप्पणीजीके अनेकानेक ''आन्तरन्तु परं फलम्'' जैसे विरहदशामें भगवान्के साक्षात् आन्तर प्राकट्यके निरूपक वचनोंके अनादरपूर्वक किया गया विधान है! दु:ख इस

बातका उतना नहीं कि यह देवलकतामोहवश किया गया विधान है--दु:ख इस बातका समधिक है कि आजीवन सुबोधिनीके अनुशीलनमें परायण प्रात:स्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजीके आत्मजोंद्वारा अपने पितामहके नामके साथ मिथ्यायजनपूर्वक किया गया विधान है.

(४) ''अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका संयोगदशामें होता है उस समय आश्रमधर्मों द्वारा भगवत्समबन्धको गुप्त रखनेपर केवलविरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है संयोगदशामें नहीं'' इससे अीधक समुचित उदाहरण ''मुखमस्तीति वक्तव्यम्'' का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है! सामान्तयतया तो 'संयोग'का अर्थ 'आन्तरसंयोग' न लिया जाता हो तो संयोगमें अन्त:करणमें साक्षात् भगवत्प्राकट्य अश्रुतपूर्व तथा आकर ग्रन्थोंमें अदृष्टपूर्व निरूपण ही नहीं अनावश्यक भी है. संयोगमें कृष्णद्वैतघटित विरसताका जनक रासलीलामें भी ''षोडशगोपिकासु अष्टौ कृष्णा:'' का निरूपण इसी कृष्णद्वैतकी अनावश्यकतापर अवलम्बित है. कथंचित् ''तुष्यतु दुर्जन'' न्यायसे उसे स्वीकार भी लें तबभी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि बहि:स्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाको विमर्शकार संयोग मानते हैं या विप्रयोग?

यदि संयोगदशा मानते हों तो अपने प्रभुकी पलना हिंडोला रास होली आदि दिव्य लीलाओंके भावोंवाली भावात्मिका सेवा करनेका अपना सम्बन्ध गुप्त रखना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं तो वदतोव्याघात ! यदि रखना चाहिये तो प्रतिज्ञाहानि!

यदि विप्रयोग मानते हों तो दर्शनार्थी जनताके सानिंध्यवशाद् विप्रयोग है अथवा चित्तके स्वसेव्यसे संयुक्त न होनेके कारण विप्रयोग है? यदि दर्शनार्थी जनोंके सांनिध्यवशात् तो उनके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन करना ही नहीं चाहिये ताकि विप्रयोग हो! यदि भगवत्संनिधिमें भी भगवद्विप्रयोग ही अभिष्ट हो तो सिद्ध हो गया कि दर्शनार्थी जनोंका ही संयोग अभीष्ट हे, भगवद्विप्रयोगरूप फलके साधकतया. अत: स्वकृत भावानुवादके अनुसार भी खुले दर्शनोंमें पलना हिंडोला रास होली जैसी गूढ़लीलाओंके भावको तथा सम्बन्धको प्रकट करनेवाली सेवाको प्रकट करनेके बजाय, सन्ध्या तर्पण या

अग्निहोत्र आदि आश्रमकर्मोंमें ही परायणता प्रदर्शित करनी चाहिये बजाय कि भगवत्सेवाके!

(५) अत: ''संयोगदशामें आश्रमधर्मोंद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं'' विधानके आसपासकी पंक्तियोंमें 'यावत्-तावत्' पदोंके 'जबतक-तबतक' अर्थ क्यों छोड़ दिये गये लगते हैं अथवा कहां हैं (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.१९५)? कहीं मूल पदोंके अर्थोंको छोड़नेका विमर्शकारका एकाधिकार तो नहीं है? वैसे तो स्वयं विमशृकारका ही यहां निपातार्थके बारेमें अज्ञान प्रकट हुवा है, जब विमर्शकार पूछते हैं : ''**अणुभाष्यके वाक्यका गलत अर्थ क्यों?... उनका यह अर्थ भ्रामक प्रतीत होता है तथा विचारणीय भी है. क्योंकि 'यावत्' पदका कोषानुसार 'जबतक' अर्थ होता है 'तावदेव' पदोंका कोषानुसार 'तबतक ही' यह अर्थ होता है**'' (विम.पृ.सं.७६).

इस विषयमें वास्तविकता यह है कि कोषानुसार 'यावत्' के--

[१]साकल्य [२]अवधि [३]मान [४]अवधारण [५]काल [६]हेतु [७]सीमा [८]संभ्रम [९]पक्षान्तर [१०]विवरण.

इतने अर्थ मान्य किये गये हैं. तदनुसार :

साकल्य =''यावत् कार्यं कुरु'', **अवधि** =''मूलात् शाखां यावत् प्रकाण्ड:'', **मान** =''यावत्पात्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व'', **अवधारण** =''यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्'', **काल** =''यावद् गिर: खे मरुतां चरन्ति'', **हेतु** =''यावद् भवतु आहितसायकस्य'', **सीमा** =''यावत्पुरं वृष्टो देव:'', **संभ्रम** =''यावत्सर्पकोडरम्'', **पक्षान्तर** =''स यावत् प्रियतां गत:'', **विवरण** =''बिडोजा: इन्द्र: इति यावत्''.

अब विमर्शकार ही बतायें कि इनमेंसे कौनसा अर्थ उन्हें यहां भाष्यकाराभिप्रेततया अभिमत है!

क्योंकि 'साकल्य'अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ रचना कुछ ऐसी होगी : अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य जितना नहीं होगा उतना ही बाहर आविष्करण होगा. प्राकट्य होनेपर बहिराविष्करण सम्भव नहीं रह जायेगा''. इस व्याख्यानविधाके दोषका निर्देश करें!

'अवधारण' अर्थ लेनेपर भी करीब-करीब उपर दिया हुवा ही हिन्दी अनुवाद होगा परन्तु अर्थछाया बदली हुई होगी.

ऐसी स्थितिमें केवल कालार्थक 'यावत्'पदको लेनेके दुराग्रहका आडम्बर क्यों? निपातार्थाज्ञानवश? तो वह समुचित अध्ययनसे निवृत्त हो सकता है! वित्तप्रदायक दर्शनार्थिजनोंके व्यामोहनार्थ? तो वह वृत्ति तो स्वसेव्यप्रभुमें शुद्ध भाव स्थापित करनेसे ही सुधर पायेगी.

वैसे 'जबतक'--'तबतक ही' अर्थ लिये जायें अर्थात् स्वयं विमर्शकारकी तरह छोड़ न दिये जायें तो किसी भी सूरतमें मेरेद्वारा सिद्धान्तवचनावलीमें दिया गया भावानुवाद : ''जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं हैं, वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है'' यह सर्वथा सर्वथा सर्वथा निर्दुष्ट भावानुवाद ही है. कोई शाखाचंक्रमणशील ही ऐसी जगह रेखांकन करवा सकता है, मानवबुद्धिसे सम्पन्न व्यक्ति तो नहीं, क्योंकि 'यावत्'-'तावदेव' पदोंके 'जबतक'-'तबतक ही' अर्थ लेनेपर भी किसी वृक्षपर लटकते आकाशमेंसे टपकते हृदयमें तो भगवत्प्राकट्य होता नहीं है. भगवत्प्राकट्यके हृदयमें होने या न होनेकी कथा ही किसी व्यक्तिके सन्दर्भमें प्रासंगिक होती है अन्यथा अप्रासंगिक ही. 'यावत्' पदके साथ 'यस्य' पदका; तथा 'तावदेव' पदोंके साथ 'तेन' पदका स्वारसिक उह अकामगलेपतित है. अन्यथा जबतक अन्त:करण (निर्वैयक्तिक)में भगवत्प्राकट्य नहीं होता तबतक ही (अकर्ताद्वारा!) बहिराविष्करण होता है ऐसा वदतोव्याघात होगा!

लगता है यह युक्ति अवश्य ही पु.सि.सं.शि.ने विमर्शकारको सुझाई है!

(६) जहांतक विमर्शकारकी बाललीलाका यहां प्रश्न है वहां कथनीय यही है कि रश्मिकारके अनुसार भी भाष्यकी इस पंक्तिका अन्वयार्थ पहले समझ लेते तो अच्छा होता. रश्मिकार कहते हैं :

> ''**एतेन*यावद् अन्त:करणे साक्षात् प्रभो: प्राकट्यं**--विरहे--**नास्ति तावदेव**--गुप्तान्वयस्य--**बहिराविष्करणं**--आश्रमधर्मद्वारा-**भवति**. अन्त:करणे--**प्राकट्येतु तथा**--बहिराविष्करणं--**न सम्भवति**--विरहे विविधभावोत्पत्त्या नवधाभक्ति-भक्तधर्मै: आश्रमधर्माणां तादृशे बाधाद्--***इति ज्ञापितं**--तात्पर्यवृत्त्या उक्तम्''

> **अनुवाद :** (१)**इससे यह ज्ञापित**--तात्पर्यवृत्तिद्वारा कहा गया--है कि (२)**जबतक** (किसी व्यक्तिके) **अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य**-- विरहदशामें--**नहीं होता. तभी तक** (उस व्यक्ति द्वारा)--प्रभुके साथ अपने गुप्तसम्बन्धका/गुप्तसम्बन्धवाले अपने प्रभुका--**बाहर आविष्करण** (=प्राकट्य=प्रदर्शन)--आश्रमधर्म द्वारा (भी) **होता** (=हो पाता) है. (३)(विरहदशामें)--अन्त:करणमें--**प्राकट्य होनेपर वह**-- बाहर आविष्करण--**सम्भव नहीं रह जाता** (४) क्योंकि विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्तिद्वारा नवधाभक्ति-भक्तधर्मोंद्वारा उस व्यक्तिमें आश्रमधर्मोंका बाध हो जाता है.

इसमें सीधे अक्षर मूलवचनानुवाद है, तिरछे अक्षर व्याख्यानुवाद है तथा कोष्ठकान्तर्गत शब्द अनुवादकद्वारा योजित हैं. एतावता स्पष्ट हो जाता है कि (१) अधोरेखांकित अंशद्वारा, भक्तिनिरूपणके प्रसंगमें आश्रमधर्मोका निरूपण तात्पर्यवृत्त्या द्योतित हो रहा है ऐसे अर्थके निरूपणकी प्रतिज्ञा है. (२) अधोरेखांकित अंशद्वारा प्रभुके हृदयमें प्रकट न होनेके कारण प्रकट होते दोष या न्यूनता की निन्दा है. (३) अधोरेखांकित अंशद्वारा अन्त:करणमें

भगवत्प्राकट्यवशात् प्रकट होते गुणकी प्रशंसा है. (४) अधोरेखांकित अंशद्वारा (२)+(३) अंशकी हेतूपपत्तिका निरूपण अभिलषित है.

ऐसी स्थितिमें भक्तिप्रकरणमें आश्रमधर्मोंके निरूपण करनेवाली श्रुति सिद्ध वृत्तकी निरूपिका है या साध्य वृत्य या कृत्य की विधायिका? यदि सिद्ध वृत्तमात्रका यहां निरूपण स्वीकारते हैं, जैसा कि झांसा विमर्शकार देना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण यहां अभिलषित है या कतिपय भक्तोंके? सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर वर्णाश्रमबाह्य भक्तोंके बारेमें भी स्वीकारना पड़ेगा कि वे भक्त वर्णाश्रमबाह्य होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करने लग जाते हैं. यह न तो वाचनिक अर्थापत्तिद्वारा प्राप्त है और न प्रात्यक्षिक साक्ष्यसे सिद्ध होता है. कतिपय भक्तोंके सिद्धवृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर नामोल्लेखरहित यह निरूपण [१]अर्धांशमें निन्दा अर्धांशमें स्तुति है अथवा [२]सर्वांशमें निन्दामात्र या सर्वांशमें स्तुतिमात्र है. यदि अर्धांश कल्पको स्वीकारते हैं तब भी निन्दाका तात्पर्य भगवद्भावके बहिराविष्करणके निषेधमें इसी तरह स्तुतिका तात्पर्य आश्रमधर्मोंसे भगवद्भावके संगोपनकी विधिमें पर्यवसित होगा. इसी तरह सर्वांशमें निन्दा या सर्वांशमें स्तुति स्वीकारते हैं तब भी पर्यवसान वृत्तिसे उल्लिखित विधिनिषेधमें ही पर्यवसान स्वीकारना पड़ेगा. फलतः अगतिकतया श्रुतिका तात्पर्य साध्य वृत्यके विधानमें है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा.

वह साध्य वृत्य भगवद्भावके बहिराविष्करण=प्रदर्शनसे कण्ठोक्त निवृत्ति तथा आश्रमधर्मोंकेद्वारा भगवद्भावके संगोपनमें कण्ठोक्त प्रवृत्तिके सिवा और तो कुछ हो नहीं सकता. वह भगवद्भाव यदि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका सेवाके सार्वजनिक प्रदर्शनमें बहिराविष्कृत होता ही हो तो घट्टकुटिमें प्रभात हो ही जाता है. क्योंकि स्वयं विमर्शकारको भी **''आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुवे भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव (भगवद्विषयिणी रति)रसात्मक है. गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है. अतः यहां अपने भगवद्भावको आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते भगवत्सेवा करनी चाहिए''** (विम.पृ.सं.७५) अंशद्वारा सारे झांसोके बावजूद

कृत्योपदेशता तो स्वीकारनी ही पड़ी है. फलत: भक्तकी ऐसी कोई भी कृति (भगवत्स्वरूपप्रदर्शनात्मिका हो या भगवत्सेवाप्रदर्शनात्मिका हो) कि जिससे भगवद्विषयिणी रति प्रकट हो जाती हो तो उसे 'निषिद्धाचरण' तो कहना ही पड़ेगा.

क्योंकि विमर्शकारको, अन्यथा, निर्लज्जतया स्वीकारना पड़ेगा कि जब कोई पू.पा.गोस्वामी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करते हैं तब उनकी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवामें रति नहीं किन्तु भगवद्विषयिणी अरति या भगवद्विषयक रत्याभाास प्रकट होता है!

मैं तो इसे भी बिना ननु-नच स्वीकारने तैयार हो जाउंगा परन्तु स्वयं अपने कण्ठ या लेखिनी द्वारा इसकी स्वीकृति दें अन्यथा सेवाप्रदर्शनकी निषिद्धाचरणता वज्रलेपायित ही रहेगी.

(७) इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीकी भावप्रकाशिकामें मूलसूत्रभाष्यस्थ मुख्यहेतुरूप : 'अन्वय=सम्बन्ध' पदको जो ज्ञापकहेतु है उसे कारकहेतु बनानेका क्या प्रयोजन है, यह समझमें नहीं आया!

भावप्रकाशिकाके अनुसार भी सूत्रभाष्यगत पदोंकी योजना इस तरह है :

> **भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धि-स्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति आशयेन ते धर्मा उक्ता:. गोपने मुख्यं हेतुम् आह अन्वयाद् इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तत अतो हेतो: तथा. अत्र *('अन्वयाद्' इति हेतुबोधकपदे) 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी. (भगवता सह सम्बन्धं प्राप्य वर्तते इति हेतो:. तथाच सम्बन्धाभावएव आविष्करणं सम्भवति नतु सम्बन्धे सति)* एते यावद् अन्त:करणे साक्षात् प्रभो: प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिराविष्करणं भवति प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति**

ज्ञापितम्.

इससे यह सर्वथा स्फुट है कि जिसका प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़ गया वह तो भावका (अर्थापत्त्या भावात्मक प्रभु एवं भावात्मिका सेवाका भी) प्रदर्शन नहीं करेगा. यों भावानाविष्करणपूर्वक भगवद्भजनका यह ज्ञापक हेतु है. इसे दुरभिसन्धिवशात् कारकहेतु बनाया गया है : ''[१]अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है, उस समय आश्रमधर्मो द्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर [२]केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है''. (१)अंशके अन्तर्गत भगवत्सम्बन्धको (२)अंशके बहिराविष्करणक कारक हेतु बना दिया है. किम् आश्चर्यम् अत: परम्!

यह यदि देवलकताप्रयुक्त दुरभिसन्धि नहीं तो अधीत न्यायादिशास्त्रके साथ तो घोर 'अन्याय' ही कहा जायेगा.

(८) वेदान्तधिकरणमालाका इस विषयमें क्या निरूपण है यह देख लेना भी उपकारक होगा : ''**गृहिणोपसंहाराधिकरणे... तयागानुकल्परूपं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति विचार्य... तस्य करणप्रकार: तदाधिक्यं, भगवद्भावस्य लोकेषु अप्रकटनं, भगवद्भजनव्यतिरिक्तसमये लौकिककरणं.. विचारितम्. तेन 'विहितत्वात् च आश्रमधर्मापि' इत्येन यत् पूर्वम् उक्तं तस्य प्रकारो बोधित:.**'' अर्थात् इस गृहिणोपसंहाराधिकरणमें ...जिनसे गृहत्याग शकय न हो उन्हें तदनुकल्पतया घरमें रह कर (न कि सार्वजनिक-व्यावसायिक मन्दिरमें जाकर) भगवद्भजन करना चाहिये. यह विचार करनेके बाद... भगवद्भजन कैसे करना, कैसे वह अधिकाधिक अनुष्ठित हो पायेगा, भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करने की बात, भगवद्भजनसे व्यतिरिक्त कालमें लौकिक कर्मोंको करनेकी बात... विचारी गई. इससे ''विहित होनेके कारण आश्रमधर्म भी'' अंशसे जो कुछ पहले कहा गया उसका प्रकार बोधित हुवा.

यहां स्वगृहमें भजनके एक आवश्यक अंगतया भावसंगोपनकी जो बात कही जा रही है वह शाखाचंक्रमणशील शाखामृगोपम बुद्धिवालोंकी

बातोंको क्षम्य तथा उपेक्षणीय ही जानकर चलें तो भी इतना तो एकदम कूढ़के भी समझमें आ पानेवाली बात है कि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका भगवत्सेवाके मुख्यांगभूत भावका संगोपन अर्थापत्तिद्वारा भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवाके भी संगोपनमें ही पर्यवसित होता है.

देवलकोंकी विवशताके लिये भी, अत:, यहां मानवीय सहानुभूति रखनेका भी कोई सैद्धान्तिक अवकाश नहीं! कुल मिलाकर इतनी सारी अष्टविध दुरुद्धर अनुपपत्तियोंके बावजूद यहां कृष्णसेवाप्रदर्शनका निषेध न मानना विमर्शकारका सर्वभक्तजनविगर्ह्य महासाहस ही सिद्ध होता है. अस्तु.

(ख)

सिद्धानतवचनावलीमें उद्धृत ''**स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**'' (सा.दी.१०८) वचनको विमर्शकारने उचिततया पूर्णरूपेण उद्धृत किया हे. फिरभी जो अवधेयांश छूट गया है उसे भी साथ-साथ सम्मुख रखनेपर वचन इतना है : ''**कुर्यात्. ...शृंगारं रंजितै: वस्त्रै: चित्रै: आभरणैरपि मायुरमुकुटै: रम्यै: वेणुवेत्रै: सुमाल्यकै: वितानै: प्रसरै: शुभ्रै: प्रतिसारै: नवैर्नवै: जलक्रीडोपस्करै: च ताम्बूलामोददर्पणै: व्यजनै: जलभृंगारै: देशकालानुसारिभि: अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्.**'' (सा.दी. १०५-१०८)

स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण पदराशिमें दो मुख्य विध्यर्थक क्रियापद हैं :'कुर्यात्' तथा 'प्रदर्शयेत्'; एवं, एक ''समानकर्तृकयो: पूवकाले''सूत्रनिर्दिष्ट अर्थमें ल्यबन्त क्रियापद है 'अलंकृत्यैव'. अत: जैसा कि विमर्शकारने यहां यहां झांसा दिया है उसमें का परस्पर विरोधाभास पहले अवलोकनीय है :

(१) सख्यभक्तिके बिना शृंगारके समय भगवान्का दर्शन वर्जित (विम.पृ.सं.७८)

(२) ''सख्यता बिना सिंगार होत समै काहूकों दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा है'' (२५२ वै.वा.प्र.खं.३९५से उद्धृत विम.पृ.सं.७८)

(३) ध्यातव्य है कि स्वकीय भक्तोंको भी भगवान्का दर्शन शृंगारके समय नहीं कराया जाता (विम.पृ.सं.७८)

लगता है कि 'सख्यता' तथा 'स्वीयभक्त' होनेमें भी कोई गूढ़ अर्थभेद है. खैर... पूछनेका यों बनता है कि किसी भी तरहकी भक्तिके बिना ही आजकल तो केवल नोकरीके लिये मुखिया-परिचारकोंकी बटालियन व्यावसायिक मन्दिरोंको चलानेको भगवत्सेवार्थ नियुक्त होती है; तथा उन्हें शृंगार करते समय भगवान्के दर्शन न हो जायें ऐसे बाहर तो भेजा नहीं जाता! वार्तामेंसे उद्धृत वचनके अनुसार जबकि शृंगार किये जाते समय सख्यताके बिना दर्शन करानेका निषेध प्रतित हो रहा है. अत: इसके आधारपर ''**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**'' की व्याख्या करनेका प्रयास किया गया हे जबकि अलंकरणक्रिया एवं प्रदर्शनक्रिया के बीच पूर्वकालिक तथा उत्तरकालिक होनेका सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है.

पूछा जा सकता हे भूतकृदन्त तथा वर्तमानकृदन्त के भेदका विलोपन क्यों?

यदि 'एव'कारसे व्यावर्त्य केवल वर्तमानकालिक अलंकरण हो तब तो प्रश्न उठ सकता है कि भविष्यत्कालिक अलंकरण क्यों नहीं? अर्थात् ***''अलंकृत्यैव प्रदर्शयेत=अलंकुर्वन् न प्रदर्शयेत्''*** तो इस 'एवं'कारसे व्यावर्त्य ***'अलंकृत्यैव पंदर्शयेत्=अनलंकृत्वा न प्रदर्शयेत्=अलंकरिष्यन् वापि न प्रदर्शयेत्''*** क्यों नहीं? मंगलाके दर्शन खोलनेके शिष्टाचारकी गवाही तो चल नहीं पायेगी. क्योंकि वह स्वीयभक्तोंके ही लिये केवल खोलने या स्वीयास्वीय-भक्ताभक्त सभीके लिये यही तो विप्रत्तिपतिग्रस्त विषय है. जिसका सिद्धवत्कृत्य हेतुतया उपयोग हो नहीं पायेगा.

अत: हठात् हमें यह विचारनेको विवश होना पड़ता है कि 'प्रदर्शयेत्' अपूर्वविधिका बोधक क्रियापद है या नियमविधिका अथवा परिसंख्याविधिका?

अत्यन्त अप्राप्त कृत्यकी प्रापिका अपूर्वविधिका बोधक तो इस

वचनको माना नहीं जा सकता, क्योंकि इस विधानके बिना भी कोई वित्तार्थी (देवलक) वित्तकामनाया स्वत: भी प्रदर्शन कर ही सकता है.

प्राप्त कृत्यको नियत बनानेके हेतु नियमविधिका बोधक वचन इसे माननेपर ''**नियम: पाक्षिके सति**'' वचनके अनुसार पक्षमें अप्राप्ति दिखलानी पड़ेगी. उस स्थितिमें नियमविधिभार [१]केवल प्रदर्शनक्रियापर मानना अथवा [२]अलंकरणपूर्वक प्रदर्शनक्रियापर या [३]स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या [४]स्वीय-भक्तान्यतर-कर्मक प्रदर्शनक्रियापर अथवा [५]प्रेमसाहित्य विशिष्ट-अलंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर या [६]प्रेम साहित्यविशिष्ट स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या [७]प्रेमसाहित्यविशिष्ट स्वीय-भक्तान्यतरकर्मकप्रदर्शनक्रियापर या [८]प्रेमसाहित्य विशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर?

[१]प्रथम कल्पमें केवल प्रदर्शनक्रियाको किसी भी तरह पाक्षिक अप्राप्त मानकर प्रदर्शन नियमके विधानको स्वीकारनेपर भी सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवत्प्रदर्शन वर्जित होनेका नियम सिद्ध नहीं होगा.

[२]अलंकरणपूर्वकप्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर मंगला-शयनके दर्शन भी अलंकरणपूर्वक ही खोलने पड़ेंगे.

[३]स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर विमर्शकारको अत्यन्त अनभिलषित नियम सिद्ध हो जायेगा.

[४]यही गति स्वीय-भक्तान्यतरकर्मक प्रदर्शनपर नियम विधिभार स्वीकारनेपर भी होगी.

[५]प्रेमसाहित्यविशिष्टालंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनीक्रियापर नियमविधिभार स्वीकारनेपर कतिपय आभूषण प्रेमसहित धराते प्रदर्शनका नियम हो तो शृंगार धराते समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा.

जिस दिन जितने शृंगार नियत हों उतने सकल आभूषण प्रेमसे धराते

ही प्रदर्शन नियत हो तो जन्माष्टमीके दिन नियत सकल आभूषण धराकर शृंगार दर्शन खोलनेमें चरितार्थ हो जानेके कारण नवमीके पलनाके दर्शन कराना नियत नहीं रह जायेगा. यदि ह्यस्तनिक सकल शृंगारके कारण प्रेमसहित अलंकृत तो ठाकुरजी तो हैं ही अत: नवमीके दिन भी प्रदर्शन नियत मान लेते हैं तो शृंगारके बाद गोपीवल्लभभोग-राजभोगादि समय भी प्रेमसाहित्य-विशिष्टालंकरणपूर्वकता निमित्त विद्यमान होनेसे उस समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा. किसी भी सूरतमें शृंगार धराते समय भगवत्प्रदर्शनका निषेध तो इस कल्पमें भी निकलता नहीं है.

(६)इस कल्पमें भी जो प्रेमसहित अपने भक्त दर्शनार्थी हों तभी प्रदर्शन नियत सिद्ध होगा.

(७)इस कल्पमें भी प्रेमयुक्तस्वीयजन; अथवा प्रेमयुक्त अस्वीयभक्त भी, यदि दर्शनार्थी बनकर आयें तभी भगवत्प्रदर्शन नियत माना जायेगा अन्यथा नहीं. ये छठे-सातवें दोनों ही कल्प विमर्शकारको तो अत्यन्त अनभीष्ट हैं.

(८)इस कल्पमें भी हृदयमें जब प्रेम उभरता हो तभी प्रदर्शन नियत होगा अन्यथा नहीं. अत: महाराजश्रीके परदेशमें बिराजनेपर दर्शन खोलने अनिवार्य नहीं रह जायेंगे. वेतनग्राही कर्मचारी मुखियाजीके हृदयमें प्रेम उभरनेको निमित्त माननेपर तो उन्हें नियामक भी मानना पड़ेगा.

इसलिये ''**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**''को नियमविधिके रूपमें विमर्शकार मान्य कर नहीं पायेंगे. पुनश्च ''**सख्यता बिना सिंगार होते समै काहूंको दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा है**'' विधानमें सख्यता द्वापरयुगके गोपबालकों जैसी लेनेपर तो आधुनिक गोस्वामिसमुदाय तथा मुखिया-परिचारकों भी दर्शनसे वंचित होना पड़ेगा. अत: ''गोस्वामिओंके साथ सख्यता एवं कृष्णभक्ति होनेपर दर्शनाधिकारिता'' का अभिप्राय स्वीकारनेपर अर्थात् 'स्वीयभक्तता' को शृंगार धराते समय दर्शनार्थीके अधिकारलक्षणतया मान्य करनेपर ''**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान्**

भक्तान् प्रदर्शयेत्'' विधानमें अलंकरणोत्तर कालिक प्रदर्शनमें ही स्वीयभक्तोंकी भी अधिकाराताके कारण अलंकरणकालमें उनकी भी अनधिकारिता ध्वनित होगी. ''**समानकर्तृकयो: पूर्वकाले समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्**'' (पा.सू.३।४।२१,३७) अर्थात् किन्हीं दो पूर्वोत्तर क्रियाओंका कर्ता एकही हो तो पूर्वकालिक क्रियामें 'क्त्वा' अथवा उपसर्गसे जुड़ी होनेपर क्रियापदको 'ल्यप्' प्रत्यय लगता है. 'एव'कारसे उस क्रिया--प्रकृतमें अलंकरण क्रिया--की पूर्वकालिकताका अवधारण (=तदभावाप्रकारक-तत्प्रकारकज्ञान) स्वीकारनेपर अर्थात् प्रभुको शृंगार धरा लेनेके बाद ही प्रदर्शनकी छूट होगी शृंगार धरानसे पहले नहीं. ऐसा अर्थ लेनेपर न केवल धराते समय अपितु धरानेसे पूर्व शयन मंगलाके दर्शनोंका भी व्यावर्तन हो जायेगा. जबकि वर्तमानकालमें तो शयन मंगलाके नित्य प्रदर्शनोंमें ही प्राय: जनसम्मर्द अधिक होता है. इस ''अलंकरणोत्तरकालिकताविशिष्टप्रदर्शन''में प्रदर्शन विशेष्यकोटिगत है तथा अलंकरणक्रिया विशेषणस्वरूपघटक होनेसे वशेषणान्त:पातिनी होगी. ऐसी स्थितिमें विशेषणान्वित या तो 'एव'कार ''परंब्रह्मैव कृष्ण:'' की तरह अयोगव्यवच्छेदक होगा. अथवा अन्ययोगव्यवच्छेदक लेनेपर ''परंब्रह्मान्य: कृष्णभिन्न:''की तरह अन्योन्याभाव बोधक होगा. दोनों ही कल्पोंमेंसे प्रथममें तो केवल ''आलंकरणोत्तरकालिकमेव प्रदर्शनम्'' कहने मात्रसे ''सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवान्का दर्शन वर्जित है'' नियमका निरूपण सम्भव नहीं होगा. क्योंकि ''प्रदर्शन कभी अलंकरणोत्तरकालिकतारहित नहीं हो सकता'' बस इतना ही अर्थ निकलता है. 'प्रदर्शन' क्रिया द्विकर्मक होनेसे तत्स्वरूपनिष्पादक कारकतया स्वीयभक्तोंके भी अपरिहार्यतया लेना ही हो तब तो शयन-मंगलाके दर्शनकी निषिद्धताके अलावा शृंगार करते समय मुखिया-परिचारकोंकी उपस्थिति भी वर्जित माननी पड़ेगी!

'एव'कारको अन्ययोगव्यवच्छेदक मान कर चलनेपर ''यद् अलंकारणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म तत् प्रदर्शनभिन्नं कर्म'' अर्थ होगा. यहां भी प्रात:कालमें प्रभुको जगा कर मंगलाके दर्शन खोलनेकी क्रिया अलंकरणो्तरकालिक क्रियासे इतर कर्म होती है परन्तु वह प्रदर्शनसे भिन्न

नहीं होती. अत: विमर्शकारको जो अभिष्ट है वह सिद्ध नहीं हो पाता है. यहां भी द्विकर्मक क्रिया स्वरूपसम्पादक स्वीय भक्तको कारकतया अन्तर्निर्विष्ट माननेपर ''यद् अलंकरणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म जनसाधारणकर्मकं मंगलाप्रदर्शनरूपं कर्म तत् स्वीयभक्तकर्मप्रदर्शनभिन्नं कर्म'' कहना मुश्किल होगा. क्योंकि जनसाधारणमें दो एक भी स्वीयभक्त दर्शनार्थितया सम्मिलित हों तो ''स्वीयभक्तकर्मकप्रदर्शनसे भिन्न''तया सिद्ध नहीं हो पायेगा. एतदर्थ ''स्वीयभक्तमात्रकर्मकप्रदर्शन'' अर्थ लिया जाता हो तो 'एव'कार अलंकरणरूपा क्रियासे अन्वित होनेके बजाय ''स्वीयान् भक्तानेव'से अन्वित हो जायेगा. यह पुन: विमर्शकारके लिये महती विपत्ति सिद्ध होगी.

अत: न तो अपूर्व विधि, न नियमविधि; और, न अलंकरणक्रियान्वित एवकारप्रयुक्त व्यावर्तनवशाद् ही विमर्शकारको अभीष्ट अर्थ इस वचनका प्रतिपाद्य विषय हो सकता है. प्रस्तुत वाक्यविषय सुस्पष्टतया स्वीयत्वास्वीयत्वान्यतरविशिष्ट भक्तकर्मक देवलकत्वादिमोहजन्य उभयत्र रागप्राप्त प्रदर्शनके परिसंख्यानार्थ ही सिद्ध होता है कि ''स्वीयान् भक्तानेव प्रदर्शयेत्'' ऐसी स्थितिमें 'एव'कार एवमर्थक भी हो अथवा अवधारणार्थक (उदा. : ''त्वमेव देव ! जानासि'' अर्थात् ''तुम स्वयं जानते हो'' आवश्यक नहीं कि एतावता इतरव्यावर्तन द्वारा दूसरा न जानता हो) अथवा वाक्यपूरणार्थक भी हो सकता है.

यहां यह अवधेय है विशेष्यकोटिमें भक्तके उल्लेखके कारण अभक्तके सन्मुख तो भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन परिसंख्याविधिद्वारा ही व्यावर्तित है. 'स्वीय' विशेषण उन भक्तोंमें भी जो स्वीय न हों उनके व्यावर्तनार्थ फलित होता है. अर्थात् कुलसम्बन्धाभाववश स्नेहसम्बन्धाभाववश या साधर्म्यसम्बन्धाभाववश जो अस्वीय हों उनके व्यावर्तनार्थ है. पारिशेष्याद्, प्रभु अलंकृत हों या अनलंकृत, स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन जो भक्त हो परन्तु स्वीय न हो अथवा स्वीय हो परन्तु भक्त न हो, ऐसे किसीको भी स्वत:प्रवृत्त हो कर नहीं करना चाहिये. कोई हठात् या यदृच्छया दर्शन पा लेता है एतावता सेवाकर्ता दोषभाक् नहीं बनता. स्वत:निषिद्धाचरणार्थ प्रवृत्त न होनेके कारण, यह

परिशेष्यात् लब्ध निष्कर्ष है. यही श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी ''...अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्'' आज्ञाका स्वारसिक अर्थ निकलता है.

मूलमें ये कारिकायें सर्वनिर्णय निबन्धकी महाप्रभूपदिष्ट जिन कारिकाओंके सारसंग्रहतया एवं भाष्यतया लिखी गई हैं उनपर भी दृष्टिपा कर लेना उचित होगा :

कारिका :

यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि ।
अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरस्सरम् ।।
भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेद् ।।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ।

प्रकाश :

यथा सुन्दरतां यातिइति. सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्. स्थानम् मन्दिरं, तदलंकारपूर्वकमेव भगवदलंकरणं कर्तव्यम् इति अर्थः. एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिः अनुकूलः चेद् इति. भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवेः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि.२।२३०-२३१)

कारिकानुवाद :

जिस तरह वे सुन्दर लगने लगें उस तरहके वस्त्रों तथा आभूषणों से प्रभुको प्रेमसहित अलंकृत करना चाहिये. इनसे भी पहले उनके बिराजनेके स्थलको अलंकृत करना चाहिये. पत्नी आदि पारिवारिक जन अपनी भगवत्सेवाके अनुकूल हों तो उनसे भी भगवत्कार्य करवाना चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करना चाहिये तथा प्रतिकूल होनेपर गृहका त्याग करना चाहिये.

प्रकाशानुवाद:

'जिस तरह सुन्दर लगने लगे' यहां. 'प्रेमसहित' कहनेका अभिप्राय जिस तरह अलंकृत करनेसे उद्वेग न होता हो उस तरह सेव्य प्रभुको अलंकृत करना चाहिये. 'स्थल' यानि प्रभुके बिराजनेका मन्दिर, इस तरह मन्दिरको सजानेके बाद ही प्रभुको शृंगार धराना चाहिये. इस तरह जो भगवत्सेवामें प्रवृत्त हुवा हो उसे अपनी पत्नी आदिका भी भगवत्सेवामें विनियोग करना चाहिये. 'गृहके त्याग' का अर्थ है--अपनी पत्नी आदि परिवारके जनोंका त्याग. त्याग इनके विष्णुपराङ्मुख अर्थात् अवैष्णव होनेपर करना चाहिये. अन्यथा परित्याग करनेपर दोष लगता है. इस कथनका आशय यही है कि अवैष्णव (वैष्णवविरोधी) के साथ इस पुष्टिमार्गमें रहना नहीं चाहिये.

ऐसी स्थितिमें प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने भी जो ''**अलंकृत्यैव सप्रेम**'' कहा है उसका आशय ''अनुद्वेगार्थ अलंकरण करके ही'' ऐसा लिया जाना ही अधिक उचित लगता है बजाय कि विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित व्याख्यारीतिके. इसी तरह प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी जब 'स्वीयान्' पदका प्रयोग कर रहें हैं तब उन्हें महाप्रभुनिर्दिष्ट 'भार्यादि' ही विवक्षित है; तथा जो 'भक्तान्' पदका प्रयोग किया उसकेद्वारा भी महाप्रभुनिर्दिष्ट 'अनुकूलः' विशेषण ही विवक्षित है. इसका मुख्य कारण यही है प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीतो अपने पितृचरण महाप्रभुके उपदेशानुसरणशील पुत्र हैं अतः वैष्णव-अवैष्णव सबको दर्शन करानेकी विमर्शकारके जैसी मनोवृत्ति प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीमें सम्भव नहीं है.

विमर्शकारके हृदयको दुःसह आघात पहुंचानेवाली बात तो हमनाम टिप्पणीकार श्रीकल्याणरायजीने कही है : 'अनेनेति'. 'न स्थातव्यम्' इति उपलक्षणमेव अवैष्णवानां सिद्धान्नमपि न ग्राह्यम्...'' (यहीं). पुनः यहां 'सिद्धान्त'को द्रव्यका उपलक्षण मान लिया जाये तो निश्चय ही विमर्शकारके हृदयको आघात लग सकता है कि दर्शनकी छूट माननेका कोई आर्थिक लाभ

नहीं रह जायेगा.

(ग)

वैसे यह एक हकीकत है कि श्रीहरिरायचरणने ६६ अपराधोंमें इसी अवैष्णवसंगकी वर्ज्यताको लक्षमें रखकर 'स्वीयभक्त' अथवा 'अनुकूलभार्यादि' दोनों अर्थों एकहेलया कहनेवाला --''**११तमो अपराधः = अवैष्णवस्य, स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्**'' निरूपण किया. स्पष्ट है यही बात श्रीहरिरायचरण भावप्रकाशमें भी दुहरा रहें हैं--''**अपने श्रीठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीको न करावने यहु जतायो**''(२५२ वैष्ण.वा.३८।१). यहां विमर्शकारद्वारा किया गया कुविमर्श यों है : ''**यद्यपि अन्यमार्गीयोंको अपने सेव्यस्वरूपका दर्शन कराना निषिद्ध प्रतीत होता है तथापि अन्यमार्गीयोंको भी दर्शन करानेकी परंपरा दृष्टिगोचर होनेसे उक्त वाक्यका तात्पर्यार्थ अन्य ही कुछ होना चाहिये**'' (विम.पृ.सं.७८)

इसके बाद वार्ता-वचनामृतोंसे कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि अभक्तकों दर्शन नहीं कराने चाहिये परन्तु भक्त कोई भी चाहे स्वीय या अस्वीय हो उसे दर्शन कराये जा सकते हैं. अतएव ''भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव स्वीयान् प्रति प्रदर्शयेत्'' तथा ''भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव भक्तान् प्रति प्रदर्शयेत्'' इस तरह वाक्यभेदको प्रस्तावित किया है! (विम.पृ.सं.८०) व्यावसायिक भगवत्सेवाप्रदर्शनको आंच न आये एतदर्थ अश्रुतपूर्व भगवद्दर्शन करानेके सम्बन्धमें व्यवस्था भी प्रस्तावित की है कि ''**भगवद्दर्शन करनेके लिये जो कोई आता है, भगवद्भक्त होता इस भावनाको रख कर ही उसे भगवान्का दर्शन कराना उचित है, नकि उसे अभक्त जानते हुवे**'' (विम.पृ.सं.८०)

श्रीहरिरायचरणद्वारा निरूपित--''**अवैष्णवके समक्ष स्वसेव्यका प्रदर्शन करनेपर वार्षिकसेवाकी निष्फलता**''--के बारेमें भी विमर्शकारका कहना है कि यहां 'अवैष्णव' पदका अर्थ 'अभक्त' कर लेना चाहिये.

क्योंकि श्रीगुसांईजीने मीराबाईको श्रीनाथजीके तथा गोविन्ददास खवासको मन्त्रोपदेशके पूर्व भी श्रीनवनीतप्रियाजीके दर्शन कराये थे (विम.पृ.सं.८१)

विमर्शकारका यह भी कहना है कि साधनदीपिकामें श्रीगोपीनाथजीने विवक्षित न होनेके कारण--''**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वभक्तानेव दर्शयेत्**'' नहीं कहा अन्यथा कहते ही.

प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने तो, ''अलंकृत्यैव स्वीयान् वा भक्तान् वापि प्रदर्शयेत्'' भी नहीं कहा! अत: इस कल्पको भी विमर्शकार अविवक्षित क्यों नहीं मान लेते?

रही बात विमर्शकारद्वारा प्रस्तावित भगवद्दर्शनसम्बन्धी व्यवस्थाकी कि ''स्वीयबुद्धिसे अथवा भक्तबुद्धिसे सभीको या किसीको भी अपने आराध्यके दर्शन करानेमें कोई दोष नहीं है''. तब तो ''**कर्मणि दृशिविदो: साकल्ये**'' (पा.सू.३।४।२९) नियमके अनुसार प्रभुचरणने ''अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयदर्शं प्रदर्शयेत्'' अथवा ''अलंकृत्यैव सप्रेम भक्तवेदं प्रदर्शयेत्'' क्यों नहीं कहा? लगता है कि विमर्शकाराभीष्ट यही व्यवस्था प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीको सर्वथा अविवक्षित ही नहीं अनभिमत भी है.

महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा कराये गये दर्शनोंको लेकर विर्मशकारके द्वारा उठाया गया प्रश्न तो वार्ताविमर्शकी विशोधनिकामें सुविशदतया निरस्त कर दिया जायेगा. वैसे दिङ्निर्देश यहां भी संग्रहकारिकामें प्रस्तुत कर ही दिया गया है.

संग्रहकारिका

भाव: प्रमाणं भगवान् प्रमेय: फलं तदेकप्रवणं हि चित्तम् ।।
तत्साधनं यत्तनुवित्तजन्यं चतुष्टयं पुष्टिगृहे सुगोप्यम् ।।१।।
देहाभिमाने सति शास्त्रसिद्धै: स्वकीयवर्णाश्रमधर्मरूपै: ।।
यद्वा स्वधर्मैरपि लोकसिद्धै: अवर्णिनां पुष्टिपथानुगानाम् ।।२।।
तद्विप्रयोगे शिथिलेऽभिमाने प्रदर्शनं नैकतमस्य शक्यम् ।।
वक्तुं तु वैकल्यवशात्कदाचित् प्रकृष्टभावे प्रकटेऽपि जाते ।।३।।

स्वार्थप्रतिष्ठाप्रतिपत्तिकस्य प्रकारएष स्वगृहे स्थितस्य ।।
देवालयेऽवस्थितविग्रहस्य प्रदर्शनं नैव निषिध्यतेऽत्र ।।४।।
सर्वाधिकारे हि निदर्शनं चेद् निवेदनार्हकृतदर्शनं यत् ।।
पाणिग्रहोऽपीह कुमारिकायाः अनूढनार्या रमणे प्रमाणम् ।।५।।
तस्मात्तु या साधनदीपिकायां स्वकीयभक्तस्य कृते ह्यनुज्ञा ।।
स्वार्थप्रतिष्ठाविषयप्रभोर्वै प्रदर्शनस्य प्रकटीकृता सा ।।६।।
प्राञ्चैः कृतं यच्च प्रदर्शनं तत् परार्थदेवालयसंस्थितस्य ।।
श्रीशस्य सर्वोद्धरणव्रतस्य निदर्शनं तस्य कुभावचोद्यम् ।।७।।
रूढार्थमोषेण विलक्षणार्थो विमर्शकारेण विभाषितो यो ।।
त्यागोपदेशाप्तनिषिद्धतायै तिलाञ्जलिं यच्छति सर्वथायम् ।।८।।

सोऽर्थश्चेत्थम्

नो वैष्णवत्वं नच भक्तिमत्त्वं न स्वीयता सन्ति नियामकानि ।।
स्वाराध्यसंराधनसम्प्रदर्शे नियामका स्यान्मतिरीदृशी वै ।।९।।
भूतिप्रतिष्ठापदमोहजाता निषिद्धतायाः कुविमर्शरीतिः ।।
धर्म्यं वदेद् गोत्रमतेरभावे सगोत्रकन्याकरपीडनं वै ।।१०।।
विधिनिषेधकवाक्यविवेचने त्रिदिववारवधूरमणं भवेद् ।।
मुनिकृतं गमकं कृतिनिर्णये तदलमेव तदुक्तिविचिन्तनैः ।।११।।
विधौ वा निषेधे निजाचार्यवाण्यां
तदाचारतो लक्षणामाश्रयन्ति ।।
मुधैव प्रमाणं च तां कल्पयन्ति
वरं ते हि ये न प्रमाणं वदन्ति ।।१२।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रदर्शन'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

विशोधनिका



गोस्वामी श्याममनोहर

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

(क) जघन्याधिकारिता का पुष्टिमार्गीय विवेचन और (ख)पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ले–मुंबई : १०–१३जन.९२) एक सिंहावलोकन

(क)

<u>विचार्यविषयके प्रथम अंग विषयवाक्य :</u>

द्वया ह वै प्राजापत्याः देवाः च असुराः च ततः कनीयसाएव देवाः ज्यायसाः असुराः च (बृह.उप.१।३।१).

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः दानं दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवम् अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनं दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीः अचापलं तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता भवन्ति सम्पदं दैवीम् अभिजातस्य, भारत !, दम्भो दर्पोअभिमानः च क्रोधः पारुष्यमेव च अज्ञानं च अभिजातस्य, पार्थ !, सम्पदम् आसुरी. दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरएव च... प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुः आसुराः न शौचं नापिच आचारो न सत्यं तेषु विद्यते... (भग.गीता.१६।१–७).

[१]ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि. [२]सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च, ऊर्ध्वं गच्छन्ति

सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः (भग.गीता.१७।१२ ते १४।१७-१८).

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथग् जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः... सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम्, इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः. मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा... स्वरूपेण अवतारेण लिंगेन च गुणेन च तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि. तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदाद् मिश्राः त्रिधा पुनः, प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रिया-युतान्. जीवाः ते हि आसुरा सर्वे 'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः हि अज्ञाः तानु ये पुनः. प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थः तैः न युज्यते. सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः (पु.प्र.म.१-२५).

<u>विषयवाक्यविवेचन :</u>

इन श्रुत्यादि प्रमाणवचनोंके तथा तन्मूलक आचार्यवचनोंके भी अवलोकन करनेसे इतना तो सुनिश्चित है ही कि इस भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके चिदंशभूत जीवोंके सर्ग, स्वरूप, स्वभाव, मार्ग, साधनावस्था, तदन्तर्गत अवान्तरव्यापारानुष्ठान; और फलप्राप्ति में एकमेवाद्वितीय तत्त्वके बहुभवनके संकल्पवश प्रकट हुयी विभिन्नता इस सृष्टिकी एक ब्राह्मिक वास्तविकता है.

फिरभी उल्लिखित श्रुतिवचनमें प्राजापत्योंका द्वित्व प्रतिपादित किया गया है और तदनुसार भगवद्गीताके भी **''द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः**

आसुरएव च'' वचनमें भी दैवत्वेन या आसुरत्वेन भगवान्के द्वारा किये गये दो तरहके वरणके वश जीवप्रभेद स्वीकारा गया है. लोकमें इन दोनों तरहके जीवोंके प्रकट होनेपर इनमें अपने-अपने स्वरूपानुरोधवश स्वभावोंका द्वैविध्य भी यहीं भगवद्गीतामें दिखला दिया गया है. बावजूद इसके, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी सदंशभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति(माया)के विकारतया उद्भूत देह इन्द्रिय प्राण एवम् अन्तःकरणों की उपाधिओंसे ग्रस्त जीवात्मा ही जगत्में जनम लेती है; अतः जीवात्माओंमें भी औपाधिक त्रैगुण्य प्रकट हो जाता है. अतएव भगवद्गीताके अन्तिम षट्कके तीन अध्यायोंमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग श्रद्धात्रयविभागयोग; तथा संन्यासयोगके आनुषंगिकतया भी, जीवात्माके साथ जुड़ी श्रद्धा यजनीयनिष्ठा तप आहार यजन यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता करण कर्म कर्ता बुद्धि धृति एवं सुख आदिरूपोंमें अनेकविध त्रिगुणात्मकताका प्रतिपादन मिलता है. जीवोंमें ये विविध प्रकारके त्रैगुण्य जीवात्माओंके देहधारी बननेपर ही प्रकट होते हैं.

इस औपनिषदिक निरूपणके सन्दर्भमें सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि आचार्यचरणाभिप्रेत जीवत्रैविध्यके अन्तर्भूत मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय जीव **''तान् अहं द्विषतो' वाक्याद् भिन्नाः जीवाः प्रवाहिणः. अतएव इतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः''** (पु.प्र.म.११) इस वचनके अनुसार उपनिषद्भगवद्गीतोक्त दैव वर्गके ही अवान्तर भेद हैं.

> परन्तु **''वैष्णवत्वं हि सहजं ततो अन्यत्र विपर्ययः, सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थाः तथा अपरे 'चर्षणी'शब्दवाच्याः ते. ते सर्वेसर्ववर्त्मसु क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिः तेषां न कुत्रचित्... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्. जीवाः ते हि आसुराः सर्वे'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः अज्ञाः तान् अनु ये पुनः'' (पु.प्र.म.२१-२५).**

इस प्रतिपादनमें जो पुनः प्रवाही जीवोंके दुर्ज्ञ और अज्ञ जीवरूपी दो अवान्तर प्रभेद दिखला दिये गये हैं यह विषय किञ्चित् विवेचनसापेक्ष है.

क्योंकि इन दोनों प्रकारोंके अन्तर्गत अज्ञजीवके प्रवाही या चर्षणी होनेका स्वभाव, एकसे आरम्भ कर सहस्रपरिवत्सर पर्यन्त भी क्यों न हो, होता है वह परिगणित जन्ममरणके चक्रवत् चलते सान्त प्रवाहमें अन्तःपातको लक्ष्यमें रख कर ही. जबकि दुर्ज्ञजीवका प्रवाही या चर्षणी होना सृष्टिके आदिसे लेकर महाप्रलय पर्यन्त निरन्तर चलते जन्ममरणके चक्रवत् प्रवाहको लक्ष्यमें रख कर किया गया है. क्योंकि सुस्पष्ट शब्दोंमें महाप्रभु अज्ञजीवोंको भगवत्प्रोक्त आसुरभावोपेत माननेके बजाय दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणवश ही आसुरभावापन्न होनेवाले मान रहे हैं. अतः दुर्ज्ञजीवोंको 'आसुर' कहना यदि उचित हो तो, अज्ञजीवोंको 'आसुरावेशी' कहना ही उचित होगा.

इस तरहके आसुरावेशके मूलमें दो कारण दिखलायी देते हैं :

[१]संसारनिवृत्त्यौपयिक जन्मवरणके अभावमें जीवके भीतर श्रद्धा, यजनीयविशेषमें निष्ठा, यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन, तदनुष्ठानौपयिकी बुद्धि धृति या सुखस्पृहा, तन्मूलक ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता या करण-कर्म-कर्ता की अन्यतर त्रिपुटीमें तामसी दुर्ज्ञ असुरोंके अनुसरणवश पनपी सात्त्विक-तामसता या राजस-तामसता होती है.

अथवा

[२]भगवदवतारकालिक लीलाविशेषमें दो-चार जन्मोंमें अपेक्षित भगवल्लीलात्मिका तामसी आसुरभावावेशिता भी पुराणोंमें वर्णित हुयी है.

क्योंकि श्रुतिमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि रमणीय अर्थात् शुभ आचरणवाले जीवोंको रमणीय शुभयोनि मिलती है और कपूय अर्थात् अशुभ आचरणवाले जीवोंको अशुभयोनि. अतः ये शुभाशुभ कर्म अपने भीतर बिराजमान अन्तर्यामी परमात्माकी प्रेरणाके अनुसार ही जीव करता है :

१.''तद् ये इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्... अथ ये इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिम् आपद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'' (छान्दो.उप.५।१०।७).

२.''एष उ एव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौषि.उप.३।८-९).

३.''अथ एतयोः पथोः न कतरेण च तानि इमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व इति एतत् तृतीयस्थानं ... तस्माद् जुगुप्सेत... स्तेनो हिरण्यस्य, सुरां पिबन् च, गुरोः तल्पम् आवसन्, ब्रह्महा एते पतन्ति चत्वारः; पञ्चमः च आचरन् तैः'' (छान्दो.उप.५।१०।९).

इन तीन वचनोंमेंसे अन्तिम वचनमें यह कहा गया है कि साधारणतया असाधु कर्मोंके आचरण करनेके कारण अशुभयोनि या पातकी या नरकगामी होनेकी अधोगति जीवोंको प्राप्त होती है. साथ ही साथ, किन्तु, यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित जीवोंके संग करनेवाले भी सहचारितया पतित गिने जाते हैं. यह ''पञ्चमः च आचरन् तैः'' श्रुतिके वाक्यांशमें निरूपित हुवा है. अतएव याज्ञवल्क्यादि स्मृतिओंमें भी ''ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः तथैव गुरुतल्पगः एते महापातकिनो यः च तैः सह संवसेत्'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.अध्या.२२७) सदृश वचन उपलब्ध होते हैं.

इन और ऐसे अन्य भी अनेक पातक या उपपातक कर्मोंकी तरह उनके प्रायश्चित्तोंकी भी लम्बी सूची धर्मशास्त्रमें मिलती है. अतः प्रायश्चित्तद्वारा शुद्ध हुवे जीवोंको अधोगामी माना नहीं जा सकता. अन्यथा प्रायश्चित्तविधिके व्यर्थ होनेकी आपत्ति होगी. इन आसुरावेशिओंद्वारा अनुसरणीय माने जाते जो आसुर जीव होते हैं वे तो अपने पातक कर्मोंको कभी हेय या अनिष्टजनक मान नहीं पाते. अतएव प्रायश्चित्तार्थ भी उत्सुक या उद्यत हो नहीं पाते. यों भगवद्गीतोक्त ऊर्ध्वगामी सात्त्विक और अधोगामी तामस जीवोंसे अतिरिक्त तृतीय राजसकोटिके जीवोंकी एक पृथक्कोटि मान्य रखनी पड़ती है. अतएव सात्त्विक दैवी(पुष्टि/मर्यादा) जीवों और तामस दुर्ज्ञजीवों के वर्गोंसे पृथक् तामसभावापन्न सात्त्विक या राजस अज्ञजीवोंके मध्यपाती वर्गका प्रतिपादन आचार्यचरणने भी किया है. अतएव जब ये मध्यपाती सात्त्विक या राजस जीव तामस जीवोंका संग

और तामस कर्मोंका आचरण छोड़ कर, अर्थात् अपने सात्त्विक या राजस जन्म या मनोवृत्ति के कारण पनपी औपाधिकी तामसताको छोड़ कर, सात्त्विकताकी दिशामें अग्रसर होना चाहते हों तो ऐसा भी एक वर्ग जघन्याधिकारियोंका स्वीकारना ही पड़ता है.

तामस समुदायमें जन्म या संग के वश इन सात्त्विक या राजस जीवोंमें न तो ऊर्ध्वगमनसामर्थ्यरूपा सात्त्विकता प्रकट हो पाती है और न अधोगमनार्हतारूपा तामसिकता ही. ऐसे मध्यमकोटिके राजस जीवोंके भीतर भी दुःसंग या प्राक्तनजन्मीन दुष्कर्मोंके कारण तामसस्वभाव तामसगुण तामसकर्माचरण और तामसमनोभाव प्रकट होते हैं.

इसी तरह इन्हीं दोनों वर्गोंके कुछ अन्य जीवोंमें अज्ञानजन्य तामसिकता भी सम्भव है. अतएव भगवद्गीताके **''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च''** वचनमें लोभको राजस भाव माना है. ज्ञानमूलक सन्तोषके भाव/व्यवहार और अज्ञानमूलक असन्तोषके भाव/व्यवहार के बीच आन्दोलित अस्थिरता राजसी ही होती है, अतः लोभको राजसताके अन्तर्गत मान्य रखा गया है. तामसताके अन्तर्गत अज्ञान प्रमाद और मोह को गिनाया गया है. स्वाभाविक रूपमें तामसकर्माचरण और तामसगुणधर्म जो अज्ञान या प्रमाद के वश प्रकट होते हैं, उनका तो निवारण तात्त्विक ज्ञान या प्रायश्चित्त द्वारा सुकर होता है. इसके विपरीत तामसिक मोहसे ग्रस्त व्यक्तिके उदाहरणमें इन दोषोंका निवारण शक्य नहीं हो पाता.

सर्वविधपुरुषार्थसाधारण जघन्याधिकारके प्रभेद :

इन सारे तथ्योंको लक्ष्यमें रखनेपर, न केवल आत्मोद्धारौपयिक पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कर्म-ज्ञान-भक्तिलभ्य मुक्ति या धर्म से सम्बन्धी अलौकिक पुरुषार्थोंमें ही; अपितु व्यवहारौपयिक अर्थकामादिसे सम्बन्धी लौकिक पुरुषार्थोंके बारेमें भी जघन्याधिकारिताके तीन प्रकार सोचे जा सकते हैं : [१]अज्ञान या प्रमाद से जन्य अनिन्दित जघन्याधिकार [२]तामसिक संग या मानसिकता से अध्याहृत निन्दित जघन्याधिकार और [३]स्वभावविहित

तामसिकताके वश निषिद्ध जघन्याधिकार. इनमें तामसता समान होनेपर भी अज्ञान या प्रमाद तो बुद्धि या शरीर से सम्बन्धी निवारणार्ह मन्दता या अदक्षता होनेके कारण समानकोटिमें निविष्ट मानी गयी हैं. अतएव अज्ञान प्रमाद या दुःसंग की उपाधिके कारण पनपी अज्ञजीवोंकी औपाधिकी तामसिकता उन्हें प्रवाहकोटिगत अनिन्दित या निन्दित जघन्याधिकारी बनाती है. जबकि स्वाभाविकी तामसिकता दुर्ज्ञजीवोंको निषिद्धकोटिगत जघन्याधिकारी सिद्ध करती है.

विचार्यविषयके द्वितीयांग संशयका स्वरूप :

संशयघटक प्रथमकल्प : यों इन तीन कोटियोंको लक्ष्यमें रख कर पुष्टिमार्गमें जघन्याधिकारिताकी शास्त्रीय विवेचनाके हेतु जब हम अग्रसर होते हैं तो लगभग इतने तरहके कल्प विचारार्थ प्रस्तुत होते हैं :

(१) जीवसृष्टिके पुष्टि मर्यादा या प्रवाह रूपी त्रिविध सर्गभेदमें जघन्याधिकारिता. इसके अन्तर्गत : /क/पुष्टिप्रवाह या मर्यादाप्रवाह अवस्थावाले अनिन्दितकोटिके सात्त्विक जघन्याधिकारी होते हैं. /ख/दुष्कर्मजन्य दुर्वासनाके वश या दुःसंगवशात् प्रावाहिकी तामसी मनोवृत्तिवाले सात्त्विक या राजस कोटिके अज्ञजीव निन्दितकोटिके जघन्याधिकारी होते हैं, जब तक वे निन्द्य वृत्ति या वृत्त से पराङ्मुख नहीं होते. /ग/आसुरी सृष्टिके सातत्यके हेतु भगवान्ने सृष्ट्यारम्भमें ही जिन जीवात्माओंका प्रवाहमार्गीयतया वरण किया हो, ऐसे दुर्ज्ञजीव निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी होनेसे पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय दैवी साधनाके हेतु निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी माने जाते हैं. अज्ञजीव भी जब तक दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणसे विरत हो कर सन्मार्गार्थ उत्सुक या उद्यत न हो तब तक दोनोंमें एकवद्भाव माना जाता है.

(२) पुष्टिसृष्टिके अन्तर्गत भी पुष्टिजीवोंके जन्मविशेषमें प्रकट होनेवाले सात्त्विक राजस या तामस गुण धर्म या स्वभावों के

प्रभेदको लक्ष्यमें रखनेपर पुष्टिमार्गीय दीक्षा-उपदेशके ग्रहण-प्रदानसे सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यहां भी अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण जो दुर्ज्जनोचित मनोवृत्तिको छोड़ देने उत्सुक या उद्यत हो उसे अनिन्दित जघन्याधिकारी तथा अवशिष्ट अज्ञ और दुर्ज्ञ जीवोंको यथायथ निन्दित या निषिद्ध अधिकारी मानना चाहिये.

(३) पुष्टिमार्गीय उपदेश सत्संग या दीक्षा के कारण जो पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त होना चाहते हैं, ऐसे व्यक्तिओंको पुष्टिप्रपत्तिमार्गीय अथवा पुष्टिभक्तिमार्गके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रय/सप्तविधाभक्ति अथवा भगवत्सेवा या भगवत्कथा से सम्बन्धित सत्संग अथवा उपदेशप्रदान या उपदेशग्रहण से सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार भी होते हैं. यहां भी निबन्ध षोडशग्रन्थ साधनदीपिका आदि ग्रन्थोंमें जो तत्तत् साधनाओंकी अधिकारिताके जो-जो निकष निर्दिष्ट हैं, उनके बारेमें अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण विपरीत आचरण या मनोवृत्तिवाले जीव भी अपना वैपरीत्य छोड़ने उत्सुक या उद्यत हों तो उन्हें अनिन्दित जघन्याधिकारी मानना चाहिये. अवशिष्ट दोनों प्रकारोंको निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारी मानना चाहिये.

(४) ऐसे ही पुष्टिमार्गीय जीवोंको भगवत्स्वरूप भगवत्कथा या भगवद्भाव से सम्बन्धी रहस्योपदेश के प्रदान या ग्रहण से सम्बन्धी भी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यह भी पुनः साम्प्रदायिक सन्दर्भसापेक्ष अधिकारिता है. अतः आचार्यचरण-प्रभुचरणनिर्दिष्ट अधिकारिताके निकषोंको ही पूर्ववर्णित निर्धारणरीतिसे लक्ष्यमें रख कर अनिन्दित निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारिता स्पष्टतया अवधारणीय होती हैं.

मुख्यगौणभाववश विचारित भेदोपभेदोंका यह संकलन निश्चयेन स्थूलरूपेण ही है. अतः स्वाभाविक रूपमें विशेषेण पृथक्पृथक् विवेचन करनेपर

तो इन वर्गोंमें चारसे कहीं अधिक संख्या सामने आयेंगी ही.

(ख)

संशयघटक द्वितीयकल्प : यह पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी गो.श्रीहरिराय (जाम.)के चर्चासभाके समय अथवा बादमें भी प्रकट हुवे वचनोंके आधारपर प्रस्तुत हो रहा है. यह या तो आजीविकार्थ देवाराधनाद्वारा उपार्जित या भगवद्दर्शनार्थी जनताद्वारा अर्थार्थिओंद्वारा प्रदर्शित भगवत्सेवार्थ प्रदत्त द्रव्यके उपभोगको उचित ठहरानेका पक्ष है **''कृष्णसेवा सदा कार्या... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा, अतः सेवार्थम् अर्थार्थी भक्तः शास्त्रे व्यवस्थितः''** वचनद्वारा केवल अर्थार्थीके ही सन्दर्भमें भक्तिके जघन्याधिकारकी विवेचना वे यों करते हैं :

> **१.उत्तम मध्यम जघन्य साक्षात् स्वरूप/सेवासम्बक्ध्यर्थार्थी भक्तोंका त्रैविध्य.**
>
> **२.जघन्यभक्तके उपभेदतया अतिजघन्य और अतिजघन्यतर लोकार्थी भक्तोंका द्वैविध्य.**
>
> **३.अतिजघन्यतरभक्तके उपभेदतया जघन्यतम भक्त, अतिजघन्यतम भक्त और अभक्त.(गदा.पदा.त.त.पृ.२५)**

पुष्टिभक्तोंका इस तरहका विवेचन **''एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः''** न्यायेन जो पठित पुष्टिमार्गी हैं उनकेलिये तो उपेक्ष्य होनेपर भी **''एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः''** न्यायेन शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको ही इस तरहके काव्यकल्पनाद्वारा उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित प्रत्युत आवश्यक लगता है.

संशयघटक निरसनीय कल्पकी निरासिका युक्त्यष्टकमाला :

> **ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञेयं तद् अस्माद् व्यतिरिच्यते ।**
> **तल्लीलात्वेऽपि सृष्टेस्तु भक्तिः सृष्टौ विलक्षणा ।।**

निरुपध्यात्मरत्यास्तु वैशिष्ट्याद् इतरासु च ।
अतो ह्यर्थार्थिभक्तेस्तु नैवात्मरतिरूपता ।।

(१)

प्रस्तुत अर्थार्थित्रैविध्यमें ''प्रथमग्रासे मक्षिकापातः'' सदृश सर्वप्रथम दोष तो यही है कि अर्थार्थित्रैविध्यका यह विभाजन पदार्थविभाजनकी विधिसे सर्वथा अपरिचित व्यक्तिद्वारा प्रस्तावित है. क्योंकि तृतीयतया उल्लिखित साक्षात्स्वरूपसम्बक्ध्यर्थार्थी यदि मूलवर्ग हो तो उसके उपवर्गतया द्विविध लोकार्थिओंकी परिगणना वदतोव्याघात दोषकी जनक होगी. विशेष रूपमें इस कारणसे कि मूलवर्गके इस तृतीय अर्थार्थीको संसारनिवृत्तिकी कामनासे भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला जघन्य संसारी भक्त माना गया है. ऐसी स्थितिमें इसके उपभेदतया लौकिक/ऐहिक फलकी कामनाओंके वश भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालोंका अतिजघन्य अथवा अतिजघन्यतर होना बाधित हो जायेगा. यदि बाधित होता न मानें तो जघन्य अतिजघन्य और अतिजघन्यतर के प्रभेद ही बाधित हो जायेंगे. पुनः अतिजघन्यतर भक्तके द्विविदप्रज्ञौपयिक ऐतिहासिक पेचोंके पिटाराके रूपमें – शब्दोंमें द्विविध और रेखांकनमें त्रिविध – जघन्यतमभक्त और अतिजघन्यतमभक्त और अभक्तदेवलक ऐसे अवान्तर उपभेदोंमें तो कोटिद्वयावगाहिता पराकाष्ठापर आरूढ हो गयी है! (द्रष्ट. : गदा.पदा.त.त.इतःपरं 'गदापदातत' नाम्ना उल्लेख्य पृ.२५). भला ऐसा भी कभी हो सकता है कि पदार्थ मूलतया दो तरहके होते हैं [१]भाव और [२]अभाव. और ऐसा स्वीकार लेनेके बाद यह कहना कि द्रव्यादिषट्क और द्विविदोंमें धर्ममतिका अत्यन्ताभाव [१]भावपदार्थ होते हैं. जबकि प्रागभावादिकी चतुष्टयी [२]अभावपदार्थ होती है. क्योंकि द्विविदाधिकरणानुयोगिक धर्ममतिप्रतियोगिक अभाव तो अभाववर्गकी कोटिमें ही अन्तर्भूत माना जायेगा. अतः ऐसा पदार्थविभाजन या तो किसी 'महाकवि'की अनन्यप्रतिभाके वश कल्पित सन्देह या भ्रान्तिमान् अलंकारोंका प्रयोग हो सकता है. अन्यथा तो असदालाप ही माना जा सकता है. पण्डितोंकी सभामें प्रतिपादनीय पदार्थविभाजन तो कदापि नहीं !

(२)

यह अर्थार्थित्रैविध्य भगवद्गीताशास्त्रके जिस श्लोकके आधारपर उट्टंकित है उसकी व्याख्या श्रीपुरुषोत्तमजी क्या-कैसी करते हैं यह भी अवलोकनीय है :

> ''ननु एवं सति कथं न सर्वेप्रपन्नाः भवन्ति ? इति आह 'न माम्' इति, मां दुष्कृतिनो=दुष्कर्मकर्तारः पापाः मूढाः=पशुवद् विवेकरहिताः नराधमाः=नरेषु अधमाः, केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः, मां न प्रपद्यन्ते. ननु उपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्ते ? इत्यतः आह 'मायया' इति, 'माया'इति पदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यम् उक्तम्... ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षति ? इत्यतः आह 'आसुरं भावम् आश्रिताः', मद्विरोध्यासुरसंगेन तद्भावं प्राप्ताः. अतो मया न रक्ष्यन्ते... एवं दुष्टकर्मकर्तारो न भजन्ति इति उक्तम्. तर्हि के भजन्ति ? इति आकांक्षायाम् आह 'चतुर्विधाः' इति. 'हे अर्जुन !' इति सावधानतया श्रोतव्यत्वेन सम्बोध्य. 'सुकृतिनः'=पूर्वजन्मसञ्चितपु ण्यराशयो जनाः मां भजन्ति. अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात्... चतुर्विधत्वं प्रकटयति 'आर्तः' इति, 'आर्तः'=संसारक्लेशादियुक्तः तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति. 'जिज्ञासुः'= कामात्मकमत्स्वरूप-ज्ञानेच्छुः कामरूपेण मां भजति. 'अर्थार्थी'= मत्सेवौपयिक-साधनसम्पत्यर्थरूपेण मां (नतु भगवत्सेवार्थम् अर्थकामनया) भजति. 'च'=पुनः. 'ज्ञानी'=शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति.'भरतर्षभ !' इति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिः भवति इति ज्ञापनार्थम् (अमृ.तरं.७।१५-१६).

अतः कहां तो भागवतोक्त तथा महाप्रभूक्त चतुःश्लोकिओंमें धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थतया केवल भगवदर्थी बन कर भगवद्भजन

करनेका श्रीपुरुषोत्तमप्रतिपादित आशय और आदर्श और कहां यह अपनी अदान्त धनकामनाके वशीभूत चतुर्विध भक्तोंके अन्तर्गत केवल अर्थार्थीका त्रैविध्यकरण ! अर्थात् भगवत्स्वरूपार्थ या स्वरूपसेवार्थ लौकिकार्थकी कामनाकी वक़ालत करनेको अर्थार्थी भक्तकी कोटिमें ज्ञानी और जिज्ञासु भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव स्वीकारनेपर तो भजनकर्ताओंका चातुर्विध्य ही निरस्त हो जाता होनेसे ''मूलं नास्ति कुतः शाखा ?''न्याय गले पतित होता है.

इतने द्विविदवैदुष्यके प्रकाशनके बावजूद मानों सन्तोष न हो पाया होनेके कारण बेचारे श्रीप्रभुचरण एवं श्रीपुरुषोत्तमजी को भी अपनी ही बात करनेवाले मान कर अर्थार्थित्रैविध्यकी उपपत्ति और देनी चाही है ! यह श्रीपुरुषोत्तमजीके **''प्रभुणा अनंगीकारेऽपि आचार्यदयया 'नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः' इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाद् जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवति''** ('गदापदातत'पृ.८) इस वचनके आधारपर करनी चाही है !

वस्तुतः तो जघन्याधिकारियोंके प्रसंगके प्रारम्भमें ही श्रीपुरुषोत्तमजीने इसका खुलासा कर दिया है : **''जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्ति इति आशयेन 'संसारी' इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति 'यस्तु प्रपञ्चासक्तो... साक्षात्स्वरूप-सम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति' इत्यन्तम्''** इसके बाद इस तरह क्लेश पानेवालेकी अन्तमें क्या गति होगी उसके खुलासाके लिये सेव्यप्रभुद्वारा तत्कृतसेवाके अंगीकार और अनंगीकार के दो सम्भावित कल्प प्रस्तुत किये हैं. अंगीकारके कल्पमें कृतभजन व्यर्थ नहीं जाता होनेसे जन्मान्तरमें फलदायी बनेगा ऐसी फलश्रुति प्रकट की. अनंगीकारकल्पमें स्वयं भजनमें ही प्रतिबन्ध आ पड़ेंगे और तब तो औरभी दुःसह विलम्बेन भजनकर्ताका चित्त भगवान्में न जाने कब चोंट पायेगा ! यदि मर्यादितसंख्याक अग्रिम तीन-चार जन्मोंकी भी बात होती तो अनिश्चायक 'जन्मान्तर' पदका प्रयोग न करते.

इसके बाद महाप्रभुकी **''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा''** (सिद्धा.मुक्ता.१६-१७) पंक्तिओंकी व्याख्या प्रभुचरणने क्यों नहीं लिखी इसके समाधानतया

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं ''**'लोकार्थी...' इति श्लोकस्तु संसारिमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षितः**''. एतावता संसारी और लोकार्थी को एक मान कर लोकार्थीके उपभेदतया दो प्रभेद बताना कथमपि उपपन्न नहीं होता. तिसपर यह विधान तो अकाण्डताण्डव ही है कि ''**लोकार्थी भक्तके देवलकत्वका व्यावर्तन वहां स्वयं श्रीमत्पुरुषोत्तमजीने सि.मु.वि.प्र.में स्पष्ट शब्दोंमें किया है**'' ('गदापदातत'पृ.११). जो श्रीपुरुषोत्तमजी कह रहे हैं वह तो यही है कि संसारिताकी तरह लोकार्थिता भी दो तरहकी हो सकती हैं : १.लाभपूजार्थयत्नके उपधर्म होनेके कारण देवलकत्वसम्पादिका लोकार्थिता; २.भगवत्सेवाका अनुष्ठान जिसके द्वारा निज-आर्थिक लाभ निजपूजा के अभिवृद्ध्यर्थ (यथा : अपने सेवौपयिक गृहमें जनतासे द्रव्यग्रहणार्थ व्यापारिक पेढ़ीकी तरह समाधानी बैठाना - वहां जनताको ललचानेको मनोरथोंके विज्ञापन लगवाना आदि हेतुओंके वश) न हो ऐसे व्यक्तिकी लोकार्थिता.

एतदर्थ सिंहनंदके निवासी क्षत्रिय स्त्री-पुरुषकी वार्ताका भावप्रकाश अनुसन्धेय है :

> **''तब श्रीआचार्यजी कहें 'तुम कहो तो सही !' तब दोऊनें कही 'हमकों यह मनोरथ है जो या जन्ममें याही शरीरसों श्रीठाकुरजी हमसों बोलें कृपा करें'... तब श्रीआचार्यजी कहें 'इतनो कष्ट, व्रत करि सरीरकों देत हो, सो श्रीठाकुरजीके सेवा-सुमरिनमें मन लगावो तो याहि जन्ममें प्रभु कृपा करें'. तब स्त्री-पुरुष दोऊनने कह्यो 'महाराज ! श्रीठाकुरजीकी सेवा कैसें बनें ? हमनें तो कछू नाहीं पास राख्यो. यह दोय कपरा मेले पहरे हैं. और मा-बापके पास द्रव्य है सो संसारसुखकेलिये मांगे सो देई परन्तु परमार्थके अर्थ श्रीठाकुरजीके नामपर एक कोड़ी न देइंगे. हमसों द्वेष करत हैं. सो भगवत्सेवा बिना द्रव्य कहांते होय ?' तब श्रीआचार्यजी कहें जो 'वे द्वेष करें तामें तो तुमकों आछो है. बहिर्मुखसों बोलनो मिट्यो और सेवा लायक दोय-चार-आठ घरी कछू उद्यम करोगे तो वाहीमें तुमकों निर्वाह जोग मिलेगो. ताहिमें निर्वाह**

करियो. सेवार्थ शरीरको कष्ट होय तब धीरज धरि दुःख सहो तो श्रीठाकुरजीसों सह्यो न जाय. तुमकों जतावेंगे. तातें हम थानेश्वरके वैष्णवसों कहि देंगे तुमकों उधार देइंगे व्योपार हू सिद्ध करि देइंगे. परन्तु तिहारो मन भगवत्सेवा करनमें होय तो उपाय श्रीठाकुरजी सब करेंगे. जो मन न होय तो तिहारी तुम जानों'... तब स्त्री–पुरुष दोऊनके मा–बाप इनकी निन्दा करन लागे जो 'पहलें तो दोऊ बड़े त्यागी हते. अब वैष्णवसों भीख मांगिके निर्वाह करत हैं'... तब पुरुषके मनमें बुरी लागी तब स्त्रीसों आय कही जो 'तेरे मा–बाप – हमारे मा–बाप जहां–तहां निन्दा करत हैं'. तब स्त्रीने जो 'तुमारे मा–बाप सांचे हैं. अपने पास कहा हतो, एक कोड़ी न हती. सो सब वैष्णवनने श्रीआचार्यजीके सेवक जानिकें करि दियो है. सो अब अपन सुखी हैं परन्तु परन्तु या प्रकार श्रीठाकुरजी सेवा मानेंगे नाहीं. अपुनो धर्मनास भयो. वैष्णवसों पूजायके धन ले निर्वाह अपुने किये. सो अपुनेको धिक्कार है... श्रीठाकुरजी प्रसन्न करिवेके लिये श्रीआचार्यजीकी सरनि आये, सेवा पधराये. कछूं वैष्णवसों पूजायवेकेलिये अपुनी बड़ाईकेलिये वैष्णव नहीं भये. तातें अपनो धर्म राख्यो चहिये. होय तो श्रीठाकुरजीकों लें या गामते ओर ठोर कछूक दूरि निकसी चलें'' (८४।६२भा.प्र.).

इस वार्ताको पुष्टिप्रभुकी सेवाकी रीतिका आदर्श क्यों नहीं मानते ? क्यों केवल गदाधरदासकी वार्ताको ही प्रमाण मानते हैं ? उत्तरतया एक ही बात सामने आती है अचिकित्स्य अर्थैषणान्धता. ऐसी अर्थैषणान्धताके वश तो कोई देहविक्रयार्थ हाट लगा कर बैठी हुयी पुष्टिमार्गीय वारवधू भी ऐसा कह सकती है –

''न तो मैं देहविक्रय करती हुं और न हाटपर बैठ कर स्वैरियोंको ललचाती हुं. अतएव देहविक्रयार्थ सरकारी रजिस्टरमें लायसंस्के नंबरको स्वधर्मनिर्धारणमें प्रमाण भी नहीं मानती. क्योंकि स्वधर्मनिर्धारणमें तो 'कामये दुःखतप्तानां

प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्' के सनातन धर्मादेशको ही प्रमाण माना जाता है, आम्बेडकरस्मृतिको नहीं. अतः मैं तो कामार्त जघन्य पुरुषोंकी आर्तिका नाशन करनेवाली भगवत्कृपासे स्वधर्मपरायण सन्नारी हुं. उत्तम पुरुष हट्टस्थस्त्रीकी हाटपर न जाते हों एतावता जघन्य न जायें तो क्या वे दरियामें डूब मरें ? जघन्य पुरुषोंके प्रति कुलवधुओंके ऐसे द्वेष तो धर्माधर्माग्रताका निरा ढोंग है. अतः मुग़लकालमें जैसे सनातनधर्मविरोधी कानून ताज़ीराते-हिन्दके फिरक़ानापरस्त फर्मानोंको लौकिक साधारण-प्रतिबन्ध मान कर हमारे महान् पूर्वाचार्य यथा बुद्ध्या समाधान कर भगवदर्थ तनुजा-वित्तजा-सेवा-निर्वाह कर लेते थे, उसी तरह मैं भी अपने हाटमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी सेवामें अधिक प्रभुसुखसम्पादनार्थ राजभोग-मनोरथादिके हेतु आये हुवे कामार्थी जघन्य पुरुषोंका द्रव्य यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते हुवे, 'सर्वलाभोपहरण'न्यायसे प्रभुको समर्पित करके प्रसादमात्र लेती हुं. शेष तो हाटकी दीनहीन गलियोंमें भटकते दलालोंके बीच वितरित कर देती हुं. आम्बेडकरस्मृतिग्रस्त होनेसे हट्टोपवेशनात्मिका उपाधि-अवच्छिन्न हुं, हवेलियोंमें बिराजमान गोस्वामिद्विविदोंकी तरह ही!'' (द्रष्ट. : 'गदापदातत'पृ.२३).

तो ऐसी वेश्यावृत्ति करनेवाली पुष्टिमार्गीय स्त्रीको भी सेवोपयोग्यर्थार्थी मान कर उत्तमकोटिकी पुष्टिभक्त मान लेना !

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार, परन्तु, प्रभुचरणने इस श्लोकका व्याख्यान क्यों नहीं किया, इसकी कारणमीमांसा यों की जा सकती है कि मूलमें संसारी जीव दो तरहके हो सकते हैं : [१] भगवत्स्वरूपार्थितया संसारनिवृत्तिकामी भक्त और [२] 'ऐहिकं मम सिध्यतु'की मनोवृत्तिवाला कोई लोकार्थितया भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला. ऐसोंके लिये महाप्रभुने ''**क्लिष्टो भवति सर्वथा**'' आज्ञा की है. इस आज्ञाके अनुसार क्लेश पानेवाला क्लेश पा कर भी [२/क] भगवत्सेवा निभानेवाला

दुराग्रही हो सकता है. भगवत्सेवाके ऐसे दुराग्रहका त्याग करनेकी आज्ञा महाप्रभुने **''गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम् इति आह 'विक्षेपाद्' इति, स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि... स्वस्य वा परमः आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति, लोकानां वा पीडां कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या''** (त.दी.नि.प्र.२।२४७) आज्ञा ही की है. अतः ऐसे उपदेशके विपरीत आचरणद्वारा वह भगवान्को परिश्रम देता बन जाता है. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी इसे भक्त नहीं मान कर **'लोकार्थी सेवाग्रही'** कह रहे हैं. और [२/ख]भगवत्सेवाका अनाग्रही जो क्लेश पा कर सेवा त्याग कर देता है. अथवा उसके अनुकल्पतया प्रपत्तिमार्ग, सप्तविधभक्तिमार्ग, तीर्थाटन या कथा आदि कल्पोंका समाश्रयण करता है.

उल्लेखनीय है कि केवल प्रथमको ही श्रीपुरुषोत्तमजीने 'भक्त' कहा है परन्तु [२/क]आग्रही और [२/ख]अनाग्रही को 'भक्त' नहीं कहा, दोनोंके लोकार्थी होनेके कारण ही. इसका भी स्पष्टीकरण वार्तासाहित्यमें मिलता है. द्रष्टव्य :

> **''अबही तेरो चित्त द्रव्यमें है. ताते भगवन्नाम अबही तोकों फलेगो नाहीं. ताते तू जायके समुद्रके तीर बैठि. समुद्रकी लहरिमें तोकों द्रव्य मिलेगो. ता द्रव्यतें जो मनोरथ श्रीजगन्नाथजीको विचार्योहै सो पूर्ण करौ. पाछे सरनि लेंयगे. तू हमारो है; तातें अब तोकों संसारदुःख बाधा न करेगो. तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, द्रव्यमें मेरो मन बहोत है... मनमान्यो खरचूं जो पिता हूं सुनिके लाज पावें जो जगन्नाथरायजी ऐसे ठाकुर हैं'. तब आचार्यजी कहें जो 'जा तेरो मनोरथ पूरन होयगो'... तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, यामेंते कछू राखो'. तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे. हमारे तो जो कोई हमारो सेवक होय, खरी मजूरीको द्रव्य होय सो हम अंगीकार करत हैं'''** (भा.प्र. वार्ता ८४।७१).

इस आचार्योद्गारके शुद्धमनसे मनन करनेपर तो स्पष्ट हो सकता है कि यही पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त है. यहां आचार्यचरणने भगवत्सेवार्थ अर्थार्थीको दीक्षादानार्ह भी नहीं माना. फिरभी पुष्टिजीवको पहचानते होनेके कारण उसकी अर्थार्थिताका उपशम करवा कर ही पश्चात् स्वमार्गमें उसे दीक्षित किया.

कहां यह वार्ता और कहां आज उनके वंशज होनेके अलावा किसी भी तरह योग्यतासे रहित हम गोस्वामिओंकी अर्थार्थीको भक्ततया बिरदानेकी देवलकी वासना! जबकि शास्त्रमें ''**अर्थार्थी... यो देवं पूजयेत् सदा 'कर्मदेवलको' सर्वकर्मबहिष्कृतः**'' ('पुसिसंशि'पदवीदानपत्रवाचक श्रीवल्लभ.कृत.विम.पृ.४१) अर्थार्थिको देवलक माना ही गया है. साथ ही साथ अवधेय है कि प्रभुचरणने तो देवलकको तो लाभपूजापरायण पाषण्डी मान कर सिद्धान्तमुक्तावलीकी किसी भी मुक्तिकोपम कारिकासे सर्वथा असम्पृक्त ही रखना उचित माना है.

अतः संसारी भक्तके अवान्तर उपभेदतया जो लोकार्थीका कल्प निरूपण किया है, वह सिद्ध नहीं हो पाता. अतः सिद्ध हो जाता है कि मूलमें श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा प्रस्तावित विभाजन अर्थार्थी भक्तका न हो कर – जो संसारी जीव भजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनके बारेमें ही है. क्योंकि वार्ताका स्वारस्य भी यही है कि लोकार्थीकी लोकार्थिताके दोषके निवारण यदि शक्य लगता हो तभी पुष्टिजीव होनेकी सम्भावनाके वश उस संसारीको आचार्यानुग्रहद्वारक भगवदनुग्रहका पानेका अधिकारी माना जा सकता है. निष्कर्षतया कोई अपनी अर्थैषणाके अनुरूप उसे अर्थार्थी भक्ततया प्रस्तुत करना चाहता हैं तो वह तो स्वयं उसके ही स्वभावका प्रकाशन हैं.

भगवत्सेवकका अर्थापेक्षी/कामुक अथवा अर्थनिरपेक्ष/कामवासनारहित होना एक कथा है; और, भगवत्सेवापरायणको अर्थार्थी जघन्य कोटिका भक्त मान कर, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात् ऐसोंको भी भक्तिमार्गीय घोषित करना कोई दूसरी ही कथा है !

वैसे न तो सभी संसारी लोकार्थी होते हैं और न सभी लोकार्थी अर्थार्थी ही. अतः सभी अर्थार्थिओंको तो लोकार्थी माना जा सकता है और सभी

लोकार्थिओंको संसारी भी परन्तु सभी लोकार्थिओंको अर्थार्थी नहीं. वस्तुतः प्रभुचरणके सेवक स्त्री–पुरुष ब्राह्मण गुजरातवालोंकी वार्ता पढ़ी होती तो पता चलता कि–

''तब पुरुष न्हायके स्त्रीके पास आयकै पूछ्यो जो 'तोकों भयो कहा ?' तब स्त्रीने कही जो 'मैं तो सेवा तब करूं जब वैभवसों करों'. तब पुरुषने कही जो 'आछो वैभवसों करियो'... पुरुषने स्त्रीसों कह्यो जो 'तू एक काम करि... यहांते कोस एक ऊपर एक रूख है सो तहां जायकै ता रूखके नीचे खोदियो सो द्रव्य निकलेगो. सो टोकरी भरि ल्यायकै वैभवसों सेवा करियो'... तब रूखमें सों बानी भई जो 'हमको तूं कछू दे जा तब द्रव्य लेजा... जो एक झारीको फल देजा'... तब याने कही जो 'ये तो नहीं देउंगी' तब वाने कही 'अधिक होय सो तू राखियो घटती होय सो मैं राखूंगो'... तब पुरुषने कह्यो जो 'निष्कंचनतासों झारी भरे सेवा करे ताके फलको कहा कहनो... अब तू ये विचारि जो झारीको फल कितनो है और ये द्रव्य कितनो है ?' पाछे वा स्त्रीने कबहू द्रव्यकी कामना कीनि नाहीं और अपने मनमें कहे जो 'मैं झारी ही भरिवो करूंगी' सो वह स्त्री निष्कंचनतासों झारी भरे और सेवा करे. सो वे स्त्री–पुरुष निष्किंचनतासों सदैव सेवा करते'' (२५२।१५९).

आधुनिक हम गोस्वामिद्विविदोंकी मतिके अनुसार तो ये स्त्री–पुरुष भगवत्सेवाके अतिजघन्यतम अधिकारी होने चाहिंये. क्योंकि गामको अपने सेव्यप्रभुके दर्शन करा कर ''भगवच्छास्त्रोक्त सर्वलाभो(? भाऽ !)पहरणन्यायसे स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग–मनोरथादि'' ('गदापदातत'पृ.२३) नहीं करवाते थे. कहां तो भावप्रकाशकार महानुभाव श्रीहरिरायजीका **''या वार्ताको अभिप्राय यह है जो कोऊ निष्कंचन दीन ह्वै निष्कामभावसों भगवत्सेवा करत है तापें श्रीठाकुरजी प्रसन्न होत हैं''** (वहीं) यों कहना और कहां हम आधुनिक गोस्वामिओंकी अर्थैषणाकी अचिकित्स्य मनोग्रन्थि !

ऐसी तो एक नहीं अनेक वार्ताओंमें निष्कंचनोंकी भगवत्सेवाका नेगभोगरागवैभवकी सेवासे कहीं अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है. उसपर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती ? हमने अपने हृदयमें अन्योंके वित्तापहारकी ही मनोग्रन्थि इतनी क्यों दृढ़ बांध रखी है ? उसे थोड़ी शिथिल करें तो निष्कंचन भगवदीयोंकी वार्ताका भाव बुद्धि/हृदयमें प्रकाशित हो पायेगा. अतः ग्रामसे धन लिये बिना कोई अर्थार्थी, यदि गदाधरदासजीकी तरह, क्लेश पाते होते तो और सचमुचमें यदृच्छालाभसन्तुष्ट होते तो इस वचनके विषय माने जा सकते थे. अपनी हवेलीकी पेढ़ियोंमें समाधानीकी दलाली द्वारा धनलाभ पानेवाले हम तो कथमपि नहीं. अन्यथा आचार्यवचनप्रमाण्य ही अक्षुण्ण नहीं रह पायेगा.

(३)

ऐसा नहीं कि भगवच्छास्त्रमें जहां-कहीं 'जघन्य' शब्द दीखे तो उसका अर्थ सीधा देवलक ही होता है जैसा कि आक्षेप लगाया गया है (द्रष्ट. : 'गदापदातत'पृ.८). फिरभी विस्तृतविवरणमें से कुछ चर्चाके उद्धरण इस सन्दर्भमें अवलोकनीय हैं :

गो.श्या.म. : हां जो पैसा लेके सेवा करता है... देवलक हुवा कि नहीं ?... और निषिद्ध कोई भी प्रकारसे सेवा करता है तो वह यह यदि सेवा ही न हो तो 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' तो सेवामें मदिरा अर्पण करे तो वह भी कल्याणकृत् होता है क्या ? क्योंकि मदिरा भी उसने अर्पण तो की ! इस अर्थमें कह रहा हुं निषिद्ध प्रकारसे सेवा करनेपर.

गो.हरिराय : नहीं. ये निषिद्ध प्रकारसे नहीं कर रहा है.

गो.श्या.म. : निषेध तो देवलकत्वसे प्राप्त हो ही गया. क्योंकि नहीं तो तनुजाकर्ता और देवलक का अन्तर स्पष्ट करें आप.

गो.हरिराय : वो जो है केवल वो अपने पैसे कमाके धंधा करनेकेलिये या इस कार्यके लिये नहीं कर रहा; वो केवल लोकार्थी है. लोक उसका चले.

गो.श्या.म. : नहीं–नहीं. मैं लोकार्थीकी बात बात नहीं कर रहा हुं.

गो.हरिराय : नहीं. ये तो उसको लोकार्थीमें भी ले लिया जाये तो. आया न ध्यानमें.

गो.श्या.म. : नहीं. मैं तो निषेध्यकोटिके लोकार्थीकी चर्चा कर रहा हुं. उससे तनुजसेवाकर्ताको भिन्न कैसे करना ?

(विस्तृ.विव.पृ.२२३–२२४).

उक्त चर्चासभाके बाद प्रकाशित विशोधनिकाके 'दे–धनाधन' द्वितीय प्रकरण (पृ.२९)में भी मैंने सेवाकर्ताके [१]भक्त [२]भक्त्यर्थी और [३]अभक्त्यर्थी भेद दिखलाया. [३]अभक्त्यर्थीके पुनः [अ]अनिषिद्ध लोकार्थी और [आ]निषिद्ध वृत्त्यर्थी दिखलाये ही है. एतावता सिद्ध होता है कि न तो चर्चासभामें और न आज भी मेरे लेख–प्रवचनोंमें मैंने कभी ऐसा प्रतिपादन किया. अतः जब निन्दित लोकार्थी अपनी निन्द्य मनोवृत्तिका त्याग कर, अर्थात् अर्थार्थिताका परित्याग कर, ''आये कष्टं व्यये कष्टं, कष्टं प्राप्तस्य रक्षणे, अप्राप्तौतु (देवलकानामिव सृष्ट्यारम्भे नियतया अर्थार्थितया) महत् कष्टं, वित्तं कष्टम् इह उच्यते'' ऐसा अर्थमोहभंग साध पाता है, तब ही प्रभु भी उसके पूर्वजन्ममें अमान्य भजनको भी, आचार्यमार्गीय जीव जान कर दया करते हैं. यह तो रिट्रॉस्पेक्टिव इफेक्टके रूपमें भी मान्य करते हैं परन्तु किसी भी स्थितिमें उससे पूर्व तो नहीं ही. तब लोकार्थीके भजनके वैयर्थ्य या अवैयर्थ्य का प्रश्न यहां उठ कैसे सकता है ? अन्यथा कंस–पूतना–शिशुपाल आदि असुरोंको भी मारनेके बाद प्रदत्त मुक्तिके वृत्तान्तके आधारपर भगवद्हिंसा या भगवद्द्वेष आदिकी मनोवृत्तिओंको भी शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य करना पड़ेगा.

तब तो बात केवल भगवान्पर ही नहीं परन्तु ''गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म''न्यायेन गुरुहिंसा और गुरुद्वेष को शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य रखना ही पड़ेगा. फिरतो अर्थार्थी भक्तकी तरह हिंसार्थी गालीप्रदानार्थी जीवोंके भी अष्टविध प्रभेद स्वीकारने पड़ेंगे, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्. तब तो ''**नैव**

आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः'' न्यायेन पूर्वजन्मकृत भगवद्हिंसार्थी या द्वेषार्थी के भी भजनोंका वैयर्थ्य निरस्त करना पड़ेगा.

मुझे नहीं लगता कि इस न्यायकी व्याख्यामें पूर्वाचार्योंने जो एकाधिक वर्णक प्रतिपादित माने हैं, उनमेंसे किसी एक वर्णकपर भी अर्थार्थिभक्तोंके विभागकर्ताने, उद्धृत करनेसे पहले, दृष्टिपात किया हो. क्योंकि यदि केवल दृष्टिपात भी किया होता तो पता चलता –

प्रथमवर्णकमें तो स्पष्टतया **''मर्यादामार्गम् आश्रित्य तथा उच्यते नतु पुष्टिभक्तिम्. अतएव 'भक्त'पदं 'सेवा'पदं च विहाय 'जन'पदं 'मान'पदं च उक्तम्''** कहा गया है.

द्वितीयवर्णकमें **''किञ्च भक्तस्य का वार्ता ! भक्तिरहितोऽपि जनो भक्तप्रवर्तितसम्प्रदायस्थितो भूत्वा भगवते यद्यद् मानं विदधीत स्वस्य कर्तव्यत्वेन (नतु अर्थार्थितया) विहितं ज्ञात्वा... तत्र सम्प्रदायानुरोधाद् आत्मने वृणीते... परं भक्तं स्वयं वृणीते, अन्यः स्वतः करोति इति तारतम्यम्. तर्हि भक्तकृतमेव अंगीकरोति इति नियमः कथं सम्भवति ? इति... दृष्टान्तम् आह... मुखस्थानीयो भक्तः प्रतिमुखस्थानीयः तदनुवर्ती... तथा भक्तानुवर्तिकृतं भक्तकृतं नतु तत्कृतं, भक्तानुसारित्वात्''** अतः भक्तोंने लोकार्थितया भगवत्सेवा न की हो और भक्तानुवर्ती कोई द्विविद अर्थार्थितया भगवत्सेवा करता हो तो उसे भगवान् अंगीकार नहीं करेंगे यह सिद्ध होता है.

तृतीयवर्णकमें भगवान् भक्ताधीन होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं होते प्रत्युत निष्कंचन होते हैं. अतः निष्कंचनजनोंके साथ ही प्रेम करते हैं यह कहा गया है. एतावता अर्थार्थी जनोंके द्वारा की जाती सेवाको अंगीकार ही नहीं करते, यह फलित हो रहा है.

चतुर्थवर्णकमें अभक्तों द्वारा समर्पित अधिक (राजभोग–छप्पनभोग आदिभी) नहीं परन्तु अधिक भक्तोंद्वारा समर्पित अल्पमात्रामें भी पत्र पुष्प फल जल अंगीकार करते हैं, यह कहा गया है. आज तो पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें जनसाधारणसे भेट–सामग्री स्वीकारी जाती है. वह भी यह जाने बिना ही कि

दर्शनार्थी जनता स्वसम्प्रदायी है या विसम्प्रदायी, कृष्णभक्त है अन्यान्यदेवोंकी भक्त, भक्तिमार्गीय है भक्तीतरमार्गानुगामी ! ऐसी स्थितिमें उनकी भेटसामग्री पुष्टिप्रभु अंगीकार ही नहीं करते. तो हमारी हवेलियोंके मठड़ी-मोहनथाल आदि और होटल-रेस्टोरांमें चाइनीज़ फुड और मेक्सीकन बर्गर के बीच, जिसे वल्लभकुलके गो.बा.भी अब अरोगने लगे हैं (और ऐसा वे ओरकुटपर अपनी प्रोफाइलमें स्वीकार भी करते हैं) अन्तर क्या रह जाता है ! अतः उसे भगवत्प्रसाद नहीं माना जा सकता. ऐसा विपरीत ही सिद्ध हो जाता है.

पांचवे वर्णकमें यह कहा गया है कि निःस्वार्थी भक्त जब भगवान्को कुछ समर्पित करता है तो प्रभु स्वभावतः अंगीकार करते हैं. स्वार्थवश भजन करनेवाला जब कुछ भगवान्को समर्पित करता है तो करुणा जगनेपर ही. ऐसी स्थितिमें आशंका उठती है कि भगवान्के विशेषानुग्रहके बिना तो निःस्वार्थ भजन कोई कर ही नहीं पायेगा. तब तो भजन करना ही लोग बंद कर देंगे. अतः उसके खुलासा देनेको यह प्रतिपादन किया गया कि पुष्टिमार्गमें निष्काम या निःस्वार्थ भजन किया जाता है. मर्यादामार्गमें मोक्षकामनाके वश भजन किया जाता है. और प्रवाहमार्गमें लौकिक कामना या स्वार्थ के वश भजन किया जाता है. अतः यथाकथञ्चित् सभीको भगवान्की भक्ति तो करनी ही चाहिये. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थीको यथाविवक्षित अर्थमें तो प्रवाहमार्गीय जीव ही मानना पड़ेगा. और उसकी प्रशंसा भी उसे प्रवाहमार्गसे निवारित कर दैवमार्गके अभिमुख बनानेको ही स्वीकारनी पड़ेगी.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो किस वर्णकमें प्रतिपादित अर्थमें ''नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णः'' न्याय स्वीकारना यह पक्षग्रहणद्वारा स्पष्ट करना पड़ेगा. इतना तो निश्चित ही है कि मर्यादामें मोक्षकामनाके वश भक्ति की जा सकती हो तावता –

''मोक्षार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा, क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं मोक्षो नश्यति सर्वथा''/ ''कामार्तः/हिंसार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं कामो/हिंसा नश्यति सर्वथा''.

ऐसा भी भगवद्गीतोक्त चतुर्विध भजनकर्ताओंको 'सुकृति' कहा गया होनेकी दुहाई देकर कहा जा सकता है क्या ? भजनका ऐसा प्रकार महाप्रभुको अभिप्रेत माना जा सकता है क्या ? क्योंकि चतुर्विध भजनकर्ताओंमें केवल अर्थार्थी ही नहीं आर्त भी स्वीकारा गया है. और कोई जघन्य हो या जघन्यतर जघन्यतम या अतिजघन्यतम ही अधिकारी क्यों न हो अपने अगम्यागमनकी वासनाके वश अथवा अवध्यके वधकी कामनाके वश भजन करता हो तो भजनके ऐसे प्रकारको भी पुष्टिमार्गीय माना जा सकता है या नहीं ? ''**कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्**'' ऐसोंके भजनको भी क्या धर्म्य ही मान लेना ! और ''**फलमतः उपपत्तेः**'' न्यायेन उसकी कामना भी भगवान्को पूरी तो करनी ही पड़ेगी या नहीं ? यह खुलके बताना पड़ेगा.

(४)

प्रमुखतया ध्यान देनेकी बात यहां यह है कि जिस जन्ममें भगवत्सेवा कोई लोकार्थी बन कर करता है, वह जन्म तो उसका व्यर्थ ही जाता है. तो ऐसा जानने बावजूद इतने दुर्लभ जीवनमें जघन्यार्थिताके हेतु प्रेरणा या स्वच्छन्दानुसरणकी अनुज्ञा या उपदेश की वक़ालत क्यों करनी ? और जन्मान्तरमें जो पुष्टिप्रभु पुष्टिमार्गाचार्यके मार्गकी कानी निभानेको उसपर अनुग्रह कर सकते हैं, तो वह तो भगवद्द्वेषी असुरोंपर भी कर ही सकते हैं. एतावता स्वयं जघन्यताका अनुमोदन करके जनताके द्रव्यको हड़पने अपनी भगवत्सेवाके नामपर चलती पेढ़ीमें समाधानी और रसीद का सरंजाम करके जनताको ललचाना क्यों ? लोकार्थीके इस जन्ममें लौकिकस्वास्थ्यको और जन्मान्तरमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भगवान् अपना अनुग्रह प्रदान करते हों तो इसी जन्ममें लोकार्थिताका अनुमोदन क्यों करना ? क्योंकि प्रभु भी तो अन्तमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भक्तिमार्गीय अनुग्रह करेंगे, सो भी जन्मान्तरमें ही उसे स्वगामितया सफल बनायेंगे. सो यह जन्म तो निरर्थक गया ! यह जानते हुवे भी क्षुद्रस्वार्थके वश एतज्जन्मकृत सेवाको अभगवद्गामी क्यों बनने देना ? जबकि अनिषिद्ध लौकिक कामनाकी अनिषिद्ध लौकिक उपायोंसे पूर्तिपर भक्तिमार्गमें कोई प्रतिबन्ध तो लगाया नहीं गया है. अतः इस जन्ममें भगवद्गामी न हो पानेवाली सेवाकी जानबूझ कर वक़ालत कर भगवत्सेवाके अपने निन्दित या

निषिद्ध जघन्याधिकारके आच्छादनार्थ यह कपटनाटककों करना ? अतः यह बात तो हमारे द्विविदोंकी उघाड़ी पड़ी देवलकताका प्रमाण बन जाती है.

अतएव चर्चासभामें जब सेवाके प्रयोजनके बारेमें जिज्ञासा प्रकट की तो द्विविदमतिके अनुरूप प्रस्तुत अर्थार्थिप्रभेदोंके विभागकारने लिखवाया था कि पुष्टिसिद्धान्तमें अधिकारिभेदवश भक्तीतर लौकिक प्रयोजन भी सिद्धान्ताभिमत है. जब पूछा ''सेवास्थल कौन सा ?'' तो कहा ''सेवाकर्तृस्वामिक होना चाहिये''. अब यह जैसे गोस्वामिद्विविदोंपर लागू होगा वैसे ही वैष्णवोंपर भी लागू किया जाये तो गो.बा.ओंकी हवेलिओंमें देवलकोंद्वारा बरगलाये गये वैष्णव जो कुछ कर रहे हैं, चाहे तनुजा या वित्तजा, उसे वहां उनका स्वामित्व न माननेपर भगवत्सेवातया अमान्य ही रखना पड़ेगा. इसके विपरीत स्वयंके घरोंमें जो वैष्णव भगवत्सेवा करते हैं वही सिद्धान्ताभिमत प्रकारतया सेवाके रूपमें ही मान्य करनी पड़ेगी.

विस्तृतविवरण (पृ.१६०-१६७); या विश्वास न हो तो पक्षग्रहणकी प्रकाशित वीडियो देख कर भी, निश्चित किया जा सकता है कि अपनी द्विविदमतिके अनुरूप केवल सात पृष्ठोंमें सीमित चर्चामें भी सेवासे अपनी आजीविका उपार्जित करनेवालेको पहले जघन्यकोटिका माना. बादमें प्रश्न करनेपर कि वह सिद्धान्ताभिमत जघन्याधिकार है या सिद्धान्तानभिमत जघन्याधिकार है ? दूसरे शब्दोंमें जघन्याधिकारी जो सेवाद्वारा अपनी आजीविका कमाता है वह सिद्धान्तशुद्ध सेवाका अनुकल्प है, विकल्प है; या प्रतिकूलकल्प है ? तो उसमें सोचे-समझे बिना ''**लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं**'' वचनकी पेच डालनेकी कोशिश की. जब आजीविकोपार्जकके रूपमें लोकार्थीको खपाया जा सकता है या नहीं ? यह पूछा तो पूरा ग्रन्थांश सब सुनें इस तरह पढ़ कर सुनाने लगे. जब पढ़ते-पढ़ते अपनी त्रुटिका पता चला तो शाखाचंक्रमण करके स्वीकार भी लिया कि तीन वर्षोंकी अवधिके बीचमें तो नहीं परन्तु तीन वर्षोंकी अवधि पूर्ण होनेके बाद ''**पैसेकेलिये या पैसाका अर्थी बन कर सेवा करता है तब उसमें देवलकत्व आता है**'' (विस्तृ.विव.पृ.१६५).

ऐसी स्थितिमें अपनी हवेलीको ''**श्रीवल्लभसम्प्रदायकी सेवाप्रणालीके**

अनुसार श्रीठाकुरजीकी सेवाप्रणाली चालु रखनेको'' (सी.पी.आर.नं.१३९के पृ.२) ट्रस्ट घोषित करनेकी जो चेरीटी-कमिश्नरकी ऑफिसमें एप्लिकेशन दी, उसके (पृ.४) पर तीस टका आमदनीमें से मेहनताना पानेका अधिकार भी स्वीकारा गया होनेसे, और वह न जाने कितने वर्षोंसे अपनाये रखा होनेके कारण स्वयंस्वीकृत पक्षके अनुसार निषिद्धकोटिकी जघन्य देवलकता स्वयंमें सिद्ध होगी कि नहीं ?

अब पुनः स्वयंके भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थी होनेकी शाखापर चंक्रमण कर उत्तम पुष्टिभक्त होनेकी बात सोलह वर्षोंके बाद सूझी है. इस कुशकाशावलम्बनमें तनुजा वित्तजा और मानसी सेवाके त्रैविध्यको आधार बनाया जा रहा है. पहले, परन्तु, कहा था **''यद्यपि यहां वार्तादिके प्रमाणका विषय नहीं है''** (विस्तृ.विव.१७८) पर अब नूतनशाखाचंक्रमणमें गदाधरदासकी वार्ता प्रमाणतया प्रस्तुत हो गयी है :

> **''गदाधरदासजीकी ही तरह स्वभगवदर्थ तनुजा-वित्तजा सेवानिर्वाह शास्त्रसम्मत यदृच्छालाभसन्तोषवृत्तिसे यथाशक्ति करते हैं, लाभपूजार्थयत्न करके नहीं... यह हमारा सगर्व डिण्डिमघोष है... लोग प्रभुको पूजते हैं हमको नहीं... उलटा भगवत्-शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरणन्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ..अतः लाभपूजाका प्रश्न ही नहीं उठता.. वैष्णवोंकी वित्तजाका विनियोग हम श्रीमत्प्रभुचरणोक्त-श्रीपुरुषोत्तम-चरणोक्त भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग-मनोरथादिमें लगाते हैं. अतः हमारे अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती''('गदापदातत'पृ.२३-२४)**
>
> अब यह आनन्द देखने लायक है :
>
> **गो.हरिराय :** ''साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते'... फलके साथ भी 'रूप'पद जुड़ा हुवा है और साधनके साथ भी... इसके नीचे सीधा 'उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः'. प्रभुचरण साधनके साथ यहां जो पहले जोड़ा गया 'रूप'पद है

उसको हटा रहे हैं... केवल 'साधन'पद है. अर्थात् साधनत्वस्वीकारः इति. द्विवचन स्पष्ट है 'उक्तसेवासाधने इतरे'... अर्थात् साधनत्वेन सेवे द्वे... क्योंकि ये जो 'तनुवित्तजा'पद है वो 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वाद्' ये हेतु आगे है. मैं भूल गया हुं...

गो.श्या.म. : प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते.

गो.हरिराय : है न वो वचन ! थोड़ासा भूल गया !... तब वो साधन तो जरूर हैं परन्तु साधनरूप नहीं हैं... 'एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'... जिनका साधनत्व स्वीकार किया गया है... जो साधन ही हैं साधनरूपा नहीं हैं. साधन ही हैं केवल. वो 'तत्साधिके' द्विवचन अर्थात् मानसी सेवाकी साधिके; दोनों अलग-अलग चल रही हैं... क्योंकि साधकत्व और साधनत्व - दोनोंमें भेद है... अर्थात् साधकत्वं निषिद्धं नतु साधनत्वं... 'एतादृश्यौ' अर्थात् केवल साधनरूपमें (इतनेमें ही देखा जा सकता है कि साधन और साधनरूप के बीच प्रस्तावित अन्तरको यहीं छोड़ दिया गया है !) की गयी ये सेवायें 'तत्साधिके न'=मानसीकी फलकी साधिका हो नहीं सकती. परन्तु जब उनको तनुवित्तजा=दोनों मिला कर की जाती हैं, तब उसका एक रूप बनता है साधनरूपम्. साधनरूपा होते ही वो मानसीकी साधिका बन जाती है. 'एतेन'=इससे ये बात हुयी... क्योंकि स्पष्ट कहा कि, भइ ! जब दोनों अलग-अलग जो हो जाती हैं, बिचारी केवल साधनमात्र रह जाती है. इसीलिये इनमें साधकत्व तो आ नहीं पाता. इसलिये साधकत्व जिनमें आता है वो 'एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति' ये आगे इसलिये बताया... 'न कार्यम्'का निषेध भी जिसको मानसी सेवा करनी है, अर्थात् जो उत्तमकोटिका अधिकारी है, मानसी जो फलरूपा सेवा है वो जिसको सिद्ध होनी है, भगवदिच्छासे, अधिकारी तो

भगवदिच्छासे निश्चित होते हैं, तो जो भगवदिच्छासे उत्तमकोटिका अधिकारी है, जिसको मानसी सिद्ध होनी निश्चित ही है, प्रभुके व्युच्चरणसे ही कि 'ये मेरा भक्त है, इसे मानसी सिद्ध होगी'... जो 'न कार्यम्' ये निषेध जो है वो उत्तम अधिकारीकेलिये है. ऐसा मैं इसलिये कह रहा हुं कि यदि ऐसा नहीं होता तो आगे 'एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति...' उसमें साधन जो मानसीकेलिये करना है उसको भी साथमें मध्यपातीन्यायसे अवान्तरफल तो होता ही है... परन्तु जो अलग-अलग करते हैं, जोकि उत्तम अधिकारी नहीं है, मन्दमध्यम हैं, उनको वे अलग-अलग करते हैं तो उनको अवान्तरफल मिलते हैं... 'न' जो है वो मानसीके उत्तम अधिकारी, मतलब उत्तमाधिकारिभिः तथा न कार्यं यथा व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति... इसीलिये कहा है कि उसको कुछ पता नहीं होता कि इन दोनोंको साथ ही करना चाहिये, इसी तरहसे करना चाहिये तब वो सिद्ध हो, ऐसा तो उसको पता नहीं होता. वो तो दोनोंमें से कुछ भी या कहीं भी किसी भी तरहसे कर लेता है जैसे एक बालक'' (विस्तृ.विव.२०२-२१०)

चर्चाके समय मानों होश ही नहीं था कि तनुजा और वित्तजा सेवाके द्वित्वकी वक़ालतमें सृष्टिके आरम्भसे भगवन्निर्धारित मन्दमध्यम जघन्य अज्ञानी होनेकी स्वीकृति भरी सभामें की जा रही थी. मैं इस बातको सोच-सोच कर हंस रहा था. सो यह और बोल गये कि ''**आप हंस रहे हैं वो इसलिये के उक्तप्रकारमें तो दोनों आयेंगी. आप ये मान रहे हैं लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता**'' (विस्तृ.विव.२०९).

जब इस आत्मजाघन्यपर ध्यान आकृष्ट किया तो अन्य कोई आत्मत्राणोपाय वित्तैषणावश दिखलायी देता न होनेसे नूतनशाखा ''[१]**मानसीके साधन दो हैं तनुजा और वित्तजा 'तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः' अर्थात् [२]एक व्यक्तिद्वारा की गयी दोनों सेवा तनुजा-वित्तजा ही मानसीकी साधक होती हैं. क्योंकि 'वित्तं दत्वा... एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति**

अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्' अर्थात् [३]**वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की गई ऐसी तनुजा–वित्तजा सेवायें मानसीकी साधक नहीं होती... इससे यह सिद्ध हुवा कि** [४]**तनुजा–वित्तजा दो सेवाओंकी एककर्तृकतावच्छेदेन योगावस्था ही तनुवित्तजा है.** [५]**अलगसे एक सेवा नहीं... अतएव एककर्तृकतावच्छेदेन संयुक्तावस्था ही तनुवित्तजा बनती थी, जो मानसीकी साधिका है.** [६]**रामकृष्णदासवत् विभागासह 'तनुवित्तजा' नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है. अर्थात्** [७]**श्रीमदाचार्यचरणोक्त 'तनुवित्तजा' समस्तपद एककर्तृकताभिप्रायिक है, एकसेवाभिप्रायिक नहीं. यही सिद्धान्त है''** ('गदापदातत' पृ.१४–१५).

इन गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिके बुद्धिके चमत्कारोंके बारेमें, वार्तासाहित्यकी शैलीमें कहना तो, इनके अर्थैषणाकी दुरवस्थाकी वार्ता कहां तांई कहिये !

[१]सिद्धान्तचर्चाके समय पृथक्–पृथक् तनुजा और वित्तजा सृष्ट्यारम्भके समय भगवन्निर्धारित मन्दमध्यमाधिकार या क्षम्यजघन्यता थी. अब वेही दोनों सेवायें सिद्धान्ततः मानसी सेवाकी साधिका मानी जा रही हैं. क्या ये चर्चासभामें बुद्धिपूर्वक हों डाल रखे पेच थे या दिङ्मूढ़तावश ? यदि बुद्धिपूर्वक हों तो छोड़नेकी क्या आवश्यकता ? यदि दिङ्मूढ़तावश तो अपनेको कोसना चाहिये, अन्य किसीपर बलात्कारके आरोप या पुनःशास्त्रार्थ हेतु ललकारनेके. [२]जिस **''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते''** व्याख्योदाहृत वचनपर सारी तागड़धिन्ना चल रही है, वह वचन भी मैंने याद दिलाया तब पूर्णतया सभामें उद्धृत हो पाया. खैर विस्मृति इतनी आपत्तिजनक कथा नहीं जितनी यह कि सिद्धान्तचर्चामें तनुवित्तजा एककर्तृका एकाकिनी मानसीकी साधिका थी परन्तु अब वह सिद्धान्ततः अशक्य घोषित कर दी गयी है. यह वैदुष्य सिद्धान्तचर्चाके समय कहां गया था ? [३.४.५]अब अपने दुरदृष्टवशात् पुनः यह और पक्षग्रहण कर लिया गया है कि **''वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की जाती तनुवित्तजा मानसीकी साधक नहीं होती''** तो अपने घरको 'श्रीपुष्टिसंप्रदाय... मोटी हवेली ट्रस्ट'के, तथाकथित आम्बेडकरस्मृतिके अनुसार, सार्वजनिक

ट्रस्टके आवेदन (सी.पी.आर.नं.१४०, तदनुसार ए/३१७/जाम.) में घोषित सार्वजनिक ट्रस्टमें उसकी आयके तीस प्रतिशत राशी स्वयंके हेतु वेतनतया स्वयंने क्यों मान्य रख्खी ? तदनुसार गदाधरदासजीके सेव्यप्रभुकी की जाती सेवा मानसीकी साधिका सिद्ध नहीं हो पायेगी. वैसे इसमें भी किसे आपत्ति हो सकती है ! क्योंकि सिद्धान्तचर्चासभामें अंगीकृत पक्षके अनुसार इन द्विविदमतिवालोंको भगवान्ने जघन्य देवलक ही बनाना निर्धारित कर रखा हो तो भगवदिच्छा तो बलीयसी ही होती है न. अतः उसका तो बाध भी सम्भव नहीं ! पर अब उस भगवदिच्छाका अनादर करके क्यों स्वयंको भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया उत्तमकोटिके रूपमें बिरदाया जा रहा है ? ऐसी स्थितिमें विशेषतः दर्शनार्थियोंके द्वारा की जाती वित्तजा सेवा और मुखिया-भीतरियाआदि वेतनिक कर्मचारियोंद्वारा सम्पन्न करवायी जाती तनुजा सेवा मानसीकी साधिका कैसे मानी जा सकती है ! इसके विपरीत सहज सम्भव है कि द्विविदोंके दुःसंगसे जिन वैष्णवोंकी मति भ्रष्ट न हुयी होगी ऐसे, अनेक वैष्णव अपने घरोंमें मानसीकी साधिका एककर्तृका तनुवित्तजा कर ही रहे होंगे. सो उनसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अपने परिवारोंको दिलवानी चाहिये बजाय कि उन्हें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेके स्वयंके मिथ्या एकाधिकारके दावे करनेके !

[६]रही बात 'रामकृष्णदास'पदमें विभागासह द्वन्द्वसमासकी और 'तनुवित्तजा'पदमें विभाजनसह द्वन्द्वसमासकी. इसे हम चर्चासभामें गृहीतपक्षकी अभिप्रेत उपपत्तिके निरूपणके आधारपर भी जांच सकते हैं **''तनुजा और वित्तजा मध्यमपदलोपी है... अब इस झंझटको तो व्याकरणकी तो अभी क्या करें !''** (विस्तृ.विव.पृ.२०४). अब भला कोई प्रथमाका भी विद्यार्थी इन द्विविदोंसे पूछे तो सही कि द्वन्द्वसमासके उपभेदोंमें मध्यमपदलोपी समास आता है क्या ? मध्यमपदलोपीके उदाहरण माने जाते ''शाकप्रियः पार्थिवः=शाकपार्थिवः'' समस्तपदकी तरह यदि ''तनुजा वित्तजा=तनुवित्तजा'' समस्तपद भी हो तो जिस ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणता''के हेतुके वश 'तनुवित्तजा'पदको विभागसहिष्णु मान लिया, वही 'तनुवित्तजा'पद पुनः 'रामकृष्णदास'पदकी तरह विभागासहिष्णु सिद्ध हो जायेगा ! ये कैसा पेच था ?

[७]अब कहा जा रहा है कि 'तनुवित्तजा' पद एककर्तृकताभिप्रायक है एकसेवाभिप्रायक नहीं तो ऐसी स्थितिमें 'गदापदातत'के पृष्ठावरकपर जो श्रीद्वारकेशजीका वचन **''तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च. तत्सिद्धौ 'ते'इति... उभे मानसीसेवार्थके दैवी सेवा कर्त्री, द्वितीया तद्रूपज्ञापिका''** उद्धृत किया, उसमें ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च'' वाक्यांशमें 'च'कार [१]निरर्थक है ? [२]विकल्पार्थक है ? [३]अवधारणार्थक है [४]समुच्चयार्थक है ? [५]इतरेतरयोगार्थक है ? [६]समाहारार्थक है ? अथवा [७]अन्वाचयार्थक है ?

यदि [१]निरर्थक मानते हो तो वह, 'च'कारकी अर्थावगतिमें अक्षमताके वशात् या ग्रन्थकारद्वारा व्यर्थप्रयोग किये गये होनेके कारण ? प्रथम कल्प तो औसतन बुद्धिवाला कोई भी मान्य रखेगा ही ! दूसरे कल्पमें 'च'कारको जैसे व्यर्थ शब्दका प्रयोग माना वैसे ही ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च'' सम्पूर्ण शब्दावली भी निरर्थक क्यों नहीं हो सकती ?

[२]विकल्पार्थक मानते हैं तो विकल्पघटक प्रथमकल्परूप 'तनुवित्तजा'के बिना द्वितीय 'एककर्तृका तनुजा-वित्तजा'का कल्प स्वयं असिद्ध हो जायेगा. विकल्पकी उपपत्तिके हेतु 'तनुजा-वित्तजा'की विशेष अवस्थाके रूपमें द्वित्वको खोजने जायेंगे तो एक ही विभाजनकारकी सिद्धान्तचर्चासभामें सहभागी बननेकी अवस्था और 'गदापदातत'लेखनकार बननेकी दो अवस्थाओंके बीच भी भेदवश विकल्प स्वीकारना पड़ेगा. और उन दोनोंके बीच मतभेद स्पष्ट होनेपर 'सुन्दोपसुन्द'न्यायेन दोनोंको स्वतोनिरस्त मानना पड़ेगा ! किसी भी तरहकी नूतनशास्त्रचर्चाकी अपेक्षाके बिना !

[३]अवधारणार्थक मानते हौ तो वह भी, अपनी क्षुद्रमतिके वश 'तनुवित्तजा'को 'तनुजा और वित्तजा' की योगावस्था मान रखी होनेके कारण, तद-(=तनुवित्तजाऽ)भावाप्रकारक तत्-(=तनुजा-वित्तजा)प्रकारक ज्ञान न हो पानेके कारण अनुपपन्न हो जायेगा.

[४]समुच्चयार्थक माननेपर तो ''[६]**रामकृष्णदासवत् विभागासह**

'तनुवित्तजा' नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है'' ऐसा पक्ष स्वतो अभ्युपगत होनेसे समुच्चेयके अभावमें समुच्चय ही अनुपपन्न हो जायेगा. यदि **''दोनों पैरोंको बारी–बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली–जुली एक मुद्रा बनती है, जिसे लोग 'गति' या 'चलना' कहते हैं''** ('गदापदातत'पृ.१६) इस विधानके तर्ज़पर तनुजाको समुच्चेय मान कर उसके साथ वित्तजाके समुच्चयार्थ 'च'कार मानोगे तो भी समुच्चय(=निरपेक्षाणाम् एकत्र अन्वयः) निरस्त हो जायेगा. क्योंकि चलन या नमन क्रियाओंमें इतरेतरसापेक्ष दो चरण या दो करों की तरह ही इतरेतरसापेक्ष होनेसे तनुजा और वित्तजा का समुच्चय पुनः बाधित हो जायेगा.

अतः [५/६] इतरेतरयोगार्थक या समाहारार्थक 'च'कारको माननेपर तो 'तनुवित्तजा'पदके ही साथ ''तनुजा और वित्तजा''पदोंका योग या समाहार स्वीकारना पड़ेगा. सो पुनः तनुवित्तजा अकामगले पतित होगी! स्ववृत्तिवादप्रकाशिकामें विवेचित द्वन्द्वसमासके अर्थ, यदि द्विविदोंकी बुद्धिसे गम्य होते 'गदापदातत'सदृश प्रकाशन ही असम्भव हो जाता.

''द्वन्द्वान्ते... अभिसम्बध्यते'' गुब्बारेका सूचिकाविस्फोटन :

अतः अब रह जाती है 'च'कारको [७] अन्वाचयार्थक स्वीकारनेकी कथा. उस सन्दर्भमें यह अवधेय है : अन्वाचय तो सर्वदा उद्देश्यसिद्धिके बाद अनुद्देश्यसिद्ध्यर्थ अनुज्ञारूप ही होता है.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो **''चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''**रूप आचार्योपदेशमें न तो तनुजा और न वित्तजा ही उद्दिष्टतया या उपदिष्टतया सिद्ध होंगी. अर्थात् ये दोनों सेवायें उद्देश्यीभूत या उपदेश्यीभूत तनुवित्तजाकी अंगभूता ऐसी अवान्तरक्रिया सिद्ध होंगी. अतः अंगी तनुवित्तजा क्रियाकी स्वरूपान्तःपातिनी होनेके रूपमें ही अपना स्वरूपलाभ कर पायेंगी, स्वतन्त्रतया नहीं. क्योंकि प्रधानान्तःपाती अंगोंको 'अवान्तर' कहा जाता है. अतः कैमुतिकन्यायेन प्रधानांगी तनुवित्तजा क्रियाके प्रधानफल, चित्तकी ऐसी भगवत्प्रवणता कि सेवाकर्ताको सेव्य या सेवा की मानसी होने लग जाये, ऐसे प्रधानफलके स्वरूपमें अन्तःपाती दो अंगभूत अवान्तरफलों, संसारदुःखनिवृत्ति

और ब्रह्मज्ञान, की जनिका जो बन पाती हैं, वह भी बन नहीं पायेंगी.

जैसे उपविष्ट पुरुषको ''बहिः गच्छ !'' उपदेशमें अनुपदिष्ट, उत्थान एवं सव्येतर चरणसंचालन, अनुद्देश्य या अनुपदेश्य होनेपर भी, अवान्तरक्रियात्वेन अर्थापत्तिद्वारा अवगत होते हैं. पदकी अभिधावृत्तिके द्वारा अनन्यलभ्य शब्दार्थतया नहीं. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंके जैसा ही कोई अपठित व्यक्ति इनके बारेमें विधिभारकी कल्पना कर सकता है. अथवा द्विविदमुकुटमणि तो उत्थान और सव्येतरचरणसंचालनके बिना बहिर्गमन अनुपपन्न होनेसे ''बहिः गच्छ'' आदेशका मूल अभिप्राय बाहर निकले बिना, वहीं सव्येतरचरणोंके आगे-पीछे हिलाना-डुलाना मान कर मध्यस्थ-विद्वानोंके बीचमें मौखिक शास्थार्थ करनेका आव्हान भी दे सकता है ! अथवा, उदाहरणतया, ''**पुरोडाशं पर्यग्निं करोति**'' विधिमें कोई अग्क्याधान या अग्निप्रज्वालन के विधानकी कुकल्पना भी कर सकता है !

अतएव अवान्तरक्रियाद्वयीके अन्वाचयनार्थ श्रीद्वारकेशजीने संसारदुःखनिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान रूपी अवान्तरफलोंकी साधिका होना समझाना चाहा है. न कि अनुद्दिष्ट या अनुपदिष्ट ऐसी तनुजा एवं वित्तजा क्रियाओंकी उपदिष्टता सिद्ध करनेको. क्योंकि वह तो अंगी तनुवित्तजा क्रियाके स्वरूपान्तःपातिनी हैं. इनका, चाहे अवस्थान्तरतया या साधनान्तरतया, 'तनुवित्तजा'से बहिर्भावन करनेपर इनकी अवान्तररूपता ही निरस्त हो जायेगी. अतः अवान्तरफलप्रदता भी निरस्त होगी ही. तब इनसे न तो मुख्यफल और न अवान्तरफल ही मिल पायेगा, अतः भगवत्सेवाके सन्दर्भमें इन्हें निष्फल या अजागलस्तनकी निरर्थक ही माननी पड़ेंगी. फिरभी 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्' कोई देवलक इनके फलतया उदरपूर्ति परिवारनिर्वाह या भजनकर्तृतया यशोलाभ आदिसे सन्तुष्ट हो तो वह तो प्रावाहिकी भक्तिकी कथा है ! इस विषयमें किसी शास्त्रार्थ या चर्चा की आवश्यकता ही नहीं. व्याकरणशास्त्रके या न्यायशास्त्रके प्रथमा/मध्यमाकी परीक्षामें बैठनेवाले विद्यार्थीकी भी गुरुत्वेन उपासना करके इसे समझा जा सकता है !

ऐसे अर्थलोलुप देवलक स्वयं आचार्यचरणके कुलमें जनमेंगे ऐसा

श्रीद्वारकेशजीको अन्देशा भी होता तो आचार्यचरणानुद्दिष्ट अर्थात् आचार्यचरणानुपदिष्ट तनुजा-वित्तजा क्रियाओंका अंगी तनुवित्तजा क्रियामें अवान्तरभाव या अंगभाव कदापि न समझाते. ''प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः !'' क्योंकि प्रभुचरणने तो खुलासा दे ही रख्खा था कि ''**भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि ते अनभिलषिते तथापि वस्तुस्वभावाद् भवतः**''.

अतएव तीसप्रतिशत अर्थलाभग्रहणार्थी विषयसुखार्थी उदरभरणार्थी निजपूजायशोलाभाद्यर्थी गोस्वामिद्विविदोंका तो चित्त भगवदितर विषयोंमें ही अभिनिविष्ट होता है. जिन अदेवलक भजनकर्ताओंका चित्त, परन्तु, भगवत्सेवामें अभिनिविष्ट होता है, उन्हें तो तनुजा या वित्तजा का विभाजन कदापि अभिलषित नहीं हो सकता. इसीलिये भगवत्सेवाको अपनी आजीविकाके उपार्जनका उपाय न बनानेवाले अजघन्यकोटिके न जाने कितने पुष्टिमार्गीय वैष्णव अपने-अपने घरोंमें अर्थार्थी न होनेके कारण तनुवित्तजा ही करते हैं! यह अमृतवचनावलीमें संकलित पूर्वजोंके वचन तथा पूर्वस्वीकृत स्वयंके गृहीतपक्षके आधारपर भी सिद्ध है ही.

अवधेय है कि आचार्योपदिष्ट ''**कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा**'' (सिद्धा.मुक्ता.१-२) मूलकारिका तो विधिमुखेन कृष्णसेवाकी कर्तव्यता प्रतिपादित कर रही है. फिरभी चर्चासभामें कहा गया कि मन्दमध्यमाधिकारीको तनुवित्तजा करनेका निषेध यहां अभिप्रेत है. इसे ''तुष्यतु दुर्जनः''न्यायेन स्वीकार कर भी चलें, जो आधुनिक पुष्टिमार्गकी एक दुःखद वास्तविकता भी है !, फिरभी पूछा तो जा ही सकता है कि यदि कोई तनुवित्तजा नहीं करता तो वह जघन्य सिद्ध हो गया कि नहीं, बिना शास्त्रार्थके ?

अतएव नूतनशाखाचंक्रमणमें तनुवित्तजाको केवल एक अवस्था मान ली गयी है. और एककर्तृका तनुजा और वित्तजा को सिद्धान्ततः सच्ची सेवा. सर्वाधिक हास्यास्पद विधान तो यह और कर दिया :

> ''**दोनों पैरोंको बारी-बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली-जुली एक मुद्रा बनती है, जिसको लोग गति या चलना**

कहते हैं, एक पैर नहीं कहते... तेजगतिसे चलते हुवे दो पैरोंके ठीकसे दिखाई न पड़नेके कारण एक पैर समझ कर तीसरा एक पैर यानि टांग कहते हैं! जैसे एकसेवा तनुवित्तजा'' ('गदापदातत''पृ.१६).

अब इस मुद्देपर भी कोई सदा दृढ़ ही रहे, तो यहां भी पूछा जा सकता है कि तो फिर ऐसे झांसेकी आवश्यकता ही क्या कि **''वैष्णवोंकी वित्तजाद्वारा हम अधिक राजभोग–मनोरथादि करते हैं – खुद उसका प्रसाद लेते हैं कि नहीं इस बारेमें देवलकजनोचित मौन साध कर – एतावता हमारेमें अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती!''** ('गदापदातत'पृ.२३–२४). यह न्यूनता भला आ कहांसे सकती है, यदि एककर्तृका तनुजा और वित्तजा विभक्त सेवा ही शुद्ध पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो!

अचिकित्स्य अर्थैषणाक्ष्य न हो तो, विद्वानोंकी बात जाने दो, एक अनपढ़ गंवार भी इतनी बात तो सुखेन समझ पायेगा कि दो पैरोंके सहारे सम्पन्न की जाती चलनेकी क्रियामें दो पैरोंसे अधिक तीसरे एक पैरकी नहीं परन्तु चलनेकी क्रियाका एक ही होना प्रकट होता है. इस एक क्रियाका अस्वीकार कर एक वामचरणजा क्रिया और दूसरी दक्षिणचरणजा यों दो क्रियाओंकी तरह एक तनुजा सेवा और दूसरी वित्तजा सेवा की भ्रमणा या महामोह तो द्विविदोंको अपने मतिभेदनवशात् ही हो सकता है. गर्दभादि पशु भी दूर खड़े–खड़े कोई एकचरणको हिलाता–डुलाता रहे और अपने पास न आता हो तो अकारण भीतिग्रस्त होते नहीं. और दोनों चरणोंके सञ्चालनवश अपनी और बढ़नेवाले बलात्कारीको देख कर तो भाग खड़े होते हैं! परन्तु सिद्धान्तचर्चासभामें पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें पुच्छेन निबद्ध या निगृहीत हो जानेके कारण अब शुतुरमुर्गी मानसिकताके वश एक क्रियाकी अंगभूता दो अवान्तरक्रियाओंका दर्शनमोह आत्मत्राणकी अन्तिम भ्रमणा प्रतीत हो रही है!

अब इसपर ध्यान आकृष्ट करनेपर पुनः वही बेतुकी बात दोहरायी जानी निश्चित है कि मध्यस्थविद्वानोंके समक्ष मौखिक शास्त्रार्थमें इन सारी बातोंका खुलासा मुखध्वंसद्वारा कर दिया जायेगा! ख्रों–ख्रों ख्राऊं–ख्राऊं किर्र्र्र्ऽऽऽक्रिच्च्!

(५)

द्विविदोंकी मतिका वैपरीत्य ही कुछ ऐसा होता है : द्रौपदीको पांच पति थे. अतः एक पतिके व्रतको अव्यभिचारसे निभानेका नियम तो तभी निरस्त हो गया, जब भगवान्ने अपनी भगिनीको पांच पतिओंकी पत्नी बनने दिया. ऐसे ही श्रीनाथजीके देवालयकी स्वीकृतिके समय ही पुष्टिमार्गमें जनसाधारणको भगवद्दर्शन करा कर भगवत्सेवार्थ द्रव्यादिके विनियोगद्वारा अस्वीय वित्तसे वित्तजा सेवाकी अनुमति मान लेनी चाहिये. अतएव गदाधरदासजीने भी अपुष्टिमार्गीय बनजारेके द्रव्यसे स्वसेव्यप्रभुको जब भोग धरा और सभीको प्रसाद लिवाया तब एककर्तृका तनुजा–वित्तजा ऐसी दो सेवाओंका सिद्धान्त स्पष्ट हो गया.

ऐसे सारे अन्यथा अभिप्रायमें परपत्नीको ललचानेके या परद्रव्य ऐंठनेके सिद्धान्तोंके संरक्षणकी शिरोमणिता तो अवश्य मानी जा सकती है. इसके सचाईकी परीक्षा तो, परन्तु , गदाधरदासजीकी वार्ताके आधारपर नहीं हो पाती. वह तो कृष्णदासजीकी (८४।७५) वार्ताके आधारपर ही जांची जा सकती है !

कृष्णदासजीकी वार्तामें आता है कि उनके घरमें अतिथि बन कर वैष्णवोंके अकस्मात् आ जानेपर स्वसेव्यप्रभुको भोग धराकर भगवत्प्रसाद लिवानेको घरमें सामग्री नहीं थी. तब उनकी पत्नी अपनेपर कुदृष्टि रखनेवाले धान्यविक्रेता बनियाको रातको आ जायेगी ऐसा वादा करके अनाज ले आयी. स्वसेव्य प्रभुको भोग धर कर वैष्णवोंको भगवत्प्रसाद भी लिवा दिया. बादमें अपनी पत्नीद्वारा दिये गये वादेकी जानकारी मिलनेपर कृष्णदास स्वयं उसे सजाधजा कर अपने कंधेपर बैठा कर कामुक बनियाके घर पहुंचा आये ! एतावता भगवत्सेवार्थ अपनी पत्नीको परपुरुषके पास सजाधजा कर रातको पहुंचानेकी रीतिको स्वसेव्यप्रभुके सुखार्थ अपनी पुष्टिमार्गीय सेवाका सिद्धान्ताभिमत प्रकार घोषित किया जा सकता है क्या ? जैसे बनजारेके अस्वीय द्रव्यसे गदाधरदासजीने निःसंकोच स्वसेव्य प्रभुको भोग धरके वैष्णवोंको प्रसाद लिवाया, वैसे ही कृष्णदासजीने भी तो भगवत्सेवार्थ अपनी भार्याको परपुरुषके उपभोगार्थ रात्रिको चुपचाप उसके घर पहुंचाया था. उस कामुक बनियेके अस्वीय वित्तसे भोग धरके

वैष्णवोंको प्रसाद भी लिवाया था. अतः भगवत्सेवाके अन्तर्गत कामुकोंको अपनी पत्नी उपभोगार्थ प्रदान कर उन कामुक धनिकोंके द्रव्यसे भी भगवत्सुखका अधिक राजभोग–मनोरथादिका भाव रखके सेवा करनेका सिद्धान्त तभी प्रस्थापित हो गया क्यों नहीं मान लेते ?

गामको बेवकूफ बनानेको सारे विवादका केन्द्र केवल [१] एककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा तथा दूसरे [२] श्रीनाथजीके सेवाप्रकार को बनाया जाता है ! इस बारेमें सारी वास्तविकता जबकि स्वयं महाप्रभुने –

> [१] **''भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्... सन्मार्गोपार्जितं न अन्येषां भागरूपं... तेनैव चित्तनिर्वृतिः इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्'' (त.दी.नि.प्र.२।२३६).**

> [२] **तब पूरनमलने दंडौत करि विनती करी जो 'महाराज ! मोकों सेवक करिये और श्रीनाथजी मन्दिर संवरायवेकी आज्ञा करी है, सो आपु आज्ञा देउ तो मैं संवराउं''. तब श्रीआचार्यजी पूरनमलकों नामनिवेदन कराय कहे 'आगरेतें कारीगर बुलावो'. सो पूरनमलने कारीगर बुलाये. तब श्रीआचार्यजी वासों कहे 'मन्दिरको नकसा करि ल्यावो'... तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे 'हमारे ठाकुरको मन्दिर सिखरबंद धुजा–कलसको नाहीं. नंदरायजीके घरकी नांई करो'... जब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबंद धुजा–कलस चक्र ह्वै गयो. तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. *सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है* (८४ वै.वा.२३।१).**

इसे सेवासम्बन्धी औत्सर्गिक सिद्धान्तका अपवाद न मानें तो **''तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो 'हमहू कौन जीवको बिगार करें ? जो अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो... सो जाकों गिरनो होयगो सो आपुही आवेगो''** (८४ वै.वा.८४।१०) अतः श्रीगोवर्धननाथजीके परमभगत बन बैठे इन देवलकोंको

या तो साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीके ही मुखारविन्दकी आज्ञाको अप्रमाण घोषित करनी पड़ेगी. अन्यथा प्रभुचरणने जैसे कहा ''**अधिकारी बिना काम चलेगो नहीं... हम कौनसे जीवको बिगार करें!**'' (८४वै.वा.८४।१०) तदनुसार श्रीगोवर्धननाथजीके सेवाप्रकारको अपवाद या अपसिद्धान्त में से एक कुछ तो मानना ही पड़ेगा. क्योंकि अन्यत्र अधिकारीके बिना चल भी जाता हो पर यहां अनुष्ठेय सेवाप्रकारमें ''**नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति**'' (भग.गीता.६।४०) भगवदुक्त सामान्यनियमका अपवाद ही प्रकट होता है. गोस्वामिद्विविदोंकी अर्थैषणाके अतिरेकका इससे बड़ा सबल प्रमाण क्या हो सकता है कि जिन श्रीगोवर्धननाथजीके भगत होनेका झंडा फरका रहे हैं स्वयं उनके वचनका प्रामाण्य ये नहीं मानते !

ऐसी स्थितिमें साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीकी ध्रुवसिद्धान्तोक्ति यदि देवलकोक्तिकी तरह अप्रामाणिक न हो तो उनके सेवाप्रकारके कारण बिगाड़ होता माननेपर वह आपत्ति पुष्टिमार्गीय सेवाप्रकारपर भी लागू होगी. अतएव इस प्रकारको अपवाद मानें सिवाय गति ही नहीं. यों अपवादतया मान्य करनेपर वहां भगवत्सेवार्थ परद्रव्यके विनियोगकी अनुज्ञाविधिको स्वीय द्रव्यसे भगवत्सेवाके सामान्यशास्त्रकी तुलनामें अपवादशास्त्रतया ही मान्य करना पड़ेगा.

ऋणापाकरण न करनेको पाप माना जाता होनेपर भी, आवश्यकता होनेपर ऋणादानको शास्त्रोंमें कहीं भी निषिद्ध नहीं माना गया है. ऐसे अनिषिद्ध उपायद्वारा भी भगवत्सेवा करनेकी रीतिको वार्तासाहित्यमें एकत्र नहीं प्रत्युत अनेकत्र, स्वयं गदाधरदासजीकी ही वार्तामें भी, निषिद्ध ठहराया गया है : ''**उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है**'' – ''**जहां तांई करज न चुकावे तहां तांई वाकी सेवाको फल वाके पास नाहीं**'' (८४वै.वा.८।१–६०।१). ऐसी स्थितिमें द्रव्य उधार ले वित्तजा सेवा करनेवाले तनुजा सेवाकर्ताकी विभक्त तनुजा और वित्तजा एककर्तृका नहीं, ऐसे तो कहा नहीं जा सकता. फिरभी भावप्रकाशकार उसे वित्तदाताकी सेवा मान रहे हैं. इसे श्रीपुरुषोत्तमजीके ''**नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः**

तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' (सि.मु.वि.प्र.२) इस वचनसे संवादित करनेपर गोस्वामिद्विविदोंकी कुत्सित कल्पना निरस्त हो जाती है कि यह निषेध उत्तमाधिकारीके लिये है. क्योंकि ऋणगृहीताद्वारा ऋणरूप लिये धनसे विक्रीत अन्न वस्त्र या गृह अथवा अनुष्ठित विवाहादिकर्मोंसे प्राप्त भार्या आदिपर अजघन्य ऋणदाता कभी अपना स्वत्व प्रकट नहीं करता. केवल ऋणके अपाकरणकी ही अपेक्षा रखता है.

अतः लौकिक न्यायकी तुलनाद्वारा देखनेपर ऋण ले कर की गयी भगवत्सेवा ऋणगृहीताकी ही होनी चाहिये थी, ऋणदाताकी नहीं. भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया परद्रव्यग्रहण करनेवाले देवलकोंके ठाकुरजीको कतिपय श्रद्धाविहीन धनिक वैष्णव और सरकारी कानून भले ही वैष्णव जनताके सार्वजनिक धर्मानुष्ठानार्थ भगवत्स्वरूप मानते हों परन्तु अधिकांश भोली ग्रामीण जनता तो कुछ भी समझे बिना द्रव्य प्रदान करती रहती है.

उन्हें मालूम भी नहीं होता कि वे क्यों एतदर्थ द्रव्य दे रहे हैं. क्या गोस्वामिद्विविदोंको उनके स्व(सु + अ = स्व)धर्माचरणरूपा भगवत्सेवामें सहायताके हेतु, या (दे धनाधन पैदा कर बढ़ा रखे) विशाल परिवारके पालनके हेतु, या द्रव्यदानको भ्रान्तिवश अपने साम्प्रदायिक कर्तव्य मान लेनेके हेतु, या इन द्विविदोंके सेव्य भगवत्स्वरूपमें श्रद्धातिरेकके वश, या मठड़ी-मोहनथाल आदि मिठाई खरीदनेके हेतु, अथवा गाममें अपनी प.भ.के रूपमें विख्यातिके हेतु, इनमेंसे किस हेतुके वश दे रहें हैं, यह वे खुद भी जानते नहीं होते ! ऐसी स्थितिमें यह वित्तदान तनुजा करनेवालेकी वित्तजा सेवा हो कैसे पायेगी ? यदि वह देवलक न हो !

अतः परिवारेतरजनोंके द्रव्यसे भगवत्सेवा सम्पादित करनेकी निषेधाज्ञा स्पष्ट शब्दोंमें दे ही रख्खी है. फिरभी तनुजा और वित्तजा के एककर्तृकताके बहाने बना कर यदि बलीयसी भगवदिच्छा अथवा गदाधरदासजीके आधिदैविक सामर्थ्य के कारण बनजारेके दैवी जीव होनेका बहाना बना कर परद्रव्य लिया जाता है तो श्रीकृष्णकी रासक्रीडा या श्रीबलरामका मदिरापान या प्रद्युम्नका अपने मामा रुक्मीकी कन्या रुक्मावतीसे विवाह आदिको भी शास्त्रतः अनुमोदनीय

कृत्य मानना पड़ेगा ! अन्यथा श्रीनाथजीके देवालयकी रीतिकी तरह ही गदाधरदासजीकी बनजारेके द्रव्यसे की गयी सेवा भी ''**भगवत्सेवायामपि... इतरनिषेधार्थम्...**'' वचनोक्त उत्सर्गविधिका अपवाद माने बिना कोई गति ही शेष नहीं रह जाती है. यह न स्वीकारनेपर तो कृष्णदासजीके प्रकारको भी अनुसरणीय मानना पड़ेगा.

अतः आचार्यवंशजोको भी कृष्णदासजीके जैसी एककर्तृका तनुजा और वित्तजा दो सेवाओंका सिद्धान्त ''**तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा**'' विधानके लक्षणोदाहरणतया अपनाना पड़ेगा, केवल गदाधरदासजीके अनुसरणसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है. ''**यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेव इतरो जनः स यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तद् अनुवर्तते**'' (भग.गीता.३।२१)न्यायेन पहले स्वयं अपने जीवनमें कृष्णदासजीकी सेवानिष्ठा चरितार्थ करके दिखानी पड़ेगी कि नहीं ? अथवा कृष्णदासजी, किस अर्थमें, गदाधरदासजीसे निम्नकोटिके भक्त थे ? यह कोई खुल कर तो बताये ! अतः श्रीनाथजीके देवालय या गदाधरदासजी और कृष्णदासजी परद्रव्यसे सेवा-प्रसादवितरणके प्रकारको आधिदैविक सामर्थ्यवश अनुष्ठित सेवाका आपवादिक प्रकार माने सिवाय कोई गति नहीं रह जाती.

अपनी मूढताको अनावृत करने ''अव्यापारेषु व्यापार''के स्वभावसिद्ध दुर्व्यसनके वश एक विधान ''**शास्त्रमें प्रतिप्रसव निषिद्धका होता है अपवादका नहीं. मगर कौन समझाये भोलेनाथको...? इनका बस चले प्रतिप्रसवका प्रेतप्रसव कर डालें**'' ('गदापदातत'पृ.३) किया है. यह तो अच्छा ही किया ! क्योंकि कहा गया है कि ''**शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः**'' अतः मनकी स्वच्छन्दचारितामें विधिका बन्धन मरणाधिक त्रासदायक लगता होनेसे विधिके स्वरूपमात्रका अज्ञान यहां प्रकट हो गया ! पूर्वमीमांसाभाष्यमें सुस्पष्ट शब्दोंमें -

> ''**विधिः कः ? यद् वाक्यम् उपलभ्य पुरुषः (नतु प्लवंगमः) कस्मिंश्चिद् अर्थे(नतु अनर्थे) प्रवर्तते. कुतश्चिद् (सर्वत्र अर्थोपार्जनैकव्यसनाद्) वा निवर्तते स विधिः. विधीयते हि अनेन (नतु जघन्याधिकारसम्पादको अनर्थः प्रत्युत) अर्थः**

इति'' (पू.मी.भा. ७।४।२।१०).

बलवद् अनिष्टसे असम्पृक्त ऐसे इष्ट=अर्थमें प्रवर्तनार्थ विधायक वचन उत्सर्गरूप सामान्यशास्त्र होता है. इसी तरह बलवद् अनिष्टसे सम्पृक्त इष्ट; या अल्प इष्टसे सम्पृक्त बलवद् अनिष्ट, से निवर्तनार्थ निषेधक वचनको भी विधि ही माना जाता है. यों ये दोनों ही 'सामान्यशास्त्र' कहलाते हैं.

अतएव विधिके [१]सामान्य [२]विशेष [३]प्रतिप्रसव [४]अभ्यनुज्ञा [५]उपसंहार [६]व्यवस्था [७]पर्युदास [८]अभाव [९]साधारण [१०]उत्कर्ष और [११]अपकर्ष यों ग्यारह प्रकार माने गये हैं. इन ग्यारह सामान्यादि विधिके प्रभेदोंको जातिविधि गुणविधि द्रव्यविधि और क्रियाविधि के प्रभेदोंसे चतुर्गुणित करनेपर ४४ प्रभेद बनते हैं. इन्हें पुनः उद्देश्यविधि विधेयविधि या उभयविधि के तीन उपभेदोंसे त्रिगुणित करनेपर १३२ भेदोपभेद सिद्ध होते हैं. प्रकारन्तरतया पुनः अपूर्वविधि नियमविधि या परिसंख्याविधि की तरह ही उत्पत्तिविधि विनियोगविधि अधिकारविधि आदि कितने सारे भेदोपभेद-अवान्तरभेदोंसे भरपूर यह शास्त्रीय तत्त्व है.

इन्हें न तो काव्यकल्पनाके आधारपर और नहीं किसी बेचारे दीन गज्जाजीके मज्जाशोषणद्वारा ही समझा जा सकता है! इन गम्भीर विषयोंका परीक्षारहित उद्देशसंकीर्तन भी प्लवंगमाधिकारक विषय नहीं. वह तो विनीतभावसे गुरुचरणोंके पास बैठ कर शास्त्राध्ययन करनेपर ही बुद्धिगत किया जा सकता है.

अतएव कर्तव्यके उपदेशक सामान्य विधिशास्त्र और अकर्तव्यके उपदेशक सामान्य निषेधशास्त्र के बाधको 'अपवादशास्त्र' कहा जाता है. इस अपवादशास्त्रके भी बाधको पुनः 'प्रतिप्रसवविधि' माना गया है. इसे सीमित परिधिमें न ले कर [१]सामान्य-[२]विशेष-[३]प्रतिप्रसवके क्रमानुरोधवश लिया जाता है. यह अर्थैषणाक्ध्यकी भलीभांति चिकित्साके बिना बुद्धिगत हो सके, ऐसी तो कथा ही नहीं है. यह तो शास्त्रैकचक्षु विद्वज्जनोंकेलिये ही अवलोकनार्ह विषय है. फिरभी तत्त्वबुभुत्सुओंके अवबोधनार्थ यह खुलास करना आवश्यक है.

इनके अन्तर्गत 'अपवादशास्त्र'के दो रूप होते हैं : [१]विध्यपवादरूप

निषेधवचन और [२] निषेधापवादरूप विधिवचन.

इस तरह अन्यतररूप अपवादशास्त्रके भी बाध करनेपर जो प्रतिप्रसव होता है वह भी [१] निषेधका प्रतिप्रसव हो तो विधिरूप हो जाता है और [२] विधिका प्रतिप्रसव हो तो निषेधरूप हो जाता है.

अतएव विधिवशात् प्राथमिक प्राप्तिका अनुसरण करवानेके अर्थमें द्वैतीयीक अप्राप्तिके बाधद्वारा **''अकर्तव्यत्वेन उक्तस्य कर्तव्यत्वेन उक्तिः प्रतिप्रसवः''** (बाल.९९) भी कहा गया है. ऐसे ही रागान्तरवशात् द्वेषवशात् या निषेधवशात् प्राथमिक अप्राप्तिके बाधतया द्वैतीयीक प्राप्तिके बाधनार्थ भी प्रतिप्रसव हो सकता है. अतएव **''न हिंस्यात् सर्वभूतानि''** (छान्दो.उप.८।१५।१) निषेधरूप वचनके बाधार्थ अपवादतया **''अग्निषोमीयं पशुम् आलभेत''** (तैत्ति.संहि.६।१।११) वचन विधिमुख होता है. यह विशेषबाध है. अतः स्वाभाविक रूपमें छान्दोग्योपनिषद्वचनसदृश वचनोंसे प्राप्त ही हिंसासे निवर्तनके अपवादतया कर्मयोगके अन्तर्गत कर्तव्यत्वेन विधिविहित आलम्भनके भक्तिमार्गीय साधनामें बाध करनेको भागवतमें –

''निषेवितेन अनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन न अतिहिंस्रेण नित्यशः।।''

(भाग.पुरा.३।२९।१५).

इस वचनकी सुबोधिनीमें आचार्यचरण कहते हैं कि निर्गुणभक्तिके साधनोंमें मुख्य साधन अन्तःकरणकी शुद्धि होती है. इनमें आधिभौतिक साधनोंद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि धर्मार्थ होती है. आध्यात्मिक साधनोंद्वारा ज्ञानार्थ अपेक्षित शुद्धि होती है. इसी तरह जो आधिदैविक साधन होते हैं उनसे भक्त्यर्थ परम शुद्धि सिद्ध होती है. ये क्रमशः स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक उपाय हैं. इन स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक कर्मोंका अनुष्ठान मुख्यकल्पतया और कामनारहित हो कर करना चाहिये (अनुसन्धेय जिन कर्मोंमें पदे-पदे फलश्रुति मिलती है, उनको भी भक्त्यंगतया करना हो तो महाप्रभु निष्कामतया अनुष्ठेय बता रहे हैं. जबकि उनके वंशज होनेके अलावा अन्य किसी भी तरहकी फूटी कोड़ीकी भी

योग्यता न रखनेवाले गोस्वामिद्विविद स्वयं अर्थार्थितया ही भक्ति करनेकी वक़ालत करते लजाते नहीं !).

इसके बाद श्रुतिविहित अनिषिद्ध पश्वालम्भनके प्रतिप्रसवार्थ अतिहिंसाका निषेध समझा रहे हैं. अतएव यज्ञकर्म भी जब फलार्थ होता है तो वह भौतिक कर्म बन जाता है, शुद्ध्यर्थ होता है तो आध्यात्मिक और भगवदर्थ होता है तभी आधिदैविक, ऐसा स्वीकार सुबोधिनी (१० ।६७ ।४१) में किया है. अतः अर्थार्थितया स्वयं भक्तिकी वक़ालत करनेवाले अपनेको महाप्रभुके वंशज माननेमें शरमाते क्यों नहीं ?

स्मृति और तन्त्र दोनोंके प्रामाण्यके अनुरोधवश देवद्रव्योपभोग या आजीविकार्थ या अर्थोपार्जनार्थ भगवदाराधना व्यक्तिको देवलक बनाती है, यह प्राप्त ही था. अतः इस बारेमें नूतन विधानकी या निषेधकी कोई अपेक्षा ही नहीं थी. अतएव नरहरदासकी वार्तामें **''तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे''** (८४ वै.वा.भा.प्र.१ ।७१) यो आपने देवद्रव्योपभोगकी निषिद्धतामें अपनी अचलनिष्ठा भी प्रकट की ही है.

अतएव, अर्थैषणान्धोंको न भी समझमें आता हो परन्तु, गदाधरदासजीको तो समझमें आया ही था. अतएव अर्थार्थी बन कर नहीं प्रत्युत सर्वथा भगवदर्थ ही भगवत्सेवा करते थे. अतएव स्वयंके यजमानोंसे स्वयंको जो कुछ अयाचित मिलता उसका भी संग्रह नहीं करते थे **''तनुजा/वित्तजा जो बने सो करें (यदृच्छालाभसन्तुष्टतया ही नकि भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया... अधिक राजभोग–मनोरथादि करवाने भी) बहोत संग्रह करे नाहीं (और न हवेलीट्रस्ट बना कर व्यापारिक पेढ़ीपर समाधानी बैठा कर भगवत्सेवार्थ आते परद्रव्यके लाभमेंसे तीस प्रतिशत मेहनताना लेकर ही) जो आवे ताकी सामग्री करि श्रीमदनमोहनजीको भोग धरें. वैष्णवकों महाप्रसाद लिवाइ देते''** (८४ ।८ वै.वा.भा.प्र.), यह गदाधरदासजीकी ही वार्ताके भावप्रकाशके आधारपर भी सिद्ध होता है. न तो वे देवद्रव्यसे भगवत्सेवा सेवा करते थे और न आजीविकार्थ ही. यह तो दिनके उजालेके जैसी साफ बात है. देखने लायक बात यही है कि

ब्राह्मण होनेके कारण गदाधरदासजीको दानरूपेण जो कुछ मिलता उसका ही शास्त्रानिषिद्ध आजीविकाके उपायतया प्रतिग्रह करके सेवा करते थे. अतएव उनकी सेवा स्वीय तनु और स्वीय वित्त से ही सिद्ध होती थी. सो इनकी भगवत्सेवा एककर्तृका अविभक्त तनुवित्तजा ही थी. अतएव अपने निजी वित्तके विनियोगके दृढ़ आग्रहवश ही उधार लेकर भगवत्सेवा नहीं की **''उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है इनकी सेवा नहीं''** (८४ वै.वा.भा.प्र.८ ।१) ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंका सेवाप्रकार तो इनके सेवाप्रकारके जूतेसे भी होड़ नहीं कर सकता.

ऐसी स्थितिमें सन्तदासजीने भी जो अपने सेव्यप्रभुकी सेवाके हेतु जो सम्पत्तिका बंटवारा किया वह भी मूलमें देवसम्प्रदानकतया देवस्वामिक द्रव्य न हो कर महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिके अनुसार भगवत्सेवार्थ न्यस्त स्वद्रव्य था, परद्रव्य नहीं. वह तो भगवत्सेवाप्रयोजनक केवल द्रव्यन्यास था. फिरभी उस द्रव्यका वे प्रसाद नहीं लेते थे. यह सन्तदास चोपड़ाकी वार्तामें **''कछू दिनमें तेरो सगरो द्रव्य नास होइगो. जो द्रव्य श्रीठाकुरजीमें लगावेगो सो रहेगो. परन्तु श्रीठाकुरजीको वैभव बढ़ाये पाछे जब द्रव्य न होई तब वामेंते खानपान करे सो बहिर्मुख होई'' – ''तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीकी पूंजीके द्रव्यमेंते चोबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते... तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते महाप्रसाद लेते''** (८४वै.वा.भा.प्र.७६ ।१). यह भगवत्सेवार्थ महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिमें देवद्रव्यभक्षणके निषेधकी उपसंहारविधिका उदाहरण है. कण्ठतः वर्णित न सही परन्तु सम्भव ही नहीं कि उधार ली हुयी पूंजी उन्होंने शनैः-शनैः चुकायी न होगी. यह उधार लेकर भगवत्सेवा करनेके सामान्य निषेधकी आपवादिकी रीति नहीं तो और क्या थी ?

अतः किस वार्तामें भगवत्सेवाविधिके विहित-निषिद्ध प्रकारोंका उत्सर्ग या सामान्य शास्त्रीय प्रकारका उदाहरण प्रकट हुवा है, किसमें विहित/निषिद्ध प्रकारोंके बाधद्वारा अपवादशास्त्रका उदाहरण; अथवा पुनः अपवादशास्त्रद्वारा बाधित प्रकारके प्रतिप्रसवशास्त्रका उदाहरण वार्तामें प्रकट हुवा है, इसे समझे

बिना उल्लांगूल प्लवंगमकी तरह एकशाखासे अपरशाखापर निरन्तर चंक्रमण करना कप्यर्थ हो सकता है पुरुषार्थ नहीं.

(६)

अतः आचार्योपदिष्ट सेवाकी देवलकप्राणशोषिका रीति तो ''एतेन भगवदर्थं निरुपधि स्व सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्व देहविनियोगे प्रेम्णि (नतु आजीविकाद्यर्थम्) जाते सा (चेतस्तत्प्रवणरूपा सेवा) भवति भावः'' (सिद्धा.मुक्ता.विव.२) है. इस रीतिके त्याग किये बिना अर्थात् अपनी भगवत्सेवाके हेतु परधन वापरे बिना केवल हृदयमें ''मेरी ऐहिक सारी कामना सेव्यप्रभु पूर्ण करेंगे'' ऐसा सोच कर भी कोई भजनमें प्रवृत्त हो सकता है. अतः ऐसे भी प्रकारका एक लोकार्थी हो सकता है. उसे भगवत्सेवार्थ या अपने ऐहिककामपूर्तिके हेतु धनलाभ न होता हो और सर्वथा क्लेश ही पाता हो और भगवत्प्रिय आचार्यके मार्गपर दृढतासे टिका भी रहता हो तो ऐसोंका भजन व्यर्थ नहीं जाता. कभी न कभी जन्मान्तरमें भगवान् ऐसे सेवा करनेवालेपर अनुग्रह करते हैं, यह कहा जा रहा है नकि दर्शनार्थी जनताको अपनी प्रभुसेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे भगवत्सेवा निभानेवाला और तद्द्वारा अपने आर्थिकलाभका अथवा अपनी पूजाका अथवा अपनी कीर्तिके बिगुल बजानेको छप्पनभोग या भगवत्सेवास्थल के व्यापारिक विज्ञापन बुलशिण्मथरायकी तरह औरकुटपर प्रकाशित करनेवाला. व्यापारिक पेढ़िओंकी तरह हवेलीकी पेढ़ीपर नियुक्त समाधानियोंद्वारा भगवत्सेवार्थ अर्थसंग्रहकी नौटंकी करनेवालेका भगवद्भजन, न तो वार्तामें और न कण्ठोक्त उपदेशोंमें ही, व्यर्थ न जानेकी बात कही हुयी मिलती है. अतः ऐसा भजन भगवद्गामी नहीं होता है, ऐसा प्रकाशकार स्पष्ट कह रहे हैं.

अतएव ''**अत्र एवं मम प्रतिभाति**''अनुच्छेदमें जो त्रिविध संसारी बताये हैं, उनमें जो संसारनिवृत्तिकी कामनाके वश भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता हो उसे 'अर्थार्थी' मानना तो द्विविदमतिविलास है.

(७)

इसके अवान्तर प्रभेदतया ''**सेवानाग्राही भी प्रतिफलाद्यर्थ दुराग्रहेण भगवत्सेवामें प्रवृत्त अतिजघन्यतर भक्त**'' ('गदापदातत'पृ.२५) जो कहा है वह तो ''मम माता वक्ध्या'' वचनके सदृश वदतोव्याघातरूप प्रतिपादन है. प्रकाशकार आग्रही और अनाग्रही का इन अर्थोंमें नहीं प्रत्युत भगवत्सेवार्थ अपेक्षित धनकी प्राप्ति न होनेपर पड़ते क्लेशके बावजूद जो भगवत्सेवाको निभाता है उसे भगवद्–असन्तोषकारक दुराग्रह मान रहे हैं :

> ''**तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वप्रकारैः लोकतएव क्लेशं प्राप्नोति. तत्र आद्यस्तु क्लिष्टोऽपि लोकाद् विरज्य चेद् भजेत् कृष्णं तदा उक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैः लोको बाह्यः आन्तरः च नश्यति. ततो 'मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्' इति न्यायेन इह वा परत्र प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवति...**''(**सि.मु.वि.प्र.१६–१७**).

इसे ''**'अत्याग्रहप्रवेशे'=स्वस्य वा परम आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरन्ति... तत्र पूजा त्यक्तव्या ...**''(त.दी.नि.२।२४७) वचनसे संवादित करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जिसे भगवत्सेवाके त्यागकी आज्ञा दी जा रही है, वह भगवत्सेवाके दुराग्रहवश न छोड़े तो सर्वथा क्लेश ही पाता है. यही है उसका अवान्तरफल. क्योंकि वार्तामें सुस्पष्ट शब्दोंमें ''**आचार, क्रिया, द्रव्य सों श्रीठाकुरजी प्रसन्न नाहीं, श्रीठाकुरजीमें प्रीति चहिये**'' (८४वै.वा.४२।१) निर्धारित किया ही गया है. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थी सेवाकर्तापर उसके सेव्यप्रभु प्रसन्न ही नहीं हो पाते. क्योंकि वस्तुतः वह न तो भगवदर्थी होता है और न भगवत्सेवार्थी ही. भगवान् तो निष्किञ्चनजनप्रिय होते हैं और निष्किञ्चनभावेन जो सेवामें परायण हो वही प्रभुके सुखका वास्तविक भाव निभा पाता है, अर्थार्थी नहीं.

ऐसे अवान्तरफलानुभवके अभावमें तत्कारणीभूत भगवदनुग्रहका भी

अभाव अनुमेय बनता है. उदाहरणतया शोखमोजके साथ केवल परिवारपालनार्थ वल्लभवंशजों द्वारा किये जाते भगवद्भक्तिके व्यापारिक अनुष्ठानोंके कारण कमसे कम हम वल्लभवंशजोंपर तो पुष्टिप्रभुके अनुग्रहका अभाव सुनिश्चित ही लगता है. परन्तु जो आचार्याज्ञाका अनुसरण करते हुवे भगवत्सेवाके बजाय कथा प्रपत्ति तीर्थाटन आदि अनुकल्पोंका अनुसरण करते हैं, उनपर भगवान् जन्मान्तरमें प्रसन्न हो सकते हैं.

देखने लायक बात है कि सद्योगृहीत वार्ताप्रामाण्यका पक्ष भी नूतन प्रतिपादनमें छोड़ दिया गया है : ''**महाप्रभुने देवीभक्त बंगालिओंको श्रीनाथजीकी सेवा नहीं सोंपी थी... वे बंगाली देवीभक्त नहीं प्रत्युत पुष्टिसम्प्रदायके ही निकटतम अनुयोगी ऐसे माध्वगौड़सम्प्रदायके रूपसनातनके शिष्य थे**'' ('गदापदातत'४). तो यही तो है श्रीगोवर्धननाथजीमें इन गोस्वामिद्विविदोंकी निष्ठाके ह्रासका प्रबलतम प्रमाण ! द्रष्टव्य :

> ''**तब एक दिन श्रीगोवर्धननाथजीने अवधूतदासजीकों जताई जो 'तुम कृष्णदास अधिकारीसों कहो जो इन बंगालीनकों निकासो... और ये बंगाली मोकों भोग धरत हैं सो इनकी चुटियामें एक देवीको स्वरूप है सो मेरे पास बैठावत हैं. तासों इन बंगालीनकों बेगि काढ़ो**'' (८४वै.वा.८४।२).

कारण इसमें और कुछ नहीं श्रीगोवर्धननाथके सेवाप्रकारकी पुष्टिमार्गीय होनेकी शपथ खा रखी होनेके कारण बिना भी ब्रह्मसम्बन्धके भगवत्सेवाके शक्य होना सिरपर आ पड़ेगा. तब अपनी सृष्टि बढ़ा कर मुख-सिर-हाथ-पैर आदि अनेक अंगप्रत्यंगोंसे जनताके द्रव्य ऐंठनेमें प्रतिबन्धकी सम्भावना सताने लगती है !

अतएव किरीटभाई फटानियाके विरोध करनेको सिद्धान्त रटने लगते हैं ''वल्लभवंशज न होनेसे उसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेका अधिकार नहीं है'' पर वंशप्रवर्तक महाप्रभु स्वयं यह आज्ञा करते हैं कि भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण न होनेपर किसीको भी गुरु बनाने अथवा ऐसे व्यक्तिसे भगवत्स्वरूपको पुष्ट करवाने के बजाय स्वयं ही भगवत्सेवा प्रारम्भ कर देनी

चाहिये *''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''* (त.दी.नि.२।२२८). तब सिद्धान्तके साथ लुकाछिपी खेलना चाहते हैं. प्रतिप्रश्न करने लगते हैं ''हमारे भीतर गुरुके लक्षण हैं या नहीं जांच करने योग्य वैष्णवोने अपने-आपको कैसे मान लिया ?'' जबकि श्रीपुरुषोत्तमजी भी स्पष्ट शब्दोंमें **''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य... स्वयमेव सेवाकरणेऽपि...''** (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८) व्याख्यानद्वारा इसका अनुमोदन कर ही रहे हैं. ऐसी स्थितिमें यह तो पूछा ही जा सकता है कि किरीटभाईमें अधिकाधिक गुरुलक्षणाभाव होगा परन्तु भगवत्सेवाका व्यापार करनेवाले हमारे गोस्वामिद्विविदोंमें तो सर्वथा विपरीत लक्षण ही प्रकट हो रहे हैं उसका क्या ?

एतावता सिद्ध हो जाता है कि अपनी प्लवंगममतिके दुर्भाग्यवश इस वार्ताप्रामाण्यके पक्षको भी इन गोस्वामिद्विविदोंको शीघ्र ही पुनः छोड़ना ही पड़ेगा. इसमें मूलहेतु एक अन्य ही कर्णोपकर्ण सुनायी दिया तथ्य है. इन द्विविदवृन्दके सदस्योंको अपनी दुर्दम द्रव्यवासनाकी पूर्तिके हेतु किसी कामाख्यादेवीकी भी नित्यपूजा करनी पड़ती है. एतदर्थ श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शन बाहर पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको करा कर उससे हुयी आमदनीसे भीतर उस कामाख्यादेवीके पूजनका प्रकार चलाया जाना है. सो कभी पोल अगर खुल भी जाये तो उससे पहले बांध बनानेको यह गोस्वामिद्विविदमुकुटायितका आश्रय लेकर यह लिखवाया गया है. यदि श्रीगोवर्धननाथजीके प्रति लेशमात्र भी निष्ठा इन लोगोंमें होती तो स्वयं श्रीगोवर्धननाथजीके मुखारविन्दसे निकले वचनको 'अप्रामाणिक' कह पानेका साहस जुटा ही नहीं पाते !

अतः इस विषयमें भी किसी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-विवादका अवकाश ही नहीं है. कोई अपनी बलासे एतदर्थ आत्मना मनसा वाचा अपने-आपको सन्नद्ध मान कर आत्मपीडन करना चाहता हो तो प्रभु करे कि वह सहस्रपरिवत्सरपर्यन्त ऐसी पीड़ासे कभी छुटकारा न पाये ! मुझे तो कोई इस विषयमें किसी तरहकी इच्छा रुचि या उत्सुकता ही नहीं. हां लिखितरूपेण कोई मुद्दा सामने आता है तो वह अन्य भोले लोगोंको पथभ्रष्ट न करे इस हेतुसे लिखित प्रत्याख्यान तो करते रहना तो मेरी पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणद्वयी के प्रति

परमप्रतिबद्धता है. अतः शास्त्रचर्चार्थ ऐसोंके पास जाना या उन्हें बुलाना मेरी घोषित प्रतिबद्धताका भंग होगा ! अतः यही कहा जा सकता है :

उज्र जानेमें भी है और बुलानेमें भी है ।
लग़्वगो जाहिलके तो रुबरु होनेमें भी है ।।
शक्ले–इन्सांमें भटकते हुवे बर्ज़खसे हमें ।
हमक़िरानी ही नहीं हमकलाम होनेमें भी है ! ।।

(८)

इस सारे विवादके मूलमें जो प्रमुख कलहबिन्दु है वह तो आचार्यवचनोपदिष्ट सेवाके प्रकारसे आधुनिक देवलक गोस्वामिद्विविदोंके सर्वथा विपरीत आचरणके कारण उभरता है. इनके आचरण क्योंकि सिद्धान्तवचनोंसे ही केवल नहीं अपितु स्वयं अपने भी तत्तद् अवसरपर अन्यान्य आभिप्रायिक(!) प्रयोजनोंके वश बोली गयी बातोंसे विरुद्ध जाते हैं. ऐसे भुला दिये गये वचन जब पुष्टिमार्गीय जनतामें पुनःप्रकाशित ही नहीं प्रत्युत चर्चित भी होने लगे हैं, तब आक्रोशका ज्वालामुखी फूट पड़ना स्वाभाविक ही है. इस ज्वालामुखीमें से और कुछ नहीं, केवल इन गोस्वामिद्विविदोंके दिलोंमें भरे भय कुण्ठा अपराधबोध आत्मग्लानिजन्य लज्जा तथा आर्थिक संकटकी सम्भावना का लावारस निकल रहा है और कुछ निसर नहीं रहा !

अतएव जो थोड़ा भी लोकमानस और देशकालकी आधुनिकताको पहचान पाये हैं, वे तो मौन रह कर कथञ्चित् प्रतीक्षा करनेमें ही अपना श्रेय मानते हैं. ऊंट किस करवटपर बैठेगा उसका निश्चय इन्हें हो नहीं रहा है. अतः दूरगामी नहीं तात्कालिक हित अधिकाधिक विपरीताचरणद्वारा जनताको बरगलानेमें ही मानने लगे हैं. अतः ''फटाटोपो भयंकरः'' प्रकट करनेवाले विमर्शकारने भी इसका भलीभांति आकलन कर मौनव्रत ग्रहण करनेंमें अपना श्रेय मान लिया है. गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिकी तो कथा निराली ही है ! जैसाकि मेरे पास एक केसेट्में मुद्रित प्रवचनमें अपने स्वरूपके बारेमें स्वयंने मेरे ऊपर अहंकारका आरोप लगा कर यह और स्वीकार लिया कि अहंकारीसे भिड़नेमें भीरु विद्वानोंने

मूढ़ कालीदासको जैसे भिड़ा दिया ऐसे इन्हें मेरे साथ भिड़ा दिया गया है ! अतएव अपने पितृचरणके जन्मोत्सवपर भी बधाईगानके बजाय मर्सियाके जैसा ''दिलके अरमां आसुओंमें ढल गये'' फिल्मीगीतकी तर्ज़पर गाया कि ''**कही गयो ते कही गयानो वसवसो. रही गयुं ते रही गयानो वसवसो. जीववुं निष्काम मुश्किल काम छे. ज़िन्दगी एक वसवसानुं नाम छे !**'' गाये चला जा, गाये चला जा, एक दिन तेरा भी ज़माना आयेगा. अतः अपने इसी ऐसे क्षोभको ''कोति पुण्डु ब्रह्मराक्षसम्'' बनानेमें पता नहीं, अपनी बुद्धिका क्या प्रकर्ष मान लिया है !

विचार्यविषयका पञ्चमांग संगति :

इस बदहवासीमें किसीको बादमें न घिरना पड़े इसीलिये तो सिद्धान्तचर्चासभासे पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' नामक वचनसंकलनमें–

[१]सेवोपदेशदीक्षा [२]सेवास्वरूप [३]सेवाप्रदर्शन.

[४]सेवाप्रयोजन [५]सेवास्थल [६]सेव्यस्वरूप.

[७]सेवार्थ आजीविका [८]सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक [९]सेवोपदेष्टा.

[१०]भागवतकथा [११]स्वसेव्यस्वरूप–प्रसादग्रहण [१२]तीर्थपर्यटन.

और

[१३]आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकार.

इन शीर्षकोंके नीचे पूर्वाचार्योंके ग्रन्थस्थ वचनोंको संकलित किया गया था. इसी तरह 'अमृतवचनावली' नामक अन्य वचनसंकलन भी इन सिद्धान्तवचनोंकी परम्परया क्या व्याख्या होती चली आयी है वह एकवाक्यता दरसाने तथा संस्कृतभाषासे अनभिज्ञ जनताको भी वह समझमें आ जाये एतदर्थ प्रकाशित करवायी गयी थी. उसका भी चर्चासभामें चर्चार्थ प्रामाण्य स्वीकारनेसे अपनी अप्रतिबद्धता मुझे सूचित की गयी. अतएव चर्चाके समय उसे परिशिष्टतया साथ प्रकाशित करवानी पड़ी.

मेरा इन दोनों तरहके वचनोंके संकलनोंमें प्रमुख सदुद्देश्य यह भी था कि जो भी कोई चर्चार्थ उद्यत होना चाहता हो उसे विवादास्पद मुद्दोंकी गंभीरताका

आकलन हो पाये. मैं नहीं समझता कि वह आकलन लेशतः भी न हो पाया होगा. क्योंकि बहोत सम्भव है कि चर्चामें अर्थहीन बातोंके निरर्थक खुलासा पूछ-पूछ कर सारी चर्चाको सबॉटेज करनेकी जो कुटिलता दरसायी गयी वह इसीलिये अपनायी गयी होगी. अतः अन्तमें मुझे घोषित करना पड़ा कि चर्चाकारद्वारा पक्षग्रहणके अभावमें चर्चा आगे नहीं करूंगा. तब भी यदि डटे रहते कि किसी तटस्थ विद्वान्के माध्यस्थ्यके बिना पक्षग्रहण नहीं करूंगा तब तो कुछ बात बन भी जाती. हानि तो केवल एक ही सम्भावित थी कि चर्चामें उपस्थित जनता यही सोच लेती कि चर्चार्थ उद्यत होनेपर भी अपना पक्ष क्या है वह बता नहीं पाये ! सो पक्षग्रहणपर बलात्कारके आरोप लगा कर, जो अभी तक चालु रखा है, चर्चार्थ उद्यत होना पड़ा.

वैसे तो यह सिद्धान्तचर्चाके आयोजकोंने अपनी नियमावलीमें (९) (१०) (११) (१२) और (१३) नियमोंके अन्तर्गत यह महीना भर पहले ही स्पष्ट कर दिया था. फिरभी उन्हीं चर्चानियमोंके आधीन चर्चा करनी या नहीं करनी, ऐसी बेतुकी चर्चामें कालयापनकी कुटिलता दिखलानी पड़ी. **''सिद्धान्तवचनोंके भावानुवाद क्यों पढ़ें ?'' या ''पढ़े ही नहीं !''** जैसा बचकाने बहाने चल न पाये एतदर्थ अशुद्धिनिर्दशनके अन्तर्गत भरी सभामें सबके सामने ''करो अंडरलाईन ! करो अंडरलाईन'' का 'दे धनाधन' नाटक मैंने भी बड़ी दैर तक चलने दिया. परन्तु समझ न पाये कि बात जा कहां रही है ! और पक्षग्रहणमें सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित सीमित वचनोंमें बंधनेको इन्कार कर स्वयंने ही अन्य भी वचनोंकी संगतिके विचारकी भी आवश्यकता स्वीकार ली. परिणामतया 'अमृतवचनावली'में संकलित वचनोंको भी विचारनेकी आवश्यकता भी स्वयं गलेमें बांध ली.

जब महाप्रभुसे प्रारम्भ कर अधुनावर्ती अनेकानेक वृद्ध पुरुषोंके वचन, जिन्हें साधारण जनताको समझनेमें संस्कृतभाषाकी तरह किसी कठिनाई आ ही नहीं सकती थी, उनका भी प्रामाण्य स्वीकार लिया तो, विचारणीय कुछ भी शेष ही रह नहीं गया. स्वयंस्वीकृत प्रामाण्यके बन्धनमें स्वयंको बुरी तरह फंसना पड़ा. स्वयंको अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालोंके वचनोके अलावा स्वयं अपने नि.ली. पितृचरणके वचन भी स्वयंके मस्तक पर वज्रपातकी तरह आ पड़े !

इससे उद्विग्न होना तो स्वाभाविक बात थी. अतः अस्थिरमति होनेकी विडम्बना ऐसी नहीं तो कैसी होगी ! ये सारे पहलु चर्चार्थ उद्यत होनेसे पहले शान्तचित्तसे विचारे होते तो ऐसी दुर्गति नहीं होती. पर ''दैवो हि दुरतिक्रमः''न्यायेन जो होना था सो हो ही गया ! सांझको चर्चा समाप्त करनेको मेरे घर आ कर **''सौराष्ट्रकी जनतामें इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा. सो आपसी मिलीजुली चर्चाद्वारा समय व्यतीत कर चर्चासभाके सम्पन्न होनेकी घोषणा कैसे करनी''** यह समझाने लगे. इसलिये मैं उद्यत नहीं था क्योंकि न तो मेरी कहीं सृष्टि है और न यह चर्चा मेरेलिये अपनी छबिको उभारनेकी कोई योजना थी. मेरा प्रयोजन तो मैंने अन्तिम दिनके सत्रमें भरी सभामें प्रकट किया ही था. इसे विस्तृ.विव.में पढ़ा-विचारा जा सकता है. यदि अब भी हिम्मत हो तो मेरेपर मिथ्याभाषणका आरोप न्यायालयमें लगाया ही जा सकता है और वहां सारे प्रमाण प्रस्तुत करने मैं प्रतिबद्ध हुं. द्विविदमतिके वैभवका अपर उदाहरण यह और देखने लायक है कि जामनगरकी हवेलीके चोकमें भाषण करते समय यह और स्वीकार लिया कि कुछ भी बात करनी हो तो सम्हाल कर करनी चाहिये क्योंकि छिपे टेपरेकार्डरसे बातके रेकार्ड हो जानेकी सम्भावना है. जैसे चर्चामें सिद्धान्तपक्षकी प्रस्तुतिके कारण प्राप्त सन्मानपत्रके अप्रामाणिकताकी घोषणा स्वयंने निजहस्ताक्षरोपेत दी परन्तु सौराष्ट्रमें पुनः सन्मानपत्र पानेकी सन्मानसभाओंके आयोजन न करनेका लोभसंवरण हो नहीं पाया ! फलतः मुझे वह पत्र प्रकाशित करवाना पड़ा. ऐसे ही उद्ध्वस्त मनःस्थैर्यके वश पुनः 'गदापदातत' प्रकट हो गयी है.

इसमें जो अब अष्टविध अर्थार्थीके प्रभेद दिखलाये गये हैं, उनमें गीतोक्त अवशिष्ट तीनों अर्थात् आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव मानें तो कण्ठोक्त चातुर्विध्य ही निरस्त हो जानेसे अर्थार्थी भी निरस्त होगा. अन्यथा अवशिष्टोंके अष्टविध प्रभेदोंका अविचार लेखककी केवल अर्थार्थितामें ही निजमतिके पर्यवसित हो जानेका साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा है.

इसका खुलासा भी पण्डितसभामें मौखिक शास्त्रचर्चाद्वारा ही करना हो तो मेरे पास ऐसी चर्चाकण्डुतीके वारणका कोई उपाय ही नहीं है. क्योंकि अर्थार्थी विभाजनकारको भ्रान्ति है कि लिखितरूपेण की जाती चर्चा कुत्सितप्रेमिकाके

पत्रावलम्बनकी या बार्हन्नली पण्डितपंक्तिमें अनुपवेश्य मनोवृत्ति है. तो क्या महाप्रभु–प्रभुचरण आदि पूर्वाचार्योंकी पत्रावलम्बन विद्वन्मण्डन अवतारवादावली भक्तिमार्तण्ड प्राभञ्जनमारुतशक्ति आदि वादग्रन्थोंमें अंगीकृत विचारशैलीको भी कुत्सितप्रेमिकाके पत्रावलम्बन या बार्हन्नली मनोवृत्ति मानना ? क्योंकि पूर्वाचार्योंके इन वादग्रन्थोंमें भी कोई तटस्थ मध्यस्थ नहीं था. अतः इन पूर्वाचार्योंके लेखनको भी क्या 'दे धनाधन' **(द्रष्ट.''शास्त्रार्थके नियम–अनुसार पक्षग्रहणविधि मध्यस्थ–विद्वान् सम्पन्न करवाते हैं. ऐसे हवामें पक्षग्रहण नहीं होता.'' 'गदापदातत'.पृ.१२)** मानना ? यह तो अनधीतशास्त्रोंके द्वारा किलकिलायित केवल प्रलाप ही सिद्ध होगा. न्यायशास्त्रमें, क्योंकि, शास्त्रार्थ या वाद के नियमको स्पष्ट करते हुवे कहा गया है :

१.''गुर्वादिभिः सह वादो – विजिगीषुणा जल्पवितण्डे''.

२.''नच अयं नियमः प्राश्निकप्रत्यायनायएव वादः. प्राश्निकानन्तरेणापि वादो दृष्टः. यदातु न अयं तत्त्वबुभुत्सुः, लाभपूजाख्यातिकामो वादम् आरभते तदा प्राश्निकैः प्रयोजनम् अस्ति. सत्यम् ! अस्ति प्रयोजनं, वादस्तु तदा न भवति''.

३.वीतरागौ हि वादिप्रतिवादिनावेव वादस्वरूपज्ञानं तत्परीक्षां च कर्तुं शक्नुतः. तत् किम् अत्र प्राश्निकैः ?''

(न्या.भा.वा.ता.टी.१।२।२).

अतएव ऐसे गोस्वामिद्विविदोंको इतना भी ज्ञात नहीं है कि इन ग्रन्थोंमें पूर्वाचार्योंने न्यायनिर्धारित मध्यस्थविद्वान्/प्राश्निककी अपेक्षा रखे बिना न केवल स्वपक्ष अपितु पूर्वपक्षका निरसन भी किया है. अतः किसी भी तरहकी शास्त्रीय मर्यादाके होश बिना अंटशंट बकनेमें तो अपने पूर्वजों तक ऐस अपशब्दोंका प्रयोग पहुंच जायेगा. सो तब ऐसा करनेवालोमें श्रीजगदीशनिर्धारित लक्षणकी अतिव्याप्तिका वारण कैसे करना(!) यह सोच कर गुरुजनोंके प्रति आदरभाववश हृत्कम्प होता है.

द्विविदोंको तो अपने बोलेकी कुछ भी कीमत न होनेसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता. स्वयं मन्दमति होनेके कारण ये कभी किसी पक्षग्रहणकी भूमिपर आ टपकते हैं. जब फंस जानेका भान होता है तो : ''**बलात्कार ! बलात्कार !! दिलके ज़ख्मोंको तू हाथोंमें छुपा ले शायर ! नादां है ज़माना ये डर न जाये कहीं. तुम क्या जानों कि दर्देदिलकी नसीहत क्या है ? दिलके टुकड़ोंको हमने दिल ही में संजोके रख्खा है, फिर कभी यूं ही ठुकरानेको तेरे काम आयेंगे**'' (द्रष्ट.विस्तृ.विव.पृ.१९७,३२४-३२५) रोने लगते हैं. सो भी अपने नि.ली.पितृचरणके जन्मदिनपर प्राचीन रीतिसे बधाई गानेके बजाय ''कही गयो ते कही गयानो वसवसो. ज़िंदगी एक वसवसानुं नाम छे'' ऐसे शोकसभोचित गीत गाने लगते हैं. और फिर शाखामृगकी तरह किसी शाखापर चंक्रमण करनेका मौका मिलते ही पुनः वही ''**ख्रों-ख्रों ख्रांउ-ख्रांउ किर्र्र्र्ऽऽऽर्क्रिच्च् !(=)तेरा पूराका पूरा विशोधन-धन... दे धनाधन चुटकीमें लुट जाना है... (क्यों और कैसे ? तो कहते हैं) जो तुमको पसंद हो वही बात करेंगे. तुम दिनको कहो रात तो रात कहेंगे. (यही यदि सच हो तो फिर यह क्या हो गया कि) हाय दो कान पकड़ कर वो कुबुलातकी रात, ज़िंदगीभर नहीं भूलेगी वो चर्चातकी रात, एक अन्जान भोलेसे मुलाक़ातकी रात** ('गदापदातत' पृ.१३) ख्रों-ख्रों ! ख्रांउ-ख्रांउ !! किर्र्र्र्ऽऽर्क्रिच्च् !!!!''

अतः यदि चर्चासभामें पक्षग्रहण करवाया उसका प्रतिशोध लेना हो तो पोल खुल गयी कि पक्षग्रहणमें की गयी कबूलातके कारण स्वयं जो अस्पृश्य असम्भाष्य सिद्ध हो गये. सो अब जबतक मुझे गृहीत पक्षमें कोई विप्रतिपत्ति न हो तो किसी मध्यस्थ विद्वान् या अविद्वान् को बैठा कर चर्चाका प्रसंग मेरेलिये कहां उपस्थित होता है ? यदि उन कुबुलातोंमें जटिल पेच फंसाके रखे हों तो फंसे रहने दो ! मुझे क्या अन्तर पड़ता है ? यदि मुझसे कोई रागद्वेष न हो और केवल सिद्धान्त सबके समक्ष सुनिर्धारित करना प्रयोजन हो तो. अथवा 'गदापदातत'में जैसे अपने पितृचरणको 'भंगेड़ी' या 'बेवकूफ' न कह पानेके वसवसोके कारण 'सरलस्वभाव' ('गदापदातत'पृ.९) कह दिया ! ऐसे ही अन्य भी अनेकानेक गोस्वामिबालकों कहना हो तो उनके वचन जो 'अमृतवचनावली'में संकलित हुवें उनकेलिये भी ऐसी 'गदापदातत' प्रकाशित करवा देनी चाहिये. अन्यथा केवल

मेरे ही साथ कोई निगूढ़ द्वेष हो तो सुखेन प्रकाशित करते रहो !

किसी भी सूरतमें मुझे 'भोलेनाथ' जो कहा जा रहा है उसके जवाबमें द्विविदमुकुटमणिको 'कुटिलनाथ' मैं तो कह नहीं सकता. क्योंकि मेरे हिसाबसे, जो गोस्वामिबालक न तो जवाब दे पाते हैं और न अपने दुर्वृत्तपर काबू पा रहे हैं, ऐसे बुलशिण्मथराय टाईपके, इनसे कहीं अधिक कुटिल हैं. जैसे चर्चासभाके बाद 'पुसिसंशी'पदवी प्रदान कर गोस्वामिद्विविद अपने भाईको षष्ठपीठाधीश न मान ले, एतदर्थ 'गदापदातत'कारका पुच्छनिग्रह कर लिया गया ! अतः जबभी भविष्यमें मानने जायेगा तब स्वयंको प्रदत्त पदवीपत्रका पठन करनेवालेको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा !

अतः अपनी द्विविदमतिके वैभवके अविरत प्रकाशनके द्वारा 'गदापदातत'कार तो स्वमार्गीय सिद्धान्तोकी सेवा ही कर रहे हैं. फिर व्यर्थ ही क्यों ऐसोंके मुंह लगना ? मैं तो न पहले चाहता था और न आज भी कोई चर्चा चाहता हुं. हां ऐसी अंटशंट बकवादके कारण सभीके भीतर पुष्टिके सच्चे सिद्धान्तोंको जाननेकी उत्कंठाके निरन्तर उद्दीपनद्वारा सम्प्रदायकी महती सेवा अनजाने ही श्रीमदनमोहनप्रभु अपने देवलक सेवकसे करवा रहे हैं ! चाहे द्वेषवश क्यों न हो पर मेरी आलोचनाद्वारा जनताके भीतर उत्कण्ठा जगा कर की जाती अपने सम्प्रदायकी इस महती सेवाका महत्त्व रागद्वेषरहित सिद्धान्तबोधके लाभमें तो कभी कम कूता नहीं जा सकेगा.

हां ! मुझे जो जवाब देना है वह तो मैं लिखितरूपमें देता रहा हुं और रहुंगा भी. द्विविदोंके जैसा बुद्धिभेद स्वमार्गीय जनतामें कहीं प्रकट न हो जाये ! इस द्विविदमनीषाके भीतर भरे गहरे दांवपेच तो मौखिक चर्चामें ही प्रकट सकेंगे. अन्यथा शाखाचंक्रमण किये बिना तो कदापि नहीं. सो अपने दांवपेचोंके टुकड़ोंको दिलमें संजोये रखें. न केवल इस जन्ममें अपितु आगामी सहस्र जन्मों तक. कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है. क्योंकि मेरे मनमें कोई दावपेच न तब थे और न अब हैं. मुझे तो सर्वाधिक लाभ इस द्विविदमतिविलासका यही लगता है कि सच्चे सिद्धान्तोंके अवगाहनार्थ मेरे लेख, भविष्यमें प्रभुकृपावश, निर्विवाद मार्गदर्शन प्रदान करेंगे. इससे अधिक मुझे और क्या सहयोग कोई दे सकता है !

वस्तुतः तो पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरण की इससे अधिक फलवती कृपा मेरेऊपर और हो ही क्या सकती है !

क्योंकि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार तो सुस्पष्ट शब्दोंमें निर्देश देते हैं **''तस्माद् एवंवादी नोत्तरार्हः. नहि उन्मत्ताय कश्चिद् अनुन्मत्तः उत्तरम् आह. ब्रुवाणो वा सोऽपि उन्मत्तएव स्यात्''** (न्या.वा.ता.टी.१।२।२).

फिरभी **''एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः''** न्यायेन पठित पुष्टिमार्गीयोंके लिये उपेक्ष्य होनेपर भी **''एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः''** न्यायेन अस्पृश्य असम्भाष्य देवलकजनोंसे शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको, इनके उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित अपितु आवश्यक भी है.

वस्तुतः देखा जाये तो तटस्थ विद्वानोंको मध्यस्थ बना कर मौखिक चर्चाद्वारा एकदूजेको पछाड़ देनेकी प्रतिज्ञा या डिंडिमघोषणा से पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' और 'अमृतवचनावली' में संकलित अथवा असंकलित पूर्वाचार्योंके वचनोंकी एकवाक्यता शान्त चित्त तथा स्वस्थ बुद्धि के साथ विचार कर अपनी-अपनी समझको लेखबद्ध कर प्रकाशित करवायी होती तो कुछ बात बन जाती. एकदूजेके साथ अर्थहीन व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धामें दुर्व्यय होते समय और कलुषित होते वातावरण को बचाया भी जा सकता था.

<u>निष्कृष्टसिद्धान्त :</u>

अतः अब यह प्रसक्त होता है कि सिद्धान्तचर्चासभामें 'शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवोपदेशदीक्षाके स्वरूपमें ही भगवत्कृपामूलक इस मार्गमें प्रवेशके आदिम साधनतया गुरुपरीक्षणकी बात महाप्रभुने समझायी है. उसमें भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिदोषरहित कृष्णसेवापरायण होना गुरुतया वरणीय पुरुषकी प्रथम कसौटी है. एतावता

अभागवतज्ञ दम्भादिसहित श्रीकृष्णकी अस्वीय तनु-वित्तसे की जाती सेवाके प्रदर्शकोंद्वारा, जो परम्पराके बहाने काढ़ कर आजीविका या अर्थोपार्जन के प्रयोजनवश की जाती कृष्णसेवा तो सिद्धान्ततः भगवत्सेवाका सर्वथा अनभिमत स्वरूप ही है. इसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीके वचन, इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमजीके वचन, जिसमें श्रीमद्भागवतकथाकी दक्षिणा लेनेवालेको भगवन्नामविक्रयका अपराधी दिखाते हुवे पात्रापात्रके विचारके बिना भगवन्नामात्मक मन्त्रोंकी दीक्षा प्रदानको भी नामविक्रय माना गया है. अतः भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का विक्रय भी अपसिद्धान्त सिद्ध हो जाता है. सेवा हम करें और उसके लिये द्रव्य किसी अन्यका वापरें ऐसी प्रक्रिया सिद्धान्ताभिमत हो ही नहीं सकती. 'अमृतवचनावली'में भी उद्धृत कांकरोली और कामवन वाले महाराजश्रीके वचनोंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[२]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर 'तुष्यतु देवलक'न्यायेन सेवाका तनुजा और वित्तजा ऐसा विभक्त स्वरूप मान कर चलें; अर्थात् तनुवित्तजाको अमान्य कर एककर्तृका विभक्त दो सेवायें होती हों तोभी इसी शीर्षकके अन्तर्गत (ख)वचनमें भगवत्सेवाके हेतु अपेक्षित द्रव्य या सामग्री का सन्मार्गोपार्जित होना और सेवकेतरजनका जिसमें भाग न होना, जो अपरिहार्य माना गया है, उससे यह विसंगत हो जायेगा. इतरथा प्रकारके निषेधके कारण पुनः सेवार्थ परद्रव्योपयोगका निषेध गलेपतित होता ही है. अधिक या उत्तम सामग्रीके समर्पणार्थ अपनी भगवत्सेवाके लोकरञ्जानार्थ अनुष्ठानको बहिर्मुखताका सम्पादक जो जताया गया वह भी सेवाके तनुवित्तजा स्वरूपका ही उपोद्बलन है, तनुजा और वित्तजा के द्वैधीभावका नहीं. सेवाके ऐसे स्वरूपका उपोद्बलन पुनः महानुभाव श्रीहरिरायजीके दोनों वचनोंके आधारपर भी सिद्ध होता है. क्योंकि समर्पणके बाद सेवाकी सार्थकताके हेतु स्वीय तनुवित्तके विनियोगपर भार दिया गया है. **''स्वमार्गीय सेवास्वरूपके ज्ञानके अभावमें केवल श्रद्धावश यथाकथञ्चित् की जाती सेवा, केवल भौतिक क्रिया भर रह जाती है''**, **इस विधानके समर्थनार्थ ''लोकार्थीके कृष्णभजन''**का न्यायापादन श्रीहरिरायजीके अनुसार लोकार्थीकी कृष्णसेवाको 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भव' न्यायका अविषय माननेमें प्रबल प्रमाण है. 'अमृतवचनावली'में संकलित स्वयं

गोस्वमिद्विविदोंके ही नडियादके दावेमें सिद्धान्तविद्की हैसीयतमें दी गयी जबानीमें गोस्वामिओंके यहां दर्शनार्थी वैष्णवजनताद्वारा दिये जाते द्रव्यको स्वमार्गविपरीत होनेके कारण और यूं लिये जानेपर हवेली वाल्लभ सम्प्रदायकी नहीं रह जाती, ऐसे कठोरविधानसे भी संवादित किया जा सकता है. इसी तरह पोरबंदरवाले महाराजश्रीने तो प्रभुचरण श्रीविट्ठनाथजीके वचनके आधारपर वृत्त्यर्थ सेवाका मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके समान पापकृत्य होना प्रतिपादित किया है. इसी तरह कांकरोलीयुवाचार्यके वचनोंसे भी इस प्रतिपादनकी प्रामाणिकताको संवादित किया जा सकता है.

[३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर अस्वीय और/अथवा अभक्त जनोंकेलिये अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन ही सिद्धान्ताभिमत प्रक्रिया नहीं और ऐसा करनेपर सेवाकर्ताका हृदय भगवद्भावशून्य बन जाता है; और वार्षिक सेवा भी निष्फल हो जाती मानी गयी है. अतः हवेलीकी पेढ़ियोंपर भगवत्सेवाके नामपर मांगे या लिये जाते परद्रव्यसे धरी सामग्रीका नैष्फल्य भी सिद्ध हो जाता है. अतः वह प्रसाद ही न रह जाता हो तो भगवन्मनोरथोंद्वारा जनताको द्रव्यप्रदानार्थ ललचानेको किये जाते प्रदर्शनकी अपसिद्धान्तरूपता स्पष्ट होगी ही. 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.कांकरोलीवाले महाराजश्रीके वचन, स्वयं गोस्वामिद्विविदको 'पुसिसंशि' पदवीदानप्रपाठक सूरतवाले महाराजश्री तथा कांदीवली–मुंबईके चि.बावा के वचनोंसे भी इसे संवादित करनेपर निज भगवत्सेवाका प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतः सेवाप्रदर्शनके अन्तर्गत या सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनवश लिया परद्रव्य निज भगवत्सेवामें ग्राह्य कैसे हो सकता है ?

[४]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गमें की जाती भगवत्सेवाका प्रयोजन केवल स्वसेव्य प्रभुको अपना पारलौकिकैहिक सर्वस्व मान कर सेवा करना है, ऐसा माना गया है. अतः लोकार्थ=लौकिकफलार्थ, निजपरिवारके परिपालनार्थ, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि के प्रयोजनवश की जाती भगवत्सेवाको अनुमोदनीय नहीं माना जा सकता. ऐसी स्थितिमें न तो उत्तम, न मध्यम अथवा न आदिम कोटिका भी अधिकारी

अर्थार्थितया सेवा कर सकता है. इसे 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.श्रीनृसिंहलालजीके, नि.ली.बालकृष्णलालजी (सूरत), 'सेवादेवद्रव्यविमर्श'कार, अमरीकाके ह्युस्टन न्यूजर्सी आदि नगरोंमें श्रीगोवर्धननाथजीमन्दिरसंस्थापक भाई-बहनोंके भी वक्तव्य, यों कितने सारे वचनोंसे संवादित कर जांचा जा सकता है.

'शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवास्थलके स्वरूपका विचार करनेपर भी मूलाचार्यके उपदेशमें भगवत्सेवा सेवाकर्ताके स्वयंके घरमें ही अनुष्ठेय मानी गयी है. न केवल इतना प्रत्युत भगवद्भजनतया अनुष्ठेय कर्म निजगृहमें रहे बिना शक्य न होना स्वीकारा गया है. स्वयं अपने घरमें बिराजमान सेव्यस्वरूपके भजनका परित्याग कर अन्यत्र (अथवा परित्यागार्थ ललचानेवाली भगवत्सेवाकी रीति) भक्तिकी सिद्धि अशक्य दिखलायी गयी है. इसी तरह स्वगृहमें अनुष्ठेय भगवत्सेवा भी यथालब्ध द्रव्य-सामग्रीसे सम्पाद्य मानी गयी है. अतः अस्वीय परिवारेतरजनोंसे प्राप्त करनेको उन्हें अपने घरमें तनुजा या वित्तजा के विभक्तानुष्ठानार्थ बरगलानेका सार्वजनिक प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतएव अर्थार्थिओंद्वारा किये जाते भगवत्सेवाप्रदर्शनमें वैष्णवसमुदाय जो कुछ वित्तजा या तनुजा सेवा करता है वह निषिद्ध स्थलपर प्रकट हुयी स्वधर्मभ्रान्ति है. अतः या तो अकर्म या विकर्म ही सिद्ध होती है. इसे भी 'अमृतवचनावली'में नि.ली.अमरेलीवाले महाराजश्री, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी महाराजश्री एवं उनके आत्मज, नि.ली.श्रीबालकृष्णलालजी (सूरत), उनके अनुज, वर्तमान तृतीयगृहाधीश के वचनोंसे संवादित किया जा सकता है. अतः निजगृहके अतिरिक्त स्थलोंमें अनुष्ठित होती सेवा सिद्धान्तानुमोदित न होनेसे 'मूलं नास्ति कुतः शाखा!'' न्यायसे पुनः उत्तम मध्यम या आदिम किसी भी सेवाकर्ताके लिये कर्तव्य नहीं हो सकती. अतः अपने घरमें की जाती तनुजा सेवाको स्वीय वित्तसे विभक्त कर परद्रव्यसे किया जाना कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? अतः वैसा करनेपर निन्दित या निषिद्ध कोटि का जघन्याधिकार अनुक्तसिद्ध हो जाता है, बिना शास्त्रार्थके. फिरभी किसीको शास्त्रार्थका कण्डूत्यतिरेक हो तो अपनी एकलव्योपम दुर्दम आकांक्षाको मेरी मूर्ति बना कर

उसके सामने बैठ कर शास्त्रार्थकण्डूतिका उपशम करना चाहिये. उसे प्रकाशित किये जानेपर तो सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत करने मैं भी सर्वदा समुद्यत ही हुं.

[६]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेव्यप्रभुके विग्रहका स्वरूप विचारनेपर भी उसे रसात्मक या भावात्मक मानना हो तो गुप्त रखना चाहिये. अन्यथा रसाभास होनेका जो प्रतिपादन किया है उसके आधारपर भगवत्स्वरूप अप्रदर्शनार्ह सिद्ध होता है. ऐसे भगवत्प्रदर्शनद्वारा किये जाते अर्थोपाजनकी उपायरूपा सेवाके रसाभास होनेका भी सबल प्रमाण है. अतः अपने भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करनेवाले सब अपनी जघन्याधिकारिताको ही उद्घाटित कर रहे हों तो, उनके पास दीक्षार्थ या सेवार्थ भगवद्विग्रहको पुष्ट करना अनिवार्य न रह जाता है. अतः सभी मार्गानुगामिओंके लिए अपने-अपने घरोंमें ही की जाती अप्रदर्शनात्मिका धर्मबुद्ध्या अनुष्ठेय भगवत्सेवा ही सिद्धान्ताभिमत प्रकार सिद्ध होता है. इसीका समर्थन प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीहरिरायजी के वचनोंमें मिल रहा है, यह देखा जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी पुनः श्रीवल्लभात्मज श्रीबालकृष्णजी, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, उनके आत्मज, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा पक्षग्रहणमें अंगीकृत धारणा, वर्तमान तृतीयगृहाधीश आदिके वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[७]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवार्थ कैसी आजीविका पुष्टिधर्मानुमोदित होती है, एतदर्थ पूर्वज गोस्वामिओंद्वारा भी भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा या भगवत्सेवार्थ परद्रव्यका अंगीकार करनेकी परम्परा प्रमाण न हो कर साक्षात् आचार्योपदिष्ट रीतिको ही प्रमाण माननेकी स्वयं आचार्याज्ञा उद्धृत है. देवार्थ उत्सृष्ट या प्रदत्त द्रव्यको अपने उपभोगमें लेनेवाले, अधिकार-अनधिकारके विवेक रखे बिना सारे गांवको अपनी भगवत्सेवाद्वारा लाभ पहुंचानेके बहाने बनानेवाले ग्रामयाजक तथा अर्थार्थी बन कर भगवत्सेवा करनेवालेको श्वान श्वपाकी प्रेतधूम चिता चिताप्रज्वालनार्थ काष्ठ मद्य मद्यपात्र चरबीलगी हुयी मानुषास्थि शव शवस्पर्शी एवं महापातकी आदिको समानकोटिका अपवित्र बतानेवाले श्रीपुरुषोत्तमवचनके

आधारपर भी न तो एककर्तृका और अनेककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा सेवाको सिद्धान्ततया अनुमोदनीय माना जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी स्वयं महाप्रभु प्रभुचरण चतुर्थात्मज श्रीहरिरायजी, नि.ली.गो.ति.श्रीगोवर्धनलालजी, नि.ली.राजनगरस्थ श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तमगृहाधीश, नि.ली.बालकृष्णलालजी(सूरत) के वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[८]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक के स्वरूपकी जिज्ञासामें स्वयं आचार्यचरणद्वारा सेवाकर्ताके भार्या आदि परिवारजनोंका उल्लेख, उसका श्रीहरिरायजीद्वारा समर्थन भगवत्सेवार्थ विभक्त तनुजा और वित्तजा की धारणाको चूर्ण-चूर्ण कर देता है. 'अमृतवचनावली'में भी नि.ली.श्रीवागधीशलालजी महाराज, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीदीक्षितजी महाराज, नि.ली.प्रथमेश, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, आदि अनेकोंके वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[९]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवाके उपदेशार्थ अधिकारीकी विवेचनामें सर्वप्रथम तो पूर्वोदाहृत आचार्यवचन ही, साथ ही साथ उसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीका वचन, श्रीहरिरायजीके चार वचन और अन्तमें श्रीपुरुषोत्तमजीके दो वचन उद्धृत किये गये हैं. इन सभी वचनोंके आधारपर अर्थार्थितया भगवत्सेवा उत्तम मध्यम या आदिम किसी कोटिके सेवोपदेष्टाके लिये अनुमोदनीय हो नहीं सकती. अतः निन्दित या निषिद्ध कोटिके सेवोपदेष्टा ऐसे आचरण करनेवालोंको मानना पड़ेगा. 'अमृतवचनावली'में संकलित वक्तव्योंके आधारपर भी स्वयं आचार्यचरण, प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीमद्गुजी महाराज, नि.ली.श्रीनृसिंहलालजी, अमरेलीवाले नि.ली.वागधीशलालजी, राजनगरके नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, नि.ली.श्रीदीक्षितजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा गृहीत पक्ष, चि.पू.पा.द्रुमिलबावा के वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[१०]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर

श्रीमद्भागवतको आचार्यचरण भगवन्नामात्मक मानते होनेके कारण उसके आजीविकार्थ या भक्तिभावके दृढ़ीकरणके अलावा अन्य किसी भी प्रयोजनवश किये जाते उपदेशको न केवल निषिद्ध कोटिका जघन्याधिकार प्रत्युत गटरके पानी जितना अपवित्र मान रहे हैं. अतः यदि भगवन्नामात्मक होनेके कारण सूतवृत्तितया अनुज्ञप्त भी भागवतकथाका भक्तिमार्गमें अर्थार्थ या आजीवनार्थ उपयोग वर्जित है. अब वह जिस भगवद्रूपका नामात्मक स्वरूप है, उसके साक्षात् स्वरूपका अर्थार्थितया भजन कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? क्योंकि 'पुसिसंशि'पदवीप्राप्तिके अभिनन्दनार्थ आयोजित सन्मानसभामें भागवतकथावाचकके हाथों सन्मानपत्र ग्रहण किया था अतः ''तवार्धं च ममार्धं च'' कुनीतिके वश भागवतवृत्त्युपजीवनकी भी शास्त्रदृष्ट्या वैधता अब ठहरायी जा रही है. जबकि **''श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यत् तत् 'धन'संज्ञितं, कृष्णार्थीति धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः, यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते. उभयोः वैपरीत्येतु रसाभासे फलच्युतिः किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिः विलम्बेनापि जायते... परन्तु शोभते न अत्र सकामत्वं विडम्बनं, कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम्''** (स्कन्दपुरा.वैष्ण.खं.अध्या.४) ऐसा न केवल महाप्रभुको अभिप्रेत है परन्तु शास्त्रको भी अभिप्रेत है. पुनश्च भगवत्सेवामें जो स्वयं कृष्णार्थितापर भार देनेपर इतना उद्विग्न हो जाता हो उसे धनार्थिताके आसुरावेशवश यह पसन्द न आये तो ''कृतभागवतकथोपदेश–श्रवणवैयर्थ्यासम्भाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति'' न्यायेन इस जन्ममें तो श्रीकृष्णप्रेम सिद्ध हो जानेमें महती विपदा लगनी स्वाभाविक ही है. इस जन्ममें तो ''(श्री + कृष्ण = श्रीकृष्ण – कृष्ण)=द्रव्यं शरणं मम'' और ''धन तवास्मि'' के अलावा न कोई परतर मन्त्र सुहाता है. न कोई स्तव पाठार्थ सुहाता है. नहीं किसी परतरा विद्यामें रुचि या उसका बोध ही अच्छा लग सकता है. और न कोई परतर तीर्थ यात्रार्थ सुहा सकता है. सो आसुरस्वभावप्राप्त ऐसा विधानविडम्बन क्रिया है कि **''हमने जब देखा तो कहा... कि सूतवृत्ति शास्त्रविरुद्ध नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है...''** ('गदापदातत'पृ.४).

मैंने जिस शास्त्रीकी डायरीमें शास्त्रविरुद्ध होनेका लेख सहस्ताक्षर लिखा था वह शास्त्री वर्णसंकर सूतजातीय नहीं था. गोस्वामिद्विविद अपनेको

वैसा मानते हों तो उनकी डायरीमें ऐसा अभिलेख लिखनेका साहस तो मैं भी कभी नहीं करना चाहुंगा. ऐसे देवलक भगवत्सेवा यदि वृत्त्यर्थ करते हों तो भगवन्नामात्मक भागवती कथा भी वृत्त्यर्थ करें इसमें विस्मयकी क्या बात हो सकती है ! विस्मय तो केवल इस नूतन अंगीकृत ''...**श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है**'' विधानके बारेमें होता है. 'अमृतवचनावली' मूलतः भगवत्सेवाके सिद्धान्तशुद्ध प्रकारके सिद्धान्तवचनावलीमें उदाहृत वचनोंके परम्परागत अभिप्रायकी एक्यवाक्यता दरसाने ही संकलित की गयी थी. अतः उसमें ऐसे वचनोंके संकलन अप्रासंगिक थे. फिरभी नि.ली.श्रीगोविन्दरायजीकी सुधाधाराके वचनसे इस अभिप्रायको संवादित किया जा सकता है.

[११]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहणके बारेमें जो प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी और श्रीपुरुषोत्तमजी के दान और समर्पण का पृथक्करण करनेवाले वचन दिये गये हैं. प्रभुको दानरूपेण स्वदत्त या परप्रदत्त का उपभोग वर्जित माना गया है और समर्पित-विनियुक्तका नहीं. अब जो भगवत्सेवाके व्यापारके रूपमें हवेली चल रही हैं, उनमें दर्शनार्थिओं द्वारा धरी जाती भेंट-सामग्रीको दानरूपेण मान्य करें तो ऐसे भगवत्प्रसादको सोनाकी कटोरीको गिरवी रख कर धरे प्रसादकी तरह अनुपभोग्य मानना पड़ेगा. और दर्शनार्थी जनताका समर्पण मानें तो इन सेव्यस्वरूपोंपर दर्शनार्थी जनताका स्वत्व गोस्वामिद्विविदोंको स्वीकारना पडेगा. अतः उन्हें वहां केवल तीसप्रतिशत वेतनभोगी कर्मचारी माने सिवाय कोई गति रह नहीं जायेगी. यदि उन्हें देवलक बननेमें लज्जा होती हो तो. अन्यथा स्वसेव्य भगवद्विग्रहकी सेवाके हेतु परद्रव्यार्थीका देवलक होना निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है. यह दुर्गति तो गोस्वामिद्विविदकी पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें कितनी बुरी तरह फंस जानेके कारण हुयी, वह तो विस्तृतविवरणके पठन-ननद्वारा अवलोकनीय है. किसी भी सूरतमें 'अमृतवचनावली'में संकलित पूर्वोदाहृत अनेक वक्तव्योंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[१२]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर तीर्थपर्यटन सम्बन्धी नियमोंपर भी यही कथा लागू होती है. तीर्थवासी ब्राह्मणको

अपने पौरोहित्यके निमित्तवशात् तीर्थदक्षिणा या प्रतिग्रह शास्त्रानुमत होनेपर भी अतीर्थवासीको तीर्थयात्राके समय तीर्थहेतुक परद्रव्यकी कथा तो दूर ब्राह्मण्यहेतुक प्रतिग्रहको भी शास्त्रमें मातृगमनके समान पातक कर्म माना गया है. **''न तीर्थेप्रतिगृहीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि अपि कामातुरो जन्तुः एकां रक्षति मातरम्''** (पद्मपुराण). अतः कैमुतिकन्यायेन भगवच्चरणारविन्दोंके बारेमें जिनके हृदयमें **''अंघ्रिम् अघौघमर्षतीर्थास्पदं हृदि कृतम्''** (भाग.पुरा.१०।८१।२६) इस वचनके अनुसार तीर्थोंमें भी परतम तीर्थ होनेका भाव दृढ़ हो तो वह अपने सेव्यस्वरूपकी चरणभेंट अपने उपयोगमें लाकर स्वमातृगमन तो कर ही नहीं सकता! एतदर्थ संकलित है. इस बारेमें कैमुतिकन्यायके अभिप्रायवश यह वचन संकलित किया गया होनेसे 'अमृतवचनावली'में इसका संवादी वचन संकलित नहीं किया गया है.

[१३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार रूपी विषयके बारेमें स्वयं गोस्वामिद्विविदने निर्विवाद पक्षग्रहण करनेपर, किस तरहकी अधोगामिता स्वयंकी उघाड़ी पड़ जायेगी, उसका आगे-पीछेका आकलन ही नहीं किया! इसमें मेरा क्या दोष हो सकता है. स्वभावतः उस आचार्यवचनाशयनिर्धारणके प्रकारसे अपने-आपको निर्मुक्त कर वाद करना हो तो मेरी मूर्तिको बिठा कर सुखेन करे!

मैंने तो सिद्धान्तचर्चासभामें ही सारी बातें स्पष्ट हो जानेसे गोस्वामिद्विविदको अभिनन्दित ही किया था कि मात्र पांच सौ वर्ष टिकनेकी भीतिवाले सम्प्रदायको स्वयं गोस्वामिद्विविदने ही पांच हज़ार वर्षोंमें भी खतम न हो पानेकी आयुष्य प्रदान कर दी!

<u>उपसंहारवचन :</u>

क्योंकि मेरा सुदृढ़तम अभिप्राय यही है कि वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण इस १३वें शीर्षकके अन्तर्गत उपदिष्ट रीतिसे ही हो सकता है. सरकारी कानूनके सामने उभरती हमारी लाचारी, हमारी

क्षुद्र द्रव्यलोलुपता अथवा तटस्थ मध्यस्थ विद्वानोंके बीच वादचर्चाका महामोह अथवा ऐसी किन्हीं विवशताओंके कारण नहीं. अतः हमारे पूर्वजोंने भी जो सिद्धान्तविहीन परम्परा कथञ्चित् विवश हो कर प्रवर्तित की, उनके आधारपर भी वाल्लभ सिद्धान्तोंका विनिर्णय कदापि नहीं हो सकता.

अतः अबभी इन सारे विषयोंकी एकवाक्यता साधते हुवे कोई अपना पक्ष, मेरेद्वारा गृहीत पक्षसे अन्यथा भी, प्रतिपादित करता हो तो उसे तो मैं आदरभावसे सुनने और समझने और मेरी त्रुटि हो तो उसे सुधारने भी प्रतिश्रुत हुं और पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणों की कृपासे रहुंगा ही. अन्यथा –

निरीहानां नृणां निजपथजुषां त्राणकरणं
महामोहान्मा भूदपि कपिमतेः प्राणहरणम्।
कथायां सिद्धान्तप्रकथनपरस्यात्र ममतु
यथायक्षो देयः खलु बलिरिति प्राप्तपरिधेः।।
सहस्रपरिवत्सरामितयुगे व्यतीते परं
प्रभुर्मदनमोहनः कपिमतिं कदाचिद् हरेत्।
तदा मतिमलापहृद् भजनजात सद्भक्तये
समर्पितमिदं भवेद् द्विविदबन्धवे कामये !।।
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत कष्टेभ्यो मुक्तो भक्तिम् अवाप्नुयाद्।।
भक्त्या निखिलजीवानाम् अन्तरात्मा हरिः स्वयम्।
पुष्टिजीवगृहे कच्चित् पुष्टिभक्तिं प्रसारयेत् !।।

***

निरीहानां नृणां निजपथजुषां त्राणकरणं
महामोहान्मा भूदपि कपिमतेः प्राणहरणम् ।
कथायां सिद्धान्तप्रकथनपरस्यात्र ममतु
यथायक्षो देयः खलु बलिरिति प्राप्तपरिधेः ।।

सहस्रपरिवत्सरामितयुगे व्यतीते परं
प्रभुर्मदनमोहनः कपिमतिं कदाचिद् हरेत् ।
तदा मतिमलापहृद्-भजनजात-सद्भक्तये
समर्पितमिदं भवेद् द्विविदबन्धवे कामये! ।।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत कष्टेभ्यो मुक्तो भक्तिम् अवाप्नुयाद् ।।
भक्त्या निखिलजीवानाम् अन्तरात्मा हरिः स्वयम्।
पुष्टिजीवगृहे कच्चित् पुष्टिभक्तिं प्रसारयेत्! ।।

आवरकचित्र : ख्याति मेहता